अर्थशास्त्र सिद्धान्त का विकास

अलैग्जैंडर ग्रे

अर्थशास्त्र सिद्धान्त
का
विकास

अलैग्जेंडर ग्रे

एस० चन्द एण्ड कम्पनी
दिल्ली – जालन्धर – लखनऊ

अर्थशास्त्र सिद्धान्त का विकास

(एक परिचयात्मक परिमाप)

(*The Development of Economic Doctrine*)

लेखक

अलैग्जैंडर ग्रे, एम० ए०

राजनीतिक अर्थशास्त्र के उपाध्याय

ऐडिनबरा विश्वविद्यालय

अनुवादक

विराज, एम० ए०

एस० चन्द एण्ड कम्पनी

दिल्ली—जालन्धर—लखनऊ

This Hindi translation of the Development of Economic Doctrine by Alexander Gray is Published in India by S. Chand & Co., Fountain, Delhi by arrangements with M/S. Longmans, Green and Co. Ltd., London.

एस० चन्द एण्ड कम्पनी

आसफअली रोड नई दिल्ली

फव्वारा दिल्ली

माईहीरां गेट जालन्धर

लालबाग लखनऊ

मूल्य ७॥)

मुद्रक

इण्डिया प्रिंटर्स

दिल्ली-६

भूमिका

प्रथाओं और परम्पराओं का यह आम सा तकाजा है कि लेखक—कम से कम ऐसी पुस्तक का लेखक, जो कि पाठ्य-पुस्तक-सी दिखाई पड़ती है—इस बात के लिए कुछ समुचित क्षमा याचना करे कि उसने पुस्तकों के संसार में विद्यमान माँग और उपलब्धि के भयानक और उद्वेजक विषम अनुपात को और भी अधिक विषम कर दिया है और साथ ही उसे आलोचकों तथा अन्य लोगों के भले के लिए यह भी बतला देना चाहिये कि आखिर वह कौनसा चिर-अनुभूत अभाव था, जिसकी पूर्ति लेखक के विचार में उसकी पुस्तक द्वारा होने लगी है। इस पुस्तक का उद्देश्य बहुत ही सीमित है। इसके शीर्षक के सबसे महत्त्वपूर्ण शब्द से यह सूचित हो जाता है कि यह एक परिचयात्मक ग्रन्थ है और परिचयात्मक ग्रन्थ का सारभूत गुण यह होता है कि वह केवल ज्ञान के प्रारम्भ का प्रतीक होना चाहिये। सामाजिक जीवन की भाँति विद्याध्ययन में भी परिचय पूर्ण अज्ञान की स्थिति से आगे की ओर पहली मंजिल की अपेक्षा कुछ अधिक नहीं होता, बहुत सी बातें बाद में जानने के लिए छोड़ दी जाती हैं, और आश्चर्यजनक बातों की सम्भावना निरन्तर बनी रहती है।

इसके अनुसार ही यह पुस्तक प्रारम्भिक विद्यार्थियों के लिए तैयार की गई है, और इसका उपयोग अर्थशास्त्र की उन असंख्य पाठ्य-पुस्तकों में से किन्हीं के भी साथ हो सकता है, जो अध्ययन या अध्यापन के लिए चुनी जाय। मेरा अपना अनुभव यह है कि प्रचलित और सर्वस्वीकृत सिद्धान्त का प्रतिपादन तब और भी अधिक रोचक एवं ग्राह्य बन जाता है, जब उसके साथ-साथ उस विचार या सम्मति के विकास के इतिहास पर भी एक दृष्टि डाल ली जाय। यदि यह सत्य हो कि अर्थशास्त्र के अध्यापन के लिए व्यापारवादियों, प्रकृतिवादियों, स्मिथ, माल्थस, लिस्ट तथा अन्य बड़े-बड़े अनेक लेखकों के सिद्धान्तों का निरन्तर उल्लेख करते रहने की आवश्यकता पड़ती है तो कालेज के प्रथम वर्ष के विद्यार्थी के पास भी एक ऐसी पुस्तक का रहना उचित है, जिसमें वे बातें हों, जिन्हें कि वह अर्थशास्त्र सिद्धान्त के विकास के विषय में

जानना चाहता है। अन्य सब पुस्तकों के प्रति पूर्ण आदर रखते हुए, यह है वह अभाव, जिसकी पूर्ति करने के प्रयोजन से इस पुस्तक की रचना की गई है।

क्योंकि, एक दृष्टि से, अर्थशास्त्र सिद्धान्त के इतिहास पर इस समय प्राप्त होने वाली पुस्तकें सामान्य विद्यार्थी की दृष्टि से बहुत अधिक भरी हुई, बहुत अधिक सर्वांगसम्पूर्ण—कहना चाहिये कि बहुत अधिक अच्छी—हैं, भले ही वे उस विद्यार्थी के लिए कितनी ही उपयोगी क्यों न हों, जो अर्थशास्त्र का विशेष रूप से अध्ययन कर रहा है। यदि किसी प्रारम्भिक विद्यार्थी को हर किसी विद्वान के बारे में कुछ न कुछ बात बताई जाने लगे, या उसे यह समझाया जाने लगे कि ओर्टेस और बुस्टी उल्लेखनीय विद्वान हैं, तो वह बेचारा घपले में ही पड़ जाता है। ओर्टेस और बुस्टी चाहे कितने ही महत्त्वपूर्ण क्यों न हों, किन्तु उनकी स्थिति ऐसी है कि वे बड़ी आसानी से कुछ देर प्रतीक्षा करते रह सकते हैं। दूसरी ओर, जब प्रारम्भिक विद्यार्थी की दिलचस्पी जाग उठती है, तो वह चाहता है कि उसे इस इतिहास का काफी कुछ सम्पूर्ण-सा चित्र प्राप्त हो जाय। और शिक्षण की दृष्टि से यह कहीं अधिक अच्छा है कि उसे बड़े-बड़े सीमा-चिह्नों का काफी अच्छा ज्ञान हो जाय, भले ही अन्य क्षेत्रों में उसके गम्भीर अज्ञान को हटाने के लिए कुछ भी प्रयत्न न किया जा सके, बजाय इसके कि उसे बहुत विस्तृत क्षेत्र का अस्पष्ट और अपमिश्रित (कन्फ्यूज्ड)-सा ज्ञान करा दिया जाय।

इसलिए इस पुस्तक में केवल प्रारम्भिक विद्यार्थी को दृष्टि में रखते हुए मैंने जहाँ तक भी व्यवहार्य हुआ, यह यत्न किया है कि इस पुस्तक में किसी भी लेखक का तब तक उल्लेख न किया जाय, जब तक कि मैं उसके बारे में सुबोध रूप से यह लिखने के लिए स्थान न निकाल सकूँ कि वह किस विशेष विचार का प्रतिनिधि था। इसके अनुसार ही मैं चुनाव करने और सान्द्रता बनाये रखने की प्रक्रिया को लेकर आगे बढ़ा हूँ और अनेक जगह मुझे कठोरतापूर्वक काफी महत्त्वपूर्ण लेखकों को भी एक ओर धकेल देना पड़ा है। इस प्रकार मध्य युग के सम्बन्ध में विचार करते हुए मैंने जान-बूझकर ही उस विवेचन को सेंट थामस ऐक्वाइनास तक ही सीमित रखा है। इसी प्रकार ल्यूगों के मामूली से उल्लेख को छोड़कर प्रकृतिवादियों का सारा भार मैंने क्वेसने के सिर पर

डाल दिया है। इसी प्रकार बाद के कालों के विवेचन में भी मैंने अपने आपको केवल उन्हीं लेखकों तक सीमित रखा है, जिनके साथ प्रारम्भिक विद्यार्थी का सबसे अधिक वास्ता पड़ता है।

परन्तु ऐसी कठोरता करने में अनेक बार मुझे बहुत मनोव्यथा भी हुई है। मैक कुलोच तथा ज्येष्ठ मिल के नामों की उपेक्षा करते हुए वस्तुतः मुझे कोई क्लेश नहीं हुआ। यहाँ तक कि जर्मन इतिहासिक विचारक वर्ग को छोड़ते हुए भी मुझे विशेष अनुभव नहीं हुआ। "पद्धति" के सम्बन्ध में वह पुराना विवाद अब उतना महत्त्वपूर्ण प्रतीत नहीं होता, जितना कि अब से एक पीढ़ी पहले अनुभव होता था। और इस महत्त्व के घट जाने के कारण उस विवाद के नेताओं की ओर ध्यान देने की आवश्यकता भी कम और कम होती जाती प्रतीत होती है। परन्तु मैं कैन्टिलोन को अवश्य प्रस्तुत करना चाहता था, जो शायद तब तक अपने असली रूप में और भी अच्छी तरह सामने आ जाये, जबकि उसकी पुस्तक का प्रतिज्ञात दूसरा संस्करण सुलभ हो जायगा। देश-प्रेम की भावनाओं से प्रेरित होकर जौन ला के सम्बन्ध में भी लिखना चाहता था, जिसे कि विदेशों में अर्थशास्त्री के रूप में कहीं अधिक आदर प्राप्त है, जब कि उसके अपने देश इंगलैंड में उसे वह आदर प्राप्त नहीं और वहाँ उसे केवल एक बड़ा पैसे वाला आदमी समझा जाता रहा है। इसी प्रकार मुझे अपनी पुस्तक में कूर्नो का वर्णन करने में भी प्रसन्नता होती, जो अंकगणितीय अर्थशास्त्रियों की एक सुदीर्घ परम्परा का जन्मदाता था। परन्तु अन्य सब छोटे जहाजों की भाँति पाठ्य-पुस्तक की भी एक प्लिमसोल रेखा (जहाज पर बनी वह रेखा, जिसके पानी की सतह तक आ जाने के बाद जहाज पर और माल न लादा जाना चाहिये) होती है, अत्यधिक भार के कारण डूब जाने की चेतावनियों को ध्यान में रखते हुए इन तथा अन्य अनेक कीमती गाँठों को पीछे बन्दरगाह पर ही छोड़ देना पड़ा है। अपनी इस नीति के कारण कि मैं कठोरतापूर्वक अनेक लेखकों को छोड़ता गया हूँ, जिससे कि जो लेखक इसमें लिये गये हैं, उनका अपेक्षाकृत पूरा विवेचन हो सके, मैं अपने आपको यह कहकर सन्तोष दे सकता हूँ कि अर्थशास्त्र का सिद्धान्त का इतिहास कहलाने का दावा करने वाली अन्य किसी छपी पुस्तक में इतने अधिक महत्त्वपूर्ण नाम बिलकुल बिना उल्लेख किये नहीं छूट गये होंगे।

इस बात के प्रमाण सब ओर दिखाई पड़ रहे हैं कि अंग्रेजीभाषी देशों में अर्थशास्त्र सिद्धान्त के इतिहास के अध्ययन की ओर अब उसकी अपेक्षा कहीं अधिक ध्यान दिया जा रहा है, जितना कि इससे पहली पीढ़ी ने दिया था। मुझे यह सोचकर प्रसन्नता होगी कि सम्भव है कि मेरी यह छोटी सी पुस्तक उस मनोवृत्ति को प्रोत्साहित कर सके, जिसे मैं एक प्रशंसनीय प्रवृत्ति समझता हूँ और इस प्रकार हैने तथा गाइड और रिस्ट की अपेक्षाकृत सर्वांगसम्पूर्ण रचनाओं के अध्ययन के लिए सोपान-शिला का काम दे सके।

मैरिस्कल कालेज — अलैग्जेंडर ग्रे

ऐबरडीन

मार्च १९३१

द्वितीय मुद्रण के लिए लेखक की टिप्पणी

इस पुस्तक के पुनर्मुद्रण के अवसर पर मैं इस विषय के साहित्य से सम्बद्ध तीन घटनाओं का उल्लेख कर देना चाहता हूँ। पहली बात तो यह है कि कातिलों, जिसका उल्लेख भूमिका में किया जा चुका है, की पुस्तक 'ऐस्से स्यूर ला नेत्यूर द्यु कामर्स ए जनराल,' (सामान्य रूप से वाणिज्य का प्रकृति के विषय में निबन्ध) अब मैकमिलन एण्ड कम्पनी द्वारा रॉयल इकनामिक सोसाइटी के निमित्त प्रकाशित की जा चुकी है। दूसरी बात यह है कि सुरान्यी उनगर, जिसका उल्लेख पृष्ठ ३७४ पर किया गया, की पुस्तक का अंग्रेजी अनुवाद अब सुलभ हो गया है जिसका नाम है इकानामिक्स इन दि ट्वेंटियथ सेंचुरी (बीसवीं शताब्दी में अर्थशास्त्र की स्थिति)। तीसरी बात यह है कि अर्थशास्त्र सिद्धान्त के इतिहास के विषय में एक विशाल और विस्तृत ग्रन्थ, जिसका शीर्षक Theoretisch-historische Inleiding tot de Economie है और जिसके लेखक श्री ऐच० डब्लू० सी० बोर्डेविज्क हैं, डच भाषा में प्रकाशित हुआ है। इस पुस्तक में मुख्य रूप से व्यापारवादियों, प्रकृतिवादियों और क्लासिकल (प्राचीन) विचारक वर्ग का वर्णन किया गया है।

अप्रैल १९३३ — अलैग्जेंडर ग्रे

विषय-सूची

	विषय			पृष्ठ
१.	यूनान और रोम	...		१
२.	मध्ययुग—सेंट थामस ऐक्वाइनास—ओरेस्मे		...	३३
३.	व्यापारवाद	...	...	६३
४.	प्रकृतिवादी विचारक—क्वेसने और टर्गोट		...	९९
५.	ऐडम स्मिथ	...	...	१०६
६.	माल्थस और रिकार्डो	...	...	१६८
७.	लाडर्डेल, रे और सिसमोन्डी	...	...	२०८
८.	मुल्लर, लिस्ट और वान थुनन	...	...	२१९
९.	आशावादी विचारक : कैरी और बैस्तियात		...	२७३
१०.	प्राचीन परम्परा : से, सीनियर, जेम्स स्टुअर्ट मिल और केर्नीज			२९४
११.	कार्ल मार्क्स	...	...	३२१
१२.	आस्ट्रियन विचारक वर्ग : सीमान्त का सिद्धान्त		...	३६९
	उपसंहार	...	...	४०९
	आगे अध्ययन के लिये टिप्पणियाँ	...	...	४१७

"सम्भवतः राजनीतिक अर्थशास्त्र ही एक ऐसा विज्ञान है, जिसके विषय में यह कहा जा सकता है कि इसका अज्ञान केवल शुभ से वंचित रहना भर ही नहीं है, अपितु उससे घोर भावात्मक अशुभ की भी उत्पत्ति होती है।"

—रेवरेंड टी० आर० माल्थस

"राजनीतिक अर्थशास्त्र······एक विज्ञान है, किन्तु साथ ही यह बहुत खतरनाक है और यह पाप के अवसरों की ओर ले जाने वाला भी है।"

—कार्डिनल न्यूमेन

"मार्शल भला करने के लिए आवश्यकता से अधिक अधीर था।"

—जे० एम० कीन्स

अर्थशास्त्र सिद्धान्त का विकास

अध्याय १

यूनान और रोम

मानव विचार के इतिहास में अर्थशास्त्र सिद्धान्त के बाकायदा नियमों का विकास भले ही हाल में हुआ हो, परन्तु अर्थशास्त्र सम्बन्धी बातों के बारे में मनन और किसी हद तक -विमर्श भी तभी से चला आ रहा है, जब से मनुष्य ने विचार करना प्रारम्भ किया था। आजकल अर्थशास्त्र विज्ञान की सबसे अधिक प्रसिद्ध परिभाषा यह है कि अर्थशास्त्र जीवन के सामान्य व्यवहार में रत मानव-जाति का अध्ययन है। यदि हम इस परिभाषा को स्वीकार कर लें, तो यह स्पष्ट है कि ज्ञान के इतने बड़े क्षेत्र में आने वाले भूले-भटके विचार मनुष्य के मस्तिष्क में उसी समय से आने शुरू हो गये होंगे, जब मनुष्य कुछ भी विचार कर पाने में समर्थ हुआ होगा।

इसलिये खोज करने पर प्राचीन साहित्य में से ऐसी उक्तियाँ और वाक्य ढूंढे जा सकते हैं, जिनके आधार पर उत्साही लोग यह कह सकते हैं कि उनमें ऐडम स्मिथ के सिद्धान्त का मूल या प्रकृतिवादी लोगों की विचारधारा का सार विद्यमान है। इसके साथ ही (कवियों और दार्शनिकों की उक्तियों के अतिरिक्त) सब प्रथाओं, संस्थाओं और कानूनों में अनिवार्य रूप से कुछ न कुछ अर्थशास्त्रीय सिद्धान्त विद्यमान रहता है, भले ही वह स्पष्ट रूप से व्यक्त न किया गया हो। कोई भी ऐसा कानून, जिसके द्वारा ब्याज लेना मना किया गया हो, ब्याज की वैधता के निषेध का सूचक है और उससे यह भी परिणाम निकाला जा सकता है कि पैसा (मनी) उर्वर नहीं है। उत्तराधिकार के सम्बन्ध में प्रथाओं (या उनके अभाव) से निजी सम्पत्ति के सम्बन्ध में तत्कालीन दृष्टिकोण प्रकट हो जाते हैं। हम्मुराबी के कोड के नावों और बकरियों के किराये की कीमतों और दर्जियों, संगतराशों और अन्य कारीगरों के वेतन नियत किये गये हैं। उनसे यह बात स्पष्ट है कि उस समय उचित कीमत और

प्रमाप वेतन के सम्बन्ध में एक खास प्रकार का दृष्टिकोण था। मूसा के कानून में सब लोगों को दरिद्रता से बचाने की विशद व्यवस्था की गई है; यह आर्थिक दृष्टि से एक ऐसे राज्य की सूचक है, जो दरिद्रता—कानून पर आधारित हो।

इससे दो निष्कर्ष निकलते हैं। पहला तो यह, कि अर्थशास्त्र सिद्धान्त चाहे किसी समाज के कानूनों, प्रथाओं और व्यवहारों में घुला-मिला प्राप्त होता हो और चाहे वह किसी सिद्धान्तशास्त्री की रचनाओं में अलग तलछट के रूप में मिलता हो, वह सदा उस समाज की दशा का सूचक होता है, जिस समाज से वह सम्बद्ध है। इसलिये एक दृष्टि से तुलनात्मक राजनीति का अध्ययन अर्थशास्त्र सिद्धान्त के विकास को सही-सही समझने की एक पूर्व-पीठिका मात्र है। तुलनात्मक राजनीति का अर्थ समाज की बदलती हुई रचना का विश्लेषण भर है। "आर्थिक इतिहास" इस पारिभाषिक शब्द से साधारणतया जो अर्थ समझा जाता है, वह भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। यह केवल संयोग की बात नहीं कही जा सकती, कि मालथस ने जनसंख्या के सम्बन्ध में उस समय अपना ग्रन्थ लिखा, जबकि जनसंख्या तेजी से बढ़ रही थी, या यह कि रिकार्डो ने मुद्रा सम्बन्धी समस्याओं की पेचीदगियों का विवेचन उस समय किया, जब मुद्रा-प्रणाली अव्यवस्थित थी। सारांश यह है कि राजनीतिक अर्थशास्त्र सदा ही समाज के विद्यमान ढाँचे और मान्यताओं के अनुसार इस बात की व्याख्या करने का प्रयत्न करता रहा है कि उस समय का समाज किस प्रकार और किस सिद्धान्त के अनुसार कार्य कर रहा था।

दूसरा निष्कर्ष पहली दृष्टि में कुछ निराशावादी-सा प्रतीत होता है। वह निष्कर्ष यह है कि अर्थशास्त्र के प्रायः सभी नियम एक खास सीमा तक ही वैध होते हैं। यह सम्भव है कि परम्पराओं, पद-प्रतिष्ठा और जात-पाँत पर आधारित किसी समाज के लिये उचित आर्थिक नियम उन नियमों से बहुत भिन्न हों, जो आजकल के औद्योगिक प्रतियोगितात्मक समाज पर लागू होते हैं। यदि किसी अर्थशास्त्र के सैद्धान्तिक विचारक को मध्यकालीन समाज के सम्बन्ध में विचार करने का काम सौंपा जाय, जिसमें सामन्तवाद और जागीरदारी प्रणाली की समस्याएँ विद्यमान थीं, या यूनानी नगर-राज्य के सम्बन्ध में विचार करने को कहा जाय, जहाँ संस्कृति का फूल दासता की खाद पाकर फल-फूल रहा था और या हम्मास के राज्य के सम्बन्ध में विचार करने को कहा

जाय, जो अत्याचार और मधुमक्खियों के छत्ते की-सी सुव्यवस्था पर आधारित था, तो इन सब मामलों में उसके निकाले गये निष्कर्ष एक दूसरे से बहुत भिन्न होंगे। इस प्रकार अर्थशास्त्र-विज्ञान, यदि यह कोई विज्ञान हो तो, दूसरे विज्ञानों से इस दृष्टि से बहुत भिन्न है कि इसमें हम अनिवार्य रूप से अधिकाधिक सुनिश्चितता की ओर नहीं बढ़ते जाते। यहां ऐसे सत्य का सुनिश्चित अनुसन्धान नहीं हो पाता, जो एक बार प्रकट होने पर सदा के लिए सत्य बना रहे और अपने विरोधी सिद्धान्तों को पूर्णतया समाप्त कर दे। अर्थशास्त्र सिद्धान्त के इतिहास में कोई भी बेहूदगी अपने समय में उतनी बेहूदी नहीं जान पड़ती थी, जितनी वह हमें आजकल जान पड़ती है। इसके अतिरिक्त अर्थशास्त्र में ऐसा भी बहुत कम सम्भव हो पाता है कि किसी एक मिथ्या सिद्धान्त को सदा के लिये ऐसा खंडित और त्याज्य कर दिया जाय कि वह भविष्य में फिर कभी स्वीकार न किया जा सके। पुराने सिद्धान्त मरते नहीं हैं, वे केवल कुछ देर के लिये विलीन-से हो जाते हैं और फिर अनुकूल परिस्थितियां आने पर आश्चर्यजनक रूप से, फलने-फूलने लगते हैं। किसी भी युग की प्रमुख विचार-धारा विश्लेषण करने पर सब युगों के विचारों का एक मिश्रित-सा रूप ही प्रतीत होती है, भले ही उसमें अपने युग की कितनी ही विशेषताएं क्यों न हों और कट्टर तथा सर्वसम्मत सिद्धान्तों के नवीनतम पोषक बाद में आने वाली पीढ़ियों को ऐसे प्रतीत होते हैं, जैसे उन्होंने पुराने सिद्धान्तों में केवल थोड़ा सा नया मसाला और मिला दिया हो।

यूनान

पहले-पहल हमें अर्थशास्त्रविषयक मामलों में सिद्धान्तों का निरूपण यूनानी लेखकों में दिखाई पड़ता है, हालांकि उसे भी अर्थशास्त्रीय सिद्धान्त मुश्किल से ही कहा जा सकता है। परन्तु पुराने समय का संसार, यहां तक कि उसका ऐथेंस में प्रकट हुआ रूप भी अनेक कारणों से अर्थशास्त्रीय विचार-विमर्श के लिये बहुत उपयुक्त क्षेत्र नहीं था। इसीलिये हमें यूनानी लेखकों में अर्थशास्त्रीय सिद्धान्त का आभास केवल जहां-तहां बिखरी हुई उक्तियों और टिप्पणियों के रूप में ही प्राप्त होता है और ये उक्तियां तथा टिप्पणियां किसी अन्य उच्चतर विषय को लक्ष्य करके लिखी गयी हैं। हां, उन लोगों की बात अलग है, जो प्रत्येक वस्तु का मूल प्राचीन ग्रन्थों में ही खोज निकालना चाहते

हैं। यूनान जैसे देश में भी, जहाँ विचार-विमर्श और बौद्धिक नवारम्भ (एंटरप्राइज) के अन्य क्षेत्रों में बहुत शानदार काम हुआ, अर्थशास्त्र जैसे विषयों में अपेक्षाकृत बहुत कम उन्नति होने के अनेक कारण हैं। किन्तु उनमें से दो बहुत मुख्य हैं। पहली बात तो यह है कि प्राचीन काल में राज्य मोटे तौर पर एक आश्चर्यजनक रूप से सर्वांग सम्पूर्ण संस्था थी। मनुष्य और नागरिक एक ही था। धर्म राज्य के यन्त्रजात और रहस्य का ही एक अंग था। नीतिशास्त्र और राजनीति परस्पर इस तरह घुल-मिल गये थे कि उन्हें अलग-अलग नहीं किया जा सकता था। भले ही अर्थशास्त्र के प्रतिपाद्य विषय की पूर्णतया उपेक्षा या त्याग नहीं भी किया गया था, तो भी वह नीतिशास्त्र के सामान्य विचार-क्षेत्र का ही एक अंग मात्र समझा जाता था। उसके दो हजार साल बाद भी स्थिति कुछ ऐसी ही थी, जब प्रोफेसर ऐडम स्मिथ ने ग्लासगो में अपनी नैतिक दर्शन की कक्षा में "राष्ट्रों की सम्पत्ति" के सम्बन्ध में परीक्षण किये। किन्तु ऐडम स्मिथ ने अर्थशास्त्र को नीतिशास्त्र से मुक्ति दिलाकर जैसी स्वतन्त्र स्थिति प्रदान करायी, वैसी यूनान में नहीं हो सकी थी। उस समय अर्थशास्त्र नीतिशास्त्र का न केवल सेवक और परिचारक था (जैसा कि शायद उसे सदा रहना भी चाहिये), बल्कि वह अपने अधिक समृद्ध और हृष्ट-पुष्ट भाई के हाथों बुरी तरह कुट-पिट कर समाप्त-सा हो गया था और बाद में जब अनुसन्धानकर्त्ताओं ने अर्थशास्त्र सिद्धान्त के मूल उद्गम की खोज प्रारम्भ की, तो उन्हें प्राचीन साहित्य में उसके केवल अस्त-व्यस्त और खंडित अवशेष ही प्राप्त हो पाये।

अर्थशास्त्र सिद्धान्त की किसी सुसंगत प्रणाली के अभाव का दूसरा कारण और भी अधिक गहरा है। प्राचीन संसार, यदि समूचे रूप में देखा जाय तो जात-पाँत की प्रणाली पर आधारित था और यहाँ तक कि ऐथेन्स भी इसके बाधक प्रभावों से मुक्त नहीं था। नगर राज्य की नींव दासता पर टिकी थी और यह अनिवार्य है कि जहाँ पर दास वर्ग मौजूद होता है, वहाँ दासों को सौंपा गया काम हीन समझा जाने लगता है और उसे करना प्रतिष्ठा को गिराने वाला माना जाता है। सारे प्राचीन काल में और सारे संसार की भाँति यूनान में भी कारीगरों का काम सदा ही कलात्मक जीवन के साथ बेमेल समझा जाता रहा। यूनानी विचारकों को आधुनिक समाज की लगभग

सभी गतिविधियाँ अभद्रजनोचित और पतित करने वाली प्रतीत होतीं । जब काम करने के लिये दास प्राप्त हो सकते हों, तो काम करना दास की निशानी बन जाता है। केवल कृषि ही कई कारणों से यूनानी और रोमन लेखकों की घृणा और आलोचना से बच पायी । इसी का परिणाम यह है कि प्राचीन काल के लेखकों ने कृषि सम्बन्धी अर्थशास्त्र के विवेचन में अन्य क्षेत्रों की अपेक्षा कहीं अधिक प्रगति की । जब "जीवन का सामान्य व्यवहार" ही ऐसा घृणित समझा जाता था, तो यह आशा करना व्यर्थ है कि उसका अध्ययन निरन्तर और स्वतन्त्र अनुसन्धान के योग्य समझा जाता ।

जहाँ तक अर्थशास्त्र सिद्धान्त का सम्बन्ध है, यूनानी लेखकों में सबसे पहले कुछ सुनिश्चितता प्लेटो की रचनाओं में पाई जाती है। उसके अतिरिक्त हेसियोड तथा अन्य लेखकों की रचनाओं में तो केवल इस सम्बन्ध की बुद्धिमत्तापूर्ण सूक्तियाँ ही जहाँ-तहाँ ढूंढी जा सकती हैं। फिर भी प्लेटो में हमें अर्थशास्त्र को नीतिशास्त्र और राजनीति का एक छोटा-सा उपांग मानने की प्राचीन विद्वानों वाली प्रवृत्ति बहुत स्पष्ट दिखायी पड़ती है । प्लेटो ने सबसे अधिक अपनी पुस्तक 'दि रिपब्लिक' में और उससे कुछ कम 'दि लॉज' में, जहाँ उसने "बूढ़े आदमियों की खेल" का विषय लिया है, अर्थशास्त्रीय प्रश्नों पर विचार किया है । पहली पुस्तक में मुख्य रूप से "न्याय" के सम्बन्ध में विवेचन किया गया है और क्योंकि "न्याय" की आधारभूत प्रकृति सबसे अधिक सरलता से राज्य में दिखायी पड़ सकती है (क्योंकि कमजोर निगाह वाले आदमी को बड़े-बड़े अक्षर सरलता से दिखायी पड़ते हैं) इसीलिये वाद-विवाद के पात्र दूसरी पुस्तक में राज्य और उसके उद्गम का विवेचन करना प्रारम्भ करते हैं और इस प्रकार नींव से प्रारम्भ करके एक आदर्श गणतन्त्र की रचना तक पहुँचते हैं। यह बात ध्यान देने योग्य है कि राज्य का उद्गम पूर्ण रूप से आर्थिक कारणों को बताया गया है। "राज्य का जन्म मानव-जाति की आवश्यकताओं के कारण होता है । हम में से कोई भी अपने लिएं स्वयं पर्याप्त नहीं है ; बल्कि हम सब में अनेक अभाव हैं ।"[१] और इसके साथ ही प्लेटो यह भी संकेत करता है कि राज्य के किसी अन्य उद्गम की कल्पना नहीं की जा सकती । मानव-जाति की आधारभूत आवश्यकताओं पर विचार

१ दि रिपब्लिक; जोवेट का अनुवाद, पृष्ठ ४६ ।

करने के उपरान्त प्लेटो इसी युक्ति-परम्परा पर चलता हुआ श्रम के विभाजन सम्बन्धी विवेचन पर पहुँचता है, जिसकी तुलना अनेक बार ऐडम स्मिथ की पुस्तक के प्रसिद्ध अध्याय के साथ की जाती है। मानव-जाति की आधारभूत आवश्यकताएँ भोजन, मकान और वस्त्र हैं। इसलिये राज्य की तुच्छ से तुच्छ धारणा में भी कम से कम चार या पाँच मनुष्य होने चाहिएँ। किसान, राज, जुलाहा और शायद चमार या इसी प्रकार के किसी अन्य पेशे का कोई प्रतिनिधि। इसके साथ ही इनमें से प्रत्येक को अपने पेशे तक ही सीमित रहना होगा। इस प्रकार प्लेटो के विचार से श्रम के विभाजन के सिद्धान्त को लागू करने के लिये मुख्य कारण ये हैं: पहला यह कि, हम मनुष्यों की प्रकृतियाँ भिन्न-भिन्न हैं, जो विभिन्न पेशों के लिये अनुकूल हैं; और दूसरा यह कि, इसके परिणामस्वरूप जब एक आदमी किसी ऐसे एक ही काम को करता है, जो उसके लिये स्वाभाविक है और उस काम को ठीक समय पर करता है और बाकी सब कामों को छोड़ देता है, तो सब वस्तुएँ अधिक मात्रा में, अधिक सरलता से और अधिक उत्कृष्ट कोटि की तैयार होती हैं। केवल इस सिद्धान्त को पूर्ण करने के लिये ही प्लेटो अपने 'राज्य' का विस्तार इतना करता है कि उसमें अन्य बहुत से विभिन्न कारीगर जैसे नाविक, व्यापारी, खुदरा दूकानदार तथा अन्य लोग समाविष्ट हो जायँ।

इस प्रसंग में प्लेटो और ऐडम स्मिथ के विचारों की तुलना अत्यन्त मनोरंजक है। इस आधारभूत समस्या पर विचार करने की प्लेटो की पद्धति ऐडम स्मिथ से बिलकुल भिन्न है। प्लेटो में समस्या का प्रारम्भ नैतिक आधार पर बताया गया है। मनुष्यों के स्वभावों में विविधता होती है और प्रत्येक मनुष्य को वही कार्य करना चाहिये, जो उसके लिये बिलकुल स्वाभाविक हो। पेशों के विभाजन की व्याख्या के रूप में यह बात एक सीमा तक सही समझी जा सकती है; परन्तु आजकल की परिस्थितियों में, जबकि बड़े मान पर उत्पादन की किसी भी प्रणाली में अत्यधिक विशेषता प्राप्त करने की आवश्यकता होती है, यह कहना बिलकुल बेहूदा होगा कि कोई खास काम किसी व्यक्ति के लिये 'स्वाभाविक' है, या वह केवल स्वभाव की विविधताओं के कारण ही किया जा रहा है। श्रम के विभाजन के सम्बन्ध में ऐडम स्मिथ की व्याख्या का प्रारम्भ भी बहुत कुछ बेहूदा-सा है; परन्तु कुछ आगे बढ़ने पर ऐडम स्मिथ ने उसे ऐसा रूप

दे दिया है, जो अधिक युक्तिसंगत और समझ में आने योग्य है। उसका कथन है कि श्रम का विभाजन इसलिये हुआ है, क्योंकि मनुष्यों में वस्तुओं का व्यापार, लेन-देन और विनिमय करने की प्रवृत्ति है; मानों आदमी भी बड़े-बड़े स्कूल के छोकरों की तरह अनेक विभिन्न काम केवल बाद में वस्तुओं का लेन-देन करने का मजा लेने के लिये ही करते हों। परन्तु उससे अगले अनुच्छेद में इस बात को जो पहली दृष्टि में बड़ा विचित्र सिद्धान्त लगती है, कुछ दूसरा ही रंग दे दिया गया है। स्मिथ ने लिखा है, और उसके ये शब्द प्लेटो के शब्दों की याद दिलाते हैं, कि मनुष्य को लगभग सदा ही अपने साथियों से सहायता प्राप्त करने की आवश्यकता होती है; किन्तु (प्लेटो से भिन्न रूप में) वह उनसे यह सहायता केवल उनकी परोपकार वृत्ति के आधार पर ही नहीं पा सकता। इस प्रकार स्मिथ की दृष्टि में श्रम का विभाजन अच्छी तरह सौदेबाजी कर सकने का प्रभावपूर्ण उपाय है। यह एक ऐसा तरीका है, जिसके द्वारा हम अपने भोजन के लिये रसोइये की सहायता पर भरोसा रख सकते हैं, और यह केवल इसलिये नहीं कि रसोइया कोई हम पर उपकार करेगा, बल्कि इसलिये कि उसका अपना हित भी हमारा काम करने में ही है।

इस बिन्दु पर पहुँचकर प्लेटो और ऐडम स्मिथ का एक दूसरे से अन्तर स्पष्ट दिखाई पड़ने लगता है। प्लेटो की दृष्टि में श्रम का विभाजन सामाजिक संगठन का आधार है। नगर की रचना ही श्रम के विभाजन के आधार पर होती है। यहाँ तक कि ऐसा प्रतीत होने लगता है कि यदि किसी समाज में प्रत्येक मनुष्य अपनी सब आवश्यकताओं को पूरा कर लेता हो, तो वहाँ कोई राज्य हो ही नहीं सकता। परन्तु स्मिथ की दृष्टि में श्रम का विभाजन एक ऐसा उपाय है, जिससे अन्ततोगत्वा उन सभी लोगों को फायदा होता है, जो इसका सहारा लेते हैं; क्योंकि इसके द्वारा उनकी सौदेबाजी करने की शक्ति बढ़ जाती है। साथ ही यद्यपि प्लेटो में यह बात बहुत स्पष्ट नहीं है, परन्तु उसकी पुस्तक 'रिपब्लिक' में ऐडम स्मिथ के इस प्रसिद्ध सिद्धान्त का, कि श्रम का विभाजन बाजार के विस्तार द्वारा सीमित हुआ रहता है, विचित्र विलोम-सा दिखाई पड़ता है। 'रिपब्लिक' में लिखा है कि बाजार का विस्तार श्रम के विभाजन को स्वीकार करने की आवश्यकता के अनुसार ही घटता या बढ़ता है। नगर इतना बड़ा होना चाहिये कि उसमें प्रत्येक व्यक्ति वह काम

कर पाने में समर्थ हो, जो उसके लिये स्वाभाविक है। दूसरे शब्दों में स्मिथ के यहाँ श्रम का विभाजन पेशों की विविधता का कारण है और पेशों की विविधता उसका अन्तिम परिणाम है। परन्तु प्लेटो के यहाँ श्रम का विभाजन स्वभाव की विविधता के फलस्वरूप उत्पन्न होता है।

प्लेटो का नाम आदर्श राज्य में साम्यवाद की वकालत करने के सम्बन्ध में बहुत बार लिया जाता है। परन्तु प्लेटो के साम्यवाद की प्रमुख विशेषताओं को समझने के लिये दो बातों पर विचार करना आवश्यक है। (क) साम्यवाद का क्षेत्र और (ख) इन साम्यवादी संस्थाओं का उद्देश्य। इन दोनों बातों को देखने के लिये प्लेटो की 'रिपब्लिक' के तीसरे खंड के अन्तिम भाग वाले उस स्मरणीय प्रसंग की युक्ति परम्परा का अध्ययन करना अत्यन्त उपयोगी होगा, जिसमें साम्यवाद के सिद्धान्त की स्थापना की गयी है। यह हम देख चुके हैं कि नगर इतना बड़ा होना चाहिये कि जिसमें श्रम के विभाजन के सिद्धान्त को पूरी तरह लागू किया जा सके; उसमें व्यापारी, आयातकर्त्ता और निर्यातकर्त्ता होने चाहिएँ, उसमें एक संगठित बाजार होना चाहिये, जिसमें मुद्रा-प्रणाली भी विद्यमान हो; उसमें खुदरा व्यापारी और नौकरी पेशा आदमी भी होने चाहिएँ। यहाँ आकर युक्ति जरा रुक जाती है। हम एक ऐसे राज्य तक पहुँच गये हैं, जो विकसित और पूर्ण हो चुका है। यहाँ ऐसे नगर के निवासियों के सादे जीवन के सम्बन्ध में सुकरात के मुँह से एक अत्यन्त प्रशंसापूर्ण पद्य भी कहलवाया गया है। उसके बाद ग्लोकोन यह आक्षेप करता है कि ऐसा शहर तो केवल 'सूअरों का शहर' होगा, जिसमें जीवन की मामूली सुविधाएँ भी प्राप्त नहीं होंगी; और इसके बाद युक्ति-परम्परा फिर आगे बढ़ चलती है। अब जिस चीज पर विचार किया जाना है, वह है समृद्ध और विलासपूर्ण राज्य। यद्यपि इससे आगे का विचार-विमर्श साधारणतया एक आदर्श राज्य का विवरण समझा जाता है, परन्तु सुकरात बिलकुल स्पष्ट शब्दों में कहता है कि मेरी सम्मति में राज्य का स्वस्थ और सच्चा रूप वही है, जिसका मैं पहले वर्णन कर चुका हूँ अर्थात् ग्लोकोन के शब्दों में सूअरों का शहर। आगे जिस चीज पर विचार-विमर्श किया जाना है, वह है सुकरात के शब्दों में "ज्वरोष्ण दशा में विद्यमान राज्य"। और ग्लोकोन की "जीवन की सामान्य सुविधाओं" के लिये प्रकट की गई इच्छा का पहला परिणाम यह हुआ है कि समाज की गतिविधियों

में अत्यधिक विस्तार कर दिया गया है। उसमें अभिनेताओं, नर्तकों, नाइयों, हलवाइयों तथा इसी प्रकार के अन्य अनेक पेशे वाले लोगों की वृद्धि कर दी गयी है, और शायद यह व्यंग-सा प्रतीत हो; डाक्टरों की संख्या भी बढ़ा दी गयी है। युक्ति-परम्परा की मुख्य दिशा के साथ सम्बद्ध बात यह है कि अब राज्य को अपने पड़ोसियों के प्रदेश में से कुछ भाग प्राप्त करने की आवश्यकता होगी। दूसरी ओर वे पड़ोसी भी इसी प्रकार दूसरों की भूमि का कुछ भाग प्राप्त करने के इच्छुक होंगे, क्योंकि इन कल्पित दशाओं में मनुष्यों की संख्या "आवश्यकता की सीमा" से अधिक बढ़ चुकी होगी और वे लोग असीमित सम्पत्ति का संचय करने में जुटे हुए होंगे। इसके फलस्वरूप जनसंख्या में और भी अधिक वृद्धि होगी और इस बार पूरी की पूरी सेना तैयार हो जायगी।

इस प्रकार हम राज्य के रक्षकों तक आ पहुँचते हैं। ये रक्षक लोग एक ऐसी कला का अभ्यास करते हैं, जो किसी भी दूसरे पेशे के साथ मिलाई नहीं जा सकती; क्योंकि एक आदमी एक से अधिक कलाओं का अभ्यास सरलता-पूर्वक नहीं कर सकता। इन रक्षकों का चुनाव बहुत सावधानी से किया जाना चाहिये और इसी प्रकार उनकी शिक्षा भी अत्यन्त सावधानी के साथ होनी चाहिये। इन रक्षकों में कुछ परस्पर विरोधी से दीख पड़ने वाले गुणों का समावेश होना चाहिये; जैसे वे शत्रुओं के प्रति तो अत्यन्त भयंकर हों और मित्रों के प्रति अत्यन्त भद्र हों। यहाँ पर इन रक्षकों की शिक्षा के सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन से हमें प्रयोजन नहीं है और न हमें "पूर्ण अर्थों में रक्षकों" (वास्तविक शासकों) और उनके सहायकों में किये गये अन्तर से ही कोई प्रयोजन है। किन्तु जिन शब्दों में साम्यवाद का प्रतिपादन किया गया है उनका महत्त्व इसलिये बहुत अधिक है, क्योंकि उनसे उस साम्यवाद का क्षेत्र और उद्देश्य स्पष्ट हो जाता है। इन रक्षकों को एक ऐसा स्थान ढूंढना होगा, जहाँ रहकर वे राज्य के अन्दर होने वाले विद्रोहों को दबा सकें और देश पर बाहरी शत्रुओं की ओर से होने वाले आक्रमणों से देश की रक्षा कर सकें। यहाँ पर उन्हें अपनी राजधानी बनानी होगी। इसके अतिरिक्त इस संकट को टालने के लिये, कि कहीं वे नागरिकों के मित्रों के स्थान पर उनके शत्रु ही न बन जायं, उन्हें अपना रहन-सहन ऐसा बनाना होगा, जिससे उन्हें दूसरे नागरिकों पर लूट-खसोट करने का लोभ न रहे। परिणामतः उन्हें बहुत कुछ तपस्वियों का-सा जीवन अपनाना होगा। अपनी

आवश्यकताओं से अधिक वे किसी प्रकार की संपत्ति न रख सकेंगे। उन्हें बँधा हुआ वेतन मिला करेगा। यह वेतन इतना होगा, जो उनके खर्चों के लिये पर्याप्त हो और उससे अधिक न हो। "यदि वे रक्षक कभी अपने मकान बनालें या जमीनों पर कब्जा कर लें या अपना धन जमा कर लें, तो वे सामान्य गृहस्थ या किसान बन जायेंगे और रक्षक नहीं रहेंगे। वे दूसरे नागरिकों के मित्र न रहकर उनके शत्रु और अत्याचारी शासक बन जायेंगे।"[1]

पहली बात तो यह है कि जहाँ तक प्लेटो के साम्यवाद के क्षेत्र का सम्बन्ध है, यह बात युक्ति-परम्परा से बिलकुल स्पष्ट है कि यह साम्यवाद केवल रक्षकों के एक सीमित वर्ग के लिये ही निर्धारित किया गया है और इस रक्षकों के वर्ग को अपना सारा जीवन अर्ध-सैनिक रूप में व्यतीत करना है। वस्तुतः यह शिविर का साम्यवाद है। कुछ लोगों ने इससे विपरीत दृष्टिकोण के सम्बन्ध में भी युक्तियाँ दी हैं, जिनका उल्लेख यहाँ करने की आवश्यकता नहीं है और एक प्रामाणिक विद्वान ने यह निष्कर्ष निकाला है कि "रिपब्लिक का उथला-सा अध्ययन करने से यह प्रभाव पड़ता है कि प्लेटो साम्यवाद का विधान केवल इन्हीं ऊपरी वर्गों के लिये करता है"[2]। यह बता देना शायद पर्याप्त होगा कि अरस्तू भी शायद इसी प्रकार का उथला अध्ययन करने वाले पाठकों में से एक था। यह बात पूर्णतया पर्याप्त समझी जानी चाहिये कि प्लेटो ने बहुत जोर देकर यह कहा है कि हमने ये नियम रक्षकों के लिये ही बनाये हैं; और इससे भी अधिक निश्चायक उसका यह कथन है कि यदि रक्षक लोग अपना साम्यवादी जीवन त्याग देंगे तो वे सामान्य गृहस्थ और किसान बन जायेंगे।

इसके बाद दूसरे नम्बर पर रक्षकों के इस साम्यवाद के उद्देश्य का प्रश्न उठता है। यह बात साफ दिखाई पड़ती है कि प्लेटो के साम्यवाद का ध्येय अन्य साम्यवादी स्वप्नदर्शियों से बिलकुल भिन्न था। दूसरे साम्यवादी लोग साम्यवाद की पुकार संसार में अत्यधिक असमानता और अन्याय से खिन्न होकर मचाते हैं; परन्तु प्लेटो में यह बात नहीं है। उसके रक्षकों के लिये साम्यवाद तपस्वियों के त्याग का-सा एक कार्य है। यह एक ऐसी शर्त है, जिसे पूरा करने के बाद ही वे अपने कर्तव्यों का उचित रीति से पालन कर सकते हैं। जो काम उन्हें सौंपा गया है, वह इतना महत्त्वपूर्ण है कि वे उसे ठीक ढंग से तभी निबाह

१. वही; खंड ३, पृष्ठ १०६। २. बीयर; सोशल स्ट्रगल इन ऐन्टीक्विटी; पृष्ठ ५७।

सकते हैं, जबकि वे इस संसार के प्रलोभनों और उलझनों से मुक्त रह सकें। इसलिये ध्येय की दृष्टि से प्लेटो का यह साम्यवाद बहुत कुछ उसी प्रकार का है, जैसी रोमन कैथोलिक पादरियों के लिये अविवाहित रहने की शर्त होती थी। प्लेटो के साम्यवाद का उद्देश्य किसी भी दशा में समान आनन्दोपभोग के अधिकार की स्थापना करना नहीं था, बल्कि एक प्रकार से यह तो उस कीमत का ही एक भाग है, जो उस वर्ग को चुकानी पड़ेगी, जिसके सिर विशेष उत्तरदायित्वों का बोझ डाला गया है। यह सारी व्यवस्था रक्षकों को जीवन की सामान्य असुविधाओं से मुक्त रखने के लिये ही की गयी है। इस तथ्य की पुष्टि इस छोटी-सी बात से और हो जाती है कि प्लेटो ने यह व्यवस्था की है कि जहां किसी स्त्री-रक्षक के बच्चा पैदा हो, वहां बच्चे को दूध पिलाने की अवधि बहुत लम्बी नहीं की जायगी। "माता को रात में उठना नहीं होगा और न इसी प्रकार की कोई अन्य असुविधा ही सहन करनी होगी। उसे इस प्रकार का सब काम दाइयों और नौकरों को सौंप देना होगा।"[1]

'रिपब्लिक' की शिक्षाओं के पूरक के रूप में 'दि लॉज' पर भी एक हल्की दृष्टि डाल लेना लगभग आवश्यक हो है। 'दि लॉज' एक ऐसे वृद्ध व्यक्ति की रचना है, जिसका उत्साह ठंडा पड़ चुका है। कुछ विचारकों का ख्याल है कि आयु बढ़ने के साथ-साथ प्लेटो की आँखें भी खुल गई थीं और इसीलिये इस रचना में उतना उत्साह नहीं है। फिर भी इस पुस्तक में भी प्लेटो अपने पुराने आदर्श से ही चिपका हुआ है। "राज्य, सरकार और कानून का सर्वप्रथम और सर्वोच्च प्रकार वह है, जिसमें यह प्राचीन कहावत अधिकतम रूप से चरितार्थ होती हो, कि 'मित्रों की सब चीजें साझी होती हैं'।"[2]

परन्तु ऐसा राज्य तो देवताओं का या देवताओं के पुत्रों का राज्य होगा। इसीलिये वह अब एक ऐसे राज्य की रूपरेखा प्रस्तुत करता है जो "तैयार हो जाने के बाद देवत्व के अधिकतम निकट होगा और केवल ऐसा राज्य ही दूसरे नंबर पर सर्वोत्तम राज्य समझा जा सकता है।" ऐसे राज्य में ५०४० व्यक्ति रहते होंगे, क्योंकि नगर बहुत बड़ा न होना चाहिये और यह उचित है कि सब नागरिक एक दूसरे को जानते-पहचानते हों; और साथ ही यह संख्या प्रशासन की दृष्टि से भी

१. दि रिपब्लिक; जोवैट का अनुवाद, पृष्ठ १५४।
२. दि लॉज़; जोवैट का अनुवाद, पृष्ठ १२१।

सुविधाजनक है, क्योंकि यह १० तक के सब अंकों से विभक्त हो सकती है। अब साम्यवाद का कोई प्रश्न बाकी नहीं रहता, क्योंकि वस्तुओं का साझा स्वामित्व उनके प्रस्तावित उद्गम, वृद्धि और शिक्षण से आगे पहुँच जाता है। यहाँ पर सब नियमों का उद्देश्य जीवन की एक ऐसी मध्यम और सन्तुष्ट दशा को लाना है, जो इस सिद्धान्त पर आधारित हो कि दरिद्रता का नाप मनुष्य की इच्छाओं की वृद्धि के आधार पर होना चाहिये, उसकी सम्पत्ति की अल्पता के आधार पर नहीं। इस राज्य में कोई भी व्यक्ति दैनिक व्यवहार के लिये सिक्के के अतिरिक्त अन्य किसी रूप में सोना या चाँदी अपने पास नहीं रख सकेगा। देश की मुद्रा उस देश की विशेष रूप से अपनी ही होगी और उस देश से बाहर उसका चलन नहीं होगा। लोगों की दशा की विषमता को रोका नहीं जा सकता, परन्तु अत्यधिक गरीबी और अत्यधिक अमीरी के कारण उत्पन्न होने वाली अनुचित विषमता की रोक-थाम की जानी चाहिये। इस प्रयोजन के लिये कुल जनसंख्या को चार वर्गों में बाँट दिया जाय। दरिद्रता की सीमा एक इकाई होनी चाहिये; उससे नीचे किसी को दरिद्र न होने दिया जाय। अमीरी की सीमा चार इकाई होनी चाहिये, और उससे अधिक धन जिसके पास हो, उससे राज्य ले ले।[1] पैसा सूद पर उधार न दिया जाय; और इससे भी अधिक आश्चर्यजनक बात यह है कि उधार लेने वाले पर मूल को लौटा देने का भी दायित्व नहीं होगा। इस व्यवस्था की व्याख्या इस आधार पर की जा सकती है कि यह समाज भले ही सगे भाइयों का समाज न हो, फिर भी अर्ध-बन्धुओं का समाज होगा और किसी भी व्यक्ति को अपने पास एक सीमित मात्रा में ही धन रखने की अनुमति होगी; उससे अधिक नहीं।[2]

कुछ पुराने प्रतिबन्ध यहाँ भी ज्यों के त्यों विद्यमान हैं। कोई भी नागरिक हाथ की कारीगरी के काम नहीं करेगा; क्योंकि नागरिकता अपने आप में एक कला है, जिसके लिये अत्यधिक अध्ययन और बहुत प्रकार का ज्ञान प्राप्त करने की आवश्यकता होती है और नागरिकता को गौण पेशा नहीं बनाया जा सकता। कोई भी व्यक्ति दो पेशे नहीं अपनायेगा; इस नियम की दृष्टि से नागरिकता को भी एक कला ही समझा जायगा और सदाचार का अध्ययन एक पूरे समय का पेशा समझा जायेगा।

अन्य बातों में से एक उल्लेखनीय बात सम्भवतः यह है कि यह दूसरे

१. वही; पृष्ठ १२७। २. वही; पृष्ठ १२४।

तम्बर पर सर्वोत्तम राज्य में व्यापार बिल्कुल स्वतन्त्र होगा। इसमें आयात और निर्यात पर किसी प्रकार का शुल्क न होगा। केवल इतना प्रतिबन्ध अवश्य होगा कि अनावश्यक विलास की वस्तुओं का आयात नहीं किया जा सकेगा, और न देश से उन वस्तुओं का निर्यात ही किया जा सकेगा, जिनकी देश में उपभोग के लिये आवश्यकता है।[1] खुदरा व्यापार का निषेध किया गया है और साथ ही एक विचित्र इच्छा यह भी व्यक्त की गई है कि नगर को समुद्र से काफी दूर बसाया जाय, जिससे वहाँ सदाचार और पवित्रता की रक्षा हो सके; क्योंकि "दैनिक साथी के रूप में समुद्र बहुत आनन्ददायक वस्तु है, परन्तु इसकी एक अत्यन्त कटु विशेषता और भी है; वह यह कि इसके कारण नगर की गलियाँ व्यापारियों और दूकानदारों से भर जाती हैं और लोग अनुचित और मिथ्या आचरण करने लगते हैं।"[2] 'दि लॉज' में प्रस्तावित राज्य की शेष विस्तृत विवेचना पर विचार करना यहाँ अनावश्यक है।

जब हम अरस्तू की ओर अभिमुख होते हैं तो हमारे सामने एक ऐसा लेखक उपस्थित होता है, जिसने अपने विश्लेषणात्मक मस्तिष्क द्वारा अर्थशास्त्र को एक पृथक् विज्ञान के रूप में विकसित करने की दिशा में प्राचीन काल के अन्य सब लेखकों की अपेक्षा कहीं अधिक सफलता प्राप्त की थी। यहाँ उसके राजनीतिक सिद्धान्तों के सम्बन्ध में विचार करने का अवकाश नहीं है, परन्तु उसकी इस प्रारम्भिक स्थापना ने, कि मनुष्य स्वभावतः एक राजनीतिक प्राणी है, उसकी दृष्टि में राजनीति विज्ञान को उच्च आसन पर प्रतिष्ठित कर दिया और यही कारण है कि उसने नीतिशास्त्र और अर्थशास्त्र का अध्ययन भी राजनीतिक दृष्टिकोण से ही किया है। अर्थशास्त्री के लिये दो बातें विशेष रुचि की हैं। इनमें से पहली है अरस्तू द्वारा की गयी प्लेटो के साम्यवाद की विध्वंसक आलोचना, जो 'पोलिटिक्स' पुस्तक के द्वितीय खंड में की गयी है; और दूसरी बात है अरस्तू का कुटुम्ब (हाउस होल्ड) का विश्लेषण, जिसमें उसने समाज के आर्थिक आधारों के सम्बन्ध में विचार-विमर्श किया है। पहली बात के सम्बन्ध में सब कालों की युक्तियों को सुन चुकने के बाद अरस्तू की स्थापनाएँ बहुत कमजोर मालूम होती हैं। पत्नियों के साझे स्वामित्व के कारण उत्पन्न होने वाली कठिनाइयों के सम्बन्ध में

१. वही; पृष्ठ २३० । २. वही; पृष्ठ ८७ ।

उसने जो कुछ कहा है, उस पर विचार करने के लिये हमें रुकने की आवश्यकता नहीं है। यह कभी भी बहुत उग्र समस्या नहीं रही और (आशा करनी चाहिये कि) यह अब भी कोई उग्र समस्या नहीं है। परन्तु उसने सम्पत्ति के साझे स्वामित्व के सम्बन्ध में जो कुछ कहा है, वह अब भी वैसा ही महत्त्वपूर्ण समझा जा सकता है, जैसा उसके समय था। यह बात अब भी सत्य है कि "लोग अपनी निजी सम्पत्ति की ओर सबसे अधिक ध्यान देते हैं, और उस सम्पत्ति की ओर कहीं कम ध्यान देते हैं, जिनमें उनका केवल आंशिक स्वामित्व रहता है।"[1] उदाहरण के तौर पर किसी भी सार्वजनिक पार्क में पड़ी हुई बेंचों की तुलना में अपने घर में रखे हुए सोफा सेट को देखा जा सकता है। सार्वजनिक बेंचें अत्यन्त दुर्दशा में होती हैं और घरेलू सोफा सेट बहुत सँभालकर रखे जाते हैं।

अधिकांशतः अरस्तू की युक्तियाँ अत्यधिक व्यावहारिक ढंग की हैं। संक्षेप में उसका कथन है कि साम्यवादी प्रणाली सफल नहीं हो सकती और यह प्रणाली मनुष्य की स्वाभाविक वृत्तियों के प्रतिकूल है। साम्यवाद के अन्तर्गत उन लोगों में परस्पर झगड़े होंगे, जो लोग अधिक काम करते हैं और उसका कम प्रतिफल पाते हैं तथा वे, जो कम काम करते हैं और उसका अधिक प्रतिफल पाते हैं।[2] दुर्बल, ईर्ष्यालु और सन्देही मनुष्यों में वितरण के विषय में यह कठिनाई अत्यन्त प्राचीन समय से चली आ रही है। साम्यवाद के आधार पर निर्मित एकता वस्तुतः एक भ्रम है। जेब साझी होने के कारण छोटी-छोटी बातों पर झगड़े हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त निजी सम्पत्ति की भावना में बहुत अधिक लाभ है। यह मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्तियों के अनुकूल है। "प्रत्येक मनुष्य का अपने प्रति अत्यधिक प्रेम निरर्थक नहीं है।" उसके इस वाक्य में हमें एडम स्मिथ के अदृश्य हाथ की-सी ध्वनि सुनाई पड़ने लगती है। एक और युक्ति देते हुए, जो आजकल भी बहुत प्रचलित है, यद्यपि उसकी विश्वासोत्पादकता में सन्देह है, वह कहता है कि सम्पत्ति का साझा स्वामित्व उदारता की भावना को नष्ट कर देगा। अरस्तू की अपनी स्थिति केवल निषेधात्मक नहीं है। सब कालों में सुधारक लोग जिस प्रकार जल्दबाजी से काम करते रहे हैं, उसके

१. पोलिटिक्स; खंड २, अध्याय ३। वेल्डन का अनुवाद; पृष्ठ ४३।
२. वही; खंड २, अध्याय ५, पृष्ठ ४८।

प्रतिकूल उसकी स्थापना है कि बुराइयाँ उस संस्था के कारण नहीं हैं, जिसे साम्यवाद नष्ट करना चाहता है। (इस मामले में वह संस्था निजी सम्पत्ति की संस्था है), अपितु मानव-स्वभाव में विद्यमान दोषों के कारण है। जब तक पहले मानव-स्वभाव में सुधार न किया जाय, तब तक एक ऐसी वस्तु को नष्ट करने से कोई लाभ न होगा, जिसका प्रयोग अच्छे और बुरे दोनों ही कामों के लिये किया जा सकता है। "यदि वर्तमान प्रणाली को इस प्रणाली के अन्तर्गत रहने वाले लोगों के नैतिक बल और उपयुक्त कानूनों द्वारा सुधार दिया जाय, तो वह साम्यवाद की अपेक्षा कहीं अधिक उत्कृष्ट होगी।"[1] इस प्रकार अरस्तू ने जिस आदर्श की रूपरेखा प्रस्तुत की है, वह है सम्पत्ति का निजी स्वामित्व, और जहाँ तक क्रियात्मक रूप से सम्भव हो, उसका साझी उपभोग। आधुनिक भाषा में इसे कहा जाय तो धन के उत्तरदायित्व की भावना द्वारा मृदु कर दी गई निजी सम्पत्ति। यह स्थिति ईसाई समाजवादियों की स्थिति से बहुत भिन्न नहीं है।

साम्यवाद के सम्बन्ध में विवाद के अतिरिक्त अरस्तू की आर्थिक शिक्षाओं का मुख्य भाग 'पोलिटिक्स' के प्रथम खंड में है। उसका यह विवेचन उसके राज्य के सामान्य सिद्धान्त के अन्तर्गत हुआ है। सभी दशाओं में राज्य का अस्तित्व बिलकुल स्वाभाविक होता है। राज्य उससे पूर्व के संगठनों, कुटुम्ब और ग्राम का पूर्ण विकसित रूप है और इसी के अनुसार अरस्तू पहले कुटुम्ब की अर्थ-व्यवस्था का विवेचन प्रारम्भ करता है। युक्ति-क्रम की दृष्टि से उसका पहला कदम होना भी यही चाहिये। यहाँ तीन आधारभूत सम्बन्ध हैं, जिन्हें ध्यान में रखना चाहिये: एक तो स्वामी और दास का; दूसरा पत्नी और पति का; और तीसरा माता-पिता और बच्चों का। घरेलू अर्थ-व्यवस्था का चौथा और अन्तिम भाग है वित्त-साधन (फाइनेंस) की कला। वित्त-साधन की कला को घरेलू अर्थ-व्यवस्था से भिन्न वस्तु समझना चाहिये। क्योंकि वित्त-साधन का कार्य है उपभोग के योग्य वस्तुओं की व्यवस्था करना और घरेलू अर्थ-व्यवस्था का कार्य है उन प्राप्त वस्तुओं का उपयोग करना।[2]

जिस विभाग में स्वामी और दास[3] के सम्बन्धों का विवेचन किया गया है,

१. वही; खंड १, अध्याय ५, पृष्ठ ४९। २. वही; खंड १, अध्याय ३ और ८।
३. वही; खंड १, अध्याय ५ और ६।

उसी में अरस्तू द्वारा दास-प्रथा का विद्वत्तापूर्ण समर्थन है, जो आज के युग में बहुत विचित्र-सा जान पड़ता है। अरस्तू का कथन है कि शासन और दासता का नियम अनिवार्य है और लाभदायक है। कुछ लोग "स्वभावतः दास" होते हैं, जो अन्य लोगों की अपेक्षा उतने ही हीन होते हैं, जितना शरीर आत्मा से हीन है, या पशु मनुष्य से हीन है। ऐसी दशाओं में दासतापूर्ण अधीनता का जीवन कहीं अधिक लाभदायक है। अरस्तू का ध्यान इस आक्षेप की ओर गया था और उसने इसे इस रूप में प्रस्तुत किया है कि यह सम्भव है कि "प्रकृति की इच्छा के विपरीत कुछ लोग ऐसे हों, कि जिनके शरीर तो स्वतन्त्र मनुष्यों के हों, किन्तु उनकी आत्माएँ स्वतन्त्र मनुष्यों की न हों और इसी प्रकार कुछ ऐसे मनुष्य भी हो सकते हैं, जिनकी आत्माएँ तो स्वतन्त्र मनुष्यों की हों, किन्तु उनके शरीर पुष्ट न हों।"[1] क्योंकि यदि ऐसे लोग हों भी, जो स्वभावतः दास हों, तो यह मानने के लिये अत्यधिक विश्वास की आवश्यकता है कि जीवन की दुर्घटनाएँ किसी खास समय पर दासों और दास-भिन्न लोगों को "स्वभावतः" दास की परिभाषा के अनुसार छाँटकर अलग-अलग कर सकेंगी। इसलिये वह स्वभावतः दास और कानूनी दासों में अन्तर करता है और कहता है कि कानून एक ऐसी प्रथा है, जिसके अनुसार युद्ध में जीती हुई सब वस्तुएँ विजेता की सम्पत्ति होती हैं। उसका यह सारा विवेचन कौतूहलजनक है और पाठक को विश्वास दिला पाने में असमर्थ है। इसका सर्वोत्तम रूप अधिक से अधिक इस तथ्य की पृष्ठभूमि में ही देखा जा सकता है कि न केवल उस समय अधिकांश दासों के साथ बहुत अच्छा व्यवहार किया जाता था, बल्कि यदि दास-प्रथा न होती तो दासों का जीवन और भी अधिक दुःखमय और दयनीय होता।

धन कमाने या धन संग्रह करने के प्रश्न पर आकर अरस्तू यह दिखाने का प्रयत्न करता है कि यह कहाँ तक घरेलू अर्थ-व्यवस्था का अंग है या नहीं। स्पष्ट है कि धनोपार्जन घरेलू अर्थ-व्यवस्था का अंग होना ही चाहिये, क्योंकि कुटुम्ब को उन वस्तुओं की आवश्यकता होती है, जिनका प्रयोग किया जाना है। यदि वे वस्तुएँ पहले से ही प्राप्त नहीं हैं, तो उन्हें प्राप्त करने की व्यवस्था की ही जानी चाहिये। इसके फलस्वरूप सच्ची या वास्तविक सम्पत्ति में, जिसकी एक सीमा है और दूसरी एक अस्वाभाविक प्रकार की सम्पत्ति जमा

१. वही; खंड १, अध्याय ६; वैल्डन; पृष्ठ १३।

करने में अन्तर किया गया है। इस दूसरी प्रकार की सम्पत्ति को जमा करते जाने की कोई सीमा नहीं है। इसे हम 'बुरे अर्थ में वित्त-साधन' कह सकते हैं। प्रकृति मनुष्य को जीवन निर्वाह के अनेक साधनों की उपलब्धि कराती है और ये साधन विभिन्न उपायों से इकट्ठे किये जाते हैं। इसलिये मनुष्यों को उनके रहन-सहन के आधार पर बंजारे, किसान, डाकू, मछियारे और शिकारी इत्यादि वर्गों में बाँटा जा सकता है। इन उपायों से प्राप्त होने वाली सम्पत्ति, "प्रकृति द्वारा दी गयी सम्पत्ति" है। इस प्रकार की सम्पत्ति, और केवल इसी प्रकार की सम्पत्ति ही सच्ची या वास्तविक सम्पत्ति कहलायेगी। इस सूची में डाकू का परिगणन विचित्र मालूम होता है; और इसके अतिरिक्त यह बाकी सारी विचारधारा प्रकृतिवादी (फीजियोक्रैट) विचारकों की विचार-धारा का पूर्वाभास मात्र है। यहाँ भी, जहाँ तक सच्ची सम्पत्ति का सम्बन्ध है, अर्थात् जहाँ तक जीवन-निर्वाह के साधनों को प्राप्त करने का सम्बन्ध है, उसकी एक निश्चित सीमा है, क्योंकि इस अर्थ में सम्पत्ति की सीमा कुटुम्ब और राज्य की आवश्यकताओं और उद्देश्य द्वारा सीमित हुई रहेगी।

इसके विपरीत एक और प्रकार का वित्त-साधन[1] है, जिसका अस्तित्व स्वाभाविक नहीं है और जिसका आधार अन्ततोगत्वा उसी प्रकार का एक विभेदन है, जैसा बाद में जाकर उपयोग-मूल्य और विनिमय-मूल्य के सम्बन्ध में किया गया था। प्रत्येक वस्तु के दो उपयोग होते हैं। जूते का एक उपयोग यह है कि उससे पाँव की रक्षा की जाती है; किन्तु उसका एक उपयोग यह भी है कि उसे एक विनिमय के पदार्थ के रूप में लिया या दिया जा सकता है। जब तक हम आदिकालीन वस्तु-विनिमय के क्षेत्र में रहे, तब तक हमारा सम्बन्ध केवल स्वाभाविक सम्पत्ति से ही रहता है; परन्तु जब हम खुदरा व्यापार के क्षेत्र में आते हैं, तो वह स्थिति समाप्त हो जाती है; क्योंकि यहाँ आकर विनिमय उस सीमा के बाद भी जारी रहता है, जहाँ तक वह केवल आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये पर्याप्त है। वास्तविक आवश्यकता को पूर्ण करने के लिये बिलकुल सीधे-सादे वस्तु-विनिमय से प्रारम्भ होकर, वित्त साधन का बुरा रूप (खुदरा व्यापार) मुद्रा-प्रणाली के प्रचलन के पश्चात् एक स्वाभाविक परिणाम के रूप में विकसित हो जाता है। इस रूप की क्रमशः आगे

१. वही; खंड १, अध्याय ९।

आने वाली स्थितियों का बहुत कुछ ठीक-ठीक अनुमान जेवन्स ने अपनी पुस्तक में किया है। स्वाभाविक अर्थों में वित्त-साधन घरेलू अर्थ-व्यवस्था का एक अंग है, किन्तु अस्वाभाविक वित्त-साधन घरेलू अर्थ-व्यवस्था का अंग नहीं है। इस दशा में इस वित्त-साधन से केवल विनिमय के द्वारा ही पैसा या द्रव्य उत्पन्न होता है और इस क्षेत्र में सम्पत्ति की कोई सीमा नहीं है। एक प्रकार का वित्त-साधन अर्थात् स्वाभाविक और स्वस्थ वित्त-साधन वह कहा जा सकता है, जिसमें जीवन-निर्वाह के साधन प्राप्त करने की कोशिश की जाती है। इसमें वे साधन प्राप्त किये जाते हैं, जिन्हें प्रकृति को स्वयं प्रदान करना चाहिये। दूसरे प्रकार का अर्थात् अस्वाभाविक वित्त-साधन केवल पैसा जमा करना ही है। इनमें से पहला प्रशंसनीय है, जबकि दूसरा एक पक्ष को लाभ पहुँचाता है और दूसरे पक्ष को हानि। परन्तु वित्त-साधन के सब बुरे रूपों में सब से अधिक बुरा रूप सूदखोरी का है; क्योंकि यहाँ पर पैसा अपने आप में लाभ उत्पन्न करने लगता है और इसीलिये पैसा उस उद्देश्य में नहीं लगाया जाता, जिसके लिये वह बनाया गया था।

अपने अन्तिम वर्गीकरण में वित्त-साधन के स्वस्थ प्रकार, जो घरेलू अर्थ-व्यवस्था का एक अंग है और जिसके अन्तर्गत पशु-पालन, कृषि, मधुमक्खी-पालन जैसी प्रारम्भिक वस्तुएँ आती हैं और अस्वाभाविक वित्त-साधन, जो व्यापार का अंग है और जिसके अन्तर्गत वाणिज्य, सूदखोरी और मजदूरी करवाना इत्यादि आते हैं, के अतिरिक्त अरस्तू ने एक तीसरे प्रकार के वित्त-साधन की भी गुंजाइश रखी है, जो इन दोनों के बीच की वस्तु है, और जिसमें इन दोनों की कुछ-कुछ विशेषताएँ पाई जाती हैं। इस प्रकार के वित्त साधन का सम्बन्ध भूमि की उपजों से है, जो अपने आप आगे कोई फल नहीं देता, जैसे लकड़ी काटना या खनिज निकालना—वे व्यवसाय जिन्हें अब हम निष्कासनात्मक (ऐक्सट्रैक्टिव) व्यवसाय कह सकते हैं।

'पोलिटिक्स' के अतिरिक्त अरस्तू की दूसरी पुस्तक 'निकोमेकियन ऐथिक्स' में (खंड ५; अध्याय ७ और ८) भी एक ऐसा प्रसंग है, जो अर्थशास्त्री के लिये दिलचस्पी का विषय है। यहाँ पर अरस्तू निजी व्यवहारों में न्याय के सम्बन्ध में चर्चा कर रहा है। अनुपात के जिस गणितात्मक सिद्धान्त में उसका यह सिद्धान्त दबा हुआ है, उसे उसने यहाँ छोड़ दिया है और उसके कथन का

केन्द्र-बिन्दु यह है कि "जब लोगों को विनिमय के फलस्वरूप ठीक उतनी ही वस्तु प्राप्त हो जाय, जितनी उनके पास विनिमय से पूर्व थी, न उससे कम और न उससे ज्यादा, तो यह कहा जाता है कि उनके पास उतनी ही वस्तु रही, जितनी उनकी थी; न उन्हें नुकसान हुआ और न उन्हें लाभ हुआ।"[1] अब इस सिद्धान्त को लागू किस प्रकार किया जाय ? यदि वस्तुओं का विनिमय किया जाना है, तो किसी न किसी रूप में उनकी परस्पर तुलना हो सकनी चाहिये और इसीलिये पैसे या द्रव्य का आविष्कार किया गया है। पैसा सब चीजों को नापता है, और परिणामस्वरूप यदि हम एक चमार और राज का मामला लें, तो पैसा उतने जूतों की संख्या को नापता है, जो मूल्य में एक मकान के बराबर होंगे। "इस प्रकार राज और चमार में जो अनुपात है, वही जूतों का एक मकान के साथ होना चाहिये। इसी प्रकार जूतों का अनुपात एक समय के भोजन से भी ढूंढ निकाला जा सकता है।" समाज आपस में इसीलिये संगठित है, क्योंकि लोगों को एक दूसरे की सेवाओं की आवश्यकता है और पारस्परिक सेवाओं की इस मांग का प्रतिनिधि पैसे को ही स्वीकार किया गया है। इस प्रसंग में अरस्तू ने कहा है कि पैसे का अस्तित्व स्वाभाविक नहीं है, अपितु यह परम्परागत (कन्वेंशनल) (Vouw) नोमो है। इसीलिये इसे पैसा (Vouloua) (नोमिज्मा) कहा जाता है।[2] इसे बदल डालना या इसे बिलकुल निरर्थक बना डालना हमारी अपनी शक्ति में है। यह सिद्धान्त नैप (Knapp) के इस सिद्धान्त से बहुत कुछ मेल खाता है कि पैसा या द्रव्य कानून की सृष्टि है। अरस्तू ने यह भी कहा है कि पैसे का उपयोग भविष्य में किये जाने वाले विनिमय के लिये भी किया जा सकता है। यह इस बात की गारंटी है कि यदि हमें इस समय किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं, तो वह हमें भविष्य में उस समय भी प्राप्त हो सकेगी, जब हम उसे प्राप्त करना चाहेंगे। यद्यपि पैसे का मूल्य सदा एक जैसा नहीं रहता, फिर भी इसका मूल्य अन्य किसी भी वस्तु की अपेक्षा अधिक यथापूर्व (कांस्टेंट) रहता है। यह स्पष्ट है कि अरस्तू पैसे की प्रकृति और उसके कार्यों के सम्बन्ध में प्राचीन दृष्टिकोणों से अपरिचित नहीं था।

---

१. ऐथिक्स; खंड ५ अध्याय ५, वेल्डन का अनुवाद, पृष्ठ १४१।

२. वही; पृष्ठ १५१।

एक और अन्तिम उल्लेखनीय बात यह है कि कारीगरों और राज्य में उनके स्थान के सम्बन्ध में अरस्तू की प्रवृत्ति प्राचीन काल के अन्य अधिकांश लेखकों के समान ही है। इस प्रवृत्ति का सारांश यह है कि वे सब लोग, जो राज्य के अस्तित्व के लिये अनिवार्य हैं, नागरिक नहीं माने जा सकते और सर्वोत्तम राज्य में (भले ही अन्य राज्यों में कुछ भी हो) किसी भी कारीगर को नागरिकता का अधिकार नहीं दिया जा सकता।[1] उसके इस वक्तव्य में "ऐक्लीजियस्टिक" के ग्रंथ के एक प्रसंग में की गई कारीगरों की स्तुति के साथ अत्यधिक समता दिखाई पड़ती है। "इनके बिना कोई भी नगर बस नहीं सकता।" फिर भी, "उन्हें सार्वजनिक समितियों में स्थान नहीं दिया जायगा।"[2] क्योंकि अरस्तू अर्थशास्त्र सिद्धान्तों को सुसंगत रूप में प्रस्तुत करने में अन्य लेखकों की अपेक्षा अधिक सफल हुआ है, इसलिये संक्षेप में यह देख लेना सरल होगा कि वह कहाँ तक पहुँच पाया है। उसके घरेलू अर्थ-व्यवस्था के साथ वित्त-साधन के सम्बन्ध वाले विचार-विमर्श में प्रारम्भिक बिन्दु बड़ी सीमा तक प्रकृतिवादी (फीजियोक्रैटिक) दृष्टिकोण ही है, जिसके अनुसार सच्ची सम्पत्ति के उत्पादन में प्रकृति का स्थान सब से अधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता है और यहाँ सम्पत्ति को बहुत कुछ नैतिक सा महत्त्व दे दिया गया है और सम्पत्ति का सम्बन्ध वस्तुतः अनुभव होने वाली आवश्यकताओं को पूर्ण करने से है। उसने

१. पोलिटिक्स; खंड ३, अध्याय ५, वेल्डन, पृष्ठ १११।

२. ऐक्लीजियस्टिकस; ३८. ५. ३२, ३३। ज़ेनोफन की पुस्तक 'इकोनोमिक्स' के अध्याय ४ में पृष्ठ २, ३ पर इससे मिलता-जुलता इसी विषय से सम्बद्ध प्रसंग अत्यन्त रोचक है। विशेष रूप से इसलिये, क्योंकि वहाँ लेखक ने इन हाथ की कारीगरियों के प्रति घृणा के कारणों पर प्रकाश डाला है: "इन शिल्पों के कारण कारीगरों और उनके प्रबन्धकों, दोनों के ही शरीर विकृत हो जाते हैं, क्योंकि इन शिल्पों में लोगों को मकानों के अन्दर सिकुड़कर बैठे रहना पड़ता है और बहुत बार तो उन्हें सारा दिन आग के सामने बिताना होता है। ज्यों-ज्यों मनुष्यों का शरीर दुर्बल होता जाता है, त्यों-त्यों उनकी आत्माएँ भी रुग्ण होती जाती हैं। इन अपरिष्कृत शिल्पों में अवकाश का अवसर बिलकुल नहीं होता और वे सामाजिक और नागरिक जीवन बिताने में बाधक होते हैं। इसलिये इस प्रकार से कारीगर लोग बुरे मित्र होते हैं और देश की रक्षा के प्रति उदासीन होते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ राज्यों में, विशेष रूप से जो युद्ध प्रिय समझे जाते हैं, किसी भी पूर्ण नागरिक को इन देहाती शिल्पों को करने की अनुमति नहीं दी जाती।"—लेस्नर के अनुवाद ग्रीक इकानामिक्स पृष्ठ १६, ४०। लोयब का संस्करण भी देखें, पृष्ठ ३६१।

अस्वाभाविक वित्त-साधन या केवल पैसा जमा करने की जो निन्दा की है, उसका आधार उपयोग-मूल्य और विनिमय-मूल्य के मध्य किये गये अन्तर का सूक्ष्म विश्लेषण ही है। वह पैसे के विकास और उसके कार्यों का विश्लेषण करता है और मोटे तौर पर उसका यह विश्लेषण ठीक है। उसने प्रशंसनीय ढंग से पैसे और सम्पत्ति (वैल्थ) के मध्य भेद किया है। यद्यपि दूसरी ओर पैसा उसके लिये पूर्णरूप से विनिमय का साधन मात्र है और केवल इसी दृष्टिकोण से चिपके रहने के कारण उसने व्याज लेने की निन्दा की है। इसी प्रकार पूंजी की प्रकृति भी उसकी पकड़ाई में नहीं आई; विनिमय अपने आप में अनुर्वर होता है, क्योंकि अन्ततोगत्वा और आदर्शरूप से यह केवल दो पूर्णतया समान वस्तुओं का ही लेन-देन तो होता है। इस अस्वाभाविक ढंग के वित्त-साधन के सम्बन्ध में; जिसे पैसा जमा करने की इच्छा का प्रकटीकरण भी कहा जा सकता है, उसकी कुछ उक्तियां मार्क्सवादियों की उन आलोचनाओं से मेल सा खाती हैं, जो उन्होंने अतिरिक्त मूल्य (सरप्लस वैल्यू) के लिये पूंजी एकत्र करने की इच्छा के सम्बन्ध में की हैं। जहाँ तक केवल मूल्य का प्रश्न है, अरस्तू उन लोगों में से है, जो इसकी कर्ताश्रित (सब्जैक्टिव) व्याख्या करना चाहते हैं। मूल्य की जड़ पारस्परिक सेवाओं की माँग में जमी हुई है और माँग के इस सिद्धान्त ने ही समाज को आपस में बाँधकर एक किया हुआ है। संक्षेप में अर्थशास्त्रीय सिद्धान्तों के सम्बन्ध में अरस्तू के मुख्य विचार यही हैं।

अर्थशास्त्र विज्ञान की प्रारम्भिक अवस्था में सहयोग देने वाले यूनानी लेखकों में तीसरा नम्बर ज़ैनोफन का है। वह सब मामलों पर क्रियात्मक दृष्टि से विचार करता है। इस क्षेत्र में उसकी सफलता शायद उसकी अपेक्षा कहीं अधिक है, जितनी कि साधारणतया समझी जाती है; और जहाँ कहीं उसकी कल्पनाएँ उलझी हुई भी हैं, वहाँ पर उसके पक्ष में कम से कम इतना अवश्य कहा जा सकता है कि जो आदमी किसी प्रश्न का गलत उत्तर देता है, उसने भी कम से कम इतनी प्रगति अवश्य की है कि वह यह अनुभव करता है कि इस प्रकार का कोई प्रश्न विद्यमान है। उसके सरल और आनन्ददायक सम्वाद 'इकोनोमिक्स', जिसमें जमींदारी के प्रबन्ध के सिद्धान्तों का विवेचन किया गया है, का प्रारम्भ रस्किन के ढंग पर सम्पत्ति के विश्लेषण से होता है। सम्पत्ति केवल उसी के लिये सम्पत्ति है, जो उसका उपयोग करना जानता

है; या और सीधे ढंग से कहा जाय तो उपयोगी वस्तुएँ वे ही वस्तुएँ हैं, जिनके सम्बन्ध में हमें यह मालूम है कि उनका उपयोग क्या है। इसी प्रकार पैसा भी उसके लिये सम्पत्ति नहीं है, जो उसका उपयोग करना नहीं जानता।[1] साथ ही सम्पत्ति की व्याख्या आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए भी करनी होगी। सीधी-सादी रुचियों और कम पैसे वाला व्यक्ति भी उस आदमी की तुलना में अधिक धनी है, जिसके पास सम्पत्ति तो बहुत है, किन्तु जिस पर जिम्मेदारियाँ भी बहुत अधिक हैं। यह सब कुछ वही है, जिससे प्रतिदिन व्यवहार में आने वाली कहावतें और सन्तोष का प्रचार करने वाली कविता भरी हुई है। मुख्य रूप से ज़ेनोफन कृषि सम्बन्धी लेखक है और यह बात ध्यान देने योग्य है कि कई शताब्दी बाद क्वेस्ने तथा प्रकृतिवादी (फीजियोक्रैटिक) विचारकों को अपना नारा उसी से प्राप्त हुआ था : "जहाँ कृषि पनपती है; वहाँ अन्य सब कलाओं का विकास होता है और जहाँ भूमि को बेकार पड़े रहना पड़ता है, वहाँ स्थल पर काम करने वाले लोगों और नाविकों, सभी के शिल्प नष्टप्राय हो जाते हैं।"[2] उसने कृषि की जितनी प्रशंसा की है, वह प्रकृतिवादी (फीजियोक्रैट) लोगों की अपेक्षा कहीं अधिक है। इसे सीखना अन्य सब कामों की अपेक्षा आसान है; (सावधान व्यक्ति को) इसकी अपेक्षा अन्य किसी भी काम से अधिक शीघ्र प्रतिफल प्राप्त नहीं हो सकता; यह सब चीजों को देने वाली है; इसकी अपेक्षा और कोई भी काम "नौकरों को अधिक प्रिय नहीं, पत्नी को अधिक सुखद नहीं, बच्चों को अधिक आनन्ददायक नहीं और मित्रों को अधिक पसन्द आने वाला नहीं है।"[3] उसके अतिरिक्त उत्पादन के दो अत्यन्त परिचित साधनों—भूमि और श्रम को—खोज निकालने का श्रेय भी ज़ेनोफन को ही दिया जाता है। यद्यपि कृषि या भूमि पर्याप्त मात्रा में वस्तुएं प्रदान करती हैं, किन्तु "वह उन्हें बिना परिश्रम प्राप्त होने देने को तैयार नहीं है।"[4] इसी प्रकार कुछ लड़खड़ाते-से ढंग में वह क्षीयमाण प्रतिप्राप्ति के नियम तक पहुँच जाता है या कम से कम पहुँचता-सा प्रतीत होता है। "भूमि के मालिक आपको बता सकते हैं कि उनकी जमीनों पर काम करने के लिये कितने मजदूरों की आवश्यकता है। यदि कोई आदमी उस आवश्यकता की अपेक्षा अधिक

---

१. लोयब का अनुवाद; पृष्ठ ३६७, ४०६। २. वही; पृष्ठ ४०५।
३. वही; पृष्ठ ५१७। ४. वही; पृष्ठ ४०१।

मजदूरों को काम पर लगाता है, तो उसे नुकसान ही समझा जा सकता है।"[1]

परन्तु ज्ज़ेनोफन का सबसे अधिक रोचक और सबसे अधिक ज्ञानपूर्ण निबन्ध है—'ऐथन्स की आय को बढ़ाने के उपाय और साधन'। किन्तु इस निबन्ध में ही उसके विचार सबसे अधिक उलझे हुए भी हैं।[2] इस निबन्ध में वह अपने देश के नागरिकों की दरिद्रता को दूर करने के उपाय ढूंढने पर विचार कर रहा है और इसलिये इस छोटे से निबन्ध में सार्वजनिक वित्त-साधन के सम्बन्ध में प्रारम्भिक ढंग का विचार-विमर्श किया गया है। इस सारे निबन्ध में परम्परागत दृष्टिकोण की अपेक्षा कहीं अधिक उदार दृष्टिकोण अपनाया गया है। विदेशी नागरिकों को आय के साधन के रूप में देखा गया है और ज्ज़ेनोफन का सुझाव है कि इस प्रकार के वर्ग पर से वे सब प्रतिबन्ध हटा लिये जाने चाहियें, जो उन्हें कई दृष्टियों से असमर्थ बना देते हैं। बल्कि वह तो यहाँ तक उत्सुक है कि विदेशी लोगों के अधिक अच्छे वर्ग को अधिक संख्या में ऐथेन्स में आकर बसने के लिये आकर्षित किया जाय और अपनी इसी नीति के अनुसार वह व्यापारियों के प्रति विशेष अनुग्रह दिखाना चाहता है। उसका सुझाव है कि इन विदेशी व्यापारियों को उत्सवों के समय बैठने के लिये निःशुल्क सीटें दी जायें और उन्हें सहभोजों में निमन्त्रित किया जाय। इसी प्रकार इसका एक और महत्त्वपूर्ण सुझाव यह है कि व्यापारियों के लिये निवास-स्थान की व्यवस्था करने के वास्ते काफी पूंजी इकट्ठी की जाय। इसी प्रकार खुदरा व्यापारियों के लिये भी दुकानें और मकान बनवाये जायें। इसी प्रकार उसकी एक और यह स्थापना भी अत्यन्त समझदारी से भरी है कि जिन शहरों में लम्बे समय तक शान्ति रही है, केवल वही अत्यधिक समृद्ध हो पाये हैं। यद्यपि युद्ध के समय लूट का माल काफी प्राप्त होता है, फिर भी केवल शान्ति के दिनों में ही सम्पत्ति का संचय हो पाता है और युद्ध-काल में उस सम्पत्ति का व्यय ही व्यय होता है।

ज्ज़ेनोफन ने खानों से चाँदी निकालने के सम्बन्ध में जो विचार प्रकट किये हैं, वे और भी अधिक विचित्र हैं। यहाँ पर उसने यह अत्युक्ति की है कि यह

१. लेस्नर; ग्रीक इकानामिक्स, पृष्ठ १६; उपाय और साधन इत्यादि।
२. लेस्नर में मुद्रित 'ग्रीक इकानामिक्स'।

उद्योग वर्तमान प्रतिप्राप्ति के नियमों के अनुकूल है। इसमें जितने अधिक लोगों को लगाया जायगा, उतनी ही खनिज चाँदी अधिक मात्रा में प्राप्त होगी। अन्य क्षेत्रों में जब नवारम्भकर्त्ता आवश्यकता से अधिक हो जाते हैं, तो उनका दिवाला निकलने लगता है और जब पदार्थ आवश्यकता से अधिक हो जाते हैं, तो वे सस्ते होने लगते हैं; परन्तु चाँदी की माँग की कोई सीमा नहीं है। "चाँदी की खानें कभी खत्म न होंगी और चाँदी का मूल्य कभी समाप्त न होगा।" सोने में यह आश्चर्यजनक गुण नहीं है। "क्योंकि जब कहीं सोना बड़ी मात्रा में मिल जाता है, तो सोने का मूल्य गिर जाता है और उसके कारण चाँदी का मूल्य बढ़ जाता है।" इसलिये नगर को चाँदी की खानों में काम करने के लिये दासों की सेवाएं प्राप्त करनी चाहियें। नयी खानों को खोदने में जो पूंजी का बोझ है, उसे समाप्त करने के लिये उसका सुझाव है कि संयुक्त संग्रह .(ज्वाइंट स्टाक) पद्धति से मिलते-जुलते ढंग पर काम किया जाय।

ग्ज़ैनोफन के विचारों का संक्षिप्त अध्ययन भी तब तक अपूर्ण रहेगा, जब तक उसके 'सीरोपीडिया' में आये हुए एक संदर्भ का उल्लेख न कर दिया जाय। इस संदर्भ को मार्क्स तथा अन्य लेखकों ने इतना अधिक उद्धृत किया है कि यह अर्थशास्त्रीय साहित्य की एक कौतूहलजनक वस्तु बन गया है। इस संदर्भ में यह बताया गया है कि रसोईघर में श्रम का विभाजन किस प्रकार किया जा सकता है और इस चीज को इतना अधिक आगे तक बढ़ा दिया गया है कि एक आदमी तो मछलियाँ उबालने के लिये हो और दूसरा आदमी उन्हें केवल भूनने के लिये। इस क्षेत्र में गत शताब्दियों में निश्चित रूप से इससे उल्टी दिशा में प्रगति हुई है।[१]

---

१. जिस प्रकार अन्य सब शिल्पों का उत्कृष्ट कोटि तक विकास बड़े शहरों में होता है, उसी प्रकार राजा के महल में भोजन अत्यन्त उत्कृष्ट कोटि का तैयार होता है। छोटे शहरों में एक ही कारीगर कुर्सियाँ, दरवाजे, हल और मेजें बनाता है और कई बार उसी कारीगर को मकान भी बनाना पड़ता है और उसके बाद भी यदि उसे लगातार काम मिलता रह सके, तो वह अपने को धन्य समझता है; क्योंकि इसी प्रकार उसका निर्वाह हो सकता है। और स्पष्ट ही यह बात किसी भी व्यक्ति के लिए असम्भव है कि वह कई शिल्पों का अभ्यास करे और उन सब में अच्छी कुशलता प्राप्त कर सके। इसके विपरीत बड़े शहरों

यूनानी विचारधारा के इन तीन मुख्य प्रतिनिधियों के अतिरिक्त "ऐरी-विसयास" नामक एक संवाद का उल्लेख कर देना भी उचित होगा, क्योंकि इसमें दिलचस्पी की बात यह है कि यह सारा का सारा संवाद सम्पत्ति के विश्लेषण के सम्बन्ध में लिखा गया है। इस संवाद में भौतिक सम्पत्ति (मैटीरियल) और अभौतिक सम्पत्ति में स्पष्ट भेद किया गया है। इसलिए मनुष्य अपनी कला के विनिमय में जीवन के लिये आवश्यक वस्तुएँ प्राप्त कर सकता है।[1] इसके साथ ही अरिस्टोफेनस के नाटक "ऐक्लीजियेजस" का उल्लेख करना भी उचित है। इस नाटक में साम्यवाद पर व्यंग कसा गया है और इसमें कई आधुनिक बातों का समावेश भी हो गया है। स्त्रियों के मताधिकार की भी उसने उपेक्षा नहीं की है।

में प्रत्येक प्रकार के उद्योग के सम्बन्ध में बहुत से लोगों की माँगें होती हैं। इसलिये एक व्यक्ति का निर्वाह केवल एक व्यवसाय के द्वारा और कई बार तो किसी एक व्यवसाय की केवल एक शाखा द्वारा ही हो जाता है। उदाहरण के लिये एक आदमी केवल पुरुषों के लिये जूते बनाता है और दूसरा आदमी केवल स्त्रियों के लिये जूते बनाता है; और ऐसे भी कई स्थान हैं, जहाँ एक आदमी केवल जूतों को सीकर ही जीविका उपार्जन कर लेता है, जबकि एक और व्यक्ति केवल जूतों के नाप का चमड़ा काटने भर का ही काम करता है; और तीसरा व्यक्ति न चमड़ा काटता है और न सीता है, बल्कि केवल जूतों के विभिन्न भागों को ही परस्पर ठीक ढंग से मिला देता है। केवल इतने से ही उन्हें पूरे समय का काम मिल जाता है। इसलिये यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जो व्यक्ति केवल एक विशेष प्रकार के काम में ही लगा रहता है, वह उसे सर्वोत्तम रीति से करना सीख जाता है। ठीक यही बात रसोईघर के बारे में भी सत्य है। ऐसे किसी भी रसोईघर में, जहाँ एक ही आदमी को कुर्सियाँ और मेजें बिछानी पड़ती हों, रोटियाँ भी सेंकनी होती हों और कभी एक प्रकार का व्यंजन और कभी दूसरे प्रकार का व्यंजन तैयार करना पड़ता हो, वहाँ वह आदमी अवश्य ही अधकचरे ढंग से काम करेगा। परन्तु जहाँ पर मांस को उबालने के लिए एक आदमी और उसे भूनने के लिए दूसरा, जहाँ मछली को उबालने के लिए एक आदमी हो और उसे भूनने के लिए दूसरा, जहाँ एक आदमी का काम केवल रोटी पकाना है और उसके अतिरिक्त और कुछ नहीं, जहाँ प्रत्येक व्यक्ति का काम केवल एक ही वस्तु बनाना है, किन्तु वह ऐसी जो अत्यन्त प्रशंसनीय हो, ऐसे रसोईघर में, मेरा विचार है कि, अवश्य ही प्रत्येक वस्तु अत्यन्त उत्कृष्ट कोटि की तैयार होगी।

—(सीरोपीडिया; खंड ८, २, ५-६; लोयब का अनुवाद, पृष्ठ ३३३, ३३५)।

१. लेस्नर पृष्ठ ४१।

रोम

रोम में हुए अर्थशास्त्रीय सिद्धान्त के विकास का विवेचन अपेक्षाकृत अधिक संक्षेप में किया जा सकता है। सामाजिक संघर्ष के प्रालेख (रिकार्ड) के रूप में रोम के इतिहास का महत्त्व बहुत अधिक है। परन्तु अर्थशास्त्रीय सिद्धान्तों के सम्बन्ध में किसी सुनिश्चित देन की दृष्टि से रोम का भाग इतना कम है कि उसे उपेक्षणीय समझा जा सकता है। इसके अतिरिक्त जो कुछ है भी वह भी अधिकांश में यूनान की प्रतिध्वनि मात्र है। यह बात रोमवासियों की प्रतिभा के अनुकूल ही है कि उनके सिद्धान्त उनके कार्यों, उनके कानूनों और उनके न्यायशास्त्र में निहित हों और सिद्धान्तशास्त्रियों के ग्रन्थों के रूप में भले ही अलग से विद्यमान न हों। रोस्चर ने एक अत्यन्त बुद्धिमत्ता की बात कही है कि रोम में वे व्यक्ति सब से अधिक व्यावहारिक समझे जाते थे, जो अपना ध्यान अर्थशास्त्रीय विषयों पर लगाते थे; और अर्थशास्त्रीय प्रश्नों पर उनके सबसे अधिक प्रभावशाली विचार क्रियात्मक रूप से नागरिक सेवाओं और न्यायालयों के अर्थशास्त्र में तो प्रकट हुए, किन्तु सिद्धान्तों के रूप में कभी स्थापित नहीं हुए।

रोम में अर्थशास्त्रीय विचारों के जो बिखरे हुए खंड मिलते हैं, उनकी एक और विशेषता यह है कि ये उस समय के हैं, जब रोम की शान बहुत कुछ कम हो चुकी थी और जब दूरदर्शी लोग यह समझने लगे थे कि अब विनाश का दिन निकट आता जा रहा है। इसलिये इन विचारों में अपने बुरे समय के सम्बन्ध में काफी चिन्ता और दुःख की ध्वनि मिश्रित है और पिछले अतीत के सादगी से युक्त दिनों के बीत जाने पर दुःख प्रकट किया गया है। इस प्रकार एक ओर तो यह अपने समय की दुर्बलताओं की आलोचना है और कृषि की प्रशंसा (जो प्राचीन विचारधाराओं में सर्वत्र एक-सी पाई जाती है) एक ओर तो लुप्त होती हुई सादगी के प्रति एक 'आह' के रूप में है और दूसरी ओर दिनोंदिन बढ़ते हुए लोभ और धन-संचय की निन्दा के रूप में।

अर्थशास्त्रीय विषयों के विवेचन के सम्बन्ध में रोम की देन (भले ही वह सिद्धान्त की कोटि तक न पहुँच पाती हो) सुविधा और परम्परा दोनों की ही दृष्टि से तीन वर्गों में विभक्त की जा सकती है: दार्शनिक, लेखक, कृषि सम्बन्धी लेखक और विधानशास्त्रीय लेखक। इनमें से प्रत्येक शीर्षक के अन्तर्गत कुछ-कुछ बातों का उल्लेख किया जा सकता है। दार्शनिकों के सम्बन्ध में

(जिनमें सिसरो, सेनेका और प्लिनी उदाहरण के रूप में लिये जा सकते हैं) यह कहा जा सकता है कि जहाँ तक वे केवल विलास की निन्दा करते हैं या सादगी के सौन्दर्य और सम्पत्ति के उचित उपयोगों पर जोर देते हैं, वहाँ तक वे मुख्य रूप से नैतिक शिक्षक हैं, अर्थशास्त्रीय शिक्षक नहीं। उनकी शिक्षाओं का अधिकांश भाग इसी प्रकार का है। अन्य प्रश्नों पर उन्होंने ऐसी कम ही बातें लिखी हैं, जो नई हों। सिसरो के "डि आफिसिस" के अनेक ऐसे संदर्भों में से एक यह है, जिसमें कृषि की प्रशंसा की गयी है और जिसमें साथ ही अन्य सब पेशों की अत्यन्त तीव्र निन्दा भी की गयी है।[1] यह संदर्भ अपने आप में इस बात

१. उन पेशों तथा जीवन-निर्वाह के अन्य साधनों के सम्बन्ध में, जो एक भद्र व्यक्ति को शोभा देते हैं और दूसरे वे, जो ग्राम्य हैं हमें मोटे तौर पर निम्नलिखित बातें बताई गयी हैं। सब से पहली बात यह है कि जीवन-निर्वाह के वे साधन अनभीष्ट समझकर त्याग दिये जाने चाहिएँ, जिनसे लोगों की बद-दुआयें मिलती हों; जैसे टैक्स इकट्ठा करने का काम या सूदखोरी का काम। किसी भद्र व्यक्ति को ये काम भी शोभा नहीं देते, जो हम उन भाड़े के मजदूरों से करवाते हैं, जिन्हें हम शारीरिक परिश्रम के लिए मजदूरी देते हैं, किसी कलात्मक कौशल के लिये नहीं। क्योंकि इन मजदूरों के मामले में उनको दी जाने वाली मजदूरी ही उनकी दासता का सब से बड़ा प्रमाण है। वे लोग भी ग्राम्य समझे जाने चाहियें, जो थोक व्यापारियों से माल लेकर उसे तुरन्त खुदरा बेच देते हैं। क्योंकि वे लोग यदि एक दम झूठ न बोलें, तो उन्हें लाभ हो ही नहीं सकता और इस प्रकार झूठ बोल कर पैसा कमाने की अपेक्षा और अधिक कमीना कोई काम हो ही नहीं सकता। और जितने भी कारीगर या शिल्पी हैं, वे सब ग्राम्य पेशों में लगे हुए हैं, क्योंकि किसी भी कारखाने के अन्दर कोई उदार भावना नहीं रह सकती। जो पेशे ऐन्द्रियिक सुख प्राप्त कराने की व्यवस्था करते हैं, वे सब से कम सम्मानपूर्ण हैं: मछली तलने वाले, कसाई, रसोइये, मुर्गियाँ बेचने वाले और मछियारे, जैसा टैरेन्स ने भी कहा है। यदि आप चाहें, तो इनके साथ सुगन्ध बेचने वालों, नाचने वालों और उनके साथ साज मिलाने वालों को भी सम्मिलित कर सकते हैं।

किन्तु वे पेशे जिनमें उच्च कोटि की बुद्धि की अपेक्षा होती है और जिनसे समाज को बहुत अधिक लाभ होता है, जैसे चिकित्सा या भवन-निर्माण या अध्यापन, ऊँची सामाजिक स्थिति के लोगों के उपयुक्त हैं। व्यापार यदि वह छोटे पैमाने पर हो, तो उसे ग्राम्य समझना चाहिये; परन्तु यदि वह थोक का व्यापार है या बड़े पैमाने पर है, जिसमें संसार के विभिन्न भागों से माल का बड़े परिमाण में आयात करके बिना झूठ बोले बेचा जाय, तो उसे बहुत बुरा नहीं समझा जा सकता। नहीं, इतना ही नहीं, अपितु ऐसा व्यापार अत्यन्त प्रशंसा के योग्य प्रतीत होता है यदि उसमें लगे हुए लोग इस प्रकार के व्यापार से

का अच्छा सूचक है कि प्राचीन काल के विचारकों से अर्थशास्त्र सिद्धान्त के विकसित स्वरूप की आशा क्यों नहीं की जानी चाहिये। जैसा प्रायः ठीक ही कहा जाता है। यहाँ पर सिसरो ने विभिन्न पेशों की प्रतिष्ठा की दृष्टि से उनका विवेचन किया है, उनकी उत्पादनशीलता की दृष्टि से नहीं। थोक व्यापार के प्रति उसकी अपेक्षाकृत अधिक सहिष्णुता ध्यान देने योग्य है। विशेष रूप से तब, जबकि ऐसा व्यापार करने वाले लोग देहातों में जाकर जमींदारी बना लेते हों। स्वभावतः ही इस संदर्भ में व्याज लेने की निन्दा इस कच्चे आधार पर की गयी है कि इसके कारण लोगों की बददुआ प्राप्त होती है। परन्तु केटो की यह कठोर टिप्पणी भी सिसरो के कारण ही हमें प्राप्त होती है : और "कत्ल के बारे में आप क्या कहते हैं ?" एक ने यह प्रश्न किया। उत्तर था : "व्याज पर रुपया उधार देने के बारे में आप क्या कहते हैं ?[1]"

अर्थशास्त्रीय मामलों के सम्बन्ध में सेनेका के विचार बहुत दिलचस्पी के नहीं हैं। उसके विचार से पैसा (केवल पैसे के प्रति प्रेम नहीं) सब बुराइयों की जड़ है। ईर्ष्या और लोभ सारे अन्याय का मूल कारण हैं।[2] परन्तु उसकी इस लम्बी विचारधारा में, जो यद्यपि सत्य है और अच्छे ढंग से व्यक्त की गयी है, किन्तु मौलिक नहीं है, एक विचार विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है; और वह यह है कि इस पृथ्वी के विभिन्न भागों में प्रकृति ने वस्तुओं का विभाजन इस प्रकार से किया है कि संसार के लोगों को पारस्परिक आवश्यकताएँ पूरी करने के लिये एक दूसरे के सम्पर्क में आना हो पड़े।[3]

प्राप्त धन से सन्तुष्ट हों और बन्दरगाहों से देहातों की ओर उसी प्रकार चले जायँ, जैसे वे प्रायः समुद्र से बन्दरगाह में आ जाते हैं। परन्तु उन सब पेशों में, जिनसे आर्थिक लाभ होता है, कृषि से अच्छा और कोई नहीं है। न इससे अधिक लाभदायक ही और कोई पेशा है और न इससे अधिक आनन्ददायक। स्वतन्त्र व्यक्ति के लिये कृषि से अधिक शोभा-जनक व्यवसाय और कोई नहीं है।

(डि आफिशिस; खंड १,४२ लोयब का अनुवाद; पृष्ठ १५३-१५५)

१. "Et cum ille, qui quae sierat, dixisset : 'Quid Faenerari ?', tum Cato : 'Quid hominem', inquit, 'occidere'. "

(डि आफिसिस; खंड २,१५, लोयब, पृष्ठ २६९)

२. डि ईरा ३, ३२, ३३।

३. ऐटहैलवियम मैट्रम डि कोन्सोलेशियोन; अध्याय ६।

प्लिनी के प्राकृतिक इतिहास की उलझी हुई सामग्री में पैसे के सम्बन्ध में कुछ संदर्भ रोचक हैं। उसके इस कथन में, कि मनुष्य जाति के प्रति सबसे बड़ा अपराध उस मनुष्य ने किया था, जिसने पहले-पहल अपनी अंगुली में सोने की अंगूठी पहनी थी,[१] रूसो की सी ध्वनि सुनाई पड़ती है। सोने की अत्यन्त तीव्र शब्दों में निन्दा की गयी है, जिसका "आविष्कार केवल मनुष्य जाति के विनाश के लिये ही हुआ है।" वह युग कितना अधिक सुखमय था, जबकि वस्तुओं का एक दूसरे से ही विनिमय हुआ करता था। किन्तु इस सबके बाद भी वह युक्तियुक्त ढंग से इस बात की व्याख्या करता है कि सोने को इतना महत्त्व किन कारणों से मिला। उदाहरण के लिये आग से सोने को कोई क्षति नहीं पहुँचती और उपयोग द्वारा सोना अन्य किसी भी धातु की अपेक्षा कम घिसता है; यह अन्य सब धातुओं की अपेक्षा आसानी से मोड़ा-तोड़ा जा सकता है; इस पर जंग नहीं लगता इत्यादि।[२] प्लिनी का एक और संदर्भ जिसे बार-बार उद्धृत किया जाता रहा है, वह है, जिसमें वह फार्म के विस्तार के संबंध में विचार करता है। उसने वर्जिल की उक्ति के अनुसार कहा है कि प्रशंसा तो बड़े फार्म की करनी चाहिये, किन्तु स्वयं खेती छोटे फार्म पर ही करनी चाहिये और वह कहता है कि इटली का विस्तृत साम्राज्य ही उसके विनाश का कारण बन गया: "latifundia Italiam perdidere."[३]

यहाँ पर कृषि सम्बन्धी लेखकों का उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं के बराबर है। उनकी रचनाओं से इस बात का अच्छा प्रमाण मिलता है कि प्राचीन काल में कृषि को कितना ऊँचा स्थान दिया गया था और इसके साथ ही हमें केवल इन्हीं लेखकों की रचनाओं में उद्योग का सावधान विश्लेषण दिखाई पड़ता है। फिर भी इन लेखकों ने, जिनमें केटो, वैरो और कोल्यूमैला सबसे प्रमुख हैं, (और प्लिनी भी, जो किसी भी विषय को छोड़ता नहीं) मुख्य रूप से कृषि की विधियों के सम्बन्ध में ही अधिक लिखा है और केवल प्रासंगिक तौर पर, कहीं-कहीं कृषि के अर्थशास्त्र पर विचार किया है। इसके अतिरिक्त लगभग इन सभी लेखकों ने जिस समस्या पर विचार किया है, वह

१. प्लिनी; खंड ३३, अध्याय ३,४।
२. प्लिनी; खंड ३३, अध्याय १६।
३. प्लिनी; खंड १८, अध्याय ७।

है अपने आप में पूर्ण और आत्म-निर्भर जमींदारी का प्रबन्ध। दूसरे शब्दों में इन लेखकों ने कृषि का एक ऐसे उद्योग के रूप में विवेचन नहीं किया, जो लाभ कमाने के लिये चलाया जा रहा हो। अरस्तू की शब्दावली के अनुसार यहां समस्या घरेलू अर्थ-व्यवस्था की है, राजनीतिक अर्थशास्त्र (क्रिमेटिस्टिक्स) की नहीं। अन्तिम बात यह है कि इन लेखकों की रचनाओं से पाठक पर यह प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता कि अपेक्षाकृत अधिक बड़े लेखक कृषि की प्रशंसा करते हुए परोक्ष रीति से उस वस्तु की ओर संकेत कर रहे थे, जिससे वे समझते थे कि उन अवनति के दिनों में रोम का उद्धार हो सकता था। इनकी रचनाओं के साथ प्रकृतिवादियों (फ़ीजीयोक्रैटों) की विचारधारा का काफ़ी सादृश्य दिखाई पड़ता है, जिन्होंने कई शताब्दियों बाद आगामी दुर्दिनों का आभास पाकर कृषि के महत्त्व पर बहुत अधिक बल दिया था।

कृषि की मुक्त कंठ से स्तुति के अतिरिक्त, जैसे उदाहरण के लिये कोल्यू-मैला ने कहा है कि कृषि का स्थान ज्ञानोपार्जन के बाद दूसरे नम्बर पर है और यह लगभग ज्ञानोपार्जन की कोटि की ही वस्तु है, यह बात ध्यान देने योग्य है कि इस वर्ग के लेखकों ने दासों द्वारा मजदूरी करवाना बुरा बताया है, क्योंकि दास पूरी तरह जी लगाकर काम नहीं करते। उदाहरण के लिये प्लिनी ने कहा है "जेल से छूटे हुए दासों द्वारा खेती करवाने की योजना बहुत ही गलत है, क्योंकि जो लोग बिना किसी प्रकार की आशा के जीवन बिता रहे होते हैं, उन्हें सौंपे गये काम कभी भी ठीक ढंग से नहीं हो पाते।"[१] केटो की कुछ उक्तियां, जिनमें उसने कृषिजीवी लोगों को अन्य लोगों की अपेक्षा उत्कृष्ट बताया है, और उसकी यह उक्ति कि समाज का वही सदस्य उपयोगी सदस्य है, जो अपनी मृत्यु के समय उससे अधिक सम्पत्ति छोड़ता है, जितनी उसे उत्तराधिकार में प्राप्त हुई थी, कहावतों की भांति भाषा में प्रचलित हो गयीं। परन्तु इन लेखकों का मुख्य रूप से लक्ष्य भूमि के स्वामी और उसकी पत्नी के लिये इस सम्बन्ध में निर्देश देना रहा है कि पेड़ों की कटाई-छंटाई कैसे की जाय, पहनने के कपड़े कहां से खरीदे जायें, गोभी में औषधियों के कौनसे गुण हैं और सूअर के मांस में नमक किस प्रकार लगाया जाय इत्यादि।

अर्थशास्त्रीय सिद्धान्त के सम्बन्ध में रोम से जो तीसरे वर्ग की देन रही है,

१. प्लिनी; खण्ड १८, अध्याय ७।

यह विधानशास्त्रियों की है। उसका यहाँ पर केवल मामूली उल्लेख-सा कर देना भर ही सम्भव है, यद्यपि इन विधानशास्त्रियों का सारे संसार पर और उसके फलस्वरूप आर्थिक प्रश्नों के सम्बन्ध में विचार करने की पारवर्ती पद्धतियों का बहुत प्रभाव रहा है। यह कहा जा सकता है कि वर्तमान सभ्य संसार को रोम की सब से बड़ी देन रोमन कानून है। क्योंकि आजकल भी संसार के दैनिक लेन-देन और व्यवहार का अधिकांश भाग उन्हीं सिद्धान्तों के अनुसार होता है जो रोम के विधानशास्त्रियों ने स्थापित किये थे और जो रोमन कानून में लिखे हैं। हमारे वर्तमान उद्देश्य के लिये दो विभिन्न दिशाओं से पड़ने वाला प्रभाव देने योग्य है। रोम के अपने आप तक सीमित प्रारम्भिक काल से लेकर, बाद में होने वाले चरम विस्तार तक की उन्नति के दो पहलू थे। एक तो यह कि इस उन्नति के समय रोम का सम्पर्क दूसरे ऐसे राष्ट्रों और जातियों से हुआ, जिनके अपने कानून थे और दूसरा यह, कि लोगों की आर्थिक वित्तीय और वाणिज्य सम्बन्धी स्थिति काफी पेचीदा हो गयी थी, जिसमें लोग एक दूसरे से युगवन्ध (कन्ट्रैक्ट) करते थे और जिसमें बैंक व्यवसाय की कला और ऋण के रहस्य बिलकुल अपरिचित वस्तुएँ नहीं थीं। इनमें से पहले पहलू के विकास के फलस्वरूप रोम के विधानज्ञों ने "जुस जेन्टियम" (राष्ट्रों के कानून) की धारणा का विकास किया। इस धारणा का अपने आप में कोई आर्थिक महत्त्व नहीं है, परन्तु बाद में जाकर इस धारणा के फलस्वरूप अर्थशास्त्रीय विचारों का विकास हुआ। "जुस जेन्टियम," विभिन्न राष्ट्रों के लिये एक साझा कानून, शीघ्र ही एक प्राकृतिक कानून की धारणा में परिवर्तित हो गया अर्थात् एक ऐसे कानून की धारणा में, जो सब लोगों के लिये साँझी होने के कारण उनके लिये स्वाभाविक है और इसीलिये उसके पीछे अन्य किसी पार्थिव विधान सभा की अपेक्षा कहीं अधिक बल है। यह एक ऐसी धारणा है, जिसके यद्यपि अर्थों में तो समय-समय पर परिवर्तन होते रहे, किन्तु यह पूरी तरह समाप्त कभी नहीं हुई। अठारहवीं शताब्दी में इसने इस सिद्धान्त को यह नया रंग दिया कि कुछ वस्तुएँ स्वाभाविक हैं। यह धारणा स्मिथ के विचारों का एक बहुत बड़ा भाग रही और इससे भी अधिक जोरदार रूप में यह धारणा प्रकृति-वादी (फीजियोक्रैट) लोगों की विचारधारा की आधारशिला बनी। विकास की दूसरी धारा का परिणाम अर्थशास्त्रीय सिद्धान्त का विकास तो नहीं हुआ, किन्तु

कुछ अर्थशास्त्रीय धारणाओं का अत्यन्त सावधान विश्लेषण अवश्य हुआ। इनमें से सब से मुख्य धारणाएँ युगबन्ध और सम्पत्ति की प्रकृति के सम्बन्ध में थीं। यहां रोमन कानून का प्रभाव एक सुदृढ़ और कठोर व्यक्तिवाद की दिशा में रहा। यह धारणा कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी सम्पत्ति के साथ जो वह चाहे, करने का अधिकार है, अधिकांशतः रोमन विधानशास्त्रियों के प्रभाव का ही परिणाम थी; साथ ही यह भी, कि निजी सम्पत्ति की धारणा में यह बात भी समा जाती है कि व्यक्ति को अपनी सम्पत्ति का न केवल उपभोग करने का अधिकार है, अपितु उसका दुरुपयोग और विनाश करने या इसी प्रकार किसी को दान दे देने का भी अबाध खुला अधिकार है। निजी सम्पत्ति और युगबन्ध की पूर्ण स्वतन्त्रता के इन दो महान् सिद्धान्तों के रूप में रोम ने अनियन्त्रित और उत्तरदायित्वशून्य व्यक्तिवाद की ओर लोगों का रुख मोड़ दिया और इसके फलस्वरूप परिवार, बिरादरी या राष्ट्र के दावों की उपेक्षा हो गयी।

अध्याय २

मध्ययुग—सेन्ट थामस ऐक्वाइनास—श्रोरैस्मे

सेन्ट थामस ऐक्वाइनास

जो भी कोई व्यक्ति कुछ थोड़े से पृष्ठों में मध्यकाल में प्रचलित अर्थशास्त्रीय सिद्धान्तों के सम्बन्ध में एक वक्तव्य-सा प्रस्तुत करने का प्रयत्न करेगा, उसे अवश्य ही इस बात का ज्ञान होना चाहिये कि वह एक ऐसी सीधी और सरल बात की स्थापना करने का प्रयत्न कर रहा है, जिसका अस्तित्व ही नहीं है। किस युग को मध्ययुग कहा जाय, यह निश्चय करने का काम इतिहासकारों पर छोड़ देना भला होगा। इस युग की, जो कभी न कभी शुरू हुआ ही होगा, और जो कोन्स्टैन्टीनोपल के पतन और अमेरिका की खोज के बाद अवश्य ही समाप्त हो गया था, बशर्ते कि वह उससे एक शताब्दी पहले ही समाप्त न हो गया हो, सीमाओं का ठीक-ठीक निर्धारण इतिहासकार ही करें। बारहवीं और तेरहवीं शताब्दियों पर दूर से दृष्टिपात करने पर ऐसा भ्रम हो सकता है कि उस समय बड़ी दीर्घ अवधि तक यूरोप की दशा अपेक्षाकृत बहुत कुछ निश्चित-सी थी और कोई यह कह सकता है कि उस समय यूरोप मानों एक सोती हुई राजकुमारी की भांति कई शताब्दियों तक नींद में पड़ा रहा। इस नींद का अन्त तब हुआ; जबकि पुनरुद्धार (रिनेसैन्स) की भेरियों ने बजकर एक नये और गुलाबी प्रभात के आगमन की सूचना दी।

यद्यपि मध्ययुग को गतिशून्य समझने की प्रवृत्ति बहुत भ्रामक है, फिर भी हमारे मतलब के लिये इसमें कुछ सुविधा भी है। हम मध्ययुग के अर्थशास्त्रीय सिद्धान्तों पर समूचे रूप में एक ही दृष्टि डाल सकते हैं और विशेष रूप से तब, जबकि उस विशाल युग की सीमाओं के साथ कोई छेड़छाड़ न की जाय। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस युग में अर्थशास्त्रीय विषयों के सम्बन्ध में विचारों का विकास हुआ। परन्तु बहुत लम्बे समय तक सुनिश्चित रूप से एक ही दृष्टिकोण का प्रभाव सबसे अधिक रहा। इस दृष्टिकोण में हेर-फेर होने के बावजूद बारहवीं और तेरहवीं शताब्दी में इसका सर्वोत्तम स्वरूप सेन्ट

थामस ऐक्वाइनास की (१२२५-१२७४) रचनाओं में हुआ। इस दृष्टिकोण के विकास या सुधार के सम्बन्ध में विचार करने का प्रयत्न न करके इस अध्याय में हम केवल उस दृष्टिकोण के सम्बन्ध में ही विचार करेंगे, जो मध्य-कालीन दृष्टिकोण कहा जा सकता है और जो सेन्ट थामस ऐक्वाइनास की रचनाओं में प्रकट हुआ है। सेन्ट थामस ऐक्वाइनास के विचार एक लम्बे युग तक यूरोप में छाये रहे।

अन्य स्थानों की भाँति यहाँ भी सिद्धान्तों में लोगों के जीवन की दशाओं और परिस्थितियों का प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ता है। मध्यकालीन दृष्टिकोण, क्योंकि यहाँ सिद्धान्त शब्द उपयुक्त नहीं जँचता, को समझने के लिए उस युग में समाज की रचना के धार्मिक और धर्मनिरपेक्ष दोनों ही पहलुओं की प्रमुख विशेषताओं को ध्यान में रखना आवश्यक होगा। धर्मनिरपेक्ष दृष्टि से बहुत से लोगों के लिए मध्ययुग लगभग सामन्तवादी प्रणाली का ही पर्याय है। यहाँ इस बात पर विचार करना आवश्यक है कि सामन्तवादी प्रणाली का व्याव-हारिक रूप क्या था। साथ ही इस प्रणाली को आदर्श रूप में चित्रित करना भी अनावश्यक है जैसा कि मुल्लर (तथा अन्य कई लेखकों) ने उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी की कठिनाइयों से ऊबकर किया है। वे यह भूल गये हैं कि अतीत सदा सुनहला दिखाई पड़ता है, क्योंकि वह दूर होता है। फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि सामन्तवाद के सिद्धान्त में सार रूप से एक ऐसी प्रणाली विद्य-मान थी, जिसमें सारा समाज परस्पर कर्तव्यों और सेवाओं के द्वारा बँधा हुआ था। उस समाज में प्रत्येक व्यक्ति का एक सुनिश्चित स्थान था और उस स्थान पर रहते हुए उसे अन्य लोगों को परस्पर सहायता देते और उनसे सहायता लेते रहनी होती थी। जब कारीगरों की श्रेणियों (गिल्ड) और संघों का विकास होना शुरू हुआ, तो उनके बारे में भी यही बात सत्य थी। कारीगरों पर यह दायित्व था कि वे जनता की भली भाँति सेवा करें। इसी प्रकार एक ही संगठन के सदस्यों के पारस्परिक सम्बन्धों के बारे में भी ये नियम बने हुए थे। इससे यह स्पष्ट है कि उस समय का सर्वस्वीकृत नैतिक कानून सदस्यों से यह आशा करता था कि वे प्राप्त होने वाले अवसरों का आपस में बाँटकर उपयोग करें और एक दूसरे के साथ पूरी तरह ईमानदारी का बर्ताव करें। कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि उस समय का सर्व-

स्वीकृत सिद्धान्त यह था कि समाज के सदस्यों को समाज में उनका स्थान इसी शर्त पर प्राप्त हुआ रहता था कि वे अपने साथियों की कुछ सुनिर्दिष्ट सेवाएँ करें। इस प्रकार उस युग में प्रतिष्ठा-स्तर (स्टेटस) का तत्त्व पर्याप्त मात्रा में विद्यमान था। पद के कारण, चाहे वह किसी भी प्रकार का क्यों न हो, व्यक्ति पर अनेक दायित्व तो आ ही पड़ते थे, किन्तु साथ ही कुछ विशेषाधिकार भी प्राप्त हो जाते थे। प्रत्येक व्यक्ति को केवल अपने दायित्वों को ही पूर्ण नहीं करना पड़ता था, अपितु उसे उस ढंग से रहने की सुविधाएँ भी प्राप्त होती थीं, जो उसके पद के अनुकूल हो—मध्यकालीन लैटिन भाषी इस भाव को व्यक्त करने के लिए "कन्वीनियेन्टर" शब्द का प्रयोग करते थे। धर्मनिरपेक्ष पहलू का पूरा चित्र प्रस्तुत करने के लिए एक और ध्यान देने योग्य बात यह है कि मध्ययुग में जीवन अनिवार्य रूप से बहुत बड़ी सीमा तक "प्राकृतिक अर्थ-व्यवस्था" का सा था। यद्यपि इस युग के व्यापार के सम्बन्ध में बहुत चर्चा की जाती है, परन्तु वस्तुतः व्यापार का परिमाण अपेक्षाकृत बहुत कम रहा होगा। मनुष्य छोटी-छोटी बस्तियों में रहते थे, जो बहुत बड़ी सीमा तक लगभग आत्म-निर्भर रही होंगी। इसके अतिरिक्त बड़े परिमाण में वस्तुओं का आदान-प्रदान कर पाने में परिवहन (ट्रांसपोर्ट) की कठिनाइयाँ भी थीं। अमेरिका में चाँदी की खानों का पता चलने से पहले (अर्थात् मध्ययुग की समाप्ति के बाद तक) सारे यूरोप में पैसे की बहुत कमी थी और स्वभावतः विवशतावश पैसे का लेन-देन बहुत सीमित था। नवारम्भ (एन्टरप्राइज) से जो कुछ अर्थ हम आजकल समझते हैं, उसके अवसर उन दिनों बहुत कम थे। उस काल का समाज एक ऐसा समाज था, जिसमें सदस्यों से यह आशा की जाती थी कि वे अपने जीवन-निर्वाह के लिए समाज की सेवा करें और उस समाज में मुनाफा कमाने या बड़े-बड़े खजाने जमा करने की सम्भावना लगभग समाप्त ही हो गयी थी।

धार्मिक पहलू की दृष्टि से उस युग का सर्वप्रधान तथ्य चर्च था। ईसाई धर्म की शिक्षाओं के प्रभाव पर आगे चलकर और विस्तार से विचार किया जायगा। यहाँ केवल इतना कह देना पर्याप्त है कि सर्वप्रथम तो ईसाई धर्म ने सब मानव सम्बन्धों को इस स्थापना के आधार पर नियमित करने की चेष्टा की थी कि यह पार्थिव जीवन तो केवल अगले जीवन की तैयारी मात्र है और

सत्व केवल शाश्वत मुक्ति ही है। दूसरी बात यह है कि ईसाई धर्म मूलतः विश्वजनीन ढंग का-सा संगठन था। मध्ययुग का आश्चर्यजनक रूप से राष्ट्रीयताशून्य वातावरण, जो बाद में आने वाले व्यापारवादी युग की धारणाओं के बिलकुल विपरीत था, अंशतः ईसाई धर्म की देन ही था, जिसके फलस्वरूप सारे यूरोप में एक खास प्रकार की एकता-सी हो गई थी। यह उससे पहले की बात है जब कि यूरोप के राष्ट्र केन्द्रित होकर अपने पड़ोसियों की विपत्तियों में आनन्द का अनुभव करने लगे थे। उन दिनों तक भी लैटिन सब देशों में समझी जाने वाली भाषा थी। जो भी लोग पढ़ना जानते थे, वे लैटिन समझते थे। धार्मिक युद्धों में यूरोप के सब देशों ने मिलकर भाग लिया और घूमने-फिरने वाले विद्वान् लोग आक्सफोर्ड या पैरिस, पडुआ या कोलोन में एक सी ही सुविधा अनुभव करते थे।

आर्थिक प्रश्नों पर मध्ययुग के दृष्टिकोण को स्पष्ट करने के लिए ये दशाएँ ही अपने आप में लगभग पर्याप्त हैं। यदि हम मध्ययुग के विचारकों की ओर दृष्टि डालें, तो हमें वहाँ दो सर्वप्रमुख प्रभाव दिखाई पड़ते हैं। पहला प्रभाव तो है अरस्तू के प्राधिकार (औथोरिटी) का; और दूसरा प्रभाव ईसाई धर्म द्वारा जीवन के मूल्यों को नया रूप देने का है। यह नया रूप केवल वही नहीं है, जो ईसाई धर्म के मूल ग्रन्थों में लिखा हुआ है, अपितु वह भी है जैसा प्रारम्भिक ईसाई पादरियों की रचनाओं से प्राप्त होता है। बाइबिल, अरस्तू और पुराने ईसाई पादरी, ये तीन प्रामाणिक आधार हैं, जिन्हें सेन्ट थामस समान आदर से देखता है। इसके अतिरिक्त इस पुराने दृष्टिकोण के सम्बन्ध में भी बहुत कुछ कहा जा सकता है कि इस धार्मिक लेखक का उद्देश्य ईसाइयत और अरस्तू के सिद्धान्तों का समन्वय करना था। मध्ययुग में अरस्तू का प्रभाव मुख्य रूप से पैसे की प्रकृति और कार्य, ब्याज लेने की अनुचितता तथा विनिमय के सिद्धान्तों और न्याय की प्रकृति-विषयक दृष्टिकोणों को एक विशिष्ट रूप देने के सम्बन्ध में ही अधिक पड़ा है। इन विषयों के सम्बन्ध में सेन्ट थामस केवल अरस्तू की बातों को ही दुहरा देता है और उनकी पुष्टि करने के लिए ईसाई ग्रन्थों से भी पोषक उद्धरण प्रस्तुत कर देता है।

ईसाइयत का प्रभाव उन मामलों पर और भी अधिक महत्त्वपूर्ण रहा, जिनके सम्बन्ध में ईसाइयों का दृष्टिकोण यूनानियों और प्राचीन परम्पराओं

के ठीक विरोध में था। यद्यपि मध्ययुग के जीवन के ऐसे पहलू बहुत सरलता से प्रस्तुत किये जा सकते हैं, जिनमें ईसाइयत की शिक्षाओं को पूरी तरह से स्वीकार नहीं किया गया, फिर भी ये शिक्षाएँ एक खमीर के रूप में काम करती रहीं और जीवन के कई आधारभूत आर्थिक पहलूओं के सम्बन्ध में प्रचलित दृष्टिकोणों में सुधार करती रहीं।

पहली बात तो यह है, और यह सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है, कि जूडाइज्म से निकला हुआ यह दृष्टिकोण तो वहाँ था, कि सब मनुष्य एक ही पिता के पुत्र हैं, किन्तु इस दृष्टिकोण को ईसाइयत ने जाति की सीमाओं से परे तक विस्तृत करके और भी अधिक सामान्य बना दिया था। यदि सब मनुष्य एक ही पिता के पुत्र हैं, तो इसका अर्थ है कि वे भाई-भाई हैं। यह एक ऐसा सिद्धान्त था, जो अन्ततोगत्वा वर्ग-भेद को समाप्त करने वाला था और इसी प्रकार अन्ततोगत्वा राष्ट्रीय भेदभाव का विनाशक था। यह एक ऐसा सिद्धान्त था, जिसके कारण दासता जैसी प्रथाओं का स्थायी रूप से समर्थन करते रहना असम्भव हो गया; यद्यपि यह आश्चर्य की बात है कि सेन्ट थामस ने भी इस प्रश्न पर, जो कुछ अरस्तू ने कहा था, उसी को मान लेने की चेष्टा की है। इस प्रश्न का दूसरा पहलू भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति एक अमर आत्मा का प्रतीक है और इसीलिए शाश्वतता की दृष्टि से सबका मूल्य बराबर है। यहाँ प्रारम्भ में ही मानवीय गौरव, परमात्मा की दृष्टि में सब मनुष्यों की समानता और सब मनुष्यों के भ्रातृत्व को अत्यन्त जोरदार शब्दों में स्वीकार कर लिया गया है। इस मान लिये गये भ्रातृत्व का तात्कालिक और क्रियात्मक रूप यह हुआ कि उदारता के कार्य के रूप में और मुक्ति प्राप्त करने के साधन के रूप में दान देने पर अत्यधिक बल दिया गया। यद्यपि यहाँ इस विषय पर विस्तृत टिप्पणी करने का अवकाश नहीं है, फिर भी इस बात को ध्यान में रख लेना आवश्यक है।

दूसरी बात यह है कि ईसाइयत के साथ एक ऐसा दृष्टिकोण जुड़ा हुआ है, जिसके कारण इन निष्कर्षों को निकाल पाना या उन्हें क्रियान्वित करना कठिन हो गया; या कम से कम इनके क्रियान्वित करने का महत्त्व बहुत कुछ जाता रहा। यह संसार तो केवल एक तैयारी मात्र है, और जो कुछ यहाँ पर है, वह सब अल्पकालिक है। यदि मुक्ति ही एक ऐसी वस्तु हो, जिसे प्राप्त करते

के लिए प्रत्येक व्यक्ति को डरते और कांपते हुए प्रयत्न करते रहना हो, तो अन्य सब भौतिक विचार अत्यन्त निरर्थक जान पड़ते हैं, सिवाय उतने के, जहाँ तक कि वे किसी उच्चतर लक्ष्य को प्राप्त कराने के साधन हैं। आगामी संसार को दृष्टि में रखते हुए इस संसार की सभी चीजों और बातों का महत्त्व बहुत कम है। यहाँ हमें सेन्ट थामस की दासता के प्रति मनोवृत्ति की व्याख्या का आधार दिखाई पड़ जाता है। दास भी स्वर्ग के राज्य में प्रवेश कर सकता है। जिस व्यक्ति की दृष्टि में शाश्वत जीवन उतना ही सत्य है, जितना कि वर्तमान जीवन (और कहीं अधिक सुदीर्घ है) उसके मन में इस जीवन की वस्तुओं के प्रति एक वैराग्य की-सी वृत्ति जाग उठेगी और इस वैराग्य-भावना के परिणामस्वरूप उन वस्तुओं के प्रति भी सहिष्णुता जाग उठती है, जिनका वस्तुतः अपने आप में कोई समर्थन नहीं किया जा सकता। इस प्रकार यद्यपि मध्ययुगीन ईसाइयत की प्रारम्भिक मान्यताओं का फल यह होना चाहिये था, कि सब जगह अत्यधिक समानता उत्पन्न हो जाती, परन्तु ईसाइयत ने यह स्वीकार कर लिया कि परमात्मा ने इस वर्तमान तैयारी की दशा में जो व्यवस्था की है, असमानता उसी का एक अंग है। इस संसार में हमें सब वस्तुओं को शाश्वतता के उज्ज्वल प्रकाश में ही देखना चाहिये, जिससे उनका वास्तविक स्वरूप और उनका वास्तविक महत्त्व दिखाई पड़ता रह सके।

तीसरी बात यह है, और इसमें ईसाइयत ने परम्परागत यूनानी दृष्टिकोण को बिलकुल पलट दिया है, कि ईसाइयत में परिश्रम के गौरव पर ऐसे ढंग से बल दिया जो दास-श्रम पर आधारित राज्य में अत्यन्त घृणा योग्य समझा जाता, क्योंकि उस राज्य में परिश्रम करना दास का चिह्न समझा जाता था। इसके विपरीत न्यू टैस्टामेंट में "अपने हाथों से काम करने के लिए" खूब लम्बा प्रोत्साहन दिया गया है। सेन्ट पाल, जिसे अपने ऊपर इस बात के लिए गर्व था कि वह दिन-रात परिश्रम करता था, जिससे "किसी का उस पर एहसान न रहे," ने यह नियम बनाया कि यदि कोई आदमी काम नहीं करता, तो उसे खाना भी नहीं चाहिये। दो-एक अपवादों को छोड़कर सभी बड़े ईसाई सन्त मामूली कामगर थे। कार्य करने का विधान परमात्मा ने किया है और यदि इसे मनुष्य-जाति पर पड़े हुए अभिशाप का एक अंश भी माना जाय, तो भी यह मुक्ति प्राप्त करने का भी एक साधन है। ईसा ने सदा अपना कार्य

करते रहने के रूप में वर्णन किया है और यहाँ तक कि यदि हम बाइबिल में सृष्टि-निर्माण के खण्ड को पढ़ें, तो वहाँ लिखा है कि स्वयं परमात्मा ने कार्य किया और छः दिन काम करने के बाद सातवें दिन विश्राम किया। इसलिए इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं कि अपनी नई धारणाओं के द्वारा ईसाइयत ने न केवल कार्य के गौरव और प्रतिष्ठा की स्थापना की, अपितु यह भी बताया कि कार्य करना अनिवार्य है।

इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए हमें यह आशा न करनी चाहिये कि मध्ययुग में हमें सुस्पष्ट रूप में अर्थशास्त्रीय साहित्य प्राप्त हो सकता है, क्योंकि मध्ययुगीन दृष्टिकोण का सार ही यह था कि अर्थशास्त्रीय तत्त्व को अन्य महत्त्वपूर्ण विषयों की अपेक्षा गौण रखा जाना चाहिये। ठीक जिस प्रकार यूनानी विचारधारा में अर्थशास्त्र सम्बन्धी विचार नीतिशास्त्रीय और राजनीतिक विचारधारा का एक गौण-फल (और वह भी एक बहुत नगण्य-सा गौण फल) था, उसी प्रकार मध्ययुग में भी जब आर्थिक विषयों पर विचार किया जाता था, तो यह विचार सदैव व्यक्तिगत नैतिकता के सम्बन्ध में विचार करते हुए ही किया जाता था। इसके अतिरिक्त चर्च ने, जो धर्म-निरपेक्ष दृष्टिकोण से चर्च के दृष्टिकोण को लागू करने के लिए एक विशाल और सक्षम प्रशासक मशीन भी बन गया था, समाज के सारे नैतिक जीवन का नियन्त्रण अपने हाथ में ले लिया था। यह प्रायः कहा जाता है कि मध्ययुग के दो प्रमुख अर्थशास्त्रीय सिद्धान्त 'उचित मूल्य' की धारणा और ब्याज लेने के निषेध के रूप में पाये जाते हैं। अवश्य ही इन दोनों बातों पर बहुत वाद-विवाद होता रहा है। परन्तु यह तो इन सब मामलों को बहुत उथली दृष्टि से देखना है। ये दोनों सिद्धान्त न तो एक दूसरे से स्वतन्त्र हैं और न ये आधारभूत ही हैं। ये दोनों सिद्धान्त एक और भी अधिक गम्भीर तथा सर्वांगसम्पूर्ण धारणा के दो पहलू मात्र हैं। यदि मध्ययुगीन अर्थशास्त्रीय शिक्षाओं के सब दौरों (फेज) का उल्लेख करने के लिए एक शब्द ढूंढा जाय, तो सम्भवतः यह होगी 'न्याय की धारणा', जो दुर्भाग्य से मुख्य रूप से "कीमत" की धारणा के साथ जोड़ी जाने लगी। हम सब भाई हैं, और इसलिये हमें परस्पर भाइयों की तरह ही व्यवहार करना चाहिए और एक दूसरे के अधिकारों और जीवन में एक दूसरे की स्थिति का आदर करना चाहिये। प्रत्येक को उतना ही कुछ प्राप्त

होना चाहिये, जितने का उसे अधिकार है। मध्ययुगीन विचारक के शब्दों में कहा जा सकता है कि न्याय किया जाना चाहिये। किसी भी दशा में किसी भी व्यक्ति को अपने पड़ोसी से लाभ न उठाना चाहिये। मध्यकालीन आर्थिक शिक्षा का सारांश यही है।

मध्यकालीन दो सबसे अधिक लोक प्रिय अर्थशास्त्रीय सिद्धान्तों का मध्यकालीन शिक्षा के इस सारांश से जो कुछ सम्बन्ध है, वह सेन्ट थामस ऐक्वाइनास के लेखों में अत्यन्त सरलता से दिखाई पड़ जाता है। इस विषय में अध्ययन करने की सम्भवतः सबसे अच्छी पद्धति यह होगी, कि एक तो निजी सम्पत्ति रहने दी जाय या न रहने दी जाय, इस उलझे हुए प्रश्न पर उसकी शिक्षाओं पर विचार किया जाय; और उसके साथ ही लगे हुए इस प्रश्न पर विचार किया जाय कि साम्यवाद की प्रणाली विचार की दृष्टि से वांछनीय है या नहीं? परन्तु यहां पर स्थिति इस तथ्य के कारण बहुत उलझ गयी है कि इसके पहले बहुत-कुछ इतिहास बन चुका था; और इस विषय में अनन्त वाद-विवाद हो चुका था कि जेरुसलम के ईसाई चर्च और ईसाई पादरियों ने साम्यवादी जीवन-प्रणाली की परम्परा का कहाँ तक समर्थन किया है। इसमें सन्देह नहीं कि ईसाई धर्म-पुस्तकों में इस सत्य पर जोर दिया गया था कि सम्पत्ति एक भुलावा मात्र है; क्योंकि ऊंट का सुई के छेद में से निकल जाना सम्भव हो सकता है, किन्तु धनी आदमी का परमात्मा के राज्य में प्रवेश कर पाना असम्भव है। एक और मामले में यह कहा गया है कि पूर्णता प्राप्त करने का उपाय यह है कि आदमी अपनी सब सम्पत्ति बेच दे और उसे गरीबों को दे डाले। साथ ही यह बात भी निश्चित है कि साम्यवादी ढंग के जीवन के समर्थन में सीधे ईसा के किन्हीं भी शब्दों को उद्धृत नहीं किया जा सकता। इस क्षेत्र में जेरुसलम के चर्च की प्रारम्भिक स्थिति को अधिक महत्त्व दिया गया है, जहाँ "लोगों की सब वस्तुएं साँझी थीं" (ऐक्ट ४, ३२), परन्तु इन सम्बद्ध प्रसंगों का सावधानी से अध्ययन करने पर एक ऐसी स्थिति का संकेत मिलता है, जिसे अधिक से अधिक अबाधित उदारता कहा जा सकता है और यह उदारता भी स्वेच्छा पर आधारित थी।[1] इसके बाद बच जाते हैं पुराने

१. अन्यथा पीटर द्वारा एनेनीयास से पूछे गये इस प्रश्न का कुछ भी अर्थ निकाल पाना कठिन होगा : "जब तक यह चीज यहाँ रही, तब तक क्या यह तुम्हारी अपनी नहीं

ईसाई पादरी। उनके लेखों में से उक्तियों की ऐसी शृंखला का संग्रह कर पाना बिलकुल सरल है, जिससे यह प्रतीत हो कि उनका आध्यात्मिक तीर्थ मास्को था। फिर भी, जहाँ वे धन की निन्दा करते हैं और धनी लोगों को चोर बताते हैं, वहाँ साथ ही यह भी सत्य है कि उनके लेखों से ऐसे अंश भी उद्धृत किये जा सकते हैं, जिनसे निजी सम्पत्ति के समुचित उपयोग का समर्थन होता है। संभवतः कम समझ लोगों की भाँति वे लोग भी अपने भाव प्रकट करने में बहुत सावधान नहीं रहते थे। इस सम्बन्ध में आमतौर से उद्धृत किये जाने वाले सन्दर्भों की जाँच करने से यह प्रतीत होता है कि ये पुराने पादरी लोग मुख्य रूप से केवल धन के अनुचित उपयोग की निन्दा करना चाहते थे कि धन प्रपंच की जड़ है। कुछ विशेष रूप से चुने हुए सन्दर्भों के आधार पर ऐसा भी प्रतीत हो सकता है कि प्राचीन पादरी साम्यवादी थे। इसमें सन्देह नहीं कि उनका आदर्श वह स्थिति थी, जिसमें सब वस्तुओं का स्वामित्व साँझा हो; और अपने इस आदर्श को उन्होंने बड़ी सजीव भाषा में प्रस्तुत किया है। फिर भी यह सन्देहास्पद है कि इन उद्धृत सन्दर्भों में से किसी को भी इस दृष्टि से कहाँ तक महत्त्वपूर्ण समझा जा सकता है कि वह साम्यवादी प्रणाली को प्रारम्भ करने की भूमिका है, या उसे कहाँ तक वर्तमान परिस्थितियों में क्रियात्मक रूप से साम्यवादी प्रणाली के समर्थन में युक्ति के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। लोगों के यहाँ सब वस्तुओं का स्वामित्व साँझा नहीं है, यह बात उनके पतन की सूचक हो सकती है; परन्तु जब यह मान लिया गया है कि मनुष्य पतित हो गया है, तो उसकी इस पतितता को भी स्वीकार करना ही होगा। ईसाई पादरियों के लेखों में साम्यवाद की जो प्रशंसा मिलती है, वह मुख्यरूप से उस स्थिति की प्रशंसा है, जिसे मनुष्य अपने पापों के फलस्वरूप खो चुका है। सम्भवतः ईसाई पादरियों के साम्यवाद का वास्तविक स्वरूप यही है।[1]

यदि हमारी यह व्याख्या ठीक हो, तो वस्तुतः निजी सम्पत्ति के प्रश्न पर

थी ?" ऐनेनीयास व्यक्तिवाद के पक्षपोषण में शहीद नहीं हुआ था। आम तौर से ऐनेनीयास और सैपीरा दोनों को ही मिथ्यावादी समझा जाता है और वह ठीक भी है।

१. इस सम्बन्ध में देखिये ओ ब्रियें की पुस्तक 'ऐस्से आन मीडियेवल इकोनोमिक टीचिंग'।

सेन्ट थामस ऐक्वाइनास और ईसाई पादरियों में वैसा विरोध नहीं है, जैसा कि प्रायः समझा जाता है। मूलतः बाह्य वस्तुओं के सम्बन्ध में उसका दृष्टिकोण उन्हें मनुष्यों के साध्यों की तुलना में गौण रखने पर आधारित है। अधिक अपूर्ण वस्तु सदा उसके आधार पर टिकी रहती है, जो अधिक पूर्ण है।[1] परन्तु बाहरी वस्तुओं के उपयोग के सम्बन्ध में सेन्ट थामस का विचार अरस्तू के इस विचार के अनुसार ही है कि वस्तुओं पर स्वामित्व प्राप्त करने की इच्छा "मनुष्य के लिए स्वाभाविक है"। प्राकृतिक कानून के रूप में सब वस्तुओं पर सांझा स्वामित्व होने के लिए जो युक्ति प्रस्तुत की जाती है, उसका उत्तर वह यह कह कर देता है कि वस्तुतः प्राकृतिक कानून यह नहीं बताता कि सब वस्तुओं पर लोगों का सांझा स्वामित्व हो। इस युक्ति से जो कुछ निष्कर्ष निकाला जा सकता है, वह निषेधात्मक ढंग का है; और वह यह है कि प्राकृतिक कानून के अन्तर्गत वस्तुओं पर अलग-अलग स्वामित्व का औचित्य सिद्ध नहीं किया जा सकता। परन्तु यह बात मनुष्यों के आपसी समझौतों पर निर्भर है, जो विधानात्मक कानून (पोजीटिव लॉ) के अन्तर्गत हैं। इस प्रकार निजी सम्पत्ति प्राकृतिक कानून के प्रतिकूल नहीं है, अपितु यह मानवीय विवेक की उत्पत्ति द्वारा प्राकृतिक कानून में एक और नया योग देती है।[2]

इस प्रकार वस्तुओं पर स्वामित्व का औचित्य मानव-स्वभाव के अनुकूल प्रमाणित करते हुए सेन्ट थामस ने दो अलग-अलग प्रकार के अधिकारों में भेद किया है, जो अधिकार मनुष्य को वस्तुओं के ऊपर हो सकते हैं। इनमें से पहला अधिकार है वस्तुओं को प्राप्त करने और उनका प्रबन्ध करने का अधिकार (पोटेस्टास प्रोक्यूरेन्डी एट डिस्पेंसेन्डी); और यहां निजी सम्पत्ति का पूर्ण अधिकार बहुत कुछ उन्हीं आधारों पर दिया गया है, जो अरस्तू की युक्ति में पाये जाते हैं। जब प्रत्येक व्यक्ति की वस्तुएं अलग-अलग होती हैं, तो वह

१. सम। थियोल। II/II, अध्याय ६६, अनुच्छेद १।

२. **Unde proprietas possessionum non est contra jus naturale sed juri naturali superadditur per adinventionem rationis humanae.**

पूर्व उद्धृत पुस्तक अध्याय ६६, अनुच्छेद २। इस प्रकार निजी सम्पत्ति प्राकृतिक कानून के प्रतिकूल नहीं है, अपितु यह तो मानवीय विवेक की आविष्कारशीलता के कारण प्राकृतिक कानून में और योग प्रदान करती है।

उनका प्रयोग बहुत सावधानी से करता है। इससे व्यवस्था कहीं अधिक अच्छी रहती है और लोगों को कहीं अधिक तृप्ति प्राप्त होती है और साँझा बटुआ रहने के कारण जो झगड़े उत्पन्न हुआ करते हैं, वे इस प्रणाली में नहीं होते। परन्तु वस्तुओं के ऊपर दूसरे अधिकार अर्थात् उनके उपयोग के अधिकार (यूजस इप्सैरम) के सम्बन्ध में स्थिति भिन्न है। यहाँ वस्तुओं को साँझा समझा जाना चाहिये और आवश्यकता के समय उनका उपयोग बाँटकर किया जाना चाहिये। यह पुराना अरस्तू वाला ही हल है कि सम्पत्ति अधिकार की दृष्टि से निजी, किन्तु उपयोग की दृष्टि से साँझी होनी चाहिये।

इस प्रकार यहाँ निजी सम्पत्ति का अधिकार तो विद्यमान रहता है, परन्तु रोमनों की "उपयोग और दुरुपयोग के अधिकार" (जस यूटैन्डी एट ऐब्यूटैन्डी) की धारणा की कठोरता समाप्त हो गई है। वस्तुतः वस्तुओं का स्वामी अपनी सम्पत्ति का केवल प्रबन्धक मात्र है, और यह प्रबन्ध उसे सब के हित में करना है। हालाँकि इस सम्पत्ति का प्रबन्ध प्रत्येक व्यक्ति के अपने विवेक के ऊपर छोड़ दिया गया है। सेन्ट थामस इस सिद्धान्त को कहाँ तक मानने के लिये तैयार है, यह उसकी इस युक्ति से स्पष्ट हो जाता है कि अत्यधिक आवश्यकता की दशा में चोरी करना उचित समझा जा सकता है।[१] क्योंकि मानवीय कानून प्राकृतिक कानून या दैवीय कानून से बिलकुल अलग नहीं हो सकता और यह बात दैवीय कानून का एक अंग है कि छोटी-मोटी वस्तुएँ इसलिए बनाई गई हैं कि उनके द्वारा मनुष्य अपनी आवश्यकताओं को पूर्ण कर सके। इसका अर्थ यह है कि जिन चीजों को हम उथली या तुच्छ दृष्टि से देखते हैं, वे वस्तुतः प्राकृतिक कानून का अंग हैं, जिससे कि गरीबों का निर्वाह हो सकें। यहाँ पर हम यह विचार करने नहीं बैठे हैं कि "आवश्यकता" किसे माना जाय; और न यह कि "तुच्छ या क्षुद्र बात" का अर्थ क्या लिया जाय? परन्तु यह बात बहुत महत्वपूर्ण है कि मध्ययुग में मनुष्य के प्रतिष्ठा-स्तर के अधिकार को इतना महत्त्व दिया जाता था कि सेन्ट थामस ने यह बात विशेष जोर देकर कही है कि दान देने पर इतना प्रतिबन्ध अवश्य रहना चाहिये कि जिससे उसके पास इतना धन बचा रहे, कि जिससे उसके द्वारा वह अपनी प्रतिष्ठा के अनुकूल सुविधापूर्वक जीवन बिता सके।[१]

१. पूर्व उद्धृत पुस्तक II/II अध्याय ६६, अनुच्छेद ७। २. वही, अध्याय ३२, अनुच्छेद ६।

भौतिक वस्तुओं के मूल्य के सम्बन्ध में सेन्ट थामस का दृष्टिकोण इन्हीं सामान्य सिद्धान्तों के अनुकूल है। जो जीवन मनुष्य यहाँ बिताता है, वह उसे स्वर्ग के सुखी जीवन की ओर ले जाता है, जो उसका अंतिम लक्ष्य है और इस जीवन की अच्छी वस्तुओं का मूल्य इसी दृष्टि से समझा जा सकता है कि वे उस स्वर्ग के जीवन को सुखी बनाने में कहाँ तक उपयोगी हैं।[१] सम्पत्ति अच्छी वस्तु है, या हो सकती है; परन्तु यह निम्नकोटि की अच्छी वस्तु है; यह एक लक्ष्य को प्राप्त करने का साधन मात्र है। यह उसी दशा में अच्छी है, जब कि यह पवित्र जीवन बिता पाने में सहायक हो। इसी प्रकार दरिद्रता भी अच्छी हो सकती है, यदि वह मनुष्य को उन बन्धनों से छुटकारा दिला दे, जिनमें अनेक मनुष्य सम्पत्ति के कारण फँसे रहते हैं। परन्तु दरिद्रता अपने आप में कोई अच्छी वस्तु नहीं है। यह केवल उसी सीमा तक अच्छी है, जहाँ तक कि यह मनुष्य को आध्यात्मिक जीवन की बाधाओं से मुक्ति दिला देती है। न गरीबी और न सम्पत्ति और न कोई अन्य बाहरी वस्तु (सेन्ट पाल के शब्दों में "कोई अन्य बाहरी जन्तु") अपने आप में अच्छी या बुरी नहीं है; केवल उसका उपयोग ही अच्छा या बुरा है। और इसमें हमें मध्ययुग की सर्वोच्च निरपेक्षता दृष्टिगोचर होती है।[२]

निजी सम्पत्ति के अस्तित्व को स्वीकार कर लेने के बाद उन सिद्धान्तों का प्रश्न उत्पन्न होता है, जिनके आधार पर विनिमय का नियमन होना चाहिये। मानवीय सम्बन्धों का आधार "न्याय" होना चाहिए और इसीलिये यहाँ केन्द्रीय धारणा "उचित कीमत" की है। यहाँ उस विस्तृत विचार-क्षेत्र में प्रवेश करना अनावश्यक है, जिसमें अरस्तू के अनुकरण पर न्याय का विश्लेषण करते हुए उसके दो भेद (कम्युटेटिवा और डिस्ट्रिब्यूटिवा) किये गये हैं। न्याय के इन दो पहलुओं में से (जिनमें से पहले में अंश के साथ अंश के सम्बन्धों पर विचार करता है; और दूसरे में अंश का अंगी अर्थात् सम्पूर्ण वस्तु के साथ सम्बन्ध पर विचार किया जाता है) पहला अर्थात् कम्यूटेटिव न्याय या विनिमय विषयक न्याय ही उचित कीमत की धारणा के विचार में सहायक है। यदि हम मूल तक पहुँचने का प्रयत्न करें, तो न्याय का अर्थ है—प्रत्येक व्यक्ति को उतनी

१. डी रैजीमाइन प्रिंसिपम; खंड १, अध्याय १५।
२. सम्मा कंट्रा जेन्टाइल्स; खंड ३; विशेष रूप से अध्याय १३३।

वस्तु प्रदान करना, जो उसकी है। न्याय के साथ समानता का सम्बन्ध अनिवार्य रूप से जुड़ा हुआ है, इसलिए विनिमय में भी समानता रखनी चाहिये। इसलिए विनिमय करने के लिए एक नाप आवश्यक है; और इस प्रयोजन के लिए ही पैसे या द्रव्य का आविष्कार किया गया है। इस प्रकार मुख्य रूप से पैसा लगभग केवल मूल्यों का नाप भर है। यदि किसी वस्तु की कीमत उसके मूल्य से अधिक बढ़ जाती है, या इसके विलोम रूप में किसी वस्तु का मूल्य उसकी कीमत से बढ़ जाता है, तो न्याय भंग होता है। इसलिए किसी चीज को उसके उचित मूल्य से अधिक ऊंची कीमत पर बेचना या उससे कम कीमत पर खरीदना अन्यायपूर्ण है और अनुचित है।[1]

(केरियस वैन्डेरे क्वाम वेलीट) मूल्य से अधिक कीमत पर विक्रय यहाँ एक बहुत बढ़िया खरगोश दिखाई पड़ता है, जो बिना हांफे हुए शान के साथ मैदान में दौड़ता चला जा रहा है, जिसका पीछा करते हुए, बहुत दूर हांफते हुए तत्वज्ञानी और अर्थशास्त्री चले आ रहे हैं। परन्तु कम से कम सेन्ट थामस ने

१. यह वक्तव्य इतना महत्वपूर्ण है कि सेन्ट थामस ऐक्वाइनास का लैटिन उद्धरण भी क्षम्य समझा जाय :

"......et ideo debet secundum aequalitatem rei inter eos contractus institui. Quantitas autem rei, quae in usum hominis venit, mensuratur secundum pretium datum; ad quod est inventum numisma, ut dicitur. Et ideo si vel pretium excedat quantitatem valoris rei, vel e converso res excedat pretium, tolletur justitiae aequalitas. Et ideo carius vendere vel vilius emere rem quam valeat, est secundum se injustum et illicitum." (Sum. Theol., II/II quaestio 77, art. I)

"और इस कारण परस्पर हुए समझौतों में वस्तुओं की समानता स्थापित की जानी चाहिये। परन्तु मनुष्यों के उपयोग में आने वाली वस्तुओं की मात्रा का नाप एक निश्चित कीमत द्वारा होता है और इस प्रयोजन के लिए जैसा कि पहले कहा जा चुका है सिक्के का आविष्कार किया गया है। इस कारण चाहे कीमत वस्तु के मूल्य से अधिक हो और चाहे विलोमतः वस्तु का मूल्य कीमत से अधिक हो, इन दोनों ही दशाओं में न्याय की समानता भंग हो जाती है। और परिणामतः इस कारण किसी भी वस्तु को उसके मूल्य से अधिक या कम कीमत पर बेचना न्यायविरुद्ध और अवैध है।"

(सम. थिओल. II/II, अध्याय ७७, अनुच्छेद १)

इस पीछे दौड़ने में भाग नहीं लिया और न वस्तुतः उसने खरगोश को दौड़ाया ही था। इसके विपरीत उचित कीमत के पीछे छिपे हुए मूल्य के विचार का सेन्ट थामस ने बहुत ही कम विश्लेषण किया है। उसके विवेचन से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि मूल्य का विचार प्रत्येक वस्तु में विद्यमान एक वस्तु-रूपात्मक (ऑब्जेक्टिव) गुण है। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि सेन्ट थामस यह मानकर चलता है कि हम यह जानते तो हैं कि यह मूल्य क्या वस्तु है; किन्तु वह इस बात को स्पष्ट नहीं कर पाता कि किन्हीं खास परिस्थितियों में हम उस मूल्य का निर्धारण किस प्रकार कर सकते हैं। यदि उसके कई सन्दर्भों की परस्पर तुलना की जाय, तो शायद उनसे ऐसा लगे कि उसके मस्तिष्क में 'उत्पादन की लागत' का सिद्धान्त काम कर रहा था, जिसके साथ श्रम के पारिश्रमिक के सम्बन्ध में उसके अपने विचार भी जुड़े हुए थे। फिर भी आवश्यकता और उपयोग का विचार भी मध्यकालीन सिद्धान्त म उपस्थित होता है। परन्तु यह आवश्यकता किसी एक व्यक्ति की निजी आवश्यकता न होकर सामान्य उपयोगिता का एक ऐसा "सामान्य अन्दाज" है, जो सब जगह पाया जाता है। संक्षेप में उचित कीमत मुख्य रूप से प्रचलित (कस्टमरी) कीमत है जो उस परम्पराओं के युग में एक बिल्कुल स्वाभाविक धारणा थी। इस स्थान पर सम्भवतः सत्य के निकट तक पहुँचने में श्री गोनर्ड का वह मजेदार वाक्य सहायक हो सकता है, जिसमें उसने कहा है कि उचित कीमत का निर्धारण विधानात्मक तत्वों द्वारा कम होता है और ईमानदार उत्पादक (आस्ट्रेलियन मजदूरी नियत करने वाले विधान के प्रतिष्ठित मालिक) की इच्छा के अनुसार अधिक।

फिर भी उचित कीमत, भले ही वह वस्तुरूपात्मक ढंग की थी, बाहरी परिस्थितियों के कारण पड़ने वाले प्रभावों से परे नहीं थी। उदाहरण के लिए वहाँ, जहाँ किसी ऐसे पदार्थ का विनिमय होता है जो पहले स्वामी के लिए बहुत अधिक उपयोगी है, केवल इस बात का ध्यान रखा जाना काफी नहीं है कि वस्तु का महत्त्व क्या है (जिसे कि हम उस वस्तु की सामान्यतया उचित कीमत कह सकते हैं), परन्तु इस बात का भी ध्यान रखा जाना आवश्यक है कि उस वस्तु को दे देने के कारण विक्रेता को कितनी हानि उठानी पड़ेगी।[1] परन्तु मध्यकालीन

१. Et in tali casu justum pretium erit ut non solum respici-

दृष्टिकोण की यह एक विशेषता है कि ग्राहक को चाहे किसी वस्तु की कितनी ही अधिक आवश्यकता क्यों न हो, किन्तु यदि उस वस्तु को दे देने से विक्रेता को कोई विशेष हानि नहीं होती, तो उचित कीमत को बढ़ाना किसी प्रकार न्यायोचित नहीं कहा जा सकता। यह तथा इसी प्रकार के कई अन्य विचारों से यह सूचित होता है कि उचित कीमत का निर्णय करते हुए कई बातों की गुंजाइश रखी जानी चाहिये। जैसा सेन्ट थामस ने कहा है कि यह उचित कीमत बिलकुल पक्के तौर पर नियत नहीं की जा सकती, अपितु अन्दाजा करने की कुछ प्रक्रियाओं पर निर्भर रहती है। इसलिये एक सीमा के अन्दर यदि उचित कीमत में कुछ घटाव या बढ़ाव हो, तो यह नहीं समझना चाहिए कि इससे न्यायोचित समानता का भंग हो रहा है।[१] इस सम्बन्ध में किए गये विवेचन से, कि विक्रेता की यह जिम्मेदारी है कि वह बेची जा रही चीज के दोष भली भांति ग्राहक को खोलकर बतलावे, अन्य किसी भी युक्ति की अपेक्षा इस बात का संकेत मिलता है कि मध्ययुग में यह आधारभूत धारणा थी कि किसी भी व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति से अनुचित लाभ नहीं उठाना चाहिए; और यह भी कि यह जीवन हम लोगों की परीक्षा का समय है और हम सब परस्पर भाई-भाई हैं। यहां हमें पारस्परिक इस व्यवहार में

---

atur ad rem quae venditur, sed ad damnum quod venditor ex venditione incurrit." (II/II, quaestio 77, art. I)

"और ऐसे मामलों में उचित कीमत केवल उस वस्तु को ध्यान में रख कर नियत नहीं होगी, जो बेची जा रही है, अपितु उस हानि को भी ध्यान में रखना होगा, जो बिक्री के कारण विक्रेता को उठानी पड़ेगी।"

१. "Quod ideo dico, quia justum pretium rerum non est punctualiter determinatum, sed magis in quadam aestimatione consistit; ita quod modica additio vel minutio non videtur tollere aequalitatem justitiae." (II/II, quaestio 77, art. I)

"और इस कारण मैं कहता हूँ कि क्योंकि किसी भी वस्तु की उचित कीमत सूक्ष्मतया सुनिश्चित नहीं की जा सकती, बल्कि वह अवश्य बहुत-कुछ आकलन (एस्टीमेट) पर निर्भर रहती है; और यह ऐसे रूप में होता है कि कीमत में थोड़ी सी कमी या वृद्धि होने से न्याय की समानता भंग होती प्रतीत नहीं होती।" (II/II, अध्याय ७७, अनुच्छेद १)

सुनहले नियम का पालन करना चाहिए कि "दूसरों के साथ वैसा ही व्यवहार करो जैसा कि तुम चाहते हो कि तुम्हारे साथ किया जाय"।

यह बात लगभग स्वतः स्पष्ट है कि उचित कीमत के सिद्धान्त में ही उचित वेतन के विचार का भी अन्तर्भाव हो जाता है। सेन्ट थामस ने उचित मजदूरी को उस समानता के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है, जो किसी व्यक्ति द्वारा की गयी सेवाओं के लिए उचित वेतन देने के रूप से विद्यमान रहती है। अन्य सभी जगह उसने वेतन के भुगतान को बिलकुल उसी दृष्टि से देखा है, जिस दृष्टि से उसने उचित कीमत के दायित्व को देखा है।[१] बल्कि यहाँ तक कहा जा सकता है कि उचित कीमत के सिद्धान्त का निर्माण उचित वेतन के आधार पर ही हुआ था, क्योंकि मध्ययुग में यह सिद्धान्त अपने जीवन्त रूप में विद्यमान था कि मजदूर सदा अपनी मजदूरी पाने के योग्य होता है। जहाँ तक उचित कीमत का विचार मोटे तौर पर उत्पादन की लागत के सिद्धान्त का प्रतीक था, वहाँ तक मजदूर की मजदूरी कीमतों के निर्धारण में यदि एकमात्र नहीं, तो एक प्रमुख तत्त्व अवश्य थी। उचित मजदूरी का अभिप्राय पारिश्रमिक की उस दर से था, जो कारीगर को अपने सामाजिक स्तर के अनुसार ठीक ढंग से जीवन-निर्वाह करने के लिए पर्याप्त हो और इस प्रकार यह कहा जा सकता कि इस प्रकार के वेतन या मजदूरी द्वारा ही उद्योगों पर पहला दायित्व डाला गया था। मध्यकालीन उचित कीमत और उचित वेतन के सिद्धान्त शायद आजकल की नयी पीढ़ी को कम विचित्र जान पड़ें, जो व्यापारिक बोर्डों और कीमत नियत करने वाले यन्त्रजातों (मशीनरी) से काफी परिचित और उन्हें देखने की अभ्यस्त हो गयी है।

अर्थशास्त्रीय सिद्धान्त का एक अन्य महत्त्वपूर्ण पहलू अर्थात ब्याज का निषेध भी विश्लेषण करने पर उचित कीमत का इसी प्रकार का एक विशेष रूप मात्र

१. "Unde sicut reddere justum pretium pro re accepta ab aliquo, est actus justitiael ; ita etiam recompensare mercedem operis vel laboris, est actus justitiae." (I/II, quaestio 114, art. I)

"जिस प्रकार किसी व्यक्ति से लिये हुए किसी पदार्थ की उचित कीमत चुकाना न्याय्य कार्य है, उसी प्रकार श्रम के कार्यों का प्रतिफल चुकाना भी न्याय्य कार्य है।"

(I/II, अध्याय ११४, अनुच्छेद १)

दिखायी पड़ता है। मध्यकालीन विचारक की दृष्टि में व्याज लेना केवल वही नहीं था, जिसे कि आजकल का अर्थशास्त्री "विशुद्ध व्याज" कहता है। उसके अन्तर्गत व्यापार में किसी भी प्रकार का अन्याय या उचित कीमत का किसी भी प्रकार का उल्लंघन भी सम्मिलित था। फिर भी क्योंकि अरस्तू ने सूदखोरी को बुरे वित्त-साधन (फाइनांस) के विभिन्न प्रकारों में से एक अत्यधिक बुरा प्रकार बतलाया था, इसलिए यद्यपि सूदखोरी का बहुत बार विस्तृत अर्थों में प्रयोग किया जाता था, परन्तु अधिकांशतः इसका अर्थ विशेष रूप से उधार दिये हुए रुपये पर मुनाफा लेने से जुड़ गया था; जो लोभ का एक अत्यन्त घृणित उदाहरण समझा जाता था, यह एक ऐसा विषय था, जिस पर मध्ययुग के सभी विचारक एकमत थे। अरस्तू ने सूदखोरी की निन्दा इस आधार पर की थी कि पैसा अनुपजाऊ या अनुर्वर होता है। जो पैसा उचित रूप से केवल विनिमय के साधन के रूप में प्रयुक्त किया जाना चाहिये, उसे, और अधिक पैसा बनाने के साधन के रूप में प्रयोग करना अस्वाभाविक था और इसीलिए निन्दनीय भी था। बाइबिल में लेविटिक्स और ड्यूटरोनोमी में कई जगह सूदखोरी का निषेध किया गया है। यहाँ हमें यह विचार करने के लिए रुकने की आवश्यकता नहीं है कि इन निषेधों का सम्बन्ध किस सीमा तक केवल अपने भाई से सूद न लेने से ही है। 'साम' के लेखक ने एक जगह जीयोन के नागरिक की एक विशेषता का वर्णन करते हुए लिखा है कि उसे अपना पैसा व्याज पर नहीं देना चाहिए (साम, अध्याय १५, पद्य ५)। इन सबसे बढ़कर इंजीलों में एक जगह वह संदर्भ आता है, जिसे अन्य किसी भी प्रमाण की अपेक्षा अधिक उद्धृत किया गया है, जिसका भावार्थ यह है कि सच्चे ईसाई को रुपया यह समझकर उधार देना चाहिए कि उसे उसके बाद कुछ भी वापस न मिलेगा (ल्यूक अध्याय ६, अनुच्छेद ३५)।[1]

---

१. Mutuum date nihil inde sperantes—यह पाठ ठीक है या इसके स्थान पर यह पाठ ठीक होगा Mutuum date nihil desperantes; अर्थात् पहला वाक्य कि उधार यह सोचकर दिया जाना चाहिये कि उसमें से कुछ भी प्राप्ति नहीं होगी या यह अर्थ ठीक है कि उधार देने के बाद उसके सम्बन्ध में चिन्ता नहीं करनी चाहिये। यदि पहला अर्थ सही मान लिया जाय, उस दशा में भी क्या 'निहिल' (nihil) का अर्थ है कि रुपया उधार देने वाले को न केवल कोई व्याज पाने की आशा नहीं रखनी चाहिये या इसका अर्थ यह है कि व्याज के अतिरिक्त उसे साथ ही मूल पूंजी पाने की आशा भी छोड़ देनी चाहिये।

यह विचार करने से पहले कि सूदखोरी का अपराध सैद्धान्तिक दृष्टि से क्या अपराध था, हमें दो बातों पर ध्यान देना चाहिए। पहली बात तो यह है कि सेन्ट ल्यूक की इंजील में आये हुए सन्दर्भों और ईसाई पादरियों की स्फुट सूक्तियों के बावजूद चर्च का रुख ब्याज के सम्बन्ध में पहले इतना कठोर नहीं था, जितना कि यह बाद में हो गया। जब यह समस्या पहले-पहल खड़ी हुई तब ब्याज लेना केवल पादरियों को ही मना था। आम लोगों के लिए ब्याज लेना तो काफी बाद में आकर निषिद्ध माना जाने लगा और आम लोगों के लिए ब्याज लेना अपराध समझा जाने लगा। दूसरी बात यह है कि ब्याज के प्रति मध्यकालीन रुख को तब तक ठीक-ठीक समझ पाना असम्भव है, जब तक हम इस बात को ध्यान में न रखें कि उस युग में नवारम्भ और उद्योग बहुत थोड़े थे और रुपया आमतौर से उन्हीं लोगों को उधार दिया जाता था, जो किसी कारणवश विपत्ति में पड़ जाते थे। इसलिए उस काल का ऋण सम्भवतः किसी ऐसे व्यक्ति को ही दिया जाता था, जिसे आग या बाढ़ के कारण भारी नुकसान हो गया होता था, या फसलें खराब हो जाने, या पाला पड़ जाने, या महामारी, या अत्यधिक वर्षा के कारण जिसे भारी नुकसान उठाना पड़ा होता था। इसके अतिरिक्त उस समाज में, जो कि वित्त-साधन की दृष्टि से विकसित नहीं था, ऋण अधिकांशतः उन्हीं लोगों में आपस में लिये दिये जाते थे, जो लेनदार और देनदार के सम्बन्ध के अतिरिक्त भी एक दूसरे से भली भाँति परिचित होते थे। इसमें सन्देह नहीं कि उस समय भी लेन-देन अनेक प्रकार के होते थे; परन्तु सम्भवतः उस समय का साधारण ऋण किसी उत्पादक प्रयोजन के लिए नहीं लिया जाता था, बल्कि किसी विपत्ति या दुर्घटना के कारण आयी हुई मुसीबत का सामना करने के लिए लिया जाता था; और ऋण देने वाला व्यक्ति सामान्यतया ऐसा होता था, जो कि उस विपत्तिग्रस्त मनुष्य का मित्र होने का दम भरता था। ऐसी परिस्थितियों में ब्याज लेने को निरुत्साहित करना बिलकुल स्वाभाविक है, क्योंकि यह देखने-सुनने में ऐसा लगता है कि जैसे यह (एक ईसाई पादरी के शब्दों में) दूसरों की विपत्तियों से

यह बात बड़ी मनोरंजक है कि जिस पथ को मध्ययुग में इतना प्रामाणिक समझा जाता था, बाद में जाकर उसकी व्याख्या के सम्बन्ध में इतने सन्देह उत्पन्न हो गये।

—देखो ओ ब्रियेन, पूर्व उद्धृत पुस्तक।

लाभ उठाना है। यहाँ तक कि शेक्सपियर का, वेनिस का व्यापारी भी इस दृष्टिकोण को स्वीकार करता है, जबकि वह कहता है : "जहाँ मित्र से वंध्या धातु की संतान (ब्याज) माँगी जाय, वहाँ मित्रता कहाँ रह सकती है ?"

प्रारम्भिक दिनों में सूदखोरी की निन्दा अंशतः बाइबिल और अरस्तू को प्रमाण मानकर की गई थी। एक तो अरस्तू ने यह कहा था कि पैसा अनुपजाऊ होता है; और दूसरा दृष्टिकोण यह था कि सूदखोरी का अर्थ यह है कि विपत्ति के समय गरीब लोगों से अधिक लाभ उठाया जाय। इन दोनों दृष्टि-कोणों के सम्मिश्रण के परिणामस्वरूप सूदखोरी को बुरा समझा जाने लगा था; परन्तु सेन्ट थामस ऐक्वाइनास ने सूदखोरी के विरुद्ध जो आक्षेप किया, वह कहीं अधिक गहरे आधार पर था। उसने बड़ी कुशलता के साथ तर्क करके यह प्रतिपादित किया कि सूदखोरी न्याय का उल्लंघन है। उसकी युक्ति-परम्परा का आधार वह अन्तर है, जो उसने दो प्रकार की वस्तुओं में किया है : एक तो वे, जिनमें उपयोग और उपभोग सदा मिले रहते हैं; और दूसरी वे, जिनमें उपयोग और उपभोग को पृथक् किया जा सकता है। इन्हें हम उप-भोगान्त और अनुपभोगान्त (फंगीबल और नानफंगीबल) कह सकते हैं। उदाहरण के लिये शराब या रोटी को लीजिये। इनका उपयोग उपभोग के बिना हो ही नहीं सकता। यदि किसी को शराब या रोटी का उपयोग करने की अनुमति दी जाती है, तो इसका अर्थ यह है कि वह वस्तु उसे दे दी जाती है। यह सम्भव नहीं है कि किसी व्यक्ति को रोटी का उपयोग तो करने की अनुमति दे दी जाय और उसे वस्तुतः रोटी न देनी पड़े; और यदि वह व्यक्ति रोटी का उपयोग कर लेता है, तो उससे फिर उस रोटी को वापस करने की आशा करना व्यर्थ है। इसके विपरीत कुछ वस्तुएँ ऐसी भी हैं, जिनमें उपयोग और उपभोग एक ही बात न होकर पृथक्-पृथक् बातें हैं। एक आदमी किसी मकान का उपयोग कर सकता है और उतने भर से मकान नष्ट नहीं हो जायगा। इसलिए किसी व्यक्ति को मकान का उपयोग करने का अधिकार दिया जा सकता है, और यह आशा की जा सकती है कि वह नियत अवधि के बाद मकान को पहले जैसी हालत में ही वापस कर देगा। इस बात को अपने विचारणीय विषय के अनुकूल ढंग से इस प्रकार कहा जा सकता है कि मकान को भी बेच पाना सम्भव है और मकान के उपयोग को भी बेच पाना सम्भव

है, क्योंकि ये दोनों अलग-अलग वस्तुएं हैं। परन्तु यह सम्भव नहीं है कि रोटी को अलग बेच दिया जाय और रोटी के उपयोग को अलग बेच दिया जाय, क्योंकि रोटी का एकमात्र प्रयोजन ही उसका उपभोग किया जाना है। अब पैसे के सम्बन्ध में विचार कीजिये और अरस्तू द्वारा पैसे की परिभाषा पर दृष्टि डालिये। पैसे का अस्तित्व इसलिए है कि जिससे वस्तुओं का विनिमय सरलता से किया जा सके। पैसे का कार्य यह है कि जब उसका उपयोग किया जाय, तो वह अपने स्वामी के हाथों से निकलकर किसी दूसरे के पास चला जाय। इसका उचित उपयोग इसके उपभोग या पर-हस्त-गमन में ही है। इसलिए यह मुख्य रूप से एक उपभोगान्त (कंजीबल) पदार्थ है। इसमें उपयोग एक दूसरे से पृथक् नहीं किये जा सकते।[१]

एक दृष्टि से सेन्ट थामस की युक्ति का अर्थ यह है कि जैसे उपभोगान्त वस्तु का ऋण या उधार कहा जाता है, वह वस्तुतः एक बिक्री होती है; और जिस प्रकार यह उचित नहीं कहा जा सकता कि कोई आदमी किसी को रोटी बेच दे और उसके साथ ही उस रोटी के उपयोग के लिए अलग से पैसे मांगे, उसी प्रकार यह भी अनुचित है कि कोई आदमी पैसे को बेच दे और साथ ही उसके उपयोग की कीमत अलग से वसूल करना चाहे। मध्ययुगीन सिद्धान्त के अनुसार पैसे की उचित कीमत यह है कि वह पैसा वापस लौटा दिया जाय। उसके उपयोग के लिए कुछ अतिरिक्त कीमत वसूल करना एक प्रकार की ठगी है। अब सोचना यह है कि ब्याज लेने वाले व्यक्ति का अपराध क्या है? यदि उपरिलिखित विश्लेषण को ध्यान में रखा जाय, तो इस अपराध को कई प्रकार से व्यक्त किया जा सकता है; यहां तो व्याज लेने वाला आदमी एक ऐसी चीज को बेच रहा है, जिसका वस्तुतः अस्तित्व ही नहीं है (अर्थात् उपभोग से पृथक् उपयोग, जब कि पैसे में ये दोनों वस्तुएं इकट्ठी ही हैं, पृथक्-पृथक् नहीं की जा सकतीं); या वह एक ही वस्तु की कीमत दो बार वसूल कर रहा है; और यदि अवधि बीतने का प्रश्न उठाया

---

१. "Ita proprius et principalis pecuniae usus est ipsius consumptio, sive distractio." (Sum. Theol. II/II, quaestio 78.)

"इस प्रकार पैसे का उचित और सर्वप्रमुख उपयोग उसके स्वयं उपभोग अथवा पर-हस्त-गमन में ही निहित है।"

जाय, तो कहा जा सकता है कि वह समय को बेच रहा है, जो की परमात्मा की सम्पत्ति है और जिस पर कोई भी मनुष्य अपना अधिकार नहीं जमा सकता।

यह बहुत बार कहा जाता है कि सूदखोरी के सम्बन्ध में मध्यकालीन दृष्टिकोण मुख्यतया अरस्तू के पैसे के सम्बन्ध में दृष्टिकोण पर आधारित है। अरस्तू की दृष्टि में पैसा केवल विनिमय का माध्यम था और परिणामतः अपने आप में अनुपजाऊ था। सम्भवतः यह कहना अधिक सत्य होगा कि वे पैसे के ऋण को (क्योंकि वह उपभोगान्त वस्तु थी) मुख्य रूप से इस रूप में देखते थे कि इससे पैसे का स्वामित्व बदल जाता है। वे यह तो अनुभव करते थे कि पैसे का उपयोग ऐसे ढंग से किया जा सकता है कि उससे एक नया उत्पादन हो सके, परन्तु वे यह भी समझते थे कि पैसे का उत्पादक ढंग से प्रयोग केवल तभी किया जा सकता है, जब कि उसके साथ श्रम भी मिला रहे। वस्तुतः उत्पादनशीलता मुख्य रूप से उधार लेने वाले उस व्यक्ति के श्रम से उत्पन्न होती है, जिसे कि पैसे का पूर्णरूप से उपयोग करने का अधिकार भी दिया जा चुका होता है। इसलिए इस दृष्टिकोण से देखने पर ब्याज लेने वाला व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के श्रम पर एक प्रकार का टैक्स लगा रहा होता है। उधार दिए गये पैसे की उचित कीमत केवल यही है कि वह पैसा वापस मिल जाय; इससे अधिक कुछ भी लेना अन्याय है।

सूदखोरी के सम्बन्ध में सिद्धान्त का शनैः-शनैः विकास और परिष्कार अर्थशास्त्रीय विचार और व्यवहार के सर्वाधिक रोचक अध्यायों में से एक है; परन्तु यहाँ इस पर केवल एक उड़ती नजर ही डाली जा सकती है। यह बात मध्यकालीन, न्याय और समानता की धारणा के अनुकूल ही थी कि उधार देने वाले व्यक्ति को पैसा उधार देने के कारण किसी प्रकार का नुकसान नहीं होना चाहिये। इस प्रकार की स्थिति में केवल मूल पूंजी को वापस लौटा देना काफी नहीं है; उधार लेने वाले व्यक्ति (अधमर्ण) को चाहिये कि वह उन नुकसानों की भी क्षति-पूर्ति करे, जो पैसा उधार देने वाले (उत्तमर्ण) को उसके कारण उठाने पड़े हैं। इस प्रकार वास्तविक व्यवहार में कई इस प्रकार के सुधार किये गये, जिनका रुख सूदखोरी के निषेध को तोड़ने की ओर था; यद्यपि सिद्धान्त के तौर पर यह कहा गया कि वे न्याय के आदर्श को और अधिक पूर्णरूप में प्राप्त करने के उद्देश्य से किये गये आवश्यक परिवर्तन मात्र हैं।

इन परिवर्तनों में से जिनके सम्बन्ध में विवेचन सबसे अधिक हुआ है, वे दो भुगतान हैं, जो डेमनम ऐमर्जेन्स (होने वाला नुकसान) और ल्यूक्रम सैसन्स (बन्द हो गया लाभ) की दशाओं में उचित माने गये हैं। यदि उधार देने वाला व्यक्ति (उत्तमर्ण) यह प्रमाणित कर सके कि उधार देने के कारण उसे कुछ सुनिश्चित नुकसान उठाना पड़ा है, या फिर उसका लाभ का कोई ऐसा स्रोत बन्द हो गया है, जो उधार न देने की दशा में बन्द न होता, तो यह न्यायोचित है कि उधार लेने वाला व्यक्ति (अधमर्ण) उसकी क्षति-पूर्ति करे। 'पोयना कन्वेंशनेलिस' (समझौता भंग का दण्ड) की स्थिति इससे कुछ भिन्न थी। इस नियम के अनुसार यह माना जाता था कि उधार लिया हुआ पैसा एक नियत तिथि पर वापस लौटा दिया जाना चाहिये और यदि उस नियत तिथि पर पैसा वापस न लौटे, तो उधार लेने वाले व्यक्ति को कुछ और राशि भी दंड के रूप में चुकानी चाहिये; क्योंकि उधार देने वाले व्यक्ति को ठीक समय पर पैसा न मिलने के कारण जो तथाकथित असुविधा हुई है, उसकी क्षति-पूर्ति इसी प्रकार की जा सकती है। यदि पहले से नियत समय पर पैसा मिल जाता, तो वह उसका उपयोग कर सकता था; परन्तु अब पैसा न मिलने की दशा में वह उसका उपयोग कर पाने से वंचित रहा है। एक चौथा अपवाद 'पैरीक्यूलम सोरटिस' (जोखिम) का था। इसका अर्थ यह था कि इस सम्भावना के, कि उधार दिया हुआ पैसा वापस नहीं भी लौट सकता है, जोखिम को पूरा करने के लिए कुछ न कुछ भुगतान अवश्य किया जाना चाहिये। इस विवेचन को दृष्टि में रखते हुए दो निष्कर्ष बहुत सरलता से निकाले जा सकते हैं। पहली बात तो यह है कि व्यवहार में ये अनेक परिवर्तन ऐसे थे, जो समय आने पर सूदखोरी के निषेध को तोड़ डालने में अवश्य ही समर्थ हो सकें; विशेष रूप से तब, जब कि उद्योगों का विकास हो रहा था और वित्त-साधन की विधियाँ विकसित हो रही थीं। यह स्पष्ट है कि इन अपवादस्वरूप चार अवस्थाओं में यह मान लिया गया है कि उधार देने वाला व्यक्ति सामान्यतया अपने पैसे का उपयोग स्वयं कर पाने में असमर्थ है। एक ऐसी अर्थ-व्यवस्था में, जिसमें कि विनियोग और नवारम्भ के लिए असीम गुंजाइश विद्यमान हो, उधार देने वाले व्यक्ति के लिए 'डैमनम एमर्जेन्स' या 'ल्यूक्रम सैसन्स' की युक्ति प्रस्तुत कर पाना अधिक और अधिक सम्भव होता

जायगा। दूसरी बात यह है कि ये सारे अपवाद सिद्धान्त की दृष्टि से कोई अपवाद नहीं थे। मध्यकालीन विचारक की दृष्टि में उन परिस्थितियों में ब्याज लेना अब भी बुरा था, जहाँ पर किसी प्रकार का जोखिम न हो और न किसी प्रकार की हानि हुई हो और न किसी प्रकार की असुविधा उठानी पड़ी हो। इस बात पर दिये गये जोर द्वारा, कि भुगतान केवल इन्हीं बातों के सम्बन्ध में उचित समझा जा सकता है, जो आधुनिक भाषा में सकल ब्याज और आर्थिक ब्याज के मध्य का अन्तर कही जाती हैं, यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है कि आर्थिक ब्याज अर्थात् विशुद्ध और स्पष्ट रूप से केवल पैसे का उपयोग करने के लिए किया जानेवाला भुगतान उस समय तक भी अवैध समझा जाता था।

कोई गलतफहमी न हो, इसलिए यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि मध्ययुगीन सिद्धान्त विनियोग की निन्दा नहीं करता था, यदि विनियोग साझेदारी के रूप में किया जा रहा हो, बशर्ते कि हिस्सेदार वस्तुतः व्यवसाय के जोखिम में हिस्सा बँटा रहा हो। 'कोमेन्डा' (commenda) जो साझेदारी का मूल रूप था, सदा से ही पूर्णतया वैध समझा जाता रहा था; और इस दशा में एक पक्ष दूसरे पक्ष को पैसा उधार दे सकता था और उस व्यवसाय से होने वाले लाभ में से हिस्सा ले सकता था, जब कि वहाँ स्वयं उस नवारम्भ में किसी प्रकार का प्रत्यक्ष भाग नहीं लेता था। परन्तु यह बात आवश्यक थी कि उसे अपना सारा पैसा पूरा का पूरा वापस लेने का पूर्ण अधिकार नहीं रह जाता था, क्योंकि ऐसी दशा में तो स्पष्ट रूप से ही सूदखोरी का समर्थन हो जाता। परन्तु यदि वह केवल अपने पैसे को एक साझेदारी के तौर पर व्यापारी को सौंप दे, तो पैसा उसी का रहेगा; किन्तु व्यापारी पैसे के मालिक के जोखिम पर उससे व्यापार कर सकेगा या कारीगर उसका उपयोग कर सकेगा। पैसे का मूल स्वामी इस दशा में लाभ में से एक भाग का दावा कर सकता है, क्योंकि वह लाभ उस पैसे के उपयोग के फलस्वरूप ही उत्पन्न हुआ है; यद्यपि पैसे का स्वामित्व सदा उसी व्यक्ति का बना रहा है, और भले ही वह पैसा किसी दूसरे व्यक्ति को सौंपा गया है।[1] जैसा श्री टोनी ने

---

१. "Sed ille qui committit pecuniam suam vel mercatori vel artifici per modum societatis cujusdam, non transfert dominium pecuniae suae in illum, sed remanet ejus; ita quod cum periculo

कहा है कि मध्यकालीन सिद्धान्त में जिस व्यक्ति की निन्दा की गयी है, वह वस्तुतः ऋण-पत्रधर (डिबेंचर होल्डर) है। अर्थात् वह व्यक्ति, जो किसी प्रकार का जोखिम नहीं उठाता, जिसका पैसा सुरक्षित है और उसके बाद भी जो किसी प्रकार का प्रतिफल पाने की आशा करता है।

अब हम मध्यकालीन सिद्धान्त के सम्बन्ध में उस अन्तिम विषय पर आते हैं, जो अन्य किसी भी लेखक की अपेक्षा सैन्ट थामस ऐक्वाइनास की रचनाओं में स्पष्ट रूप से सामने आया है। मध्ययुग में श्रम के विभाजन का एक अपना सिद्धान्त था, जो अरस्तू के इस सिद्धान्त पर आधारित था कि मनुष्य अनिवार्य रूप से सामाजिक प्राणी है। अब यदि लोग समाज में रहते हैं, तो उन्हें विभिन्न कार्य करके एक दूसरे की सहायता करनी होगी (इसीलिए मनुष्यों में बोल पाने की अद्भुत क्षमता पायी जाती है, जिससे कि मनुष्य अपनी विविध आवश्यकताओं और गुणों के सम्बन्ध में एक दूसरे से विचार विनिमय कर सकें)[१]। ऐसी दशा में विभिन्न पेशे आवश्यक हैं। परन्तु क्या वे सब पेशे समान रूप से सम्मानजनक हैं? इस आवश्यकता के केवल एक पहलू पर विचार करने के लिए हमें यहाँ ध्यान देना है, और वह पहलू है—व्यापार के प्रति समाज का रुख। किसी भी पेशे की प्रतिष्ठा की पहचान यह है कि वह किस सीमा तक समाज की सेवा में सहायक है। निजी लाभ एक दृष्टि से समाज-सेवा का ठीक विलोम है; इसलिए वे पेशे, जिनमें निजी लाभ प्राप्त करने का अवसर रहता था, हल्के से हल्के शब्दों में खतरनाक समझे जाते थे या शायद इससे भी कुछ बुरे। शुरू-शुरू में लोगों का दृष्टिकोण

---

ipsius mercator de ea negotiatur, vel artifex operatur; et ideo sic licite potest partem lucri inde provenientis expetere, tanquam de re sua." (Sum. Theol., II/II, quaestio 78, art. 2)

"परन्तु जो व्यक्ति साझेदारी के तौर पर अपना पैसा किसी व्यापारी या कारीगर को सौंपता है, वह उस पैसे का स्वामित्व उस व्यक्ति को नहीं देता, बल्कि पैसा उसी का रहता है और इस प्रकार व्यापारी मूल स्वामी के जोखिम पर उस पैसे से व्यापार करता है या इसी प्रकार कारीगर उस पैसे का उपयोग करता है। इसी कारण यह सम्भव है कि उस पैसे से उत्पन्न होने वाला लाभ का एक भाग ठीक उसी प्रकार माँगा जाय, जैसे अपनी वस्तुओं से उत्पन्न हुए लाभ का भाग माँगा जाता है।"

१. डि रैजिमीन प्रिंसिपम, खंड १, अध्याय १।

यह था कि व्यापारी परमात्मा को किसी भी दशा में प्रिय नहीं हो सकता। परन्तु सेन्ट थामस ऐक्वाइनास की रचनाओं में हमें यह दृष्टिकोण प्रस्तुत किया गया दिखाई पड़ता है कि व्यापार अनिवार्य रूप से पाप का कार्य नहीं है। परन्तु इस बात को वह स्पष्ट कर देता है कि व्यापारी का पेशा पाप की ऐसी सम्भावनाओं और अवसरों से भरा हुआ है कि जिस व्यक्ति को अपनी अमर आत्मा की कुछ भी परवाह है, वह ऐसे पेशे से दूर ही दूर रहेगा। पहला प्रश्न यह है कि व्यापारी किसे कहते हैं? केवल वही व्यक्ति व्यापारी कहा जाता है, जो किसी वस्तु को इस निश्चित इरादे से खरीदता है कि वह उसे अधिक कीमत पर बेच सकेगा। यदि कोई आदमी बिना इस प्रकार के किसी इरादे के किसी वस्तु को खरीदे, तो वह चाहे बाद में उस वस्तु को बेच दे, और भले ही अधिक कीमत पर बेच दे, तो भी वह व्यापारी नहीं कहलायेगा। और वे कारण, जो ऊँची कीमत वसूल करने के लिए उचित ठहराये गये हैं, इस दृष्टि से बहुत रोचक हैं कि उनसे इस बात पर प्रकाश पड़ता है कि उन दिनों उचित कीमत अस्पष्टता के कितने काफी कुहरे में छिपी सी हुई थी। अधिक कीमत या तो इसलिए वसूल की जा सकती थी कि उस वस्तु को खरीद कर बेचने वाले व्यक्ति ने किसी रूप में वस्तु को अधिक अच्छा बना दिया हो, या फिर इसलिये कि समय और स्थान के परिवर्तन के कारण उस कीमत में परिवर्तन हो गया हो, और या फिर इसलिये कि उस वस्तु को एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचाने में काफी खतरा रहा हो; और उस खतरे को उठाने के कारण वह व्यक्ति उस वस्तु का दाम बढ़ा सकता था।[1] परन्तु इस सम्बन्ध में मुख्य प्रश्न पर सेन्ट थामस ने भी अरस्तू द्वारा स्वाभाविक विनिमय और अस्वाभाविक विनिमय के मध्य किये गये अन्तर को ज्यों का त्यों दुहरा दिया है। यह अस्वाभाविक विनिमय जीवन की आवश्यकताओं को

---

१. "Vel quia in aliquo rem melioravit, vel quia pretium rei est mutatum secundum diversitatem loci, vel temporis, vel propter periculum, cui se exponit, transferendo rem de loco ad locum." (II/II, quaestio 78, art. 4.)

"या तो इसलिए कि उसने वस्तु को किसी न किसी रूप में सुधार दिया है, या इसलिये कि बाद में स्थान या समय के परिवर्तन के कारण या उस जोखिम के कारण, जो वस्तु को एक जगह से दूसरी जगह स्थानान्तरित करने में थी, वस्तु की कीमत बढ़ गई है।"

पूरा करने के लिए नहीं किया जाता, अपितु मुनाफा कमाने के लिए किया जाता है और इस रूप में यह काफी कुछ अप्रतिष्ठाजनक कार्य माना जाता था। फिर भी इस समय यदि इस प्रकार का लाभ अप्रतिष्ठाजनक नहीं समझा जाता था, तो वह किसी तर्कसंगत आधार पर पापपूर्ण भी नहीं था। इस प्रकार युक्ति का केन्द्र अपने आप में लाभ न रहकर यह बन गया था कि उस लाभ का उपयोग क्या किया जाता था; और सेन्ट थामस ने एक ऐसे मामले की कल्पना की है, जिसमें कि कोई मनुष्य अपनी शक्तियाँ एक ऐसा व्यापार करने में लगा रहा हो, जो सार्वजनिक कल्याण के लिए हितकर हो और उसका लक्ष्य लाभ को प्राप्त करना न हो, अपितु लाभ को अपने परिश्रम के प्रतिफल के रूप में ग्रहण करना भर ही हो। इस प्रकार लाभ, यदि वह उचित मात्रा में ही हो, तो उसे एक प्रकार की मजदूरी या वेतन समझा जा सकता है।

सेन्ट थामस की पुस्तक डि रैजिमीन प्रिंसिपम में एक और अधिक रोचक प्रसंग है, जिसमें सेन्ट थामस ने उन दो पद्धतियों का विवेचन किया है, जिनके द्वारा राज्य को वे वस्तुएँ प्राप्त हो सकती हैं, जिनकी उसको आवश्यकता है। यह प्रसंग रोचक इसलिए है कि यह अपेक्षाकृत कम निषेधात्मक है। ये पद्धतियाँ हैं—एक तो राज्य का अपना स्वाभाविक उपजाऊपन और दूसरी, व्यापार। यह सारी युक्ति परम्परा एक आत्म-निर्भर राज्य की समर्थक है; अंशतः तो व्यापारवादियों की उन्हीं युक्तियों के आधारों पर, जिनमें उन्होंने आत्मनिर्भरता के सौन्दर्य का गुणगान किया है, किन्तु अंशतः इसलिए भी, क्योंकि व्यापारी वर्ग का प्रभाव समाज में भ्रष्टाचार को बढ़ाने में सहायक होता है। फिर भी यह निष्कर्ष निकलता है कि व्यापारी एक अनिवार्य आवश्यकता है, भले ही इसका कारण यह हो कि राज्य उनके बिना उस स्थिति को प्राप्त नहीं कर सकता, जिससे उसके पूर्णतया आत्म-निर्भर हो जाने की सम्भावना हो। इसलिए पूर्ण राज्य में व्यापारियों का उपयोग किया जायगा, भले ही उनके ऊपर कुछ प्रतिबन्ध या रोकथाम रखी जाय।[1]

---

१. "Unde oportet quod perfecta civitas moderate mercatoribus utatur." (De Regimine Principum, Book II, Chapter 3)

"इसलिये पूर्ण राज्य के लिए यह आवश्यक है कि वह व्यापारियों का सुनियंत्रित रूप में प्रयोग करे।"

ओरेस्मे

मध्ययुग के आर्थिक दृष्टिकोण के सम्बन्ध में किया गया कोई भी परिमाप (सर्वे) तब तक पूर्ण नहीं किया जा सकता, जब तक कि उसमें लिजियेक्स के बिशप निकोलस ओरेस्मे द्वारा लिखित (१३२०–१३८२) एक प्रसिद्ध पुस्तक "डी ओरिजिन नेच्यूरा ज्यूरे एट-म्यूटेशिनेबिस मोनेटैरम"[1] का उल्लेख न किया जाय। इस पुस्तक में छोटे-छोटे २६ अध्याय हैं। यद्यपि रोस्चर ने इसके सम्बन्ध में जो यह अन्धाधुन्ध प्रशंसा की है कि यह पुस्तक पैसे के सम्बन्ध में प्रतिपादित एक ऐसा सिद्धान्त है, जो आज के युग में भी पूरी तरह ठीक समझा जा सकता है, उसे तो उचित नहीं कहा जा सकता, फिर भी यह पुस्तक अपने आप में काफी महत्त्वपूर्ण कृति है। इस पुस्तक में हमें उस वैज्ञानिक और वस्तुरूपात्मक मनोवृत्ति के दर्शन होते हैं; जो बहुत समय बाद जाकर अन्य लेखकों में विकसित हुई। यदि सच कहा जाय तो यह पुस्तक पैसे के सम्बन्ध में कम है और राजा के मुद्रा के सम्बन्ध में हस्तक्षेप करने के अधिकारों का निरन्तर और तीव्र विरोध करने के रूप में अधिक। ओरेस्मे ने अपनी "पुस्तक का प्रारम्भ उन्हीं पुरानी विचारधाराओं से प्रारम्भ किया है। शुरू में प्राचीन काल के वस्तु-विनिमय का वर्णन करते हुए यह बताया है कि उस प्रणाली में वे कौनसी कठिनाइयाँ थीं, जिनके कारण विचारशील लोगों को पैसे का आविष्कार करना पड़ा और इस प्रकार उन्होंने विनिमय की एक कहीं अधिक अच्छी पद्धति निकाल ली। इस प्रकार पैसा केवल कृत्रिम सम्पत्ति है। यह सम्भव है कि एक आदमी के पास बहुत सा पैसा विद्यमान हो और फिर वह भूखा मर जाय। इसके उदाहरण के रूप में प्रायः क्रोसस की कथा का उल्लेख किया जाता है। पैसा सम्पत्ति को घुमाते रहने का एक साधन मात्र है। "इन्ट्रुमेन्टम परम्यूटेन्डी डिविटिन्यास नैचुरेल्स।" आज की भाषा में हम इसे कह सकते हैं कि पैसा विनिमय का माध्यम है।

ओरेस्मे में सम्भवतः दो बातें विशेष रूप से ध्यान देने योग्य हैं। आधुनिक भाषा का प्रयोग करते हुए कहा जा सकता है कि विनिमय के माध्यम के रूप में पैसे में कुछ खास विशेषताएँ होनी चाहिएँ। परन्तु ओरेस्मे के सामने किसी ऐसे

---

१. मूल लैटिन पुस्तक के अतिरिक्त इस पुस्तक का स्वयं ओरस्मे-कृत फ्रैंच अनुवाद भी प्राप्त होता है।

पदार्थ को ढूंढने की समस्या थी जो बड़े विनिमयों और छोटे विनिमयों दोनों के लिये ही उपयुक्त सिद्ध हो सके; इसलिए ओरेज्मे ने द्विधातुवाद के सिद्धांत का समर्थन किया। यह ध्यान देने योग्य है कि उसके सामने वे कठिनाइयां स्पष्ट थीं जो टकसाल-अनुपात और बाजार-अनुपात में अन्तर होने के कारण उत्पन्न हो सकतीं और इस विषय में उसने बिलकुल स्पष्ट रूप से कहा है कि टकसाल-अनुपात बाजार-अनुपात के अनुसार ही बदलता रहना चाहिये। उसने कहा है कि ("Cette proportion doit ensuivir le naturel habitude ou valeur de l'or a l'argent.") "यह अनुपात सदा सोने और चांदी के स्वाभाविक अनुपात के अनुसार ही होना चाहिये।" इसके अतिरिक्त यह भी स्पष्ट है कि उसे ग्रेशम के इस नियम का भी ज्ञान था कि वह धातु, जिस पर उसके वास्तविक मूल्य से अधिक मूल्य अंकित होगा, वह उस धातु को जिस पर वास्तविक मूल्य से कम मूल्य अंकित है, प्रचलन से बाहर निकाल देगी। इसलिये राजा को मनमाने तौर पर न तो अनुपात को नियत करना चाहिये और न उसे बदलना चाहिये। क्योंकि इसके फलस्वरूप अनेक प्रकार की गड़बड़ियां होने लगेंगी। जैसे एक अनुपात पर तो सोने द्वारा चांदी को खरीदा जाने लगेगा, उसके बाद अनुपात बदल दिया जायगा और फिर चांदी द्वारा सोने की खरीद प्रारम्भ कर दी जायगी।

दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वह मुद्रा के सम्बन्ध में प्रभुसत्ता की शक्तियों को बहुत कठोरतापूर्वक सीमित रखता है; और उसके द्वारा निकाले गये परिणाम भी काफी महत्त्वपूर्ण हैं। मुद्रा को हर कोई व्यक्ति जारी नहीं कर सकता, अपितु केवल एक ऐसा सार्वजनिक अधिकारी ही जारी कर सकता है, जो समाज के प्रतिनिधि के रूप में कार्य कर रहा हो। इसलिए स्वभावतः मुद्रा जारी करने का कार्य राजा के सिर आ पड़ता है। परन्तु वह इस कार्य को केवल जनता के प्रतिनिधि के रूप में ही करता है। "Convenienter est quod ipse pro communitate faciat fabricare monetam et eam congrua impressione signare." अर्थात् "यह वांछनीय है कि समाज की ओर से वह स्वयं मुद्रा ढलवाये, और उसके ऊपर किसी समुचित चिह्न की मुहर लगवा दे।" यह कार्य समूचे समाज की ओर से किया जाता है और इसका यह अर्थ है कि केवल इस तथ्य के कारण कि मुद्रा को राजा ने

जारी किया है; वह उस जारी किये गये पैसे का स्वामी या मालिक नहीं बन सकता।

यह सिद्धान्त तब और भी अधिक महत्त्व का जान पड़ता है जब ओरेज़्मे उन सब विधियों का विवेचन प्रारम्भ करता है, जिनके द्वारा पैसे में हेर-फेर किया जा सकता है, परिवर्तन किया जा सकता है या उनका मूल्यह्रासन किया जा सकता है। इन विभिन्न हेर-फेरों में जैसे नाम का परिवर्तन, या भार या धातु का परिवर्तन इत्यादि में अलग-अलग अन्तर बतलाना अनावश्यक है। महत्त्वपूर्ण बात है वह तीव्रता, या हम उसे उग्रता भी कह सकते हैं, जो मुद्रा के मूल्यह्रासन की निन्दा करते हुए ओरेज़्मे की रचना में दीख पड़ती है। जो राजा ऐसा करता है, वह झूठा है, वह ठगी करता है; वह झूठी गवाही देता है, क्योंकि यह राजा के लिए बड़ी शर्म की बात है कि वह किसी चीज को सोना होने का प्रमाणपत्र दे, जबकि वह सोना नहीं है; या किसी वस्तु को वजन में एक पौंड होने का प्रमाणपत्र दे, जबकि वह वस्तुतः एक पौंड न हो। इस प्रकार के कामों से जो लाभ उपलब्ध होता है, वह न केवल बेईमानी से भरा हुआ है, बल्कि अस्वाभाविक भी है। पैसे का लेन-देन करना, सूदखोरी, मुद्रा का मूल्यह्रासन, ये सब बातें अरस्तू और सेन्ट थामस ऐक्वाइनास की दृष्टि में पैसे से मुनाफा कमाने की अस्वाभाविक पद्धतियाँ हैं। परन्तु इनमें दोष की सीमा क्रमशः बढ़ती जाती है। ओरेज़्मे की पुस्तक अन्तिम भाग में पहुँचकर मुद्रा के मूल्यह्रासन की निन्दा के सम्बन्ध में एक राजनीतिक लेख-सा बन गयी है। इसमें कहा गया है कि मुद्रा के मूल्यह्रासन का प्रयोग अत्याचार को बढ़ाने के लिए हो सकता है। एक बार सत्य का मार्ग छोड़ देने पर उसे यह सम्भावना दिखाई पड़ती है, बल्कि उसे अनिवार्य प्रतीत होता है, कि उसके बाद बार-बार मुद्रा के मूल्यह्रासनों द्वारा लोगों की सारी सम्पत्ति धीरे-धीरे खिंचकर राजा के पास पहुँच जायगी और लोगों की दशा दासों की सी रह जायेगी।[1] मूल्यह्रासित मुद्रा के दोष ओरेज़्मे की दृष्टि में बिल्कुल

१. "Car nature humaine est toujours encline et preste a augmenter Richesses a elle, quant legierement les peut acquerir, que en fin le prince pourroit attraire a luy comme la pecune et les Richesses de tous les subjectz et par ce ramener en servitude."

स्पष्ट हैं और उसने लिखा है कि ये दोष स्वाभाविक रूप में प्रकट इस रूप में हों कि समाज सामान्यतया दरिद्र हो जायगा, पैसा देश से बाहर जाने लगेगा; विदेशी व्यापार बन्द हो जायगा; और सामान्यतया सारा जीवन अस्त-व्यस्त हो जायगा। यह ठीक है कि कुछ उत्साही आलोचकों ने ओरैज्मे को इतना ऊँचा उठाने की कोशिश की है कि पाठक उससे बहुत अधिक आशा करने लगता है, परन्तु साथ ही यह भी सत्य है कि चौदहवीं शताब्दी में वही एक ऐसा लेखक है, जिसकी आवाज़ हमें यथार्थता और क्रियात्मकता से पूर्ण सुनाई पड़ती है।

"क्योंकि मानवीय स्वभाव की प्रवृत्ति यह होती है और वह इसके लिए सदा तैयार रहता है कि यदि पैसा सरलता से प्राप्त हो सकता हो, तो उसे अधिक और अधिक बढ़ाया जाय, इसलिये सम्भव है कि राजा अपनी सारी की सारी प्रजा के पैसे और सम्पत्ति पर स्वामित्व जमा ले और उसके द्वारा उन्हें अपने आधीन रखने लगे।"

अध्याय ३

व्यापारवाद

१. ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

यद्यपि आजकल व्यापारवादी सिद्धान्त या व्यापारवादी विचारधारा इत्यादि वाक्यांशों का प्रयोग सर्वस्वीकृत-सा हो चुका है, फिर भी यदि इसका अर्थ यह लिया जाय कि किसी समय लेखकों का कोई ऐसा विशिष्ट वर्ग विद्यमान था, जिसने जान-बूझ कर व्यापारवादी विचारधारा का ऐसा प्रतिपादन किया जिस पर व्यापारवाद के सब लक्षण लागू किये जा सकें, तो उस अर्थ में व्यापारवाद एक भ्रामक और धोखे में डालने वाला शब्द सिद्ध होगा। व्यापारवाद की देश और काल की सीमाओं का निर्देश मात्र ही इस पुरानी, भद्दी भूल के निवारण के लिए पर्याप्त चेतावनी है, जो इस दृष्टिकोण में (जो आजकल भी प्रचलित है) निहित है कि व्यापारवाद किसी समय एक प्रचलित कट्टर विचारधारा थी और उसके बाद फीज़ियोक्रैट (प्रकृतिवादी) लोगों ने उसकी आलोचना की और उसके बाद ऐडम स्मिथ ने इन दोनों ही विचारधाराओं को परास्त कर दिया। यदि कोई व्यापारवाद जैसी वस्तु रही भी हो, तो वह ३०० वर्षों की लम्बी अवधि में फैली हुई थी और उसने यूरोप के प्रत्येक देश के विचारों (और उससे भी अधिक व्यवहार) पर अपना प्रभाव डाला था। मध्ययुग के अन्तिम भाग में यूरोप में जो बड़े-बड़े परिवर्तन हुए, उनके फलस्वरूप सारे यूरोप में एक विशेष प्रकार के विचार प्रकट होने लगे थे, जिनमें परस्पर बहुत अधिक समानता थी। ये विचार, जो कुछ सामान्य कल्पनाओं पर आधारित थे, सेन्ट थामस ऐक्वाइनास जैसे लेखकों के राष्ट्रीयता-निरपेक्ष नैतिक और परलोक-प्रधान दृष्टिकोण से बिलकुल स्पष्ट रूप में भिन्न थे। पहले-पहल ये विचार अपरिष्कृत रूप में चौदहवीं शताब्दी के अन्त और पन्द्रहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में प्रकट होने शुरू हुए। उसके बाद इनमें परिष्कार, परिवर्तन और सुधार होते रहे; किन्तु इन विचारों में एक विशेष प्रकार की पारिवारिक समानता-सी थी और वह अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध तक बनी रही।

वस्तुतः व्यापारवाद इस समय भी हमारे मध्य में विद्यमान है और उसके स्वस्थ और शानदार पुनरुज्जीवन के चिन्ह दृष्टिगोचर हो रहे हैं। परन्तु यह स्पष्ट है कि सिद्धान्तों का कोई भी सामान्य निकाय (बॉडी) तीन शताब्दियों तक अपरिवर्तित नहीं रह सकता था और विशेष रूप से तब, जबकि हम इस बात पर ध्यान दें कि तथाकथित व्यापारवाद न केवल फ्रांस, इंग्लैंड और इटली तक ही फैला हुआ था, अपितु स्काटलैंड, स्पेन और रूस में भी समान रूप से व्याप्त था।

इसलिए व्यापारवाद काल की बदलती हुई दशाओं और स्थानीय निवासियों की परिस्थितियों के अनुकूल अपने आपको ढालता हुआ परिवर्तित होता रहा। यह ठीक है कि कहीं भी एक सर्वांग-सम्पूर्ण और कट्टर व्यापारवादी लेखक को ढूंढ पाना मुश्किल है; फिर भी इस पारिभाषिक शब्द के प्रयोग में काफी कुछ सुविधा है। अर्थशास्त्रीय सिद्धान्त सभी जगह उस काल की परिस्थितियों की अभिव्यक्ति मात्र होता है, जिसमें कि वह जन्म लेता है। पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त का यूरोप बारहवीं या तेरहवीं शताब्दियों के यूरोप से बहुत भिन्न था। व्यापारवादी लेखकों में परस्पर मतभेद हो सकता है, और मतभेद है भी, परन्तु एक बड़ी सीमा तक वे सबके सब अपने विचार का प्रारम्भ सांझी प्रस्थापनाओं (पोस्टुलेट) करते हैं। ये प्रस्थापनाएँ उनके ऊपर यूरोप के उस काल की बदली हुई परिस्थितियों द्वारा थोप दी गयी थीं, जो मध्ययुग के पश्चात् आया था।

यह बात, कि यूरोप में पुनरुज्जीवन में, सुधारवादी आन्दोलन, छापेखाने के आविष्कार और अमेरिका की खोज के कारण अत्यधिक परिवर्तन हो गये थे, निबन्ध लिखवाने वाले और परीक्षा के प्रश्नपत्र बनाने वाले लोगों में बहुत प्रचलित है। इस संक्रमण काल से हुए परिवर्तनों में से कुछ का संक्षेप में अध्ययन करने से व्यापारवाद, तथा राजनीति और विचार के क्षेत्र में उस काल की सामान्य प्रवृत्तियों के मध्य घनिष्ठ सम्बन्ध स्पष्ट हो जायगा। पहला और सबसे आधारभूत परिवर्तन राजनीतिक परिवर्तन था। यहाँ पर हमें अनावश्यक विस्तार के साथ इतिहास या घटनाओं के कारणों और उनके अनुक्रम पर ध्यान देने की आवश्यकता नहीं है। यहाँ इतना कह देना पर्याप्त है कि सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण देशों में मध्यकाल की उस प्रणाली के स्थान पर, जिसमें कि अनेक युद्धप्रिय उपद्रवी सामन्त एक ऐसे राजा के आधीन रहते थे, जिसके सम्बन्ध में यह

बात संदिग्ध थी कि वह अपने सामन्तों की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली है या नहीं, अब एक ऐसा वस्तुतः सशक्त केन्द्रीभूत राज्य आ गया था, जिसमें एक प्रभावपूर्ण, और कुछ मामलों में तो सक्षम, भी सरकार थी। इंग्लैंड के इतिहास में यह परिवर्तन ट्यूडरों के रूप में दिखाई पड़ता है। राजा की शक्ति न केवल अधिक प्रबल हो गयी, अपितु वह व्यापक भी हो गयी। संक्षेप में कहा जा सकता है कि इंग्लैण्ड, फ्रांस और स्पेन केवल भौगोलिक अभिव्यक्तियाँ न रहकर सुनिश्चित सत्ताएँ बन गये। सामन्तवाद ने, जिसने समाज को विशेषाधिकारों और दायित्वों की श्रृंखला से परस्पर बाँधा हुआ था, इस बात पर जोर दिया था कि व्यक्ति का सबसे पहला दायित्व अपने स्वामी के प्रति वफ़ादारी है और इस प्रकार उसने राष्ट्रीय एकता की सम्भावना को ओझल-सा कर दिया था। अब जब सामन्तों को उनका उचित स्थान प्राप्त हो गया, तो राजा सिद्धान्ततः "अपनी प्रजा का पिता" बन गया। इंग्लैण्ड और जो लोग इंग्लैण्ड में रहते थे, उन सबके हित साँझे अनुभव किये जाने लगे; और राजा तथा सरकार का यह कर्तव्य हो गया कि वह इन हितों की न केवल सुरक्षा करें, अपितु उन्हें बढ़ाने का भी प्रयत्न करें। इस प्रकार इंग्लैण्ड और फ्रांस के एक सुनिश्चित पृथक् सत्ता के रूप में, जिनका अपना-अपना हित अलग था, उठ खड़े होने का अर्थ यह था कि जो राष्ट्र और राज्य इस प्रकार उठ खड़े हुए थे, उनका यदि एक दूसरे के साथ सीधा संघर्ष न भी हो, तो भी वे एक दूसरे के सम्भावित प्रतिद्वन्द्वी अवश्य थे। मध्ययुग के राष्ट्रीयता-निरपेक्ष भावों में जो विश्व-बन्धुत्व स्पष्ट दिखाई पड़ता था, वह अब समाप्त हो चुका था। अब सुसंगठित राज्य उत्पन्न हो गये थे। ये राज्य शान्तिकाल में एक दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी बनकर रहते थे और किसी भी समय एक दूसरे के विरुद्ध युद्ध में आ खड़े हो सकते थे। इसमें सन्देह नहीं कि इससे पहले भी अतीत में युद्ध होते रहे थे; परन्तु इस बात की ओर ध्यान देना आवश्यक है कि वे कितने अधिक अनुपात में सामन्तवादी प्रणाली की उलझनों के फलस्वरूप हुए थे। यदि इंग्लैण्ड के राजा का फ्रांस के राजा से वैर हो जाता था, तो यह बहुत सम्भव था, कि वह नारमंडी के ड्यूक की हैसियत से युद्ध में जाता। अंग्रेजों के दृष्टिकोण से स्काटलैंट का स्वाधीनता-संग्राम एक बड़ी सीमा तक एक अधीनस्थ सामन्त को विनीत बनाने भर का मामला था। परन्तु अब इन नयी बदली हुई दशाओं में हितों का संघर्ष निश्चित रूप से

राष्ट्रों और राज्यों के मध्य हो गया था।

इसके अतिरिक्त राजनीतिक विचारधारा, जो अंशतः इस नये विकास से प्रेरणा प्राप्त कर रही थी और अंशतः इस विकास का प्रतिफलन मात्र थी, का झुकाव भी इसी दिशा में था। व्यापारवाद के मूल सिद्धान्तों के साथ सम्बन्धों की दृष्टि से दो लेखक परोक्ष रूप से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। मैकियावैली ने (१४६९-१५२७) अपनी पुस्तक "दि प्रिंस" में नैतिक भावनाओं के प्रति बड़ी प्रशंसनीय तटस्थता और वैज्ञानिक निरासक्ति के साथ इस बात का विवेचन किया कि उस काल के इटली में किस प्रकार एक राज्य-सत्ता (प्रिंसिपैलिटी) स्थापित की जा सकती है और उसे सुस्थिर रखा जा सकता है। यद्यपि यह पुस्तक विशेष रूप से इटली को ही लक्ष्य करके लिखी गयी थी, परन्तु इसकी शिक्षाएं इटली से बाहर भी बहुत दूर-दूर तक उपयोगी समझी गयीं। मैकियावैली ने यह स्थापना रखी थी कि उस समय एक शक्तिशाली राजा की आवश्यकता थी; और वस्तुतः यह पुस्तक केवल इस बात का विश्लेषण मात्र है कि सशक्त राज्य के निर्माण के लिये क्या कुछ किया जाना चाहिये। इस विवेचन में अन्तरात्मा का गला दबा दिया गया है और सब प्रकार के सद्विवेक को तिलांजलि दे दी गयी है। इस प्रकार मैकियावैली उचितानुचित-विवेक-शून्य स्वेच्छाचारी राजा के लिये सत्ता हस्तगत करने के निमित्त पथ-प्रदर्शक बन गया। मैकियावैली का महत्त्व इन तथ्यों के कारण है कि एक तो उसने राजनीति को आचारशास्त्र और नीतिशास्त्र के विचार से बिलकुल पृथक् कर दिया और काफी कुछ कठोरता के साथ पृथक् कर दिया और दूसरे यह कि यद्यपि पहले-पहल उसकी पुस्तक इटली के लिए लिखी गयी थी और वह इटली के नागरिक राज्यों पर ही लागू होती थी, फिर भी आगे चलकर इस पुस्तक ने सभी जगह तानाशाही को प्रोत्साहन दिया। दूसरा लेखक है जीन बोदिन (१५२०-१५९६) जिसने राजनीतिक धारणाओं का विश्लेषण करते हुए संसार के सम्मुख "प्रभु-सत्ता" (सावरेन्टी) की अत्यन्त उपयोगी धारणा प्रस्तुत की। प्रभुसत्ता की यह धारणा अब भले ही खण्डित होती जा रही है, परन्तु वर्तमान पीढ़ी से पहले तक राजनीतिक विचार में यह एक अत्यधिक महत्त्वपूर्ण धारणा रही है। प्रभुसत्ता के सिद्धान्त का, उसके विभिन्न रूपों को मिलाकर, सार यह है कि प्रत्येक राज्य में एक सर्वोच्च सत्ता होती है, जो उस राज्य के अन्दर अन्य किसी

शक्ति के आधीन नहीं होती, और उस राज्य के अन्दर विद्यमान अन्य सब शक्तियाँ उसी सत्ता के आधीन होती हैं। यदि इस प्रभुसत्ता की धारणा का अत्यन्त सावधानतापूर्वक प्रयोग न किया जाय और इस वक्तव्य को भली भाँति परिष्कृत न किया जाय, तो इससे एक सशक्त केन्द्रीभूत राज्य के महत्त्व पर आँच आने की सम्भावना है। इसके साथ ही अनिवार्य रूप से सर्वोच्च प्रभुसत्ता में उत्तरदायित्वहीनता की भावना भी पैदा हो सकती है। इसके अतिरिक्त यह प्रभुसत्ता की धारणा अन्तर्राष्ट्रीय अराजकता के क्षेत्र में एक प्रभुसत्ता को दूसरी प्रभुसत्ता के सम्मुख इस ढंग से ला खड़ा कर देती है कि उनमें परस्पर किसी प्रकार मेल नहीं हो सकता।

यह कहना अनुचित न होगा कि व्यापारवाद मैकियावेली और बोडिन का आर्थिक पर्यायवाचक था। बोडिन ने यह निष्कर्ष निकाला था कि अनिवार्य रूप से प्रत्येक राज्य में एक सर्वोच्च सत्ता होती है; और मैकियावेली ने जो कुछ कहा, उसका अर्थ यह था : "यदि तुम सशक्त राज्यों का निर्माण करना चाहते हो, तो तुम इन-इन उपायों का अवलम्बन करो और अमुक-अमुक बातों से बचो।" उस समय सशक्त राज्यों की माँग काफी थी और व्यापारवादी लोग, जो व्यावहारिक लोग थे और जिनके सामने व्यावहारिक समस्याएँ खड़ी हुई थीं, ऐसे उपायों की खोज में लगे थे, जिनके द्वारा राज्य को सशक्त बनाया जा सके। श्मोलर के काफी कुछ प्रचलित शब्दों में व्यापारवाद केवल राज्य-निर्माण का नाम है। यद्यपि यहाँ इतना और जोड़ देना उचित होगा कि व्यापारवाद राज्य-निर्माण का केवल आर्थिक पहलू है। इस विश्लेषण से एक और महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकलता है, जो व्यापारवादी सिद्धान्त के विभिन्न रूपों की व्याख्या करने में सहायक है। व्यापारवाद सदा ही साधन मात्र रहा; इससे अधिक कुछ नहीं। वास्तविक साध्य या लक्ष्य तो राजनीतिक था और वह था—एक सशक्त राज्य का निर्माण। इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये आर्थिक क्षेत्र में जो साधन बरते गये थे, उनका कुल निचोड़ व्यापारवाद था। परन्तु एक ओर जहाँ यह लक्ष्य अपने आप में पूर्ण था, वहाँ साधनों के लिये यह आवश्यक था कि वे समय और परिस्थिति के अनुसार बदलते रह सकें; और अपने विभिन्न दौरों में व्यापारवाद में भी इस प्रकार की विविधता दृष्टि-गोचर होती है।

इन विचारों द्वारा व्यापारवाद का सारभूत सिद्धान्त तो स्पष्ट हो जाता है, परन्तु इनसे वह विशिष्ट रूप स्पष्ट नहीं होता, जो व्यापारवादी सिद्धान्तों ने प्राप्त किया था। अपने इस विश्लेषण को उस रूप तक पहुँचाने के लिये हमें इस समस्या के दो और तत्त्वों पर विचार करना होगा। इनमें से पहला तत्त्व तो यह है कि राजा को सदा वस्तुओं की आवश्यकता और कमी बनी रहती थी; और दूसरा तत्त्व उन प्रतिक्रियाओं में निहित है, जो नई दुनिया अर्थात् अमेरिका में बहुमूल्य धातुओं की खोजों के फलस्वरूप तत्काल या विलम्ब से यूरोप की आर्थिक दशाओं पर हुई थी। ये दोनों कारण परस्पर मिलकर व्यापारवाद के सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बाहरी रूप का निर्माण करते रहे हैं।

अपनी प्रजा के पिता के रूप में और राष्ट्रीय हितों के उत्तरदायी संरक्षक के रूप में राजा को विवश होकर बहुत भारी और बोझल खर्चा उठाना पड़ता था। जब तक लोगों की स्मृति में यह आनन्ददायक परम्परा विद्यमान थी कि राजा को अपना भरण-पोषण स्वयं ही करना चाहिये, तब तक करारोपण परिस्थिति की आवश्यकताओं की तुलना में बहुत पिछड़ा रहा। राजा को अपना भरण-पोषण स्वयं करना चाहिये, इसका अर्थ यह था कि दूसरे जागीर-दारों की तरह उसे भी अपने व्यय के लिये अपनी जमींदारी से प्राप्त होने वाली आय पर ही निर्भर रहना चाहिये। परन्तु वस्तुतः यह बात उस काल का अवशेष भर थी, जबकि राजा की स्थिति अन्य जागीरदारों की अपेक्षा कुछ बहुत अधिक भिन्न नहीं थी। यह सिद्धान्त उन नयी परिस्थितियों में नहीं चल सकता था, जबकि राजा देश की सुरक्षा और कल्याण का रक्षक समझा जाने लगा था। संक्षेप में कहा जा सकता है कि जो करारोपण शुरू-शुरू में राजा की निजी आय के पूरक के रूप में प्रारम्भ किया गया था, वह अब आवश्यकता-वश नियमित कर दिया गया और स्थायी बन गया। पुराने काल के युद्ध उन अस्थायी सैनिकों द्वारा किये जाते थे, जिन्हें उनके पारिश्रमिक का भुगतान सर्वत्र प्रचलित प्रणाली के अनुसार वस्तुओं के रूप में ही कर दिया जाता था; किन्तु अब स्थायी सेनाओं का नया युग प्रारम्भ हो रहा था और इन सेनाओं के लिये पैसे की आवश्यकता थी। वस्तुतः उस युग का एक सर्वस्वीकृत गुर यह बन गया था कि पैसा युद्ध की जान है (पैसुनिया नरवस बैली)। सरकार के सब कार्यों के लिये राजा को आय की आवश्यकता थी, जो पैसे के रूप में हो।

यह आय स्थिर होनी चाहिये और ऐसी स्थिर होनी चाहिये, जिसे पहले से ही गणना द्वारा आंका जा सके; और दुर्भाग्य से यह आय निरन्तर बढ़ती जाने वाली आय भी होनी चाहिये। उस काल में जिन लोगों का सार्वजनिक नीतियों के निर्धारण से सम्बन्ध था, उनका सर्वप्रधान विचारणीय विषय यही बन गया कि इस आय को किस प्रकार बढ़ाया जाय ?

करारोपण द्वारा राजस्व (आय या रैवेन्यू) प्राप्त कर सकने की सम्भावना अपने आप में भौगोलिक अनुसन्धानों और विशेष रूप से अमेरिका की खोज के परोक्ष परिणामों में से एक थी। यूरोपवासी के लिये नई दुनियां की सबसे अधिक रुचिकर बात यह थी कि वहाँ पर बहुमूल्य धातुओं की बड़ी मात्रा में मिलने की आशा थी। बड़ी मात्रा में यूरोप में चांदी आने के फलस्वरूप वहाँ के व्यापार, वाणिज्य और वित्त-साधन में क्रान्तिकारी परिवर्तन हो गये। यूरोप के कीमत-स्तर पर चांदी की नई खानों के पता चलने के जो प्रभाव हुए थे, वे पैसे के मात्रा-सिद्धान्त के प्रति परिचित उदाहरणों के रूप में लगभग सभी को ज्ञात हैं। परन्तु मुर्गियों और भेड़ों की कीमतों में हुई नाम-मात्र वृद्धि की अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि बड़ी मात्रा में बहुमूल्य धातुओं के आ पहुँचने का परिणाम यह हुआ कि स्वाभाविक अर्थ-व्यवस्था, जो काफी हद तक वस्तु-विनिमय की प्रणाली और सेवाओं का भुगतान वस्तुओं के रूप में करने के सामन्तवादी आदर्श पर आधारित थी, समाप्त होने लगी और उसका स्थान द्रव्य-अर्थ-व्यवस्था (मनी इकोनॉमी) ने ले लिया। स्वाभाविक अर्थ-व्यवस्था में करारोपण कर पाना सरल काम नहीं है। जब सब चीजों का विचार पैसे के रूप में किया जाता हो, और जब पैसे का व्यवहार सब प्रकार के लेन-देनों में होता हो, तो करारोपण की सम्भावनाओं में अत्यधिक सुविधा हो जाती है। उस युग में, जबकि नियमित करारोपण का यन्त्रजाल अभी नया ही नया बना था, राजा के या राज्य के मामलों का प्रबन्ध लगभग वैसा ही हो गया था, जैसा व्यापारी के मामलों का प्रबन्ध होता है। एक ओर व्यय था और दूसरी ओर आय थी; और दोनों का विचार पैसे के रूप में किया जाता था। राज्य की शक्ति बढ़ने का आधार यही हो सकता था कि व्यय की अपेक्षा आय का सन्तुलन अधिक रहे और इस प्रकार अनिवार्य रूप से आय के स्रोतों को अधिकाधिक बढ़ाने के उपाय सोचे जाने लगे।

इन विचारों द्वारा व्यापारवाद का सारभूत सिद्धान्त तो स्पष्ट हो जाता है, परन्तु इनसे यह विशिष्ट रूप स्पष्ट नहीं होता, जो व्यापारवादी सिद्धान्तों ने प्राप्त किया था। अपने इस विश्लेषण को उस रूप तक पहुँचाने के लिये हमें इस समस्या के दो और तत्त्वों पर विचार करना होगा। इनमें से पहला तत्त्व तो यह है कि राजा को सदा वस्तुओं की आवश्यकता और कमी बनी रहती थी; और दूसरा तत्त्व उन प्रतिक्रियाओं में निहित है, जो नई दुनिया अर्थात् अमेरिका में बहुमूल्य धातुओं की खोजों के फलस्वरूप तत्काल या विलम्ब से यूरोप की आर्थिक दशाओं पर हुई थी। ये दोनों कारण परस्पर मिलकर व्यापारवाद के सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बाहरी रूप का निर्माण करते रहे हैं।

अपनी प्रजा के पिता के रूप में और राष्ट्रीय हितों के उत्तरदायी संरक्षक के रूप में राजा को विवश होकर बहुत भारी और बोझल खर्चा उठाना पड़ता था। जब तक लोगों की स्मृति में यह आनन्ददायक परम्परा विद्यमान थी कि राजा को अपना भरण-पोषण स्वयं ही करना चाहिये, तब तक करारोपण परिस्थिति की आवश्यकताओं की तुलना में बहुत पिछड़ा रहा। राजा को अपना भरण-पोषण स्वयं करना चाहिये, इसका अर्थ यह था कि दूसरे जागीरदारों की तरह उसे भी अपने व्यय के लिये अपनी जमींदारी से प्राप्त होने वाली आय पर ही निर्भर रहना चाहिये। परन्तु वस्तुतः यह बात उस काल का अवशेष भर थी, जबकि राजा की स्थिति अन्य जागीरदारों की अपेक्षा कुछ बहुत अधिक भिन्न नहीं थी। यह सिद्धान्त उन नयी परिस्थितियों में नहीं चल सकता था, जबकि राजा देश की सुरक्षा और कल्याण का रक्षक समझा जाने लगा था। संक्षेप में कहा जा सकता है कि जो करारोपण शुरू-शुरू में राजा की निजी आय के पूरक के रूप में प्रारम्भ किया गया था, वह अब आवश्यकता-वश नियमित कर दिया गया और स्थायी बन गया। पुराने काल के युद्ध उन अस्थायी सैनिकों द्वारा किये जाते थे, जिन्हें उनके पारिश्रमिक का भुगतान सर्वत्र प्रचलित प्रणाली के अनुसार वस्तुओं के रूप में ही कर दिया जाता था; किन्तु अब स्थायी सेनाओं का नया युग प्रारम्भ हो रहा था और इन सेनाओं के लिये पैसे की आवश्यकता थी। वस्तुतः उस युग का एक सर्वस्वीकृत गुर यह बन गया था कि पैसा युद्ध की जान है (पैसुनिया नरवस बेली)। सरकार के सब कार्यों के लिये राजा को आय की आवश्यकता थी, जो पैसे के रूप में हो।

अपना जीवन बिता रहे थे "जो कुछ जी चाहे, करो।" (फेस क वूल्द्रा)। यहाँ हमें स्वच्छन्द व्यक्तिवाद का आदर्श दिखाई पड़ता है, जो मध्यकाल के उस आदर्श से बिल्कुल भिन्न है जिसमें कि व्यक्ति अपने कर्तव्यों और दायित्वों के कारण, जो जीवन में उसके प्रतिष्ठा-स्तर के कारण उसके ऊपर थोप दिये जाते थे, केवल अपने वर्ग या श्रेणी के अन्दर ही दबा रहता था।

इसमें सन्देह नहीं कि सुधारवादी आन्दोलन ने कुछ क्षेत्रों में तपस्या की भावना को प्रोत्साहन दिया। परन्तु यह एक ऐसे प्रकार की तपस्या थी, जिसमें धन का संचय करने को भय या आतंक की दृष्टि से नहीं देखा जाता था। मैक्स वैवर ने हमें इस विचार से सुपरिचित करा दिया है कि आधुनिक पूंजीवाद का मूल काल्विनवादी धर्मशास्त्र में विद्यमान है। प्रोटैस्टैन्टवाद, विशेषतया उस रूप में, जिसमें कि इसे काल्विन ने प्रचलित किया, मुख्यतः व्यक्तिवादी दृष्टिकोण को लेकर चला है। मुक्ति केवल व्यक्ति और उसके स्रष्टा परमात्मा के बीच का आपसी मामला है, भले ही इसमें अन्तिम निर्णय करना केवल एक ही पक्ष के हाथ में हो। परन्तु काल्विन ने आर्थिक क्षेत्र में दो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण आदेश दिये। कम से कम वैवर का कथन है कि उसने ये आदेश दिये। पहला तो यह, कि व्यक्ति का कर्त्तव्य यह है कि वह अपने पेशे में परिश्रमपूर्वक कार्य करे; और दूसरा, उसका कर्त्तव्य यह है कि वह सम्पत्ति के ऐसे उपभोग से दूर रहे, जो केवल आनन्द लेने के लिए किया जा रहा हो। असीमित गतिविधि और उसके साथ-साथ उस गतिविधि के फल का उपभोग करने के सम्बन्ध में आत्म-संयम का एक ही सम्भव परिणाम हो सकता है; और वह है सम्पत्ति का संचय। वस्तुतः इन दिनों संचित सम्पत्ति को दैवी कृपा का एक विशेष चिन्ह माना जाने लगा था और इस प्रकार यह सम्भव हो गया था कि मनुष्य धनी बन सके और इस प्रकार परमात्मा का यश फैला सके। यहाँ पर इस सम्बन्ध में विचार करना सम्भव नहीं है कि वैवर की स्थापना में सत्य का अंश कितना है। यहाँ इतना कह देना भर पर्याप्त है कि प्रोटैस्टैन्टों का तपस्यावाद मध्यकालीन तपस्यावाद के विपरीत धन के संचय का विरोध करने के बजाय धन के संचय को अनुकूल दृष्टि से देखता था।

ये ऊपर के अन्तिम विचार हमारे विषय की अन्तिम परिधि के आसपास तक ही आ पाते हैं। परन्तु इस सम्बन्ध में काफी कुछ कहा जा चुका है,

जिससे यह सूचित हो कि मध्ययुग के आधुनिक युग की ओर संक्रमण के काल में अनेक कारणों से यूरोप का नये रूप में सृजन एक ऐसे केन्द्रीभूत राज्यों के परिवार के रूप में हो गया था, जो परस्पर अशान्त प्रतिद्वन्द्विता में रह रहे थे और उनमें से प्रत्येक अपने सम्भावित प्रतिद्वन्द्वियों की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली बनने के लिये प्रयत्न कर रहा था। उस समय की परिस्थितियों के कारण सम्पत्ति को नया महत्त्व दिया जाने लगा था और इस समय व्यक्ति निर्लज्जता के साथ धन-संचय करने का प्रयत्न कर सकता था; और इसी प्रकार राज्य भी अब अपनी शक्ति-संचय का रहस्य धन में ही देखता था। इन परिस्थितियों में व्यापारवाद का उदय हुआ।

२. व्यापारवादी सिद्धान्त और उपायों की सामान्य रूपरेखा

यह बात बड़ी बुद्धिमत्तापूर्वक उल्लेखनीय समझी गयी है कि व्यापारवादी सिद्धान्तशास्त्रियों में से किसी ने भी उन सब आवश्यक उपायों का समर्थन नहीं किया, जो सामान्यतया व्यापारवाद नाम के अन्तगत समझे जाते हैं। सच तो यह है कि पूर्ण व्यापारवादी कभी कोई हुआ ही नहीं। यदि इस कारण व्यापारवादी दृष्टिकोण के सम्बन्ध में कोई भी सामान्य वक्तव्य देना भ्रामक हो भी, तो भी व्यापारवादी मस्तिष्क का एक मिला-जुला फोटोग्राफ-सा देने का प्रयत्न करना अत्यन्त सुविधाजनक हो सकता है। हम यह मान लेते हैं कि इस प्रकार का मिला-जुला फोटो किसी भी एक व्यापारवादी या किसी भी विशेष देश के व्यापारवादियों के दृष्टिकोण का प्रतिबिम्ब नहीं कर सकेगा, अपितु यह उस दृष्टिकोण का समर्थन करेगा, जो कुछ कम या कुछ अधिक संसार के सभी देशों के व्यापारवादियों का सामान्य दृष्टिकोण रहा था। एक और चेतावनी दे देना आवश्यक है। व्यापारवाद का मूल मुख्य रूप से क्रिया या व्यवहार में था। यद्यपि विशेष रूप से इंगलैण्ड में सिद्धान्तशास्त्रियों ने सिद्धान्त-निरूपण का काफी काम किया, परन्तु यह ध्यान देने योग्य है कि ये लोग बहुत कुछ विलम्ब से सामने आये। अपने मूल और प्रकृति की दृष्टि से व्यापारवाद और चाहे जो हो, किन्तु एक बाकायदा प्रणाली नहीं थी। शुरू-शुरू में यह राजनीतिज्ञों और सार्वजनिक अधिकारियों और उस काल के वित्त-विशेषज्ञों और व्यावसायिक नेताओं के मस्तिष्क की उपज था। इससे हम

स्वतः इस परिणाम पर पहुँच सकते हैं कि अपने प्रारम्भिक और अपरिष्कृत रूपों में व्यापारवाद को बहुत बार पार्लियामेंट द्वारा बनाये गये किसी ऐक्ट की धाराओं से निष्कर्ष निकालने द्वारा, या किसी ऐक्ट की भूमिका में उसके बातून लेखक द्वारा डाली गयी सूक्तियों के रूप में, या किसी आवेदन-पत्र या किसी राजकीय पत्र के रूप में, जिसका सम्बन्ध किसी खास प्रशासन सम्बन्धी समस्या से हो, सर्वोत्तम रूप में देखा जा सकता है। व्यापारवाद के सारांश को मोटे तौर पर प्रस्तुत करने के किसी भी प्रयत्न को इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए ही ठीक अर्थों में समझा जा सकता है।

व्यापारवादी के लिये मूलभूत समस्या यह थी कि अपने देश को किस प्रकार सशक्त बनाया जाय। यही एक लक्ष्य था, जिसे पूरा करने के लिए सब साधनों का प्रयोग किया गया था। इसके अतिरिक्त अपने देश की समृद्धि और शक्ति का विचार करते हुए सच्चा व्यापारवादी अपने मस्तिष्क में अस्पष्ट रूप से एक तुलनात्मक प्रमाप (स्टैंडर्ड) भी रखता था। उसका देश अन्य देशों के साथ शक्ति संग्रह की दौड़ में भाग ले रहा होता था और उसका यत्न यह होता था कि उसका देश इस दौड़ में हार न जाय। जब व्यापारवादी के सामने शक्ति की परीक्षा का प्रश्न उपस्थित हुआ, तो उसने देखा कि देश की शक्ति उसकी सम्पत्ति के रूप में आंकी जा सकती है; और सबसे बढ़कर यह कि सम्पत्ति के उस भाग के रूप में आंकी जा सकती है, जो बहुमूल्य धातुओं के रूप में विद्यमान है। यहां एक दृष्टि से उन्होंने राज्य पर भी वही नियम लागू कर दिया, जो किसी व्यक्तिगत नागरिक पर लागू करने पर बिलकुल उचित सिद्ध होता। एक कागज के आदमी और एक असली आदमी का अन्तर अर्थात् उस आदमी, जो कि अपनी इच्छानुसार जो चाहे कर सकता है और पा सकता है, तथा उस आदमी, जो कि अपनी इच्छानुसार कुछ भी कर या पा नहीं सकता, का अन्तर उस महाजन से पूछकर सबसे अच्छी तरह जाना जा सकता है, जिसके यहां उन दोनों का हिसाब-किताब रहता है। इसी प्रकार विचारों के एक स्थानान्तरण द्वारा जो उस समय आज की अपेक्षा कहीं अधिक सह्य था, केवल वही राजा बड़ी सेना या शक्तिशाली नौसेना को रख सकता था, जिसके पास इस प्रयोजन के लिए काफी बड़ा खजाना विद्यमान हो; क्योंकि युद्ध पैसे से ही चलता है (पैसुनिया नर्वस बेली)। इसलिये

व्यापारवादियों ने कोष और स्वर्ण-धातुओं को अत्यधिक महत्त्व दिया; क्योंकि ये सम्पत्ति का सबसे अधिक स्थायी और सबसे अधिक उपयोगी रूप थीं; क्योंकि इन्हें जनता में सबसे अधिक सरलता से स्वीकार किया जाता था। ऐडम स्मिथ, जिसने व्यापारवादियों को एक ऐसे उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया कि जैसे वे एक जमी हुई आर्थिक बेहूदगी के जीते-जागते उदाहरण हों, इस दृष्टिकोण के लिये उत्तरदायी है; जो बहुत समय से प्रचलित रहा है, कि व्यापारवादियों ने द्रव्य (पैसा) और सम्पत्ति को गलती से एक ही समझ लिया था। यहाँ ऐडम स्मिथ ने व्यापारवादियों के साथ ठीक-ठीक न्याय नहीं किया। व्यापारवादियों के अनेक असावधान वक्तव्यों के बावजूद शायद यह कहना अधिक ठीक होगा कि वे पैसे और स्वर्ण-धातु को सम्पत्ति का एक चिन्ह समझते थे; और यह भी कि कम से कम उनमें जो अधिक समझदार थे, वे बहुमूल्य धातुओं को इसलिये हितकारी समझते थे, क्योंकि इन धातुओं में देश की आर्थिक गतिविधि को प्रोत्साहित करने की शक्ति विद्यमान थी।

यह मान लेने पर कि किसी न किसी अर्थ में स्वर्ण-धातु सर्वोत्कृष्ट सम्पत्ति है, प्रश्न यह उठता है कि कोई भी देश इसे प्राप्त कैसे कर सकता है? यदि उसमें खानें हों, या वह ऐसी भूमि प्राप्त कर सके, जहाँ पर खानें हों, तब तो ठीक है; क्योंकि उस दशा में उसका काम केवल इतना रह जाता है कि वह चाँदी और सोने को विदेशों में जाने से रोकता रहे और यदि आवश्यकता हो, तो ऐडम स्मिथ के शब्दों में "खूनी कानूनों के प्रयोग द्वारा भी"। परन्तु यदि किसी देश में खानें न हों, तो अभीष्ट चाँदी और सोना केवल व्यापार के फलस्वरूप ही प्राप्त किया जा सकता है; और उस दशा में देश के समूचे व्यापार की व्यवस्था और संगठन इस ढंग से किया जाना चाहिये कि उस व्यापार के फलस्वरूप दूसरे देशों से खिचकर सोना अपने देश में आने लगे। यह अत्यन्त परिचित सिद्धान्त है कि अपने निर्यात के बदले (उन वस्तुओं के बदले, जो कि कोई देश दूसरे देशों को बेचता है) उस देश को उसका भुगतान प्राप्त होगा जो अन्ततोगत्वा चाँदी या सोने के रूप में होगा। इसके विपरीत वह देश, आयात के रूप में जो कुछ भी खरीदता है, उसकी कीमत उसे चुकानी होगी। ऋणग्रस्तता के समीकरण का बिलकुल प्रारम्भिक रूप ही यह होगा कि निर्यात देश के अन्दर आने वाले पैसे के प्रतिनिधि हैं; और आयात देश से बाहर जाने

वाले पैसे के सूचक हैं। इसलिये देश में स्वर्ण-धातुओं की उपलब्धि को बढ़ाने के लिये यह आवश्यक है कि देश में व्यापार का अनुकूल सन्तुलन स्थापित किया जाय; अर्थात् आयात की अपेक्षा निर्यात अधिक किया जाय, जिसके फलस्वरूप भुगतान के सन्तुलन में उस देश को दूसरे देशों से कुछ लेना ही बाकी रहे। इसके बाद इस अगले कदम पर विचार करना बहुत सरल हो जाता है कि किसी भी दूसरे देश के साथ व्यापार को इसी आधार पर प्रोत्साहित या निरुत्साहित किया जाना चाहिये कि उस व्यापार के फलस्वरूप सन्तुलन अपने अनुकूल रहता है या प्रतिकूल; और इसी प्रकार यह निष्कर्ष भी आसानी से निकाला जा सकता है कि सब निर्यात तो स्वतः अच्छे और वांछनीय हैं और सारे आयात बुरे और निन्दनीय हैं। इस प्रकार व्यापारवादियों का यह एक सर्व-प्रथम सिद्धान्त था कि निर्यात को अधिक से अधिक बढ़ाया जाय और आयात को कम से कम किया जाय।

यह ठीक है कि व्यापार के सन्तुलन की धारणा लोक-व्यवहार में आमतौर से व्यापारवाद का पर्यायवाची शब्द बन गयी है; परन्तु इस सिद्धान्त के परिणाम भी स्वयं इस सिद्धान्त की अपेक्षा कुछ कम महत्त्वपूर्ण नहीं थे; यदि निर्यातों को बढ़ाना हो, तो ऐसे प्रत्येक कानूनसम्मत उद्योग को प्रोत्साहन देने की आवश्यकता है, जो निर्यात के लिये अभीष्ट वस्तुएँ तैयार करता हो। इसी प्रकार यदि आयातों को प्रतिबन्ध लगाकर कम करना हो, तो हमें कोई न कोई ऐसा उपाय करना चाहिये, जिससे विदेशी सामग्री के बिना हमारा काम चलता रह सके; या दूसरा विकल्प यह है कि हमें अपने देश में विद्यमान स्रोतों से ही उन वस्तुओं को तैयार करने का प्रयत्न करना चाहिये, जो दूसरी दशा में बाहर से आतीं। सारे देश को उद्योगों का एक छत्ता-सा होना चाहिये और मुख्य रूप से दृष्टि दूसरे देशों की आवश्यकताओं पर रखी जानी चाहिये। देश में सामग्री का अपव्यय बिलकुल नहीं होना चाहिये; बल्कि अच्छा तो यह है कि जीवन काफी कुछ सादगी और संयम से बिताया जाय, जिससे कि निर्यात के लिये अधिक से अधिक सामग्री बच सके। देश के सम्पूर्ण सम्पत्ति स्रोतों का पूर्ण रूप से उपयोग किया जाना चाहिये। एक दृष्टि से आधुनिक भाषा देश के जीवन का इस प्रकार वैज्ञानिकीकरण (रेशनलाइजेशन) किया जाना चाहिये, जिससे किसी भी प्रकार की बचत ध्यान से न चूक जाय और लाभ के

किसी भी अवसर के प्रति उपेक्षा न हो सके ।

व्यापार के सन्तुलन को इतना महत्त्व दे देने का एक और परिणाम यह हुआ कि व्यापारवादी सिद्धान्त में स्वभावतः पेशों का सामूहिक रूप में संगठन हो गया। सबसे कम महत्त्व कृषि को दिया गया। यह ठीक है कि कृषि से जनता का पेट भर सकता है; इसलिये प्रत्येक निकम्मी पड़ी हुई भूमि पर खेती की जानी चाहिये और विशेष रूप से यदि तम्बाकू जैसी विदेशों से आने वाली फसलें पैदा की जायें, तो उनके फलस्वरूप बहुत से आयातों की आवश्यकता समाप्त हो जायगी। परन्तु अपने आप में कृषि, जैसा कि सारे घरेलू व्यापार और उद्योग के विषय में सत्य है, विदेशों से अपने देश में बिलकुल पैसा नहीं लाती और इसलिये बिलकुल मोटे व्यापारवादी सिद्धान्त के अनुसार वह देश की सम्पत्ति में वृद्धि नहीं करती। उद्योगों और अन्य वस्तुओं के निर्माण को अधिक महत्त्व दिया गया था, क्योंकि अन्य देशों की आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिये पर्याप्त वृद्धि की जा सकती है और उनकी बिक्री देश के लिये विशुद्ध लाभ होगी। किन्तु इनमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण था—व्यापार। यदि इससे पहले के काल में इस विषय में सन्देह किया जाता था कि कोई व्यापारी परमात्मा की दृष्टि में भला होगा या नहीं, तो इस युग में व्यापारी अपने सही रूप में सामने आ गया था। अब तो वह चौराहे के नुक्कड़ पर सबसे ऊपर लगे हुए शानदार पत्थर के समान महवत्त्पूर्ण हो उठा था।

यह था व्यापारवादियों का कार्यक्रम और व्यापारवादी दृष्टिकोण। साथ ही इतना ही महत्त्वपूर्ण वह यन्त्रजात (मशीनरी) भी था, जिसके द्वारा इस कार्यक्रम को क्रियान्वित किया जाना था। व्यापारवादी अपनी सब योजनाओं में एक ऐसी सरकार का ध्यान रखकर चलते थे, जो प्रजा के प्रति पिता के समान हितचिन्तक हो; और उस सरकार को उन्होंने इतना बुद्धिमान मान लिया था कि वह प्रत्येक क्षेत्र में हस्तक्षेप कर सकती है। व्यापारवाद एक सर्व-व्यापी और अविराम सरकारी गतिविधि की नीति थी। ऐसा कोई काम न था, जो सरकार न कर सके और ऐसा भी कोई काम न था, जो सरकार को न करना चाहिये, बशर्ते कि उससे देश के सामान्य कल्याण में वृद्धि होती हो। जहाँ तक आयातों की रोक-थाम करने और निर्यातों को प्रोत्साहन देने का मुख्य प्रश्न था, वहाँ तक तो आयात-शुल्क लगाकर विदेशी वस्तुओं को देश में

आने से रोकना चाहिये; और उद्योगों को सहायता के रूप में निर्यातों को प्रोत्साहित करने के लिये यन्त्रजाल स्पष्ट रूप से विद्यमान था ही। परन्तु जब उस अगली स्थिति का प्रश्न पैदा होता है कि नवारम्भों को इसलिये प्रोत्साहन दिया जाय, क्योंकि उनकी वृद्धि के फलस्वरूप व्यापार का सन्तुलन देश के लिये और अधिक अनुकूल हो जायगा, तो इसके लिये बताये गये उपायों की सूची की कोई सीमा नहीं रह जाती। नई प्रक्रियाओं को प्रारम्भ करने के सम्बन्ध में पेटेन्ट के एकाधिकार जारी करना, देश में नये उद्योग को स्थापित करने के लिये विदेशी कारीगरों को देश में बुलाना, कीमतों और वेतनों को नियत करना (अंशतः उत्पादन के हित की दृष्टि से), जहाजरानी और जलसेना को प्रोत्साहन देने के लिये उपायों की एक लम्बी सूची, जिसमें से जहाजरानी के अधिनियम अत्यन्त सुपरिचित हैं, और मछली पकड़ने के दिनों को नियत करना सब से अधिक रोचक है, विशेषाधिकार प्राप्त व्यापारी कम्पनियों का निर्माण; बड़े-बड़े बागों की स्थापना, जिससे कच्चा माल प्राप्त होता रह सके, और साथ ही साथ तैयार माल की बिक्री के लिये बाजार भी प्राप्त हो सके ये हैं वे कुछ महत्त्वपूर्ण उपायों के उदाहरण, जिन्हें व्यापारवाद ने क्रियान्वित किया था। ये उदाहरण उन उपायों में से केवल थोड़े से हैं, जो राजा के यश को बढ़ाने के लिये और राज्य की शक्ति को बढ़ाने के लिये उपयोगी समझे गये थे। इसी प्रकार अपने कुछ दौरों में व्यापारवाद ने जनसंख्या के सम्बन्ध में भी एक सुनिश्चित नीति निर्धारित करने का यत्न किया। क्योंकि जनसंख्या बढ़ने का अर्थ यह है, या कम से कम अर्थ यह होना चाहिये, कि सम्भावित सैनिकों और नाविकों की संख्या में वृद्धि होगी और साथ ही उत्पादनशील कारीगरों की संख्या में भी वृद्धि होगी; इसलिये जनसंख्या की वृद्धि को प्रोत्साहन देना भी व्यापारवाद का एक महत्त्वपूर्ण अंग माना जा सकता है।

जहाँ तक सरकारी गतिविधि के क्रियाकलाप (फंक्शन) का सम्बन्ध है, व्यापारवाद और राज्यीय समाजवाद में काफी कुछ स्पष्ट समानता है। व्यापारवादी राज्य को अपने देश के कल्याण में वृद्धि करने का एक समुचित साधन समझते थे। इसके अतिरिक्त उनकी दृष्टि में सारा देश एक इकाई था। राष्ट्रीय हितों में वृद्धि करना सबसे अधिक आवश्यक था और किसी वर्ग विशेष या व्यक्तियों के हितों की ओर बिलकुल ध्यान नहीं दिया गया था। यह

सम्भव है कि किन्हीं दशाओं में राज्य के हितों और व्यक्ति के हितों में विरोध हो; और ऐसी दशा में यह स्पष्ट है कि राज्य के हित को प्रधानता दी जायगी। इस प्रकार व्यापारवाद समाज की आवश्यकताओं को एक सर्वांगीण रूप में देखने का प्रयत्न करता था और राज्य को एक ऐसा उपयुक्त प्रशासनात्मक यन्त्रजात समझता था, जिसके द्वारा इन आवश्यकताओं को पूर्ण किया जा सकता है।

अभी हाल तक भी व्यापारवादियों को उनके ऊपर ऐडम स्मिथ द्वारा किये गये आक्षेपों का शिकार बने रहना पड़ा है। परन्तु अब पिछले कुछ समय से उन्हें पहले की अपेक्षा अधिक आदर दिया जाने लगा है। निश्चय ही वे ऐसे पक्के बुद्धू नहीं थे, जैसा कि उन्हें उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में माना जाता था। उनके सम्बन्ध में यह कठोर परम्परागत निर्णय दो गलत व्याख्याओं पर आधारित था। इनमें से एक गलत धारणा तो यह थी कि व्यापार के सन्तुलन का सिद्धान्त ही उनके सारे लक्ष्य और सिद्धान्तों के सार का प्रतिनिधि है; जबकि सत्य यह है कि व्यापार का सन्तुलन उनकी एक विशालतर और अपेक्षाकृत अधिक सर्वांगीण नीति का केवल एक पहलू था। और दूसरी गलत धारणा यह है कि व्यापारवादियों ने भी क्रोसस की भाँति यह सोचने की मूर्खता की थी कि सम्पत्ति सोना और चाँदी है, जब कि वस्तुतः सम्पत्ति वे वस्तुएँ हैं जो कि सोने और चाँदी से प्राप्त हो सकती है। परन्तु उनके सिद्धान्त की सम्भवतः न्यायोचित व्याख्या यह होगी कि वे सोने और चाँदी को ऐसी वस्तुओं के रूप में मूल्यवान समझते थे, जिनके द्वारा सत्ता और शक्ति प्राप्त की जा सकती है। इसके अतिरिक्त उनके सम्बन्ध में अंतिम निर्णय देते समय हमें इस बात का भी ध्यान रखना चाहिये कि उनके विचार उस काल की परिस्थितियों के अनुसार कहाँ तक उचित थे? परन्तु इस सब के बाद भी उन्हें इस सन्देह से पूर्णतया मुक्त नहीं किया जा सकता कि अनेक बार वे साधन और साध्य में घपला कर देते थे; और उनके लेखों से यह बात ध्वनित होती है कि मानों सोने में कोई ऐसा जादू का गुण है, जिसके कारण केवल इसे प्राप्त करना भर ही राष्ट्रीय नीति का उचित लक्ष्य माना जा सकता है। दो अन्य आधारों पर भी व्यापारवादियों की आलोचना की जा सकती है। राष्ट्रीय उत्पादनशीलता को बढ़ाने की उनकी तीव्र इच्छा और प्रत्येक वस्तु का सर्वोत्तम उपयोग करने के

प्रति उनके उत्साह को देखकर कभी-कभी पाठक पर यह प्रभाव पड़ता है कि वे सम्पत्ति को और उस श्रम को जिसका फल सम्पत्ति का उपार्जन है, एक ऐसा लक्ष्य मानते थे, जिसके लिये मनुष्य का जीवन बना है। बहुत हबड़-धबड़ और धूम-धाम में व्यक्ति यह भूल जाता है कि श्रम का उद्देश्य विश्राम है, और सम्पत्ति का अस्तित्व इसीलिये है कि उसका उपभोग किया जा सके; और मनुष्य का मुख्य ध्येय परमात्मा का यशोगान करना और उसका चिरकाल तक आनन्द लेना है। आलोचना का दूसरा स्पष्ट आधार यह है कि व्यापारवादियों ने अपने सिद्धान्तों को विचार कर कभी भी युक्तियुक्त निष्कर्षों तक नहीं पहुँचाया। उनके दृष्टिकोण का सार यह था कि एक देश को जो कुछ लाभ होता है; वह दूसरे देश की हानि होती है। पारस्परिक लाभदायक व्यापार का विचार उनकी पकड़ाई से दूर ही रहा। व्यापार के अनुकूल सन्तुलन के उपाय का उद्देश्य यह था कि इससे अपने देश को तो लाभ हो और दूसरे देश को हानि हो। परन्तु यह स्पष्ट है कि व्यापारवादी अर्थों में सब देशों में व्यापार का सन्तुलन एक साथ सब के लिये अनुकूल नहीं रह सकता। यह एक ऐसा उपाय था, जिसका अवलम्बन करने का सब देशो ने प्रयत्न किया, किन्तु फिर भी इसका सामान्यीकरण नहीं किया जा सकता था। इसी प्रकार यह बात भी सन्देहास्पद है कि व्यापारवादियों ने कभी अपने आप से यह प्रश्न भी पूछा था या नहीं कि, स्काटिश पार्लियामेन्ट के मजेदार शब्दों में, उस देश का क्या हाल होगा, जिसमें व्यापारवादी उपायों का अवलम्बन करने के फलस्वरूप सोना अधिक मात्रा में आकर जमा हो गया हो ? और उस निरन्तर जमा होते हुए सोने को देश से बाहर जाने से रोकने के लिये कौन से उपाय बरते जायेंगे। परन्तु यहाँ केवल इस बात को दुहरा देना पर्याप्त है कि व्यापारवादी लोग व्यावहारिक व्यक्ति थे; यह अर्थशास्त्रियों का कोई विशिष्ट विचारक वर्ग नहीं था।

३. चार प्रतिनिधिस्वरूप व्यापारवादी

ऊपर के भाग में सम्भवतः हमने एक अवास्तविकता की परिभाषा करने का प्रयत्न किया है। हमने एक पूर्ण व्यापारवादी के रूप को समझने का यत्न किया है, जिसकी केवल इस प्रकार कल्पना की जा सकती है कि ऐसे अनेक व्यापार-

वादियों के व्यक्तित्व को मिश्रित करके एक व्यक्तित्व का रूप दे दिया जाय, जिनमें से प्रत्येक अपने काल की समस्याओं के विभिन्न पहलुओं पर बल दे रहा था। इसलिये यह सुविधाजनक होगा कि इस सामान्य मिश्रित प्रतिनिधित्व के पूरक के रूप में चार विशेष प्रकार के व्यापारवादी लेखकों का संक्षेप में उल्लेख कर दिया जाय, जो चार विभिन्न देशों के प्रतिनिधि थे। जिन लेखकों का यहाँ उल्लेख किया जा रहा है, उन्हें अनिवार्य रूप से सर्वप्रमुख व्यापारवादी नहीं माना जा सकता। अन्य लेखक भी पूर्ण औचित्य के साथ इस प्रयोजन के लिये चुने जा सकते थे। परन्तु ये लेखक केवल एक ऐसे उदाहरण के रूप में लिये गये हैं, जो हमारे उपरिलिखित विवरण को कुछ और सुनिश्चित रूप देने में सहायक हों।

मोंक्रेतियें

फ्रांस से एक सुविधाजनक प्रतिनिधि के रूप में आंतवाने द मोंक्रेतियें[१] (१५७६-१६२१) का नाम लिया जा सकता है, जिसने १६१५ में अपनी पुस्तक "त्रेक्ते द लिकोनोमी पोलीतीक" राजा और राजमाता को समर्पित की थी। इस पुस्तक में थोड़ा-सा रुचिकर अंश इसलिये और भी बढ़ गया है, क्योंकि यह कहा जाता है कि इस पुस्तक में राजनीतिक अर्थशास्त्र (पोलिटिकल इकोनोमी) वाक्यांश का प्रयोग पहले-पहल हुआ है। परन्तु शीर्षक को देखकर किसी को भ्रमवश यह कल्पना नहीं कर लेनी चाहिये कि उसे इस पुस्तक में आधुनिक अर्थों में राजनीतिक अर्थशास्त्र प्राप्त हो सकेगा। यह वस्तुतः एक जोशीले और तीव्र राष्ट्र-प्रेम से प्रेरित होकर फ्रांस के उद्योगों के सम्बन्ध में किया गया परिमाप (सर्वे) मात्र है और इसमें बीच-बीच में राजा को सलाहें दी गयी हैं कि किस प्रकार वर्तमान स्थिति में सुधार किया जा सकता है। पुस्तक चार खंडों में बँटी हुई है, जिनमें लेखक ने क्रमशः फ्रांस के निर्माण उद्योगों, वाणिज्य और जहाजरानी का विवेचन किया है और अन्तिम खंड में राजा के "ध्यान देने योग्य मुख्य बातों" का उल्लेख है। जिन उद्योगों का परिमाप किया गया है, उनके सम्बन्ध

१. जन्म १५७६ के आस-पास फैलेज में हुआ। उसने काफी साहस कार्यों से भरा जीवन विताया। उसने कई बार द्वन्द्व-युद्ध भी लड़े। वह करुण रस का कवि था और लोहे के सामान का निर्माता था। वह १६२१ में एक प्रकार की लड़ाई में गोली से मारा से गया।

में ध्यान देने योग्य बात यह है, और यह बात व्यापारवादी विचारधारा की पूरे तौर पर विशेषता नहीं कही जा सकती, कि कृषि का वर्णन सबसे पहले किया गया है। सच तो यह है कि इस स्थान पर उसने कृषि के सम्बन्ध में बहुत कुछ प्रकृतिवादियों (फीजियोक्रेटों) के से उत्साह के साथ लिखा है। उसने अरस्तू और केटो का हवाला देते हुए लिखा है कि कृषि को सारी सम्पत्ति का मूल समझा जाना चाहिये।[1] यदि हालत गिरी हुई है, तो इसका कारण यह नहीं है कि हमारे यहाँ की मिट्टी अनुपजाऊ है (क्योंकि ऐसा कहना फ्रांस के प्रति बेवफाई या निष्ठाशून्यता का सूचक होता), अपितु इसका कारण मजदूरों की गरीबी है। परन्तु इसके बावजूद यह स्पष्ट है कि मोंक्रेतियें की वास्तविक रुचि अन्यत्र ही दूसरे उद्योगों में है, जिनका उसने वर्णन किया है।

मोंक्रेतियें की रचना में सामान्य रुचि की पहली बात यह है (और यहाँ वह सच्ची व्यापारवादी परम्परा के रूप में प्रकट होता है) कि उसने इस सिद्धान्त पर बहुत अधिक जोर दिया है कि प्रत्येक व्यक्ति को काम करना चाहिए और सब प्रकार की सुस्ती या निष्क्रियता का उसने तीव्र विरोध किया है। उसने कहा है कि मनुष्य का जन्म निरन्तर श्रम करने और कार्य में लगे रहने के लिये हुआ है। राज्य की नीति ऐसी होनी चाहिए कि जिसके फलस्वरूप जनता का कोई भी वर्ग निष्क्रिय न रहे।[2] सुदूर अतीत में होवा (ईव) द्वारा किये गये अपराध के फलस्वरूप उत्तराधिकार के रूप में परिश्रम करने का कर्तव्य हम सब पर इस प्रकार लाद दिया गया है कि जीवन और श्रम एक दूसरे के साथ अविभाज्य रूप से जुड़े हुए हैं। वह 'आलस्य' (l'oysivite) शब्द के विरुद्ध नैतिक क्रोध के रूप में अपने विभिन्न वाक्यांशों द्वारा कड़ी टिप्पणी करने में कभी नहीं चूकता। उसने लिखा है कि जो लोग निकम्मे रहते हैं और कुछ भी नहीं करते, वे बुरे कामों की ओर आसानी से झुक जाते हैं। आलस्य या निष्क्रियता मनुष्यों की शक्ति को और स्त्रियों की पवित्रता को नष्ट और भ्रष्ट कर देती है। निष्क्रियता सम्पन्न और समृद्ध राज्यों के लिये एक घातक महामारी है। यह निष्क्रियता सब पापों की जननी और सब दोषों का कारण है।[3] इस प्रकार

---

१. १८८९ में पुनर्मुद्रित फंक ब्रैन्टानो द्वारा सम्पादित; पृष्ठ ४१।

२. वही पुस्तक; पृष्ठ २१, २२।

३. देखिये वही पुस्तक; पृष्ठ १९, ७४, १०१।

मौंक्रेतियों की दृष्टि में समृद्ध और नैतिकता दोनों की दृष्टि से ही यह आवश्यक है कि देश में मधुमक्खियों के छत्ते की सी अविराम सक्रियता बनी रहे। यदि मनुष्यों के आनन्द का मूल उनकी सम्पत्ति में है, तो सम्पत्ति का मूल श्रम में है।

मौंक्रेतियें की दूसरी सामान्य विशेषता, जो बहुत कुछ गीतात्मक है, वह फ्रांस की अत्यधिक स्तुति के रूप में है। जब मौंक्रेतियें यह भूल जाता है कि वह कवि भी है, तो उसकी यह फ्रांस-स्तुति एक ऐसा तीव्र रूप धारण कर लेती है जो फ्रांस को अन्य सब देशों की अपेक्षा उच्च और अन्य देशों को फ्रांस की अपेक्षा अत्यन्त तुच्छ प्रदर्शित करता है। फ्रांस में जितनी अधिक भौतिक सम्पत्ति है, उसको देखते हुए फ्रांस के शासकों का उद्देश्य यह होना चाहिये कि वे उसे एक ऐसा देश बना दें, जो सचमुच ही 'अद्वितीय' हो।[1] उसका अन्तिम लक्ष्य एक गौरवपूर्ण आत्मनिर्भरता है। क्योंकि फ्रांस अपने आप में एक पूरा संसार है। **"En un mot, la France est un monde; qui l'a toute veue, a tout veu** ce qui se peut voir.।" संक्षेप में फ्रांस अपने आप में एक संसार है; जिसने पूरा फ्रांस देख लिया है, उसने जो कुछ दर्शनीय है वह सब देख लिया है।[2] और उसके इस गर्वपूर्ण दम्भ से यह भी निष्कर्ष निकलता है कि फ्रांस उन सब चीजों के बिना काम चला सकता है, जो कि उसे अपने पड़ोस के देशों से लेनी पड़ती हैं। परन्तु पड़ोस के देश बिना फ्रांस की सहायता के अपना काम किसी प्रकार नहीं चला सकते। फ्रांस में अपार सम्पत्ति भरी पड़ी है, जिसमें से बहुत कुछ तो ज्ञात हो चुकी है और बहुत सी अभी ज्ञात होने को शेष है।[3]

जो देश इस प्रकार अपने आप में एक पूरा संसार है, उसे अपनी सन्तानों का भली भाँति भरण-पोषण करने में समर्थ होना चाहिये। जो लोग फ्रांस में उत्पन्न हुए हैं, उनका अधिकार है कि वे फ्रांस में ही रहें। परन्तु ऐसा वे उस दशा में नहीं कर सकते, जबकि उनके जीवन-निर्वाह के साधन उनसे छिन जायें।[4] मौंक्रेतियें की पुस्तक का बहुत सा भाग, विदेशी के हाथों में चले गये व्यापार के परिचित प्रसंग को लेकर एक लम्बा शोकगीत-सा बन गया है। इस विदेशी का चित्रण इस रूप में किया गया है, जैसे वह फ्रांस के उद्योगों का गला घोंट रहा हो। मौंक्रेतियें ने उन अबाध स्वतन्त्रताओं का वर्णन खूब बढ़ा-

१. वही; पृष्ठ २३। २. वही: पृष्ठ १४७।
३. वही; पृष्ठ २४। ४. वही; पृष्ठ ७३।

बढ़ा कर किया है, जो फ्रांस में विदेशियों को प्राप्त है और उनकी तुलना उन प्रतिबन्धों से की है, जो विदेशों में फ्रांसीसियों पर लगे हुए हैं। उसका आदर्श वस्तुतः सब ओर से बन्द व्यापारिक संघ (geschlossene Handelsstaa) तक जा पहुँचता है। अन्तर केवल इतना है कि फ्रांस को उन वस्तुओं का निर्यात कर सकना चाहिये, जो उसकी आवश्यकता से अधिक हैं और इसलिये उसके लिये बेकार हैं। उसकी युक्तियाँ लगभग उन्हीं सामान्य आधारों पर हैं जिस वस्तु को मनुष्य स्वयं बना सकता है, उसे दूसरे से बनवाकर लेना मूर्खता है, जो वस्तु अपने प्रयत्न द्वारा प्राप्त की जा सकती है, उसे लेने के लिये अपना पैसा खर्च करना दूषित अर्थ-व्यवस्था है। यह युक्ति यद्यपि मोंक्रेतियें की अपनी कोई विशिष्ट युक्ति नहीं है, पर फिर भी उसने इसे असाधारण तीव्रता के साथ प्रस्तुत किया है :

"Premierement, je represente a vos Majestez que toute la quinquaillerie, a la fabrique de laquelle sont occupez, tant dedans que dehors le royaume, non des villes seules, mais des provinces entieres, se peut faire abondamment et a prix **tres raissonable dans le pays de vos Seigneuries, que d'y en admettre et recevoir d'estrangere c'est oter la vie à plusieurs milliers de vos subjects dont ceste industrie est l'heritage et** ce travail le fonds de leur revenu; c'est diminuer d'autant **vostre propre richesse, laquelle se fait et s'augmente de celle de vos peuples."**[1]

"सबसे पहले तो मैं श्रीमान् से यह निवेदन करता हूँ कि वे सब वस्तुएँ, जिनके निर्माण में आपके राज्य के अन्दर और बाहर दोनों जगह के न केवल शहरों के लोग, अपितु देहातों में रहने वाले लोग भी भाग ले रहे हैं, आपके देश में ही बहुत उचित लागत पर प्रभूत मात्रा में तैयार की जा सकती हैं; और यह भी कि विदेशों से लोहे के आयात के कारण आपकी प्रजा के उन हजारों लोगों की जीविका छिन गई है, जो वंश-परम्परा से इस उद्योग में लगे हुए थे; और इस प्रकार आपकी सम्पत्ति भी, जो आपकी प्रजा की सम्पत्ति से प्राप्त होती है और बढ़ती है, कम हो गई है।"[1]

---

१. वही; पृष्ठ ५१,५२।

इस सम्बन्ध में वह राजा को इस प्रकार प्रोत्साहित करता है : "Faites-nous donc jouissance du fruict de nostre industrie; c'est a dire, rendez nous a nous mesmes."

"हमें अपने उद्योगों के फल का उपभोग करने दीजिये, दूसरे शब्दों में हमें हमारे भरोसे रहने दीजिये।" मोंक्रेतियें का गर्वपूर्ण राष्ट्रीय आत्मनिर्भरता का आदर्श इस प्रकार का है और इस सम्बन्ध में अपील करते हुए वह ऐसी युक्तियों से भी नहीं चूकता, जिन्हें आजकल की भाषा में "सुवक्तियाँ" ही कहा जायगा। वह उन स्त्रियों की ठंडी आहों और बालकों की दयनीय चीत्कारों की दुहाई देता है, जिनके श्रम को विदेशी प्रतियोगिता के कारण हानि उठानी पड़ी है।[1]

मोंक्रेतियें की दृष्टि में विदेशी एक ऐसा व्यक्ति है, जो मुख्य रूप से धोखाधड़ी और प्रपंच में लगा हुआ है। वह जोर देकर कहता है, "जो कुछ भी विदेशी है, वह हमें भ्रष्ट ही करता है।"[2] विशेष रूप से विदेशी पुस्तकें "हमारी आत्मा को विषाक्त करती हैं और हमारे आचरण को भ्रष्ट करती हैं," इसलिये उनका आयात बन्द कर दिया जाना चाहिये।[3] वस्तुतः मोंक्रेतियें बहुत जोर देकर सर्वांगीण राष्ट्रीय पृथकता का समर्थन करता है और इस बात का संकेत करता है कि यह एक दैवीय आदेश है, जिसके अनुसार प्रत्येक क्षेत्र के लोगों को उस क्षेत्र में विद्यमान तत्त्वों और वहाँ पैदा होने वाली वस्तुओं के उपभोग का अधिकार प्रदान किया गया है। साथ ही वह बड़ी प्रशंसा करते हुए लियोन्स का उदाहरण प्रस्तुत करता है, जिसने इस सिद्धान्त को क्रियान्वित किया था कि "प्रत्येक शहर में उसकी अपनी सन्तानों के लिये कुछ बात विशेष और सुरक्षित होनी चाहिये, जिससे उन्हें सहायता मिल सके।[4] इस प्रकार मोंक्रेतियें इस सिद्धान्त का प्रबल समर्थक है, जो हमें इस बात के लिये प्रेरित करता है कि हम अपनी ही चिड़ियाओं को उनका प्राचीन और परम्परागत स्वत्व दें।

कुछ अन्य प्रश्नों पर मोंक्रेतियें व्यापारवादी परम्परा से कुछ दूर हट जाता है। उसने वस्तुओं की जैसी योजना बनायी है, वह अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिये लगभग विनाशकारी है। इसलिये मोंक्रेतियें की रचना में व्यापार के सन्तुलन का सिद्धान्त बिल्कुल नहीं के बराबर है। इसी प्रकार वह देश के

१. वही; पृष्ठ ७१। २. वही; पृष्ठ २४१।
३. वही; पृष्ठ ६१। ४. वही; पृष्ठ ११४,११५।

आन्तरिक व्यापार के महत्त्व को खूब भली भाँति अनुभव करता है और एक स्थान पर वह कहता है, और निस्सन्देह ठीक ही कहता है कि यदि फ्रांस अपने सम्पूर्ण आन्तरिक व्यापार को केवल अपने तक ही सीमित रख सके और अपने विदेशी व्यापार को केवल उन वस्तुओं के निर्यात तक ही सीमित रखे, जो फ्रांस में आवश्यकता से कहीं अधिक मात्रा में पैदा होती हैं, तो संसार का कोई भी देश सुख, सम्पत्ति और यश की दृष्टि से फ्रांस की समानता नहीं कर सकता।[1] वह इस सिद्धान्त का समर्थन करता है कि "que l'un ne perd jamais que l'autre n'y gagne" अर्थात् "कोई भी व्यक्ति ऐसी कोई वस्तु कभी नहीं गँवा सकता जो दूसरे किसी को लाभ रूप में प्राप्त न हो रही हो।"[2] परन्तु इस सिद्धान्त से वह यह परिणाम निकालता है कि देश के घरेलू व्यापार में, जो अलग-अलग नागरिकों के बीच हुआ है, किसी प्रकार का वैसा नुकसान जनता को नहीं हो सकता, जैसा कि उसें भय है कि विदेशी व्यापार के परिणामस्वरूप हो सकता है। इस अत्यन्त परिचित उपमा को कि ठीक राष्ट्रीय ऋण का हस्तान्तरण पतलून की दायीं जेब से बायीं जेब में पैसा डाल लेने के समान है, उसने थोड़ा बदलकर यह कहा है कि घरेलू व्यापार एक ऐसे व्यक्ति के समान है, जिसके हाथ में दो गिलास हों और वह उनमें से एक का शर्बत दूसरे में डाल रहा हो[3]। इस प्रकार मोंक्रेतियें की दृष्टि में विदेशी व्यापार एक प्रकार का त्रास और जुआ है। इसमें घाटा भी हो सकता है, जबकि घरेलू व्यापार में कम से कम इस प्रकार का कोई खतरा नहीं है।

इस सब से स्वभावतः यह परिणाम निकलता है कि मोंक्रेतियें में व्यापारवाद का सोने-चाँदी वाला पहलू अपेक्षाकृत कम प्रमुख रहा है। यह ठीक है कि वह पुरानी इस सूक्ति का समर्थन करता है कि पैसा युद्ध की जान है और इसमें उसने अपनी ओर से इतना और जोड़ दिया है कि बहुत बार यह देखा गया है कि सोना लोहे की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली सिद्ध होता है। परन्तु वह इस प्रश्न के इस पहलू पर कभी भी आपे से बाहर नहीं होता और उसकी रचना में एक उल्लेखनीय सन्दर्भ है—यह ठीक है कि यह सन्दर्भ बहुत कुछ अलग-सा पड़ गया मालूम पड़ता है—जिसमें कि वह सारी व्यापारवादी कट्टरता का विरोध

१. वही; पृष्ठ १४६। २. वही; पृष्ठ १६१।
३. वही; पृष्ठ १४१-१४२।

करता-सा प्रतीत होता है : "वस्तुत: सोने या चांदी की अधिकता, मोतियों और हीरों की बहुत बड़ी मात्रा के द्वारा कोई राष्ट्र सम्पन्न और समृद्ध नहीं बनता, अपितु जीवन के लिये आवश्यक वस्तुओं और पहनने के उपयुक्त वस्त्रों के अधिक मात्रा में उपलब्ध होने (accomodement) से राज्य समृद्ध बनता है। जिसके पास ये वस्तुएँ अधिक मात्रा में हैं, उसी के पास अधिक सम्पत्ति है। "उसके बाद चार्ल्स षष्ठ के समय की, जब कि यदि पैसा कम था, तो कीमतें भी नीची थीं, परिस्थितियों का वैषम्य दिखाते हुए वह कहता है "यह ठीक है कि अब हमारे पास सोना और चांदी उसकी अपेक्षा कहीं अधिक है, जितना कि हमारे पूर्वजों के पास था, परन्तु इसलिए हम अधिक सुखी या अधिक धनी नहीं हो गये हैं।"[१] इस प्रकार के सन्दर्भों को देखने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि सब व्यापारवादियों को किसी एक खास वर्ग के अन्दर बांधने की चेष्टा करने का प्रयत्न करना मूर्खता है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि मोंक्रेतियें अत्यन्त देशभक्त है; इतना देशभक्त कि उसकी देशभक्ति भी अरुचिकर हो उठती है। वह अन्य लोगों को तुच्छता की दृष्टि से देखता है। उसकी कल्पना में एक पूर्णत: पृथक् राज्य है, जिसमें उसने यह मान लिया है कि फ्रांस अन्य सब देशों की अपेक्षा श्रेष्ठ है। वह न केवल अपनी सब आवश्यकताओं की पूर्ति करने में समर्थ है, अपितु सब आवश्यकताओं को पूर्ण करने के बाद भी निर्यात के लिये काफी कुछ बचा रहता है और इसीलिये वहां व्यापार का अर्थ केवल इकतरफा लेन-देन है। घरेलू दृष्टि से सब लोगों को काम करना होगा। सुस्ती या निष्क्रियता को धकियाकर विदेशों में भेज दिया जाना चाहिये, जहां वह सम्भवत: किसी प्रकार की हानि न पहुँचायेगी।

थामस मन

इंग्लैंड के व्यापारवादी लेखकों और पर्चेबाजों की विशाल संख्या में सर्वसम्मति से एक व्यक्ति ऐसा है, जिसे इस विविधवर्गीय समूह का प्रतिनिधि चुना जाने का सब से अधिक अधिकार है। इसका कारण केवल यह नहीं है कि थामस मन[२] (१५७१-१६४१) को व्यापारवादी सिद्धान्तों का लगभग एक

१ वही; पृष्ठ २४१।

२. लन्दन में १५७१ में जन्म हुआ। अपने जीवन के अधिकांश भाग में इटली और लेवांट के साथ व्यापारिक मामलों में व्यस्त रहा। ईस्ट इंडिया कम्पनी की कमेटी का एक

सुसंगत रूप में वर्णन करने में सब से अधिक सफलता मिली है, अपितु यह तथ्य भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है कि उसने अपनी रचनाएँ उस समय लिखीं, जब कि तब तक भी व्यापारवाद का सामना उन विघटनात्मक शक्तियों से नहीं हुआ था, जिनके कारण मध्य और पिछले काल के व्यापारवादी कुछ दृष्टियों से अपेक्षाकृत अधिक उदार नीति के प्रवर्तक बन गये थे। मन सम्भवतः ऐसा लेखक है, जो पूर्ण व्यापारवाद के अधिकतम निकट पहुँच सका है। फिर भी वह सैद्धान्तिक मतभेदों के प्रति अनावश्यक रूप से सजग था; और वह बहुत बार उन विरोधों में उलझ जाता था, जो किसी भी ऐसे एक बड़े विचारक वर्ग में अनिवार्य होते हैं, जिसकी एक बड़ी विशेषता यह हो कि वे लोग अपने विचारों को किसी भी युक्तिसंगत निष्कर्ष तक पहुँचाने से सदा इन्कार करते रहे।

मन की पुस्तक अपने पुत्र के उचित विकास और शिक्षण के लिये लिखी गई थी और यह पुस्तक उसकी मृत्यु के बाद ही १६६४ में प्रकाशित हुई। इस पुस्तक का शीर्षक ही व्यापारवाद का घनीभूत सारांश है। यह शीर्षक है— "विदेशी व्यापार द्वारा इंग्लैंड की कोष-वृद्धि या हमारे विदेशी व्यापार का सन्तुलन ही हमारे कोष का मूल आधार है" (इंग्लैंड्स ट्रेजर बाइ फॉरेन ट्रेड, ऑर, दी बैलेन्स ऑफ आवर फोरेन ट्रेड इज दी रूल आफ आवर ट्रेजर)। जब वह बाकायदा अपने विषय को प्रारम्भ करता है, तो उसका प्रारम्भिक वक्तव्य व्यापार के सन्तुलन के सिद्धान्त का एक ऐसा सुनिश्चित रूप सामने प्रस्तुत करता है, जिसमें कि किसी भी प्रकार के समझौते की गुंजाइश नहीं है। अपनी सम्पत्ति और अपने कोष को बढ़ाने के लिये हमें सदा इस नियम का पालन करना चाहिये : "विदेशियों को प्रति वर्ष उससे अधिक मूल्य की वस्तुएँ बेची जायें, जितने की कि हम उनकी वस्तुएँ अपने उपयोग में लाते हैं।"[1] इसके साथ ही यह नियम हमें देश में आने वाली या देश से बाहर जाने वाली बहुमूल्य धातुओं की मात्रा की एक बिलकुल सुनिर्दिष्ट सूची प्रदान कर देता है। क्योंकि यदि निर्यात २२ लाख पौंड के हुए और आयात २० लाख पौंड के, तो

"हम निश्चिन्त रह सकते हैं कि हमारा राज्य प्रति वर्ष २ लाख पौंडों द्वारा अधिक धनी बनता जायगा, जो कि हमें खजाने के रूप में प्राप्त होते रहेंगे;

सदस्य रहा। मृत्यु १६४१ में हुई।

१. इंग्लैंड्स ट्रेजर; अध्याय २।

क्योंकि हमारे माल का वह भाग, जो हमें दूसरे देशों से वस्तुओं के रूप में वापस नहीं मिलता, अवश्य ही हमें खजाने के रूप में प्राप्त होगा।"[१]

ऐसी स्थिति में धन संचय करने का रहस्य स्पष्ट रूप से इस बात में निहित है कि आयातों को बन्द कर दिया जाय और निर्यातों को प्रोत्साहन दिया जाय। मन की पुस्तक में सब से महत्त्वपूर्ण अध्याय वह है, जिसमें उसने इन अभीष्ट उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए बारह उपाय गिनाये हैं। यह अध्याय (तीसरा अध्याय) वस्तुतः व्यापारवादी उपायों की एक पूरी सूची है; और यह सूची उस रूप में है, जिस रूप में वे उपाय मन के समय देखे जाते थे। मन ने जिस कार्य-क्रम की रूपरेखा प्रस्तुत की है, वह व्यापारवाद का उसके चरम उत्कर्ष के दिनों का ऐसा ज्वलन्त रूप प्रस्तुत करती है कि उसके कार्यक्रम की मुख्य बातों को यहाँ पर उद्धृत करना अनुचित न होगा।

पहली बात; मन इस बात पर जोर देता है कि बेकार पड़ी हुई भूमियों पर (जिन्हें वह जल्दबाजी में अनगिनत बताता है) इस प्रकार खेती करनी प्रारम्भ की जाय, जिससे पहले से खेती की जा रही भूमियों द्वारा होने वाली आय पर बुरा असर न पड़े। इस प्रकार भांग, फ्लैक्स (एक पौधा जिससे लिनन बनता है), सन और तम्बाकू की खेती की जा सकती है और इसके फल-स्वरूप इन वस्तुओं का आयात बन्द कर दिया जा सकता है।

दूसरी बात; हमें विवेकपूर्वक अपने भोजन और आच्छादन में विदेशी वस्तुओं का अत्यधिक प्रयोग करने से दूर ही रहना चाहिये। साथ ही हमें अनावश्यक तौर पर फैशन को भी नहीं बदलते रहना चाहिये, जो पहले समय की अपेक्षा आजकल कहीं अधिक बढ़ता जा रहा है।

तीसरी बात; जहाँ तक निर्यातों का सम्बन्ध है, "हमें अपने पड़ोसियों की आवश्यकताओं पर गौर करना चाहिये।" जहाँ वे अपनी आवश्यकता की वस्तुओं को किसी दूसरे स्थानों से प्राप्त न कर सकें, वहाँ हमें अपना माल इतना महँगा बेचना चाहिये, जितना कि हम बेच सकें। यदि वे अपनी आव-श्यकताओं को किसी और स्थान से पूरा कर सकते हों, तो हमें अपना माल अधिक से अधिक सस्ता बेचने की कोशिश करनी चाहिये और उन वस्तुओं का बाजार अपने हाथ से छिनने नहीं देना चाहिये।

१. वही; अध्याय २।

चौथी बात; निर्यातों का मूल्य इस प्रकार और अधिक बढ़ाया जाना चाहिए कि उन निर्यातों को केवल अपने ही जहाजों द्वारा भेजा जाय; क्योंकि उस दशा में हमें न केवल अपने माल की कीमत मिल रही होगी, बल्कि व्यापारी का लाभ भी मिल रहा होगा जिसे कि आधुनिक सिद्धान्तों में अदृश्य निर्यात कहा जाता है।

पाँचवीं बात; अपनी प्राकृतिक सम्पत्ति का मितव्ययिता के साथ उपयोग करने की दशा में हमारे पास निर्यात के लिये काफी कुछ बचा रह सकता है और यदि हम फिजूलखर्ची करना ही चाहें, तो यह फिजूलखर्ची केवल उन वस्तुओं तक ही सीमित रहनी चाहिये, जो हमारे अपने देश में बनती हैं; जिससे गरीबों को काम पर लगाया जा सके। परन्तु यह स्पष्ट है कि मन इसको केवल दूसरे नम्बर पर अच्छा विकल्प समझता है, क्योंकि सब से अच्छा विकल्प तो यह है कि गरीबों को उन कामों पर लगाया जाय, जिनके द्वारा विदेशियों से पैसा वसूल किया जाता हो।

छठी बात; अपने पास पड़ौस के समुद्रों में मछली पकड़ने के काम को विकसित किया जाय, बजाय इसके कि डच लोग हमारी मछलियाँ ईसाइयत वाले अनेक देशों को भेजते रहें।

सातवीं बात; विदेशी व्यापार को प्रोत्साहन देने के लिये एक विशाल बाजार (स्टेपल) स्थापित किया जाना चाहिये, जिसके द्वारा इंग्लैण्ड को माल के वितरण का एक केन्द्र बना दिया जाय। इस प्रकार जहाजरानी, व्यापार और राज्य के आयात और निर्यात शुल्क में वृद्धि होगी।

आठवीं बात; परवर्ती काल में ऐडम स्मिथ के साथ विचित्र वैषम्य के रूप में मन का सुझाव है कि हमें विशेष रूप से दूर देशों के साथ व्यापार को प्रोत्साहन देना चाहिये। इस सम्बन्ध में उसकी युक्तियाँ विचित्र और हेत्वाभास से पूर्ण हैं। यदि काली मिर्च लन्दन में २ शिलिंग प्रति पौंड के हिसाब से मिलती है, तो यह ऐम्स्टरडम में २०.पैंस प्रति पौंड के हिसाब से मिल सकती है। परन्तु व्यापारी ईस्ट इंडीज में काली मिर्च ३ पैंस प्रति पौंड के हिसाब से खरीद सकता है। "और यह बहुत बड़ा लाभ होगा।"

नौवाँ उपाय, जिसे मन अपने आप में एक अधार्मिक बात समझता है और इसीलिए उसे बाद के विचार के लिए छोड़ देता है, वह यह है कि कुछ दशाओं में

स्वयं पैसे का निर्यात करना भी लाभदायक सिद्ध हो सकता है।

दसवीं और ग्यारहवीं बातें एक-सी ही हैं। मन का कथन है कि विदेशी तैयार माल मलमल, रेशम इत्यादि के निर्यात पर किसी प्रकार का शुल्क नहीं लगाया जाना चाहिये। इससे लोगों को काम मिलेगा, निर्यातों में वृद्धि होगी और नया माल तैयार करने के उद्देश्य से बढ़े हुए आयात के कारण राजा के आयात-शुल्क से होने वाली आय में वृद्धि होगी। इसी प्रकार देशज पदार्थों पर भी बहुत अधिक शुल्क का भार नहीं डाला जाना चाहिये, क्योंकि उनका मूल्य बढ़ जाने की दशा में विदेशों में उनकी बिक्री घट जाने की आशंका है। यदि इसी युक्ति को आगे बढ़ाया जाय, तो निर्यातों को प्रोत्साहन देने के लिए उद्योगों को सहायता देने की प्रणाली भी प्रारम्भ कर देनी होगी।

बारहवां और अन्तिम आदेश बहुत-कुछ अस्पष्ट और विस्तृत है। वह यह कि "हमें अपने उपयोग के लिए अपने देश में अधिक से अधिक निर्माण स्वयं करने की कोशिश करनी चाहिये।" यह है मन का कार्यक्रम; और यह स्पष्ट है कि यदि इस सारे कार्यक्रम को समूचे रूप में देखा जाय, तो यह कार्यक्रम एक अत्यन्त संयमपूर्ण मितव्ययिता की नीति है, जिसमें किसी भी प्रकार का अप-व्यय निषिद्ध है; और लाभ पाने के किसी भी अवसर की उपेक्षा नहीं की गयी है। जीवन का आनन्द विदेशी के लिए छोड़ दिया गया है, बशर्ते कि व्यापार का लाभ हमें मिलता रहे। इसमें नौवीं बात को छोड़कर बाकी सब कुछ व्यापारवादी योजना है। पैसे या द्रव्य के निर्यात के प्रश्न पर मन ने यह स्वीकार किया है कि उसका दृष्टिकोण जनसाधारण के मत के प्रतिकूल है। पैसे को बाहर जाने देने के पक्ष में उसकी युक्ति संक्षेप में यह है कि 'पैसे से व्यापार बढ़ता है और व्यापार से पैसा बढ़ता है।'[1] उसकी युक्ति है—और यहीं पर सच्चा व्यापारवाद टूट-फूटकर गिरने लगता है कि केवल अपने ही देश में पैसे को रोके रखने से व्यापार खूब तेजी से और बड़ी मात्रा में होने लगेगा। व्यापार की वृद्धि इस बात पर निर्भर है कि दूसरे देशों को हमारे सामान की आवश्यकता कितनी है। वस्तुतः वह इस बात को अनुभव करता है कि पैसे की प्रचुरता से कीमतें ऊँची चढ़ जाती हैं और "महँगी वस्तुओं का उपयोग और उपभोग कम और कम होता है" और इसका परिणाम यह होता है कि व्यापार

१. वही; अध्याय ४।

का परिमाण घट जाता है। इसलिए यह विश्वास रखना आवश्यक है कि जो पैसा व्यापार के रूप में बाहर भेजेंगे, वह फिर हमारे खजाने में लोटकर वापस आ जायगा।

पुराने और आधुनिक सब व्यापारवादियों की भाँति मन ने अपने देश-वासियों के आलस्य की बड़े तीव्र शब्दों में निन्दा की है और उनकी तुलना में बताया है कि विदेशी लोग कितना अधिक उद्योग करते हैं। उसकी दृष्टि में डच लोग नैतिक दृष्टि से यूरोप के भले लड़के थे। उसके साथ वैषम्य दिखाते हुए अपने देशवासियों के सम्बन्ध में उसने कहा है:

"हम लोग अपने व्यायाम और अध्ययन को छोड़कर मौज लूटने में लग जाते हैं; और कुछ वर्षों से हम हुक्का पीने के आदी हो गये हैं और पशुओं की तरह बैठे धुआँ चूसा करते हैं और शराब पीते हैं। यहाँ तक कि इसके फल-स्वरूप बहुतों के तो सिर पर मृत्यु ही आ पहुँचती है।"[1]

मन में एक और रोचक और महत्त्वपूर्ण बात यह है कि यहाँ भी, जो कि व्यापारवाद का गढ़ है, व्यापारवाद की जर्जरता के चिह्न दिखाई पड़ते हैं। इस प्रकार तीसरे अध्याय में उसने जिस कठोरता के साथ अपनी योजना की रूप-रेखा प्रस्तुत की है, उसके विरुद्ध बाद में चलकर उसने धूमधाम और आनन्द का बिलकुल निषेध कर देने की भी अनुमति नहीं दी। यदि हम विदेशी वस्तुओं का प्रयोग बिलकुल न करें, या थोड़ा करें, तो "हम अपने सामान को किस प्रकार बेच सकेंगे? हमारे जहाजों का, नाविकों का, हमारी सामग्री का, हमारे गरीब कारीगरों का और दूसरे बहुत से लोगों का क्या हाल होगा? क्या हम यह आशा कर सकते हैं कि दूसरे देश हमारे सारे सामान के लिये हमें पैसा देते रहेंगे और उसके बदले में अपनी कुछ चीजें हमें नहीं बेचेंगे या विनिमय में नहीं देंगे?"[2]

सचमुच ही ये ऐसे प्रश्न हैं, जिनका उत्तर ढूंढने की आवश्यकता है।

और इसी प्रकार एक और मूलभूत प्रश्न पर वह कहता है: "यह ठीक है कि कोष को युद्ध की जान कहा जाता है, परन्तु ऐसा इसलिए है क्योंकि यह कोष मनुष्यों, खाद्यों और अन्य सामग्रियों की शक्तियों को प्राप्त कराता है,

१. वही; अध्याय १६।

२. वही: अध्याय १५।

संगठित कराता है और उन्हें वहाँ पहुँचने की प्रेरणा देता है, जहाँ उनकी आवश्यकता होती है। परन्तु यदि ये वस्तुएँ उपयुक्त समय पर प्राप्त न हो सकें, तब हम अपने पैसे का क्या करेंगे ?"[1]

"हम अपने पैसे का क्या करेंगे ?" सचमुच क्या करेंगे ? कोई कह सकता है कि स्पष्ट रूप से यही वह प्रश्न है, जिसका उत्तर देने से व्यापारवादी सदा कतराते रहे और इस प्रश्न का उत्तर वे बिना अपनी विचारधारा की सारी योजना को उलट-पुलट किये दे भी नहीं सकते थे। परन्तु दूसरी ओर यह बात कि मन जैसा व्यक्ति भी इतनी दूर तक पहुँचता है कि वह इस प्रश्न को स्वयं, उठाये, इस बात की सूचक है कि व्यापारवादी वस्तुतः उतने उलझे हुए दिमाग के आदमी नहीं थे, जितना कि उन्हें प्रायः मान लिया जाता है।

यहाँ अपेक्षाकृत पिछले काल के अंग्रेजी व्यापारवाद के प्रतिनिधियों के सम्बन्ध में विचार कर पाना सम्भव नहीं है, परन्तु पुनरुक्ति का जोखम उठा कर भी यह बात फिर जोर देकर कहनी होगी कि यद्यपि व्यापारवाद में राष्ट्रीय शक्ति मूल-स्तम्भ बनी हुई थी, परन्तु व्यापारवादी विचारधारा के मौलिक रूप के सम्बन्ध में अधिकाधिक सन्देह और मतभेद प्रकट किये जाने लगे थे। इस प्रकार जोसिया चाइल्ड (१६३०-१६६६) ने व्यापार के संतुलन की व्यापारवादी धारणा की ठीक-ठीक परिभाषा करने के बाद उन क्रियात्मक कठिनाइयों का उल्लेख किया, जो यह निश्चय करने में उपस्थित होती हैं कि वह सन्तुलन क्या कुछ हो सकता है; और उसने यह निष्कर्ष निकाला कि यह सारी की सारी धारणा "जहाँ तक हमारे सामान्य व्यापार का सम्बन्ध है, अत्यधिक सन्देहास्पद और अनिश्चित है और कुछ विशेष व्यापारों के सम्बन्ध में यह भ्रामक और गलत है।" उसका कथन है कि सबसे अच्छी कसौटी व्यापार का परिमाण है, जो जहाजरानी में हुई वृद्धि द्वारा प्रकट हो जाता है, और उसे प्रोत्साहन देने वाली सबसे अच्छी वस्तु यह है कि ब्याज की दरों को कम कर दिया जाय।

सैरा

अपने जाल के फैलाव को और विस्तृत करने के लिए हमें प्रारम्भिक व्यापारवादियों में से एक इटली के व्यापारवादी पर भी दृष्टि डाल लेनी चाहिये।

---

१. वही; अध्याय १८।

मन की भाँति ऐन्टोनियो सैरा ने भी व्यापारवादी सिद्धान्त को अपनी छोटी सी पुस्तिका के शीर्षक में प्रस्तुत किया है, जो १६१३ में इस शीर्षक से प्रकाशित हुई थी : "उन कारणों के सम्बन्ध में संक्षिप्त पुस्तक, जिनके द्वारा उन राज्यों में भी सोने और चाँदी की पर्याप्त मात्रा प्राप्त की जा सकती है, जहाँ खानें नहीं होतीं।"[1] सैरा अपनी पुस्तक के प्रारम्भ में ही इस बात से स्वतः-सिद्ध मानकर चलता है कि राज्य में सोने और चाँदी का प्रभूत मात्रा में विद्यमान होना बहुत आवश्यक है और इससे प्रतिकूल विचार रखना बहुत कुछ पागलपन का-सा सूचक समझा जाना चाहिये। उन भाग्यवान् देशों को छोड़ कर, जिसमें पहले से ही प्राकृतिक रूप से सोना और चाँदी विद्यमान हैं, अन्य देशों में इन बहुमूल्य धातुओं की विद्यमानता कुछ एक विशिष्ट प्रकार के कारणों पर निर्भर रहती है। कुछ कारण ऐसे हो सकते हैं, जो केवल किसी विशेष देश पर लागू होते हों; जैसे उस देश की स्थिति। अन्यथा सैरा ने चार मुख्य कारण बताये हैं जिनके कारण किसी भी देश में सोना या चाँदी विद्यमान रहती है। ये कारण हैं—उद्योगों का परिमाण, जनसंख्या की विशेषता, अत्यधिक व्यापारिक गतिविधि और राज्य का नियन्त्रण। पहली बात के सम्बन्ध में सैरा उन युक्तियों को प्रस्तुत करता है, जिनके कारण व्यापारी कृषि की अपेक्षा उद्योग को अधिक पसन्द करते हैं। पहली बात तो यह है कि उद्योग में अपेक्षाकृत जोखिम कम है। कारीगर को किसान की अपेक्षा लाभ मिलना अधिक निश्चित रहता है। किसान को ऋतु पर निर्भर रहना पड़ता है और यह भी सम्भव है कि उसके सारे परिश्रम के फलस्वरूप घाटा रहे। "परन्तु उद्योग में सदा लाभ पाने का निश्चय रहता है, बशर्ते कि उसमें परिश्रम किया जाय।" आज के युग में यह बात बहुत भोलेपन की-सी मालूम होती है। दूसरी बात यह है, भले ही उसने इस वाक्यांश का प्रयोग नहीं

---

१. मनरो की पुस्तक "अर्ली इकोनोमिक थॉट" में सैरा के कुछ चुने हुए अंश दिये गये हैं। ये पूरी पुस्तिका ग्रजियानी द्वारा सम्पादित "इकोनोमिस्टी देल सिक एत सीसन्तो" में प्राप्त हो सकती है। सैरा के सम्बन्ध में केवल इतना ज्ञात है कि उसकी यह प्रसिद्ध पुस्तक जिसमें प्रभूत मात्रा में पैसा प्राप्त करने के उपाय बताये गये हैं, १६११ में जेल में लिखी गई थी, जबकि वह जाली सिक्के बनाने के अपराध में सजा काट रहा था या यह भी सम्भव है कि यह बात बाद में किसी मजाकिये व्यक्ति ने अपनी ओर से गढ़कर जोड़ दी हो।

किया, पर उसका अभिप्राय यही है कि उद्योग वर्तमान प्रतिप्राप्ति (इंक्रीजिंग रिटर्न्स) के अन्तर्गत आते हैं, जबकि कृषि में वर्धमान प्रतिप्राप्ति नहीं होती। उद्योग को सदा दुगना या २०० गुना बढ़ाया जा सकता है और उसी अनुपात में खर्च कम और कम होता जायगा (Con minor proporzione di spesa- अर्थात् व्यय के अपेक्षाकृत कम अनुपात में)। तीसरा कारण यह है कि उद्योगों के लिए सुनिश्चित रूप से बाजार मिल जाता है। कृषि की उपज को देर तक सँभालकर रखना कठिन है, परन्तु उद्योगों के द्वारा तैयार की गई वस्तुएँ काफी समय तक सुरक्षित रखी जा सकती हैं, इसलिए उन्हें बाजार सुधरने तक सँभालकर भी रखा जा सकता है या उनका निर्यात भी किया जा सकता है (सैरा को आजकल के डब्बाबन्दी के उद्योग पर ज्ञान नहीं था)। अन्तिम बात यह है कि उद्योग में कृषि उपज की अपेक्षा अधिक लाभ है। सोना और चाँदी प्रभूत मात्रा में प्राप्त करने के लिए बताये गये अन्य उपायों का वर्णन संक्षेप में किया जा सकता है। देश के निवासियों को परिश्रमी और देश के अन्दर तथा देश के बाहर व्यापार बढ़ाने के लिए सचेष्ट रहना चाहिए। देश का व्यापार खूब अधिक होना चाहिए और अच्छा तो यह है कि यह व्यापार अपने देश की उपज का न होकर अन्य देशों की उपज का व्यापार हो। चौथे कारण के सम्बन्ध में अर्थात् राजा द्वारा बनाये गये व्यापार के नियन्त्रण सम्बन्धी नियमों के सम्बन्ध में—जो व्यवहार में व्यापारवाद का एक अनिवार्य अंग है—सैरा की स्थिति दुर्बल है। यह कथन कि "यह जान पाना सरल नहीं है कि इस तत्त्व का ठीक-ठीक प्रबन्ध किस ढंग से किया जाय," या यह कि इस सम्बन्ध में एक से अधिक कारणों की ओर ध्यान देना आवश्यक है, क्योंकि एक ही कारण विभिन्न मामलों में विभिन्न परिणाम उत्पन्न कर सकता है—जैसे एक हल्की सीटी की आवाज कुत्तों को तो नींद से उठा देती है और घोड़ों को शान्त कर देती है, सत्य तो हो सकता है, किन्तु सहायक किसी प्रकार नहीं। इस प्रकार के निर्देशों द्वारा महान् सरकारी कर्मचारियों का तैयार हो पाना कठिन ही है। जब कोषाध्यक्ष हल्की-सी सीटी बजायें, तब यह जान पाना कठिन होगा कि कौन कुत्ते हैं और कौन घोड़े ?

सैरा की पुस्तिका का अवशिष्ट अधिकांश भाग उन कारणों के विवेचन से भरा है, जिनके कारण वेनिस में तो सोना और चाँदी भरपूर मात्रा में है,

और दूसरी ओर उन कारणों से, जिनके फलस्वरूप नेपल्स दरिद्र है। इसके साथ ही इस पुस्तिका में विनिमय की दरों से सम्बद्ध प्रश्नों पर भी विचार किया गया है, जो इटालियन व्यापारवाद की एक विशेषता है। यह भी सम्भवतः विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है कि मन की भाँति सैरा भी पैसे के निर्यात के निषेध को उचित नहीं समझता। यदि पैसे का निर्यात किया जाय, तो उसका अवश्य ही कोई उद्देश्य होना चाहिये और इसलिए यदि पैसे का चाहे जिस कारण से निर्यात किया गया हो, वह अवश्य ही लाभ समेत लौट कर उस राज्य में आ जायेगा, जिससे वह भेजा गया था यह सम्भवतः एक बहुत बड़ी कल्पना है, जिसके कारण ऐसा लगने लगता है कि व्यापारवाद समूचे रूप में एक व्यर्थ की बकवास मात्र है।

वान हार्निक

अपने इस अध्ययन में सन्तुलन बनाये रखने के लिए एक चौथे और अन्तिम व्यापारवादी का उल्लेख किया जा सकता है और इस बार यह व्यापारवादी आस्ट्रिया का है। फिलिप डब्ल्यू-वान हार्निक[1] (१६१८-१७१२) जिसने "Oesterreich uber alles wann es nur will" ("आस्ट्रिया सर्वश्रेष्ठ हो सकता है, यदि वह केवल चाहे भर") पुस्तक लिखी थी, इस दृष्टि से अत्यन्त मनोरंजक है कि उसकी रचनाओं में एक असहिष्णुता, उग्रता और एक विचित्र प्रकार का भोलापन-सा दिखाई पड़ता है। उसकी नीति की परिभाषा सर्वमान्य स्वतःसिद्ध सत्य पर आधारित है, जो अपने आप में व्यापारवादी विश्वास का एक रोचक वक्तव्य-सा प्रतीत होती है। उसका अर्थ यह है कि किसी भी देश की शक्ति और प्रभुत्व उस देश में विद्यमान अतिरिक्त सोने और चाँदी तथा जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक या सुविधाजनक उन सब सामग्रियों पर निर्भर है, जो उस देश ने बिना दूसरे देशों पर निर्भर रहे केवल अपने ही साधनों द्वारा प्राप्त की हों। इस लक्ष्य तक पहुँचने के लिए हार्निक भी मन के समान ही एक नियमों की सूची प्रस्तुत करता है, जो "विशेष रूप से उपयोगी" है। ये नियम संख्या में ९ हैं और स्वभावतः इनमें मन के बताये हुए उपायों के साथ काफी समानता

१. १६३८ में मेन्ज नगर में जन्म हुआ। वियना में कानून का अध्ययन किया और वकालत की। बाद में पैसाउ के कार्डिनल की नौकरी में रहा।

है। पर साथ ही इन दोनों में और अलग-अलग बातों पर दिया गया है, जो मनोरंजक है। संक्षेप में हार्निक के व्यापारवाद का कार्यक्रम निम्नलिखित बातों से बना हुआ है—(१) देश की भूमि का अधिक से अधिक उपयोग किया जाना चाहिए। भूमि का कोई टुकड़ा ऐसा न छूटना चाहिए, जिसकी देखभाल न की गयी हो। भूमि में सब प्रकार के पौधे उगाने का परीक्षण किया जाना चाहिए और सबसे बढ़कर, यदि सम्भव हो तो, सोने और चाँदी की खोज की जानी चाहिए। (२) देश के लिए आवश्यक पदार्थ देश में ही तैयार किये जाने चाहिएँ। (३) जनसंख्या की वृद्धि को प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए और लोगों को सुस्त न पड़े रहने देना चाहिए (यह बात ध्यान देने योग्य है कि जनसंख्या को बढ़ाने की बात जर्मन व्यापारवाद की एक अपनी विशेषता है)। (४) सोना और चाँदी जब एक बार देश के अन्दर आ जाय, तो उसे किसी भी काम के लिए और किसी भी दशा में देश से बाहर न जाने दिया जाय। परन्तु उस सोने-चाँदी को जमा करके न रक्खा जाय, अपितु लगातार प्रचलन में रक्खा जाय। (५) देश के निवासियों को अपने देश में तैयार वस्तुओं से ही अपना काम चलाना चाहिए और जहाँ तक सम्भव हो, विदेशी वस्तुओं का प्रयोग नहीं करना चाहिए। (६) और जब बहुत ही आवश्यक हो, तब विदेशियों से वस्तुएँ खरीदी जायँ। परन्तु ये वस्तुएँ अपने माल के बदले में खरीदी जायँ, सोने-चाँदी द्वारा कीमत देकर नहीं। (७) जब अनिवार्य रूप से विदेशी वस्तुओं का आयात करना ही पड़े, तो उन्हें कच्चे अपरिष्कृत रूप में लिया जाय और उनका परिष्कार अपने देश में किया जाय। (८) और इसके विपरीत अपने देश में आवश्यकता से अधिक बची हुई वस्तुओं को दूसरे देशों में बेचने की दिन-रात कोशिश की जाय, किन्तु ये वस्तुएँ तैयार और परिष्कृत रूप में ही बेची जायँ और उनका मूल्य सोने और चाँदी के रूप में ही वसूल किया जाय। (९) जब कोई वस्तु देश में पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हो, तो उसका आयात किसी दशा में न किया जाय, भले ही स्वदेश में मिलने वाली वस्तु घटिया किस्म की और अधिक कीमत की भी क्यों न हो।

संक्षेप में इस कार्यक्रम को उद्धृत करना भी एक व्यर्थ की पुनरावृत्ति होती, यदि इनमें से आठवें उपाय को छठे और सातवें उपाय के साथ रखकर देखने से यह बात प्रकट करने में सहायता न मिलती कि व्यापारवाद एक बिलकुल

ही एकपक्षीय प्रणाली थी और व्यापारवादी यह अनुभव कर पाने में असफल रहे कि अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष में यह बिल्कुल सम्भव है कि हार्निक द्वारा प्रेरित किसी एक राज्य का वास्ता एक ऐसे दूसरे प्रतिद्वन्द्वी से पड़ जाय, जो मन द्वारा प्रेरित हो। इसके अतिरिक्त इतना कथन ही शेष है कि हार्निक एक अत्यन्त कट्टर (अस्क्वोबाउटिस्ट) प्रवृत्तियों का व्यापारवादी लेखक है। उसका आधारभूत गुर, जिससे उसके और सब गुर निकले हैं, वह नियम है जो ऊपर गिनाये हुए नियमों में पाँचवें नम्बर पर है। आत्मनिर्भरता के आदर्श को प्राप्त करने के लिए पहले कदम के रूप में वह विदेशी आयात के चार मुख्य वर्गों का निषेध करने की सिफारिश करता है। वे वर्ग हैं: रेशम, ऊनी कपड़ा, लिलन और फ्रांसीसी माल। केवल इन्हीं वस्तुओं के लिए आस्ट्रियावासी प्रतिवर्ष विदेशियों को कम से कम एक करोड़ थेलर दे देते हैं। यह सोचने की बात है कि यदि इस राशि को केवल एक वर्ष के लिए भी बचा लिया जाय, तो यूरोप का कौन सा देश आस्ट्रिया की बराबरी कर सकेगा। उसका मूलभूत सिद्धान्त यह है कि किसी वस्तु के लिये दो थेलर दे देना अच्छा है, यदि वे दोनों थेलर अपने देश में ही रहने हों, और उसी वस्तु के लिए एक थेलर देना बुरा है, यदि वह थेलर देश से बाहर चला जाना हो। वह बड़ी उदासी और भाग्यवादिता के साथ कहता है: "जो कुछ एक बार बाहर चला जाता है, वह फिर बाहर ही रहता है।" इसके अतिरिक्त यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि यदि इस पहले उपाय का पालन करना प्रारम्भ कर दिया जाय, तो किस प्रकार उसके अन्य सब आदेशों का अपने आप पालन होता चला जायगा। उदाहरण के लिए जनसंख्या को लीजिये। इन वस्तुओं का आयात बन्द करने का परिणाम यह होगा कि बहुत से विदेशी बेकार हो जायेंगे। और करीगर लोग वहाँ जाते हैं, जहाँ उन्हें जीविका प्राप्त हो सके। इसलिए विवश होकर वे आस्ट्रिया में आयेंगे और जनसंख्या की समस्या हल हो जायगी। अन्य प्रश्नों के सम्बन्ध में हार्निक व्यापार वादियों की अधिकारपूर्ण आवाज में बात करता है। यदि विदेशी प्रतियोग्यिता समाप्त हो गयी, तब क्या इस बात का कोई खतरा होगा कि कीमतें अनुचित रूप से ऊँची चढ़ जायें? यदि सरकार सब मामलों की ठीक देखभाल रखे और लोगों को मनमानी करने से रोके, तो ऐसा कोई खतरा न होगा। इसके अतिरिक्त दार्शनिक दृष्टि से विचार करने वाले लोग यह भी सोच सकते

है कि यदि शिकार ही बनना हो, तो विदेशी की अपेक्षा अपने देशवासी का शिकार बनना अधिक अच्छा होगा। फिर फैशनकुमारी के बारे में क्या किया जाय, क्योंकि हमें अन्य देशों के वासियों की भांति ही कपड़े पहनने चाहियें ना ? हार्निक का कथन है कि सबसे अच्छी बात तो यह होगी कि फ़ैशनकुमारी को शैतान के पास भेज दिया जाय, जो कि उसका पिता है। अध्याय को समाप्त करने के लिए यह भाव सचमुच ही बहुत बढ़िया है।

अध्याय ४

प्रकृतिवादी विचारक—क्वेसने और टर्गोट

क्वेसने

अर्थशास्त्रीय सिद्धान्त के इतिहास में फ्रांकोई क्वेसने[1] की स्थिति (१६९४-१७७४) कई दृष्टियों से उल्लेखनीय है। उस मनुष्य का अपना व्यक्तित्व भी बहुत रोचक और आकर्षक था। वह राज-दरबार से सम्बद्ध एक सफल चिकित्सक था। उसने घावों में पीप पड़ने, घावों के सड़ने और बुखारों के सम्बन्ध में बहुत कुछ लिखा है। ६२ वर्ष की आयु में वह अपने आपको अर्थशास्त्रियों के अन्य किसी भी दूसरे विचारक वर्ग की अपेक्षा एक सुसंगठित विचारधारा के नेता के रूप में देख पाने को जीवित रहा। उसकी मृत्यु ८० वर्ष की आयु में हुई। वह अपने शिष्यों के बहुत बड़े समूह का आदरणीय गुरु था, जिनके द्वारा की गयी उसकी प्रशस्तियाँ उस काल के लिए भी बहुत ज्यादती और अतिशयोक्ति-सी प्रतीत होती हैं; जबकि प्रशंसा करने की कला परिश्रमपूर्वक विकसित की गयी थी। क्योंकि क्वेसने ने अर्थशास्त्र को इतनी बड़ी आयु में जाकर ग्रहण किया, इससे स्वभावतः यह बात स्पष्ट हो जाती है कि साहित्य के सम्बन्ध में उसने असाधारण परिश्रम किया था। जैसा कि कई बार कहा जाता है कि उसने बहुत थोड़ा लिखा, वह सत्य नहीं है कि उसने जो कुछ लिखा, वह परस्पर असम्बद्ध और बिखरे हुए रूपों में दिखाई पड़ता है। उसकी विश्व-कोषों के लिए तथा पत्र-पत्रिकाओं के लिए लिखी गयी रचनाएँ ही उपलब्ध हैं; और इससे भी बढ़कर बात यह है कि शायद ही कोई वस्तु उसके अपने नाम से प्रकाशित हुई हो।

इसी परम्परा में एक और बात यह कही जा सकती है कि क्वेसने की प्रवृत्ति

---

१. जन्म १६९४ में मेयर (सीन ए ओआस) में हुआ। पालम-पोम्ब देहात में हुआ और उसने अधिकांश अध्ययन अपने आप किया। एक सफल चिकित्सक के रूप में प्रसिद्ध हो जाने के बाद १७४९ में मादाम द पोम्पादूर का और १७५५ में राजा का चिकित्सक नियुक्त हुआ।

यह रही कि वह अपनी विचारधारा में उन लोगों के दल को सम्मिलित कर ले, जो अपने आपको "अर्थशास्त्री" कहते थे और जिन्हें परवर्ती काल में सर्वसम्मति से "प्रकृतिवादी कहा जाने लगा। यह सत्य है कि प्रकृतिवादियों में भी लोगों के दृष्टिकोण में परस्पर मतभेद था और उनमें से अलग-अलग लोग अलग-अलग बातों पर जोर देते थे परन्तु यह उनके लिए उल्लेखनीय प्रशंसा की बात है कि इस विचारक वर्ग में परस्पर इतनी एकरूपता थी कि उन्हें प्रकृतिवादी नाम के अन्तर्गत सरलता से परिगणित किया जा सकता है; और ऐसा करते हुए व्यक्ति के सामने यह बात नहीं आती कि इस सामूहिक वाक्यांश के पीछे कुछ पृथक्-पृथक् इकाइयाँ भी छिपी हो सकती हैं। परन्तु प्रकृतिवाद की सारी प्रेरणा क्वेसने से ही प्राप्त हुई है और प्रकृतिवादी सिद्धान्त की जितनी भी विशेषताएँ हैं, वे सब उसकी रचनाओं में प्राप्त होती हैं; इसलिए इस अध्याय में हम प्रकृतिवादी सिद्धान्त के समूचे वर्ग के प्रतिनिधि के रूप में मुख्य रूप से केवल क्वेसने के सम्बन्ध में ही विचार करेंगे।

जो भी कोई पाठक क्वेसने का अध्ययन प्रारम्भ करता है, उसे सामान्य विशेषता की तीन बातें अवश्य ही अनुभव होती हैं। पहली बात तो यह है कि यहाँ अर्थशास्त्रीय सिद्धान्त जिस रूप में उपलब्ध होता है, वह एक और अपेक्षाकृत बड़ी वस्तु से निकाला गया अनुमान मात्र है। क्वेसने के लिये और अन्य सब प्रकृतिवादियों के लिये भी अर्थशास्त्र वैल्टनशांग (विश्व-दर्शन) का ही एक अंग था। यहाँ इस जर्मन शब्द का प्रयोग किये बिना काम चलना कठिन है। क्वेसने नैतिकतावादी है, मुख्य रूप से सम्भवतः उसके अर्थशास्त्र के सारे ढाँचे का आधार उसके प्राकृतिक और विधानात्मक कानूनों के दृष्टिकोण में दिखाई पड़ सकता है। यह एक ऐसी धारणा (प्रकृति के शासन की धारणा) थी, जिसके कारण उस विचारक वर्ग को वह नाम दिया गया, जो आज सब जगह प्रचलित है। इसलिये यह आवश्यक है कि प्रकृतिवादी विचारधारा के आर्थिक पहलुओं को कुछ सावधानी से सुलझाकर अलग किया जाय। दूसरी बात यह है कि अपेक्षाकृत विदेशी तत्वों के सम्मिश्रण के बावजूद क्वेसने का यह अधिकार है कि उसे आधुनिक अर्थों में राजनीतिक अर्थशास्त्र का वास्तविक संस्थापक माना जाय। उसने परीक्षणात्मक तत्व को छोड़ दिया। गलत या सही, वह यह अनुभव करता है कि सम्पत्ति की प्रकृति की समस्या और इसकी

उत्पादन की परिस्थितियाँ और इसके वितरण के नियम ऐसी बातें हैं, जिनके सम्बन्ध में वैज्ञानिक और सुनिर्दिष्ट रीति से तर्क किया जा सकता है और उसके द्वारा सार्वभौम सत्यों तक पहुँचने का यत्न किया जा सकता है। तीसरी बात सम्भवतः इसी बात पर एक टिप्पणी या इसका स्पष्टीकरण-सी ही प्रतीत होती है और यह है वह सीमा, जहाँ तक क्वेसने, ऐडम स्मिथ का अग्रदूत-सा प्रतीत होता है। इन दोनों में मतभेद बहुत स्पष्ट हैं और स्वयं ऐडम स्मिथ ने उनको खूब बढ़ा-चढ़ाकर प्रस्तुत किया है, परन्तु इन दोनों की समानताएँ और भी अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। क्वेसने और स्मिथ के मध्य ठीक-ठीक सम्बन्ध के विषय में बहुत कुछ विवेचन किया जा चुका है और ऐसा सुझाव रखने की ओर लोगों का झुकाव रहा है कि यह सम्भव है कि स्मिथ पर क्वेसने का, जिससे फ्रांस की यात्रा में स्मिथ की परिचिति हुई थी, काफी प्रभाव पड़ा हो। परन्तु अब यह बात स्पष्ट हो चुकी है कि ऐडम स्मिथ के विचार की मुख्य रूपरेखाओं का विकास उस समय हुआ था, जब कि वह ग्लासगो में प्रोफेसर था; और यह वह समय था, जब कि उस पर क्वेसने का प्रभाव नहीं पड़ सकता था। क्वेसने और स्मिथ में पायी जाने वाली समानताएँ लगभग निश्चित रूप से इस पूर्णतया स्वाभाविक तथ्य का उदाहरण हैं कि दो स्वतन्त्र अनुसन्धानकर्त्ता भी लगभग एक ही सीमा पर बहुत बार लगभग एक ही प्रकार के निष्कर्षों पर पहुँच जाते हैं।

सबसे पहले और सावधानी के साथ हम प्राकृतिक कानून की मूलभूत बात को लेते हैं। क्वेसने की दृष्टि में संसार में एक ऐसा "कानून" विद्यमान है जो मानवीय गतिविधियों पर भी ठीक वैसा ही शासन करता है, जैसा कि प्रकृति के अन्य अवशिष्ट क्षेत्र में; और अब समस्या यह है कि समाज के उस ढाँचे का पता किया जाय, जो इस प्राकृतिक कानून के अनुकूल हो। यह "द्रुवा नात्युरैल" (प्राकृतिक कानून) जो सबसे अधिक दुरूह धारणा है, आखिर है क्या? यह "द्रुवा लैजीतीम" अर्थात् विधानात्मक कानून से, जो किसी विधान-सभा का एक कृत्य होता है, इस दृष्टि से भिन्न है कि यह तर्क के प्रकाश द्वारा और केवल एक सत्य द्वारा स्वीकार किया जाता है। यह सब लोगों पर बिना किसी दंड के भय के लागू रहता है, जब कि 'द्रुवा लैजीतीम' अर्थात् विधानात्मक कानून को लोग केवल इसलिये मानते हैं क्योंकि उसके साथ दण्ड का भय जुड़ा

रहता है। इस प्रकार 'द्रुवा नात्युरैल' मनुष्य द्वारा निर्मित कानूनों की अपेक्षा कहीं अधिक श्रेष्ठ है और यह बात उन अनेक परस्पर-विरोधी और बेहूदे कानूनों द्वारा सिद्ध हो चुकी है, जो समय-समय पर मनुष्य द्वारा बनाये जाते रहे हैं।[1]

अब हम थोड़ा सा आधार बदलकर एक और अपेक्षाकृत प्रत्यक्ष आर्थिक महत्त्व के प्रश्न पर आते हैं कि किस वस्तु पर मनुष्य का प्राकृतिक अधिकार अर्थात् स्वाभाविक अधिकार है ? मोटे तौर पर यह कहा जाता है कि उसका अधिकार उन वस्तुओं पर है, "जिनका उपभोग करना उसके लिये उचित है" ("propres a sa jouissance") हैं।[2] परन्तु इसकी परिभाषा की जानी चाहिये। प्रत्येक वस्तु पर प्रत्येक व्यक्ति का सैद्धान्तिक अधिकार एक भ्रामक वस्तु है। इसे सीमित करके इस प्रकार कहा जाना चाहिये कि प्रत्येक व्यक्ति का वस्तुओं के उस भाग पर अधिकार है, जिसे वह अपने परिश्रम द्वारा प्राप्त कर सकता है। कोई यह कह सकता है कि चिड़िया को उन सब मक्खियों पर अधिकार है, जो वायुमंडल में नाचती फिरती हैं। परन्तु वस्तुतः चिड़िया का अधिकार उन मक्खियों तक सीमित है, जिन्हें वह पकड़ सकती है। (किन्तु यहाँ मक्खी के अधिकारों का विवेचन नहीं किया गया)।[3] जब मनुष्य समाज में प्रवेश करते हैं, तो वे अपने इस प्राकृतिक अधिकार को बढ़ा लेंगे और उस अधिकार का उपभोग कर पाने की गारन्टी उस दशा में होगी "जब कि उस समाज का संविधान उस व्यवस्था के अनुकूल होगा, जो स्पष्ट रूप से उनके लिए उनके प्राकृतिक अधिकार के आधारभूत कानूनों की दृष्टि से सबसे अधिक लाभदायक हो।"[4] एक और प्राकृतिक अधिकार पर भी जोर देकर स्पष्टीकरण की आवश्यकता है। प्रत्येक व्यक्ति को यह अधिकार है कि वह प्रकृति द्वारा दिये गये प्रत्येक गुण और विशेषता का उपयोग इस शर्त पर कर सके कि वह न तो अपने आपको हानि पहुँचायेगा और न दूसरों को। यद्यपि इस स्थान

---

१. ल द्रुवा नात्युरैल; अध्याय २, पृष्ठ ३६५, ३६६। ओनकन का पूर्ण संस्करण। आगे के भी सब उद्धरण इसी संस्करण में से हैं।

२. वही; अध्याय १, पृष्ठ ३५९।

३. वही; अध्याय २, पृष्ठ ३६६, ३६७।

४. वही; अध्याय ३, पृष्ठ ३६८।

पर यह स्पष्ट नहीं है कि उसे अपने आपको हानि पहुँचाने की अनुमति क्यों नहीं दी गयी।[1] यह स्पष्ट है कि ये स्थापनाएँ आर्थिक दिशा में क्वेसने को कितनी दूर तक ले जाती हैं। उसने निजी सम्पत्ति को श्रम के आधार पर उचित बतलाया है। उसने युगबन्ध (कन्ट्रैक्ट) की स्वाधीनता के सिद्धान्त की स्थापना की है और उसने यह राज्य का मुख्य कर्तव्य बताया है कि वह इन अधिकारों की रक्षा की गारंटी करे। वस्तुतः यह बात इतनी अधिक आधारभूत है कि जहाँ पर सम्पत्ति और स्वतन्त्रता की गारंटी नहीं है, वहाँ पर वस्तुतः कोई सरकार ही नहीं है, बल्कि विशुद्ध अराजकता है।[2]

अब हम मानव-समाज की ओर आते हैं, जो दो प्रकार के कानूनों के आधीन हैं। एक तो 'ल्वा नात्युरैल' (प्राकृतिक कानून) और दूसरे 'ल्वा पोजीतीव' (विधानात्मक कानून)। इनमें से पहले प्रकार के कानून यद्यपि उनकी सत्ता बहुत ऊँची है और उनकी प्रशंसा भी बहुत की गयी है। क्या वे "immuables, et irrefragables et les meilleures lois possibles"—अपरिवर्तनीय, अनुल्लंघनीय और यथासंभव सर्वोत्तम कानून नहीं है ?[3] वे बहुत कुछ धुँधले-से रहते हैं, जबकि पिछले प्रकार के कानून मानव-निर्मित हैं और इसीलिए वे सुनिश्चित रूप से प्राकृतिक कानूनों के अधीन हैं। वस्तुतः विधानात्मक कानूनों का मुख्य कार्य प्राकृतिक कानूनों की घोषणा करना है।[4] पहला विधानात्मक कानून, जो अन्य सब विधानात्मक कानूनों के अन्दर समाया हुआ है, जनता और व्यक्ति को प्राकृतिक ढंग के कानूनों की शिक्षा देने की संस्था के रूप में है[5], यद्यपि यह बड़े खेद की बात है कि इस शिक्षण का पाठ्यक्रम प्रस्तुत नहीं किया गया है। विधानात्मक कानून प्राचीन प्राकृतिक कानूनों से निकाले गये निष्कर्ष या उन पर की गई टिप्पणियाँ भर हैं। समाज के मूलभूत कानून मनुष्यों के हृदयों पर अंकित हैं। वे प्रकाश के रूप में हैं,

---

१. वही; अध्याय ३, पृष्ठ ३७१।

२. वही; अध्याय ५, पृष्ठ ३७४। सम्पत्ति की सुरक्षा और युगबन्ध की स्वतन्त्रता के दो आधारभूत सिद्धान्तों को और अधिक जोर के साथ "माक्सीम जैनेरैल" सामान्य सिद्धान्त में प्रस्तुत किया गया है। देखिये माक्सीम ४ और १३; पृष्ठ ३३१, ३३३।

३. वही; अध्याय ५, पृष्ठ ३७५। ४. वही; अध्याय ५, पृष्ठ ३७६।

५. वही; अध्याय ५, पृष्ठ ३७५।

जो मनुष्यों की अन्तरात्मा को प्रकाशित करता है। इन प्राकृतिक कानूनों की तुलना में विधानात्मक कानूनों का क्षेत्र उनकी व्याख्या करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं रहता। इस प्रकार विधानात्मक कानून अनिवार्य रूप से प्राकृतिक कानूनों के आधीन हैं और उनको वहीं तक लागू किया जाना चाहिये जहाँ तक कि वे इन अन्य अनिवार्य प्राकृतिक कानूनों के अनुकूल हों और उन्हें कठोरतापूर्वक इन कानूनों के अधीन ही रखा जाना चाहिए। इसलिए ये कानून मनमानी संस्था के कानून नहीं हैं और कोई भी विधान-निर्माता उनको केवल अपनी सत्ता के जोर से उसकी अपेक्षा अधिक न्यायोचित नहीं बना सकता जितने कि वे अपने साररूप में न्यायोचित हैं।[1]

"प्राकृतिक कानून" की सूक्ष्मताओं का और अधिक विवेचन राजनीतिक दार्शनिक के लिये छोड़ दिया जा सकता है, क्योंकि वह वस्तुतः उसी का विषय है। यहाँ हमारा सम्बन्ध केवल क्वेसने के सामान्यीकृत सिद्धान्तों के आर्थिक पहलुओं से है। यह स्पष्ट है कि क्वेसने किस दिशा में बढ़ रहा है। विधान-निर्माता की कला केवल इस बात में है कि वह इस मूढ़ संसार के लिये प्राकृतिक कानूनों की व्याख्या कर दे (हालांकि यह जानने के लिये उत्सुक होना बहुत भला नहीं है कि आखिर वे प्राकृतिक कानून हैं क्या ?)। अच्छे कानून की कसौटी यह है कि विधानात्मक कानून किस सीमा तक अपने धुँधले आदर्शों अर्थात् प्राकृतिक कानूनों का सच्चा प्रतिबिम्ब बन पाये हैं। यह स्पष्ट है कि विधानात्मक कानूनों का प्राकृतिक कानूनों से विरोध बिलकुल नहीं होना चाहिये, लेकिन साथ ही यह भी स्पष्ट है कि बाहरी टीमटाम और सजावट न्यूनतम की जानी चाहिये। संक्षेप में एक बार इन शाश्वत और अपरिवर्तनीय कानूनों की झलक दिखा देने के बाद जितना कम कानून बनाया जाय, उतना ही भला है। इस प्रकार अत्यन्त उच्च निराकार आधारों पर (भाव-भूमि पर) हम हस्तक्षेप के महान् सिद्धान्त तक आ पहुँचते हैं। यही सिद्धान्त यथेच्छाचारिता की नीति या लैस्से फेयर, लैस्सेपासर का सिद्धान्त है, जिसे प्रकृतिवादियों ने शेष संसार को प्रदान किया है। सरकार का यह कर्तव्य है कि वह समाज की रक्षा का ध्यान रखे, क्योंकि समृद्धि (जो देखने में एक बहुत ही आसान

१. देखिए "ल देस्पोतिज्म द ला शीन" अध्याय ८, और विशेष रूप से अनुच्छेद ६ और ११, पृष्ठ ६४२, ६५१।

मामला दिखाई पड़ता है) केवल भूमि पर खेती करने पर निर्भर है और चोरों और डाकुओं की रोकथाम पर निर्भर है; इसलिये बदमाशों की रोकथाम के के लिये विधानात्मक कानून बनाना आवश्यक होगा।[1] परन्तु यदि विधानात्मक कानून आक्रमण से रक्षा और बदमाशों की रोकथाम और दैनिक प्रशासन से आगे बढ़ने की कोशिश करता है, तो क्या वह यह दावा कर सकता है कि वह शाश्वत कानून का प्रतिबिम्ब मात्र है ? इस जगह स्वच्छन्द व्यापार की पवित्रता और सरकारी निष्क्रियता द्वार पर आ खड़ी होती हैं।

प्राकृतिक व्यवस्था की खोज के परिणामस्वरूप आर्थिक क्षेत्र में कृषि की प्रशंसा की जाने लगती है, जो प्रकृतिवादी सिद्धान्तों में सबसे अधिक लोक-परिचित सिद्धान्त है। केवल इतना ही सत्य नहीं है, जैसा कि क्वेसने ने जोर देकर कहा था और शायद वह ठीक भी था कि केवल कृषिप्रधान राष्ट्र ही स्थिर और स्थायी साम्राज्यों का निर्माण कर सकते हैं[2], अपितु कृषि अपने आप में सम्पत्ति का एक मात्र स्रोत है। प्रकृतिवादी लोगों ने कृषि को जो इतना अधिक बढ़ा-चढ़ा कर महत्त्व दिया, उसका मूल कारण तो यह था कि उस समय फ्रांस को कृषि की बहुत आवश्यकता थी और अंशतः यह व्यापारवाद के उस दौर की, जिसमें निर्माण को बहुत अधिक महत्त्व दिया गया था, प्रतिक्रिया भी थी। व्यापारवाद का समर्थन कोलबर्ट ने इतने उत्साह से किया था कि फ्रांसीसी भाषा में कोलबर्टवाद व्यापारवाद का पर्यायवाची शब्द बन गया था। फिर भी प्रकृतिवादियों ने अपनी इन स्वाभाविक पसन्दों के लिए सैद्धान्तिक आधार ढूंढने की कोशिश की, जिसके कारण वे इतनी बुरी तरह उलझते चले गये कि उन उलझनों से बाहर निकल पाना असम्भव हो गया; क्योंकि उन्होंने यह सिद्ध करने की चेष्टा की कि केवल कृषि ही सारे समाज की सम्पत्ति को उत्पन्न करती है और इस उत्पादनशील गतिविधि के ठीक विपरीत अन्य सारे पेशे, चाहे वे कितने ही प्रशंसनीय और आवश्यक क्यों न हों, "अनुत्पादनशील" और "अनुपजाऊ" हैं। क्वेसने का कथन है कि "कृषि सारे राज्य की सारी

---

१. ल दूवा नात्युरेल; अध्याय ५, पृष्ठ ३७५। देस्पोतिज्म द ला शीन; अध्याय ८, अनुच्छेद ६, पृष्ठ ६४२।

२. देस्पोतिज्म द ला शीन; अध्याय ८, अनुच्छेद १२, पृष्ठ ६४७।

सम्पत्ति और सब नागरिकों की सम्पत्ति का मूल है।"[1] साथ ही "वह प्रत्येक वस्तु, जो कृषि के लिए हानिकारक है; और वह प्रत्येक वस्तु, जो कृषि के अनुकूल है, राज्य और राष्ट्र के लिए भी लाभदायक है।"[2] यह सब केवल जैनोफन और सिसरो की अस्पष्ट सामान्य बातों की प्रतिध्वनि मात्र नहीं है। अन्य आर्थिक गतिविधियों की अपेक्षा कृषि की उच्चता इन अन्य व्यवसायों की आधीनता पर इस प्रकार टिकी हुई है कि उसे सिद्धान्ततः प्रदर्शित किया जा सकता है। क्वेसने के सबसे प्रारम्भिक लेखों में, जो 'फर्मेस' (खेतों) और 'ग्रेन्स' (अनाज) के सम्बन्ध में लिखे गये थे, इस स्थिति का वर्णन जोरदार शब्दों में किया गया है :

"कृषि और वाणिज्य इन दोनों को बहुत समय से हमारी सम्पत्ति के दो स्रोत माना जाता रहा है। वाणिज्य भी उद्योगों की भाँति कृषि की केवल एक शाखा मात्र है। ये दोनों ही स्थितियाँ केवल कृषि के आधार पर ही टिकी रहती हैं। उद्योग और वाणिज्य दोनों के लिये कृषि ही कच्चा माल जुटाती है और इन दोनों पर होने वाले व्यय का भुगतान करती है। परन्तु ये दोनों शाखाएँ अपना लाभ फिर कृषि को वापस दे देती हैं, जो प्रतिवर्ष खर्च होने वाली और उपभोग की जाने वाली सम्पत्ति को नये सिरे से तैयार करती है।"

(ग्रेन्स; पृष्ठ २१६)

वस्तुतः क्वेसने कई जगह इस प्रकार बातें करता है, जैसे वाणिज्य करने वाला वर्ग राष्ट्र का कोई भाग हो ही नहीं। उसका कथन है कि एक कृषि-प्रधान और वाणिज्य-प्रधान मिश्रित राज्य में दो ऐसे अलग-अलग राष्ट्र परस्पर मिले रहते हैं, जो एक दूसरे से बिल्कुल पृथक् हैं। कृषिप्रधान भाग "समाज का मूल भाग" है, दूसरा भाग तो केवल एक बाहर से जोड़ दिया गया भाग मात्र है, जो बाहरी वाणिज्य के सामान्य गणतन्त्र का एक अंग है।[3] वह घूम-फिर कर फिर एक विचार पर आ पहुँचता है कि वाणिज्य करने वाला वर्ग अन्य सब राष्ट्रों से भिन्न एक अलग ही जाति है, जो एक दृष्टि से अपने आप में एक अलग ही वर्ग बन गया है। "Nos commercants sont aussi les

---

१. माक्सीम जेनेरेल; नं० १, पृष्ठ, ३३१।

२. ऐनेलीस द्यु तावलो इकोनोमीक; पृष्ठ ३१६; परन्तु जिसे पासिम भी कहा जा सकता है।

३. वही; पृष्ठ ३२१।

commercants des autres nations; les commercants des autres nations sont aussi nos commercants." "हमारे व्यापारी दूसरे देशों के भी व्यापारी हैं; दूसरे देशों के व्यापारी हमारे भी व्यापारी हैं।"[1] जैसा इस विषमता को दृष्टि में रखते हुए बिलकुल स्वाभाविक है, क्वेसने इसे गलत नीति समझता है कि अनाजों को सस्ता करके या इसी प्रकार के अन्य उपायों द्वारा ग्रामों के खर्च पर शहर के निवासियों के प्रति कृपा प्रदर्शित की जाय। इस प्रकार "On desole les campagnes, qui sont la source des vraies richesses de l'Etat."[2] "इस प्रकार देहात, जो राज्य की वास्तविक सम्पत्ति का स्रोत है, उजड़ जाता है।"[1]

एक ओर तो कृषि, और दूसरी ओर उद्योग और वाणिज्य में और भी अन्तर इस तथ्य के द्वारा प्रकट होता है कि इनमें से पहले में तो कुछ अतिरिक्त लाभांश बच रहता है, जब कि दूसरे अर्थात् उद्योग और वाणिज्य केवल अपना खर्च भर निकाल पाते हैं। यह अतिरिक्त लाभांश वह प्रसिद्ध "प्रोदूई ने" अर्थात् शुद्ध उपज है, जो कृषि-कार्यों में प्रकृति की सर्वोत्तम सहायता के चिह्न के रूप में प्राप्त होता है। क्वेसने के सिद्धान्त के अनुसार कृषि कई प्रकार के अग्रिम खर्चों (एडवांस) द्वारा (भूमि के रूप में अग्रिम खर्च, आदिम कालीन अग्रिम खर्च और वार्षिक अग्रिम खर्च) सम्पन्न होती है, जिनमें से कुछ अग्रिम खर्च तो भूमि के मालिक पर पड़ते हैं और कुछ किसान पर। परन्तु जब सारे अग्रिम खर्च पूरे किये जा चुकते हैं और किसान लोग उतना भाग ले चुके होते हैं, जो कि उनके अपने निर्वाह के लिये आवश्यक है और जिसके द्वारा वे अपने वार्षिक खर्चों को पूरा कर सकते हैं, तो उसके बाद भी कुछ वस्तु बची रह जाती है। यही वह "प्रोदूई ने"[1] (भाटक या भाड़ा) है, जो भूमि के मालिक से प्राप्त होता है। वस्तुतः यह "प्रोदूई ने" ही राष्ट्र का वास्तविक राजस्व है, और यही वह वस्तु है, जो किसी न किसी रूप में निर्माण-कार्यों में और वाणिज्य-कार्यों में लगे हुए वर्गों का पालन-पोषण करती है। इस प्रकार हमारे सामने वर्गों का तिहरा विभाजन हो जाता है, जो प्रकृतिवादियों को बहुत प्रिय है। सब से

---

१. वही; पृष्ठ ३२८।

२. फर्मिये; पृष्ठ १८०।

३. एनेलीस द्यु तावलो इकोनोमीक; पृष्ठ ३०४, ३०१।

पहले तो एक भूस्वामियों का वर्ग है, जिनको "प्रोथूई ने" का भुगतान किया जाता है, और जिनकी सेवाएं भूमि के रूप में अग्रिम खर्च (प्रावांस फौंसिये) करने के रूप में, और इसके अतिरिक्त उन थोड़े से सामान्य और सामाजिक कर्तव्यों को करने के रूप में होती हैं, जो उन पर आ पड़ते हैं। दूसरा वर्ग उत्पादनशील वर्ग है, जो भूमि पर खेती करता है; और तीसरा वर्ग उन लोगों का है, जो सब एक शीर्षक के नीचे एकत्र कर दिये गए हैं और जो शीर्षक अनेक क्षमा-याचनाओं के बावजूद बहुत कुछ चोट पहुँचाने वाला और अपमानजनक-सा शब्द है और वह है "अनुत्पादनशील" या अनुर्वर वर्ग। यदि ठीक-ठीक कहा जाय, तो एक चौथा वर्ग भी है; और वह है मजदूरी करने वालों का वर्ग, परन्तु प्रकृतिवादियों के वर्गीकरण में उनका कोई बड़ा स्थान नहीं है।

समाज के इन अनुत्पादनशील वर्गों की अनुर्वरता के स्पष्टीकरण के सम्बन्ध में दो-चार शब्द और कह देना आवश्यक है। जहाँ तक वाणिज्य का प्रश्न है, इस सम्बन्ध में कोई कठिनाई नहीं है। यह दृष्टिकोण कई प्रकार से बहुत कुछ सीधे-सादे मानव-मन की सहज प्रवृत्तिज प्रतिक्रिया से मिलता-जुलता है। जो मनुष्य केवल विनिमय करता है, वह "उत्पादन नहीं करता" और क्वेसने इस दृष्टिकोण को एक युक्तिसंगत निष्कर्ष तक ले जाता है कि वाणिज्य द्वारा किया गया क्रय-विक्रय केवल "समान मूल्य से समान मूल्य का विनिमय मात्र है, जिसमें किसी भी एक पक्ष को न तो लाभ होता है और न हानि।"[1] व्यापारी केवल सम्पत्ति का एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक स्थानान्तरण मात्र करता है। किसान लोग तो वस्तुओं के मूल्य का भुगतान उन वस्तुओं के द्वारा कर सकते हैं, जो उन्हें उस प्रकृति से प्राप्त हुई हैं, जो किसानों के परिश्रम के फलस्वरूप उत्पादनशील बन गई होती है; परन्तु व्यापारी लोग किसी भी वस्तु का भुगतान केवल उन वस्तुओं द्वारा कर पाते हैं, जिसके लिये उन्हें पहले भुगतान किया जा चुका होता है। "ils sont payes pour payer." अर्थात् "उन्हें इसलिये भुगतान कर दिया जाता है, जिससे वे आगे भुगतान करने में समर्थ हो सकें।" इन दोनों में अन्तर वेतनदाता (लैंसेलेरियां) और वेतनभोगी (लैंसेलेरिये) का है। या दूसरे शब्दों में, जिनका प्रयोग बहुत किया गया है, अनुत्पादनशील वर्ग क्लास्स स्ती-

१. सु कामर्स; पृष्ठ ४५८।

पैंन्दिये (वेतनजीवी वर्ग) है। इसका पालन-पोषण और निर्वाह दूसरे वर्ग के द्वारा ही होता है।[1]

औद्योगिक और निर्माण में लगे हुए वर्गों के सम्बन्ध में भी युक्ति बहुत कुछ इससे मिलती-जुलती ही है, यद्यपि यह अनिवार्य रूप से जबरदस्ती थोपी हुई और अस्वाभाविक प्रतीत होती है। किसी भी पदार्थ का सामान्य मूल्य केवल मूल सामग्री का मूल्य और उस कारीगर के केवल उस समय के निर्वाह का व्यय मात्र है, जितने समय के लिए उसे उस वस्तु को बनाने के लिए नियुक्त किया गया था।[2] यदि कारीगर का कार्य उत्पादनशील होता, तो यह अभीष्ट होता कि किसी भी काम को पूरा करने के लिये आवश्यक कार्य की मात्रा को बढ़ा दिया जाय।[3] परन्तु वस्तुतः इस प्रकार का श्रम उस सम्पत्ति में वृद्धि नहीं कर सकता, जिसे राष्ट्र प्रतिवर्ष खर्च करता है, क्योंकि श्रम इस सम्पत्ति की मात्रा द्वारा सीमित रहता है और यह सम्पत्ति केवल कृषि द्वारा बढ़ाई जा सकती है और कारीगरों के काम पर किये जाने वाले व्यय द्वारा किसी भाँति नहीं बढ़ाई जा सकती। (यह युक्ति ऐसी है कि जिसके आगे फिर प्रश्न किया जा सकता है; परन्तु उसका अभिप्राय यह है कि, उदाहरण के लिए चमारों की संख्या को बढ़ाने के लिए पहले पशुओं के चमड़ों की संख्या में वृद्धि करना आवश्यक होगा; और सम्भवतः इस दृष्टि से इस युक्ति का कुछ मूल्य भी हो)[4]।

---

१. वही; पृष्ठ ४७१।

२. स्युर ले त्रावो देजार्तीसां; पृष्ठ ५३७।

३. वही; पृष्ठ ५३२।

४. वही; पृष्ठ ५३१। क्योंकि यह युक्ति का सारांश है इसलिये यहाँ उसके ठीक-ठीक शब्द दे देने उचित हैं : "Ces travaux ne peuvent donc accroitre les richesses que la nation depense annuellement, puisqu'ils sont eux-memes limites par la mesure de ces richesses, qui ne peuvent s'accroitre que par les travaux de l'agriculture et non par les depenses des travaux des artisans."

"इसलिये यह श्रम उस सम्पत्ति को बढ़ा नहीं सकता, जिसे राष्ट्र प्रतिवर्ष खर्च कर रहा है, क्योंकि श्रम अपने आप में उस सम्पत्ति की मात्रा द्वारा सीमित रहता है, जो केवल कृषि सम्बन्धी श्रम द्वारा बढ़ाई जा सकती है और कारीगरों के कार्य पर होने वाले व्ययों द्वारा नहीं बढ़ाई जा सकती है।"

तब कारीगर द्वारा तैयार की गयी वस्तु का मूल्य केवल उतना है, जितना कि उस पर व्यय किया गया है। वह केवल उस सम्पत्ति के उपभोग में हिस्सा बँटाने का अधिकार मात्र प्राप्त करता है, जो किसान द्वारा उत्पन्न की गयी है। कृषि के विपरीत निर्माण-कार्य में किसी प्रकार का अतिरिक्त लाभ (सरप्लस) नहीं है। उसके अपने शब्दों में, जो ठीक भी हैं, कारीगर केवल अपने "निर्वाह मात्र का उपार्जन" करने की बात करता है। वह यह नहीं कहता कि वह सम्पत्ति का उत्पादन कर रहा है : "il dit qu'il *gagne* sa subsistance, et ne dit pas qu'il la produit." ("वह कहता है कि वह अपने निर्वाह मात्र का उपार्जन कर रहा है और वह यह नहीं कहता कि वह उसका उत्पादन कर रहा है।"[1]) इस प्रकार ऐसी युक्तियों द्वारा, जो बहुत दुर्बल और अविश्वासोत्पादक मालूम होती हैं, जैसा कि किसी भी उलझे हुए पक्ष के समर्थन में दी जाने वाली युक्तियों का होना अनिवार्य है, क्वेसने ने इस बात को सिद्ध कर दिया है कि कारीगर और औद्योगिक मजदूर अनुत्पादनशील श्रमिक हैं।[2]

उत्पादनशील और अनुत्पादनशील श्रम के बीच किया गया भेद प्रकृतिवादियों द्वारा आर्थिक जगत् को दी गयी अनेक परम्पराओं में से सबसे अधिक थकाने और ऊबाने वाली वस्तु थी। कम से कम दो पीढ़ियों तक इन विषयों पर लिखने वाले प्रत्येक लेखक ने अपने लिए यह आवश्यक अनुभव किया कि वह इस बात का उल्लेख करे और इस भेद को किसी प्रकार युक्तिसंगत ठहराने की कोशिश करे, जो कि वस्तुतः बिलकुल ही अयुक्तिसंगत था। प्रकृतिवादियों ने जिस रूप में स्थिति को अभिव्यक्त किया है, उसका बचाव किसी प्रकार नहीं किया जा सकता। कृषि सम्बन्धी श्रम तथा अन्य पेशों में किए जाने वाले श्रम में कोई ऐसा स्पष्ट भेद नहीं है, जिसके आधार पर पहले प्रकार के श्रमिकों को अनुत्पादनशील कहा जा सके। यह एक भले ही पुराना किन्तु उपयोगी गुर है कि उत्पादन तब तक पूर्ण नहीं माना जा सकता, जब तक कि पदार्थ चाहे वह

१. रैपोंस आ मैमोआर द ऐम० ऐच० पृष्ठ ३९०।

२. जो पाठक इस संक्षिप्त सारांश में कुछ अस्पष्टता अनुभव करें, वे "रैपोंस आ मैमोआर द ऐम० ऐच०" के पृष्ठ ३८४ से ३९५ और "स्युर ले त्रावो देआर्तिसाँ" नामक संवाद के पृष्ठ २५६ को देखें, जहां इस बात का विवेचन अत्यधिक प्रकृतिवादी सूक्ष्मता के साथ किया गया है।

कुछ भी क्यों न हो, उपभोक्ता के हाथों में या उसकी मेज पर नहीं पहुँच जाता। यदि हम रोटी माँगें, किसान, चक्की चलाने वाला, रोटी बनाने वाला, और रोटी बनाने वाले का नौकर (यदि उसके बिना काम न चल सकता हो), सबके सब समान रूप से हमारी आवश्यकता को पूर्ण करते हैं। इस जीवन में जिस बात की आवश्यकता है, वह है उचित समय पर, उचित स्थान में उचित वस्तु को पहुँचाना; और वे सब लोग, जो इस अभीष्ट लक्ष्य को प्राप्त कराने में सहयोग देते हैं, आर्थिक दृष्टि से, कम से कम सम्बन्ध में, एक ही प्रकार का काम कर रहे होते हैं। इसके अतिरिक्त, यह युक्ति कि कृषि में भाटक के रूप में "प्रोदुई ने" (शुद्ध उपज) पैदा होती है, जबकि और किसी उद्योग में अतिरिक्त लाभ (सरप्लस) नहीं होता, बिलकुल हेत्वाभास है। परन्तु यह एक ऐसा विषय है, जिसके ऊपर रिकार्डो अधिक अच्छी तरह विचार कर सकता है।

इस स्थान पर हम उचित रूप से "ताबलो इकोनोमीक" (अर्थशास्त्रीय तालिका) का उल्लेख कर सकते हैं, जिसे हमें करना ही होगा। अपने समय में यह "ताबलो इकोनोमीक" क्वेसने और प्रकृतिवादी विचारक वर्ग की सबसे बड़ी सफलता समझी जाती थी; परन्तु अब इसका मूल्य एक मामूली 'फुटनोट' से अधिक नहीं रह गया है। यद्यपि श्री द्युपों ने हमें बताया है कि "ताबलो इकोनोमीक" केवल उन लोगों को अस्पष्ट प्रतीत होती है, जिनमें वस्तुओं को समग्र रूप से समझ पाने की शक्ति नहीं होती, फिर भी इसमें सन्देह है, कि यह "ताबलो इकोनोमीक" कभी भी एक विशाल रहस्यपूर्णता की अपेक्षा कुछ भी अधिक वस्तु बन पायेगी; एक ऐसा विषय, जिसके सम्बन्ध में आलोचक बहुत सावधानी से बातें करते हैं, क्योंकि उन्हें इस अनुभूति के कारण बेचैनी होती रहती है कि वे जिस विषय के सम्बन्ध में बात कर रहे हैं, उसे वे बिलकुल ही नहीं समझ रहे हैं। क्वेसने की इस सर्वोत्तम कृति के सम्बन्ध में प्रकृतिवादियों का रुख अत्यधिक प्रशंसापूर्ण था। मिराबो (ज्येष्ठ) की दृष्टि में संसार के प्रारम्भ से लेकर तीन महान् आविष्कार हुए थे। लेखन का आविष्कार, पैसे का आविष्कार और "ताबलो इकोनोमीक"। यद्यपि मिराबो प्रशस्ति की सबसे ऊँची सीढ़ी पर आ चढ़ा, परन्तु दूसरे प्रकृतिवादी भी ऐसी भविष्यवाणियाँ करने में बहुत पीछे नहीं रहे कि भावी मानव-सन्तति क्वेसने के इस सर्वोच्च आविष्कार से असीम लाभ उठायेगी।

"ताबलो इकोनोमीक" के पीछे जो विचार विद्यमान हैं, उनका स्पष्टीकरण करना अपेक्षाकृत सरल है, किन्तु यह पाना कठिन है कि यह "ताबलो इकोनोमीक" उन विचारों को अभिव्यक्त किस प्रकार करती है। पहली बात, जैसा कि तुर्गो ने भी कहा है कि इससे पहले तक अर्थशास्त्र एक केवल कल्पना-अनुमान का ही विषय था, जिसमें केवल अनुगमन विधि द्वारा ही तर्क किया जा सकता था; परन्तु "ताबलो इकोनोमीक" ने अर्थशास्त्र को एक शुद्ध विज्ञान बनाने का प्रयत्न किया (या कहा जा सकता है कि उसने इस बात की सम्भावना का आभास मात्र दिया कि ऐसा प्रयत्न किया जा रहा है) इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि "ताबलो इकोनोमीक" में, प्रकृतिवादी सिद्धान्त के पारिभाषिक शब्दों में, किसी भी समाज में सम्पत्ति के प्रभाव के मार्ग को खोजने का यत्न किया गया था, जिसका व्यावहारिक उद्देश्य यह था कि समाज के स्वास्थ्य की ठीक-ठीक जांच-पड़ताल और निश्चय किया जा सके। इस प्रकार यह "ताबलो इकोनोमीक" सरकार के हाथों में एक साधन के रूप में प्रयुक्त की जानी थी, "la boussole du gouvernement des etats" "राज्य प्रबन्ध के परिधि-मापक के रूप में।" यदि हम यह मान लें कि "प्रोदुई ने" अर्थात् शुद्ध उपज वार्षिक विनियोग (आवांस एन्युऐल) का सौ प्रतिशत भाग है, अर्थात् उत्पादनशील वर्ग में बांटे गये २००० लीवरों के विनियोग द्वारा भूमि के मालिकों को सारे खर्च निकालने के बाद २००० लीवरे बच रहते हैं, तो समस्या यह है कि इन २००० लीवरों का आगे का इतिहास खोज निकाला जाय। क्वेसने यह मानकर चला है कि इसमें से आधी राशि तो उत्पादनशील वर्गों को वापस मिल ही जायगी; और यह १००० लीवरे की राशि फिर १००० लीवरे की शुद्ध उपज प्रदान करेगी। शेष आधी राशि अनुर्वर वर्गों में चली जायगी, परन्तु वे फिर उसका आधा भाग अर्थात् ५०० लीवरे उत्पादन करने वालों को वापस दे देंगे। इस प्रकार हम एक विसर्प (जिगजैग) मार्ग पर आगे बढ़ते जाते हैं और राशियों को २ से भाग देते आते हैं।

क्वेसने ने ऊपर जिस मामले को मानकर अपनी स्थापना बनायी है, उसमें सारी प्रक्रिया के अन्त में एक जगह समतुलन (ईक्विलिब्रियम) आ जाता है। यह एक ऐसी दशा है, जिसमें पहुँचकर न तो कोई वृद्धि होती है और न ह्रास। यदि राष्ट्रीय आय का कोई अनुचित भाग दायीं ओर को अर्थात् अनुत्पादनशील वर्गों

की ओर को भेज दिया जाता है, तो एक अस्वास्थ्यकर दशा उत्पन्न हो जाती है और उस राज्य के पतन का भय होने लगता है। यद्यपि यह स्वीकार किया गया है कि यह तालिका विभिन्न प्राप्त आंकड़ों और कल्पनाओं के अनुसार बदलती रहेगी; और यह कि "प्रत्येक विभिन्न मामले में परिणाम भिन्न रहेगा"[1], फिर भी इस तालिका को किसी भी समाज की विशिष्ट परिस्थितियों पर लागू करने का कोई प्रयत्न किया गया प्रतीत नहीं होता (और न सम्भवतः कोई प्रयत्न किया ही जा सकता है।) यदि यह मान लिया जाय कि यह तालिका एक औजार (outil) थी, जैसा कि प्रकृतिवादियों का कथन था, तो यह एक ऐसा औजार थी, जिसका कोई उपयोग करने का उन्होंने प्रयत्न नहीं किया। परन्तु यह विचार, कि सम्पत्ति समाज के अन्दर एक प्रवाह के रूप में बहती है और समाज का स्वास्थ्य इस बात पर निर्भर है कि सम्पत्ति का प्रवाह किस दिशा में और किस प्रकार का है, और सम्पत्ति का स्वास्थ्य इस सम्पत्ति के प्रवाह के किसी दिशा में अनुचित रूप से मुड़ जाने के कारण खतरे में पड़ सकता है, अपने आप में एक उपयोगी धारणा थी। "ताबलो इकोनोमीक" का वास्तविक महत्त्व केवल इतना ही है; अन्यथा किसी आर्थिक पुरातत्त्वविद् की रुचि की बात छोड़कर बाकी लोगों के लिये इस गोरखधन्धे (जिगजैग) का विस्तृत अध्ययन करना भी अनुत्पादनशील श्रम का ही एक उदाहरण मात्र है।

समाज के विभिन्न वर्गों के पारस्परिक सम्बन्धों के विषय में इस सामान्य दृष्टिकोण के कारण कृषि का प्रोत्साहन प्रकृतिवादियों की नीति का मुख्य अंग बन गया था। कृषि लाभदायक ढंग से की जा सके, इसके लिये क्वेसने की दृष्टि में यह आवश्यक है कि यह बड़े पैमाने पर की जाय। "फर्मिये" और "ग्रेन्स" के सम्बन्ध में उसके पहले दो लेखों में यही बात लगातार बार-बार दुहरायी गयी है। सच तो यह है कि यह कहना अतिशयोक्ति न होगा कि उसका लक्ष्य कृषि को भी औद्योगिक रूप प्रदान कर देना है। वह बार-बार कृषि में पूंजी की आवश्यकता पर और धनी किसान के महत्त्व पर जोर देता है। किसान (फर्मिये) केवल एक ऐसा श्रमिक न होना चाहिये, जो स्वयं भूमि पर खेती करता है, अपितु उसे एक नवारम्भकर्त्ता और प्रबन्धक होना चाहिये; "entre-

---

१. ऐनेलीज डु ताबलो इकोनोमीक; पृष्ठ ३११,३१६।

preneur qui gouverne" ।[1] इसी प्रकार निषेधात्मक रूप में, निर्माण-कार्यों को कृषि के खर्च पर प्रोत्साहित न किया जाना चाहिये। इस सबसे बढ़ कर क्वेसने की दृष्टि में कृषिज उपज की कीमतों को ऊँचा रखना बुद्धिमत्तापूर्ण है और जीवन-निर्वाह के साधनों की कीमतों को गिराकर निर्माण-कार्यों को प्रोत्साहन देना घातक है।[2] उसके कृषि के सम्बन्ध में लिखे गये विस्तृत विवरण उसके अपने विशिष्ट काल से ही सम्बद्ध हैं और इसलिये उनकी चर्चा करना हमारे लिये यहाँ व्यर्थ है।

परन्तु जब क्वेसने स्वच्छन्द व्यापार का समर्थन करता है और व्यापार-वादियों की मान्यताओं का विश्लेषण करता है, तब बहुत स्पष्ट रूप में उसकी आवाज बिलकुल ऐडम स्मिथ की-सी जान पड़ती है। पैसे को इसलिये सम्पत्ति समझा जाता है, क्योंकि पैसे के द्वारा व्यक्ति अपनी आवश्यकता की वस्तुएं खरीद सकता है। परन्तु पैसा यों ही मुफ्त में नहीं मिल जाता; इसके लिये भी उतना ही मूल्य चुकाना पड़ता है, जितना कि पैसे का मूल्य खरीदार के लिये है। राष्ट्रों को, वे जितना चाहें, पैसा मिल सकता है, बशर्ते कि उनके पास विनिमय में देने के लिये वस्तुएँ हों। सम्पत्ति जीवन के लिये आवश्यक वस्तुओं, और उनके वार्षिक उत्पादन के सर्वयोग का नाम है। पैसे की मात्रा न घटे; क्योंकि किसी भी सम्पन्न देश में जहाँ व्यापार स्वच्छन्द हो, पैसे का स्थान ले लेने के लिये अन्य साधन विद्यमान रहते हैं। इसलिये किसी राज्य की समृद्धि उस राज्य के पास विद्यमान पैसे की कमी या अधिकता के द्वारा नहीं जांची जानी चाहिये। इसलिये पैसा अपने आप में एक अनुर्वर धन है (रिचैस स्टराइल), जिसका एक मात्र उपयोग यह है कि उसे खरीदने और बेचने के काम में प्रयुक्त

---

१. ओन्सः पृष्ठ २१६।

२. देखो माक्सीम दु गुवर्नेमा इकोनोमीक (नं० ६)। यह ओन्स के लेख के साथ लगा हुआ है। पृष्ठ ३२७। साथ ही देखो, 'फर्मिये' पृष्ठ १८०। क्वेसने ने अपने अठारहवें सामान्य गुर में अपनी स्थिति को संक्षेप में वर्णित किया है। "Abondance et non-valeur n'est pas richesse. Disette et cherte est misere. Abondance et cherte est opulence." P. 335. अर्थात् बाहुल्य और अनुत्पादनशीलता सम्पत्ति नहीं है, स्वल्पता और महँगाई दरिद्रता है, बाहुल्य और महँगाई समृद्धि है।" पृष्ठ ३३५।

किया जा सकता है।"[१] इसके साथ ही खरीदना और बेचना एक ही क्रिया के दो पहलू हैं। प्रत्येक खरीद एक बिक्री है और प्रत्येक बिक्री एक खरीद है। इससे यह परिणाम निकलता है कि व्यापारवादियों का यह केन्द्रीभूत विचार, कि कोई राज्य जितना खरीदता है, उसकी अपेक्षा अधिक बेचता रहे, न केवल गलत है, बल्कि बेहूदा भी है। "यह कहने के बजाय कि तुम हमारी बिक्री को हमारी खरीद की अपेक्षा अधिक रखना चाहते हो, जो कि भौतिक दृष्टि से असम्भव है, तुम्हें केवल यह कहना चाहिये कि तुम अपनी तैयार की हुई सामग्री के द्वारा पैसे को खरीदना चाहते हो।"[२] एक स्पष्ट वाक्य में कहा जा सकता है कि जितना कुछ खरीदा गया उसकी अपेक्षा अधिक बेचना केवल एक "कोमर्स कमेन्स" (Commerce Commence)[३] अर्थात् एक अपूर्ण लेन-देन है। यह युक्ति की धातु अधिक स्थायी होती है, इसलिये वह संग्रहणीय है, बड़े सुन्दर रूप में इस प्रकार खण्डित की गयी है कि यदि इस बात को सत्य मान लिया जाय, तो तर्कशास्त्र के अनुसार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि धातुओं की कोई भी मात्रा, चाहे वह कितनी ही थोड़ी क्यों न हो, (क्योंकि वह चिरस्थायी है) पदार्थों की किसी भी मात्रा से, चाहे वह कितनी बड़ी क्यों न हो, अधिक मूल्यवान् है (क्योंकि वे पदार्थ शीघ्र बिगड़ जाने वाले हैं)।[४] इस प्रकार व्यापार के सन्तुलन का सिद्धान्त घटकर "कुछ नहीं; बल्कि कुछ नहीं से भी कुछ कम"[५] ही रह जाता है। वाणिज्य को इस दृष्टि से नहीं देखा जाना चाहिये कि वह किसी शत्रु के साथ युद्ध की-सी स्थिति है। राष्ट्र का एक मात्र हित इस बात में है कि वह व्यापार को पूर्णतया स्वच्छन्द छोड़ दे, जिससे ग्राहकों और विक्रेताओं में अधिकतम प्रतियोगिता रहे और उसके फलस्वरूप देश के उत्पादनों की अधिक से अधिक कीमत प्राप्त हो सके और देश को अपनी आवश्यकता की वस्तुएँ कम से कम कीमत पर मिल सकें।[६] वाणिज्य दूसरे देशों को हानि पहुँचाकर जारी नहीं रखा जा सकता, क्योंकि एक भले और न्यायप्रिय परमात्मा ने यह नियम बनाया है कि

---

१. विशेष रूप से ऐनेलीस के सम्बन्ध में सातवां नियम देखिये पृष्ठ ३२४ और सामान्य गुरों में से तेरहवें पर ध्यान दीजिये, पृष्ठ ३४७-३४८।

२. द्यु कामर्स; पृष्ठ ४७८,४७९ ३. वही; पृष्ठ ४७१।

४. वही; पृष्ठ ४७१। ५. वही; पृष्ठ ४८२। ६. वही; पृष्ठ ४७७।

वाणिज्य सदा दोनों पक्षों के पारस्परिक लाभ के लिये होना चाहिये। ("le fruit d'un avantage evidemment reciproque.") यह सब और इसी प्रकार का और बहुत कुछ विवरण मेधावी विद्यार्थी को बहुत कुछ परिचित-सा प्रतीत हो सकता है और शायद यह ऐसा लगे कि यह ऐडम स्मिथ की चौथी पुस्तक में आये हुए कुछ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सन्दर्भों की प्रतिध्वनि मात्र है।

परन्तु यह समझना भूल होगी कि प्रकृतिवादियों द्वारा स्वच्छन्द व्यापार के समर्थन का मूल इस बात में निहित था कि वे विदेशी व्यापार को अपने आप में कोई महत्त्व देते थे; बल्कि इसके ठीक विपरीत अन्य सब व्यापारों की भांति विदेशी व्यापार भी प्रकृतिवादियों की दृष्टि में मुख्य रूप से अनुत्पादनशील ही था। जैसा कि क्वेसने ने बड़े स्पष्ट शब्दों में कहा है कि किसी भी राज्य के लिये विदेशी से केवल उतना ही खरीद पाना सम्भव है, जितना कि वह राज्य उसे बेचता है; और इसका परिणाम यह है कि विदेशी व्यापार में स्वच्छन्द प्रतियोगिता की दशा में केवल समान मूल्य से समान मूल्य का ही विनिमय हो सकता है, जिसमें किसी भी एक पक्ष को हानि या लाभ न रहेगा।[२] क्वेसने ने एक ही मिश्रित राज्य के अन्दर मिलकर रहने वाले जिन दो राष्ट्रों (कृषि-प्रधान और वाणिज्यप्रधान) में अन्तर किया है, उनके सम्बन्ध में विचार करते हुए उसने कहा है कि इनमें से दूसरे नंबर वाले राष्ट्र के ऊपर किये जाने वाले व्यय, चाहे वे आवश्यक भी क्यों न हों, "अनावश्यक भारी व्यय" समझे जाने चाहियें, जो कि भूमि के स्वामी की आय पर लगाये गये हैं।[३] इस प्रकार मुख्य रूप से विदेशी व्यापार कोई स्वत्व नहीं, अपितु दायित्व ही है। प्रकृतिवादी विचारधारा का रुख विदेशी व्यापार के महत्त्व को घटाकर बताने की ओर रहा है। किसी भी देश की सम्पत्ति का मूल्यांकन करने का सब से अच्छा तरीका उस देश के आन्तरिक वाणिज्य की दशा है। जिस राष्ट्र में भूमि का और मनुष्यों का सर्वोत्तम उपयोग हो रहा है, उसे अपने पड़ोसी देशों के वाणिज्य के प्रति ईर्ष्यालु होने की कोई आवश्यकता नहीं है।[४] यह बात मनो-

---

१. वही; पृष्ठ ८८४।

२. "ऐनेलीन" के सम्बन्ध में पांचवां नियम; पृष्ठ ३२१।

३. वही; पृष्ठ ३२१।

४. "ग्रेन्स" के साथ जुड़े हुए माक्सीम में से देखिए नम्बर १२ और १३०, पृष्ठ २३६।

रंजक है कि आधुनिक युग में स्वच्छन्द व्यापार का समर्थन करने वाले प्रथम विचारक वर्ग ने उसका समर्थन इसलिये नहीं किया, कि उसे विदेशी व्यापार के लाभ में विश्वास था; बल्कि बहुत कुछ दार्शनिक से प्रतीत होने वाले और धार्मिक ढंग के सामान्य सिद्धान्तों के आधार पर किया था।

क्वेसने के इस विशेष दृष्टिकोण का, कि कृषि ही एक मात्र उत्पादनशील गतिविधि है और यही राष्ट्रीय आय का एकमात्र स्रोत है, करारोपण के क्षेत्र में कई महत्त्वपूर्ण निष्कर्षों के रूप में प्रभाव पड़ा। करारोपण भी ऐसे कानूनों और अटल नियमों के आधीन है, जिन्हें अत्यन्त सुनिर्धारित रूप में प्रदर्शित किया जा सकता है।[1] यहां पर क्वेसने के केवल दो मूलभूत विचारों के सम्बन्ध में उल्लेख कर पाना सम्भव है। पहली बात (जो बहुत ही बढ़िया सलाह है), यह है कि राज्य को ऋण लेने से बचना चाहिये। राजनीतिज्ञों को चाहिये कि वे विशेष संकटकालीन दशाओं में राष्ट्र की समृद्धि के ऊपर आय के लिये अधिक भरोसा रखें और वित्त-साधन (फाइनांस) प्रदान करने वाले लोगों से प्राप्त होने वाले ऋणों को न लें। ऋणों के सम्बन्ध में मुख्य आक्षेप यह है कि उनके द्वारा "वित्त-साधन में भी एक प्रकार का व्यापार" प्रारम्भ हो जाता है, जिसके फलस्वरूप पैसे से पैसा पैदा होने लगता है और पैसे पर ब्याज मिलने लगता है। इस प्रकार कृषि से पैसे को वापस खींच लिया जाता है और अनुर्वर धन बना लिया जाता है (इस सम्बन्ध में बनाई गई तावलो इकोनोमीक में यह बात दिखाई पड़ेगी कि पैसा खिचकर दाहनी और अनुत्पादनशील वर्ग की ओर जा रहा है)। इसके अतिरिक्त इस प्रकार का "पैसे का संचय" न तो किसी राजा को मानकर चलता है और न किसी देश को। अपेक्षाकृत आधुनिक भाषा में कहा जा सकता है कि इस प्रकार के ऋणों के कारण एक ऐसा भाटकोपजीवी (रैन्टियर) वर्ग का जन्म होता है, जो विनियोग के अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में काम कर रहा होता है।[2]

दूसरी बात और भी अधिक मूलभूत है। क्योंकि राष्ट्रीय सम्पत्ति का केवल एक ही स्रोत है, इसलिये अन्ततोगत्वा सारा करारोपण जाकर उसी स्रोत पर पड़ेगा; इसलिये सारा करारोपण एक ही बार में वहीं कर दिया

१. डैस्पोतीज्म द ला शीन, अध्याय ८; अनुभाग ७; पृष्ठ ६४५।

२. माक्सीम जनरेल के नम्बर २८, २९ और ३० देखिये; पृष्ठ ३३७।

जाना चाहिये, जहाँ कि बोझ अन्ततोगत्वा जाकर पड़ना है। संक्षेप में क्वेसने एक अकेले प्रत्यक्ष कर का समर्थन करता है, जो "पोद्युई नै" अर्थात् शुद्ध उपज पर लगाया जाना चाहिये। इस सम्बन्ध में वह प्रकृतिवादी मान्यताओं के साथ पूर्णतया युक्तिसंगत है। यदि यह मान लिया जाय कि शुद्ध उपज वही है, जिसे कि क्वेसने समझता है कि उसने सिद्ध कर दिया है कि शुद्ध उपज वही है, तो जल्दी या देर में अवश्य ही प्रत्येक कर हटते-हटते शुद्ध उपज पर ही जा पड़ेगा। इसलिये सबसे आसान और सबसे कम अपव्यय से राजस्व प्राप्त करने का तरीका यह है कि राज्य उस सम्पत्ति में से एक भाग प्रत्यक्ष रूप में ले ले, जो वास्तविक राष्ट्रीय आय है। क्वेसने ने अनेक स्थानों पर यह सिद्ध करने के लिये काफी विस्तार से प्रयत्न किया है कि करारोपण की अन्य किसी भी पद्धति में राज्य को कितनी अधिक असुविधा और हानि होगी और राज्य को उससे कितना नुकसान उठाना पड़ेगा। विशेष रूप से अपनी पुस्तक दूसरी आर्थिक समस्या (दि सैकिंड इकोनोमिक प्राबलम) में उसने सिद्ध किया है (कम से कम उसने यह समझ लिया है कि उसने सिद्ध कर लिया है) कि भले ही भू-स्वामी यह समझ ले कि उसे अन्य किसी प्रकार की करारोपण की पद्धति में लाभ होगा, परन्तु सत्य यह है कि अन्ततोगत्वा कर का बोझ हटते-हटते (और अनिवार्य मध्यवर्ती रगड़ों और हानियों के कारण और भी अधिक बढ़े हुए रूप में) उसी पर आकर पड़ेगा। यह ध्यान देना बड़ा मनोरंजक है कि करापात (इंसीडेंस आफ़ टैक्स) का विवेचन करते हुए क्वेसने ने उस नियम की स्थापना कर डाली थी, जिसे आगे की पीढ़ी ने 'वेतन के लोह नियम' का नाम दिया : "वेतन और उसके फलस्वरूप वह उपभोग, जो कि वेतनजीवी व्यक्ति प्राप्त कर सकते हैं, उनकी अत्यधिक पारस्परिक प्रतियोगिता के कारण नियत हो जाते हैं और घटकर निचले स्तर तक आ जाते हैं।"[१]

टर्गोट

प्रकृतिवादी विचारकों के अन्य सदस्यों में से हमारे इस प्रारम्भिक विवेचन में केवल एक और व्यक्ति का उल्लेख करने की आवश्यकता है। कुछ तो इस कारण कि वह कई दृष्टियों से प्रकृतिवादियों के प्रधान वर्ग से थोड़ा सा भिन्न

१. सीकों प्रोबलेम इकोनोमीक ; पृष्ठ ७००।

था ; और कुछ इसलिये कि उसके महान् नाम के कारण उस विचारधारा को विशेष गौरव प्राप्त हुआ, जिससे कि उसे स्फुरणा प्राप्त हुई थी। इसके अतिरिक्त राज्य में उच्च पद पर आसीन होने के कारण, भले ही वह इस पद पर बहुत थोड़े समय तक रहा, उसे प्रकृतिवाद को क्रियात्मक रूप में देखने का अवसर मिला। यह स्थान ऐने-रोबर्ट-जैकीज-टर्गोट[1] (१७२७–१७८१) के जीवन और उसकी सफलताओं का विवेचन करने का नहीं है, जो लिमोजिज के इंटेंडेंट और बाद में (१७७४ के अगस्त से १७७६ के मई मास तक) कंट्रोलर जनरल के पद पर काम करता रहा ; और इन पदों पर काम करते हुए उसने सब मामलों को सुधारने के लिये जो कुछ वह कर सकता था, यद्यपि उसके पद-त्याग करने के बाद उसकी सब सफलताएँ फिर उलट-पलट दी गयीं, परन्तु उसके प्रशंसक यह दावा कर सकते हैं, और वे करते भी हैं, कि यद्यपि उसके जीवन में उसके महान् कार्यों पर पानी फेर दिया गया था, परन्तु क्रान्ति के समय उसकी विजय हुई और उन्नीसवीं शताब्दी में उसका प्रभाव सबसे अधिक रहा।

टर्गोट (शुद्ध फ्रांसीसी उच्चारण 'त्यूर्गो' है) के सिद्धान्त मुख्य रूप से उसकी दो छोटी-छोटी पुस्तिकाओं में प्राप्त होते हैं, जिनके नाम "ईलोज द गुर्ने" और "रिफ्लैक्सियों स्युर ला फोर्मेसियों ए ला दिस्त्रीब्यूसियों दे रिचैसिस" हैं। इनके अतिरिक्त टर्गोट की एक और मजेदार आदत यह थी कि वह अपने आर्थिक सिद्धान्तों के वक्तव्यों को अपने सरकारी और राजकीय लेखों में भी लिख देता था और इस दृष्टि से उसके आदेश उदाहरण के लिये "कोर्वी" (बाधित श्रम) और "जुरां" (श्रेणी-स्वामित्व) को समाप्त करने वाले आदेश ऐतिहासिक दृष्टिकोण के अतिरिक्त आर्थिक दृष्टि से भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं : "ईलोज द गुर्ने" सबसे प्रारम्भिक प्रकृतिवादियों में से एक की प्रशंसा है, जिसने सम्भवतः क्वेसने की अपेक्षा भी टर्गोट के विकास पर अधिक प्रभाव

---

१. १७२७ में पेरिस में जन्म हुआ। १७५१ में वह सोरबोन में प्रायर अर्थात् एक धर्माधिकारी बन गया। चर्च में प्रविष्ट होने के लिये उसने तैयारी की थी, किन्तु उस दिशा को छोड़कर वह मजिस्ट्रेट बनने के लिये प्रयत्नशील हुआ ; और लिमोजिस का इंटेंडेंट बन गया। १७७४ में सोलहवें लुई ने उसे पेरिस बुलाया और वह जलसेना मन्त्री बन गया। उसके सुधारों का बहुत विरोध किया गया और १७७४ में उसे पदच्युत कर दिया गया।

डाला। भले ही प्रकट रूप में यह गूर्ने के विचारों का वक्तव्य मात्र है, परन्तु यह स्पष्ट है कि टर्गोट साथ-साथ अपने विचार भी प्रकट करता चलता है। "ईलोज" वस्तुतः स्वेच्छाचारिता की नीति का एक अत्यन्त चरम वक्तव्य है। बाद में इसी दिशा में विकसित होते-होते यह स्वेच्छाचारिता या स्वच्छन्द व्यापार की नीति एक कट्टर सिद्धान्त के रूप में परिणत हो गयी। सरकार के वे प्रतिबन्ध और हस्तक्षेप, जिनके कारण विभिन्न नगर एक दूसरे को अपना शत्रु समझने लगते हैं, प्राचीन बर्बरता के अवशेष बताये गये हैं। गूर्ने की नयी प्रणाली इस गुर पर आधारित थी कि "सामान्यतया प्रत्येक व्यक्ति अपने हितों को किसी अन्य दूसरे व्यक्ति की अपेक्षा कहीं अधिक अच्छी तरह समझता है; क्योंकि दूसरा व्यक्ति उस हित के प्रति बिलकुल उदासीन होता है।" राज्य की वाणिज्य में दिलचस्पी दो रूपों में होती है: (१) यह देखना राज्य का काम है, कि कोई व्यक्ति किसी दूसरे को ऐसी हानि न पहुँचा पाये, जिसके विरुद्ध नुकसान उठाने वाला व्यक्ति अपना बचाव न कर सकता हो; और (२) यह देखना भी राज्य का काम है कि राज्य की सम्पत्ति यथासम्भव अधिक से अधिक हो जाय। इनमें से पहले उद्देश्य को पूर्ण करने के लिये यह आवश्यक है कि सरकार ग्राहक की खरीद सकने की और विक्रेता की बेच सकने की प्राकृतिक स्वतन्त्रता की रक्षा करे। ग्राहकों और विक्रेताओं में प्रतियोगिता की स्वतन्त्रता का दुरुपयोग नहीं किया जायगा। इस दृष्टि से केवल पूर्ण स्वतन्त्रता देने से ही विक्रेता को वह कीमत प्राप्त करने का आश्वासन रहेगा, जिससे उत्पादन को प्रोत्साहन मिलता रह सके; और इसी के द्वारा ग्राहक को अच्छा माल कम से कम कीमत पर मिलता रह सकेगा। इससे आगे जाना और इस बात की कोशिश करना कि कोई किसी को ठग न ले, अपने सिर पर एक इस प्रकार का दायित्व लेना है कि उन सब बच्चों के शरीर पर गद्दियाँ बाँध दी जायें, जो कहीं भी गिर सकते हैं (De fournir des bourrelets a tous les enfants qui pourraient tomber." उन सब बच्चों को, जो गिर सकते हैं, गद्दियाँ बाँध देने की व्यवस्था)। यह काम वाणिज्य और राष्ट्र के सिर पर (क्योंकि सभी नियमों का पालन करवाने में काफी अपव्यय होता है) एक भारी कर केवल इसलिये लगाने के समान होगा कि कुछ आलसी लोगों को यह सीखने की तकलीफ न करनी पड़े, कि ठगे जाने से किस तरह

बचा जाय।

दूसरी बात पर विचार करने से भी यही निष्कर्ष निकलता है। चिर-परिचित स्मिथ की युक्ति-परम्परा के अनुसार राष्ट्र की सम्पत्ति, क्योंकि वह उस देश की भूमि और वहाँ के निवासियों के श्रम की उपज मात्र है, उस दशा में सबसे अधिक होगी, जब कि भूमि के प्रत्येक एकड़ और प्रत्येक व्यक्ति के उद्योग का यथासम्भव अधिकतम उपयोग किया जा रहा होगा। किन्तु इस बात को सिद्ध करने के लिये किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने काम और अपने साधनों और स्रोतों को आँक पाने में सबसे अधिक समर्थ होता है। केवल उसी को आवश्यक स्थानीय ज्ञान और अनुभव होता है। इसलिये इससे यह परिणाम निकलता है कि सभी दृष्टियों से जिस व्यक्ति को अपना हित साधन करने के लिए स्वतन्त्र छोड़ दिया गया है, उसके हित के द्वारा सरकारी कार्यवाही की अपेक्षा कहीं अधिक सामान्य हित उत्पन्न हो सकेगा। सरकारी कार्यवाहियाँ सदा दोषयुक्त होती हैं; और वे अनिवार्य रूप से अस्पष्ट और अनिश्चित सिद्धान्तों द्वारा संचालित होती हैं। यह है पक्का और बेलाग स्वच्छन्द व्यापार का सिद्धान्त; और मूलभूत सुर में प्रयुक्त किये हुये शब्द "सामान्य रूप से" के कारण भी ज्ञानयुक्त आत्महित के सम्बन्ध में वापस लौटने के लिये बहुत थोड़ा अवकाश रहता है। बाकी "ईलोज" में चिर-परिचित प्रकृतिवादी सिद्धान्त भरा हुआ है जिसका अभिप्राय यह है कि "l'agriculture, animee par le commerce" अर्थात् "कृषि, जो वाणिज्य की जान है।" (यह संशोधन ध्यान देने योग्य है) सब आय का स्रोत है और सारे करों का भुगतान केवल भूमि के मालिक द्वारा किया जाता है। टर्गोट ने इस प्रणाली में जिस वस्तु की सबसे अधिक निन्दा की थी, वह थी कि "इसमें सदा समाज के धनी और निष्क्रिय वर्ग के साथ पक्षपात किया जाता है, जिससे गरीब और श्रमिक वर्ग को नुकसान होता है।"

"रिफ्लेक्सियों" पुस्तक छोटे-छोटे सौ अनुच्छेदों में लिखी हुई है और यह एक प्रकृतिवादी द्वारा सोचे गये आर्थिक सिद्धान्त का संक्षिप्त वक्तव्य मात्र समझी जा सकती है। इस छोटे से ग्रन्थ में (यह कहा जाता है कि वह दो चीनी विद्यार्थियों को शिक्षा देने के लिये लिखा गया था) स्पष्ट और स्वतन्त्र मन्तव्य है, जो प्रकृतिवादी सिद्धान्त के अपेक्षाकृत दुर्बल भागों के सैद्धान्तिक

वक्तव्यों के बीच-बीच में प्राप्त होते हैं। यहाँ कृषि की सर्वोत्कृष्टता अपनी पूरी शान के साथ मौजूद है और 'वेतन का लोह नियम', जो कि उस कारीगर पर लागू करके दिखाया गया है जिसके पास केवल अपने हाथ और अपना उद्योग है, कृषि की इस उत्कृष्टता का ही एक परिणाम है। सीधा-सादा मजदूर अपने मालिक के साथ सौदा करते हुए इसलिए परास्त हो जाता है, क्योंकि मालिक को यह अवसर रहता है कि वह कई मजदूरों में से किसी एक को चुन सके।[1] परन्तु भूमि पर श्रम करने वाले मजदूर की स्थिति इससे भिन्न होती है। "प्रकृति उससे सौदेबाजी नहीं करती और न उसे इस बात के लिए विवश ही करती है कि वह अपनी अनिवार्य आवश्यकताओं को ही पूर्ण करके सन्तुष्ट हो रहे।"[2] किसान की सुखद स्थिति यह है कि उसे अपने जीवन-निर्वाह की अपेक्षा कहीं अधिक प्राप्त होता है, "richesse independente et disponible" अर्थात् उसे यह इस प्रकार की एक स्वतन्त्र और उपभोग्य सम्पत्ति प्राप्त होती है, जिसे उसने खरीदा नहीं है, किन्तु जिसे वह बेचता है। इसलिये भूमि सारी सम्पत्ति का एक मात्र स्रोत है और वह भाग, जो प्रकृति हमें विशुद्ध उपहार के रूप में देती है (ऐ प्यूर दोन) वह शुद्ध उपज है। प्रकृति की इस सहायता में इतना मर्मस्पर्शी विश्वास बहुत अधिक भोलेपन का परिचायक है, जिसमें बहुत थोड़े किसान (कम से कम बूचन के किसान) हिस्सा बँटा सकते हैं। "रिफ्लैक्सियों" में वर्णित अन्य बातों के सम्बन्ध में केवल टर्गोट की ब्याज की दरें नियत करने पर लगाये गये सब प्रतिबन्धों को हटा देने का उत्साहपूर्ण समर्थन ही उल्लेखनीय है। ब्याज का भुगतान एकमात्र व्यापार के रुख द्वारा ही निर्धारित होना चाहिये।[3] इस सम्बन्ध में

---

१. टर्गोट का यह वक्तव्य प्रायः उद्धृत किया जाता है और बहुत कुछ प्रामाणिक-सा बन गया है : "En tout genre de travail il doit arriver et il arrive en effet que le salaire de l'ouvrier se borne a ce qui lui est necessaire pour lui procurer sa subsistance." सब प्रकार के कामों में ऐसा होना आवश्यक है और वस्तुतः ऐसा होता है कि कामगर का वेतन केवल उतने तक सीमित रहता है, जितना उसके जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक है।

रिफ्लैक्सियो, अनुभाग ६।

२. वही; अनुभाग ७।

३. वही; अनुभाग ७१ और ७५

जिसका विवेचन टर्गोट ने अन्यत्र भी किया है, उसने स्वच्छन्द व्यापार की नीति की तर्क-परम्परा को सर्वाधिक सुचारू रूप में प्रकट किया है।

टर्गोट द्वारा जारी किये गये कुछ राजकीय आदेश-पत्रों का भी इस दृष्टि से उल्लेख किया जाता है कि वे आर्थिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। जुरांद (अर्थात् कार्य करने की स्वतन्त्रता पर लगाये गये सब प्रतिबन्धों को हटाने के लिए) की समाप्ति के लिये जारी किये गये आदेश को टर्गोट के सुधार के प्रति उत्साह के उदाहरण के रूप में लिया जा सकता है। साथ ही यह आदेश उस उच्चस्तरीय आर्थिक नीति का भी उदाहरण है, जिस पर उसका यह कार्य आधारित था। "ल द्रवा द आवेले" जिसकी इस आदेश द्वारा स्थापना हुई थी, एक ऐसा टेढ़ा वाक्यांश है, जिसका स्पष्ट और सही-सही अनुवाद हो पाना कठिन है। लुई ब्लां ने टर्गोट की इस आधार पर कड़ी आलोचना की है कि उसने "काम करने के अधिकार" (ल द्रवा द आवेले) की घोषणा करते हुए किसी भी रूप में "काम प्राप्त करने के अधिकार" (ल द्रवा ओ आवे) को स्वीकार नहीं किया। इस आदेश का परिणाम यह हुआ कि कुछ वर्गों का वह विशेषाधिकार समाप्त हो गया, जिसके कारण कुछ लोगों को कुछ खास प्रकार के कामों पर एकाधिकार प्राप्त था, जिससे कि समाज के विशिष्ट वर्गों के लोग ही उन कामों को कर सकें। यहाँ पर भी टर्गोट का लक्ष्य नवा-रम्भ की स्वतन्त्रता का विस्तार करना भर ही था, जिससे कि जीवन के सब क्षेत्र सब लोगों के लिये खुल जायें। यह स्वाधीनता, जैसी कि स्वच्छन्द व्यापार की नीति के आधार पर होनी चाहिये, टर्गोट के लिए सब अधिकारों की अपेक्षा कहीं अधिक मूलभूत अधिकार थी: "Dieu, en donnant a l'homme des besoins, en lui rendent necessaire la ressource du travail, a fait du droit de travailler la propriete de tout homme, et cette propriete est la premiere, la plus sacree et la plus imprescriptible de toutes." अर्थात् परमात्मा ने जब मनुष्यों को आवश्यकताएँ प्रदान कीं और उसे काम करने के लिए विवश किया, तब उसे काम करने का अधिकार और निजी सम्पत्ति का अधिकार भी दिया; और यह सम्पत्ति सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण, सबसे अधिक पवित्र और सबसे अधिक अहस्तान्तरणीय है।" इस कदम को उठाने का उद्देश्य वस्तुतः वाणिज्य और

उद्योग को "पूर्ण स्वतन्त्रता और पूर्ण प्रतियोगिता का अवसर प्रदान करना था, जो उन्हें सदा प्राप्त रहनी चाहिये।" सम्भवतः यह बात ध्यान देने योग्य है, विशेष रूप से परवर्ती काल की आलोचनाओं को देखते हुए, जबकि एक युग के कारण अन्य समस्याएँ उठ खड़ी हुई थीं, कि इस आदेश के चौदहवें अनुच्छेद में इस प्रकार के "मालिकों, साथियों, कामगरों और काम सीखने वालों" के संगठन बनाने या सभाएँ करने का निषेध कर दिया गया है, चाहे वे सभा और संगठन किसी भी बहाने क्यों न किये जा रहे हों। यहाँ, यदि कोई चाहे तो यह अर्थ निकाल सकता है कि टर्गोट ने इस दृष्टिकोण को अभिव्यक्त किया है कि पूर्ण स्वतन्त्रता को बनाये रखने के लिए यह आवश्यक है कि संगठन के अधिकार का निषेध कर दिया जाय। परन्तु सम्भवतः टर्गोट को उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दियों के वाद-विवादों में घसीटना अनुचित होगा, क्योंकि वह उचित रूप से कह सकता है कि वह इन कालों में था ही नहीं।

"यह प्रणाली अपनी सब अपूर्णताओं के बावजूद सम्भवतः उन प्रणालियों में से सत्य के अधिकतम निकट है, जो कि राजनीतिक अर्थशास्त्र के विषय पर अब तक सामने आयी हैं।" ऐडम स्मिथ ने इन शब्दों में अपने से ठीक पहले के विचारकों के सम्बन्ध में सम्मति व्यक्त की थी। सचमुच ही प्रकृतिवादियों की इस क्षेत्र में सफलता महत्त्वपूर्ण थी। आजकल के दिनों में भी, जबकि स्वच्छन्द व्यापार की नीति को वैसा आदर प्राप्त नहीं है, जैसा कि किसी समय प्राप्त था, यह बात स्वीकार की जा सकती है कि व्यापारवादियों की प्रतिक्रिया के रूप में स्वच्छन्द व्यापार की नीति की स्थापना की जानी आवश्यक ही थी। समस्या के इस पहलू पर प्रकृतिवादी लोग स्वतन्त्रता के पक्के पुजारी थे और उन्होंने ऐडम स्मिथ के सिद्धान्त के केन्द्रीभूत सत्य को इतने उत्साह, जोश और ऐसे संगत तर्क द्वारा उपस्थित किया कि इस दृष्टि से कर्कल्डी का अर्थशास्त्री (स्मिथ) भी उनसे आगे न बढ़ सका। यह है उनका अनश्वर स्मारक। उनकी अपूर्णताएँ इतनी स्पष्ट हैं कि उनको पृथक् करके दिखाने या उन पर टिप्पणी करने की आवश्यकता नहीं है। वे इस दृष्टि से ठीक थे, और विशेष रूप से अपने काल की परिस्थितियों में, कि उन्होंने कृषि के महत्त्व पर बल दिया, परन्तु वे इस दृष्टि से गलत थे, कि उन्होंने उत्पादनशील और अनुत्पादनशील

श्रम के भेद पर आधारित थोथे और अस्पष्ट तर्क के द्वारा कृषि को सर्वोच्च सिद्ध करने का प्रयत्न किया। उनकी सारी गलतियों का मूल स्रोत यहीं था। शुद्ध उपज का सारा सिद्धान्त, जो भाटक (रैन्ट) को प्रकृति की उस सहायता का प्रतीक बताता है, जो भूमि पर श्रम करने वाले लोगों को अतिरिक्त लाभ के रूप में प्राप्त होती है, कुछ सनकियों की-सी बात मालूम होती है, और इसी के फलस्वरूप एक अकेले कर की वकालत वित्त-साधन के विज्ञान को उतनी बड़ी देन नहीं है, जितनी कि वह एक तर्कशास्त्र का अभ्यास है; यह ठीक है कि वह प्रकृतिवादी मान्यताओं के आधार पर निकाला गया पूर्णतया उचित अनुमान है। ये सब बारीकियाँ और इनके साथ यह "तावलो इकोनोमीक" का गोरखधन्धा प्रकृतिवादियों को एक काफी दिलचस्पी की चीज बना देते हैं; और ये वस्तुएँ बहुत से परीक्षकों के लिये तो ईश्वरीय वरदान-सी सिद्ध हुई हैं। परन्तु इस सब में मूलभूत बात केवल इतनी है कि वे ऐडम स्मिथ के अग्रदूत थे। ऐडम स्मिथ के प्रशंसकों को भी यह मानने में कोई आपत्ति न होगी कि आधुनिक अर्थशास्त्र का वास्तविक प्रारम्भ प्रकृतिवादी वर्ग से ही हुआ था।

अध्याय ५

ऐडम स्मिथ

ह्यूम

ऐडम स्मिथ की ओर जाते हुए मार्ग में पहले एक और लेखक को प्रणाम कर लेना उचित होगा, जिसको अन्य क्षेत्रों में अत्यधिक गौरव प्राप्त हुआ था और सम्भवतः अर्थशास्त्री के रूप में उसको कम महत्त्व दिया जाने का मुख्य कारण यही है कि अन्य क्षेत्रों की अधिक ख्याति ने उसके इस रूप को कुछ गौण बना दिया। यदि डेविड ह्यूम[1] (१७११-१७७६) मुख्य रूप से एक दार्शनिक न होता, तो उसकी गणना उच्च कोटि के अर्थशास्त्रियों में की जाती। उसके निबन्धों का अध्ययन करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है, प्रकृतिवादियों के दलदल में डुबकी लगाने की अपेक्षा भी कहीं अधिक स्पष्ट हो जाती है, कि ऐडम स्मिथ अपने से पहले के विचारकों का कितना ऋणी था। ह्यूम के साथ समुचित न्याय न किये जाने का एक कारण शायद यह भी है कि वह किसी भी आर्थिक विषय को लेकर उसका सर्वांग सम्पूर्ण विवेचन नहीं करता; बल्कि वह तो एक भद्र निबन्ध-लेखक है, जो बड़ी शान के साथ, जो केवल अठारहवीं शताब्दी में ही पायी जाती थी, अनेक विषयों पर अपने विचार प्रकट करते हुए कला, ज्ञान और गम्भीरता का सम्मिश्रण करता है। इन निबन्धों में से मोटे अनुमान से लगभग १० निबन्ध आर्थिक ढंग के समझे जा सकते हैं। इनमें से "वाणिज्य के विषय में", "पैसे के विषय में", "व्यापार के सन्तुलन के विषय में", "व्यापार की ईर्ष्या के विषय में" निबन्ध विशेष रूप से ध्यान देने योग्य हैं, क्योंकि उनमें वे बहुत सी बातें आ जाती हैं, जिनको आधार बनाकर ऐडम स्मिथ ने व्यापारवादियों की आलोचना की थी। काफी

---

१. १७११ में एडिनबरा में जन्म हुआ। मुख्य रूप से वह विद्यार्थी था। वह एक निजी अध्यापक के रूप में उस काल की परम्पराओं के अनुसार कई बार यूरोपीय महाद्वीप में भी गया। बाद में १७५२ में एडिनबरा में फैकल्टी आफ एडवोकेट्स में पुस्तकालयाध्यक्ष बन गया।

हद तक उसकी युक्तियों का उद्देश्य व्यापारवादियों के विरुद्ध यह सिद्ध करना है कि राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था में सोने और चाँदी का महत्त्व अपेक्षाकृत बहुत कम है। किसी भी राज्य के लिये "इस बात का कोई बहुत महत्त्व नहीं है कि उसमें पैसा अधिक मात्रा में है, या कम मात्रा में।" मुख्य रूप से पैसा श्रम और पदार्थों का मूल्य आंकने की एक पद्धति है। यदि कहीं पैसा अधिक मात्रा में होगा, तो वस्तुओं की उतनी ही मात्रा का मूल्यांकन करने के लिये पैसे की अधिक मात्रा में आवश्यकता होगी। पैसे की मात्रा बढ़ने के परिणामस्वरूप हुआ परिवर्तन मूल्यांकन करने की किसी नई पद्धति को स्वीकार करने के फलस्वरूप हुए परिवर्तन से मिलता-जुलता है। सोने और चाँदी की अधिकाधिक बढ़ती हुई मात्रा उद्योग के लिये केवल उस मध्य के काल में उपयोगी हो सकती है, जो पैसे को प्राप्त करने और उसके परिणामस्वरूप कीमतों में होने वाली वृद्धि के मध्य में होता है। समृद्धि का रहस्य कुछ और ही है: "पैसे की कमी से किसी भी राज्य की आन्तरिक व्यवस्था को नुकसान नहीं पहुँच सकता, क्योंकि किसी भी समाज में वास्तविक शक्ति मनुष्य और पदार्थ होते हैं।"[1]

"व्यापार के सन्तुलन के सम्बन्ध में" निबन्ध में इन्हीं विचारों को व्यापार-वादियों के केन्द्रीभूत सिद्धान्त पर लागू किया गया है। यह भय, कि किसी देश में बहुमूल्य धातुओं की उपलब्धि घट जायगी, या समाप्त हो जायगी, एक निराधार आशंका है। ह्यूम कहता है कि "यदि मुझे यह डर लगने लगे कि कहीं पैसा किसी एक ऐसे राज्य को छोड़कर न चला जाय, जहाँ मनुष्य और उद्योग विद्यमान हैं, तो उससे पहले मुझे शायद यह डर लगने लगेगा कि कहीं हमारे सारे झरनों और नदियों का पानी सूखकर समाप्त न हो जाय।" यह मानकर कि जिन लोगों के पास पर्याप्त उद्योग हैं, उन्हें अपनी आवश्यकता के लिये पैसा मिलता रहेगा, वह इस सिद्धान्त की जांच दो चरम कल्पनाओं के आधार पर करता है। कल्पना कीजिये कि किसी देश के पैसे के पाँच भागों में चार भाग रातों-रात नष्ट हो जाते हैं; तो उसका परिणाम क्या होगा? सारे श्रम और सब पदार्थों की कीमतें एकदम गिरकर मध्ययुगीन स्तर पर पहुँच जायेंगी। उसके बाद विदेशी बाजार में संसार का कौन देश हमारा मुकाबला

१. "पैसे के विषय में" निबन्ध।

कर सकेगा ? इसका परिणाम यह होगा कि बहुत ही थोड़े समय में हमें वह सारा पैसा गिरकर वापस मिल जायगा, जो नष्ट हो गया था। कीमतें फिर एक बार बढ़ते-बढ़ते उस स्तर तक पहुँच जायेंगी, जो हमारे पड़ोसी देशों में विद्यमान हैं; और श्रम और पदार्थों के सस्तेपन से होने वाला लाभ हम से छिन जायगा। अब इसकी विलोम कल्पना को लीजिये कि हमारे देश में सोने और चाँदी की उपलब्धि रातोंरात बढ़कर पांच गुनी हो जाती है। उस दशा में कीमतें इतनी अधिक बढ़ जायेंगी कि कोई भी पड़ोसी देश हमारा माल खरीदने में समर्थ न होगा; और सब प्रकार के प्रतिबन्धक कानून बनाने के बावजूद उनके पदार्थ "हमारे देश में घुसते चले आयेंगे और हमारा पैसा देश से बाहर बह जायगा।" और इस युक्ति का निष्कर्ष यह है कि,

"किसी भी सरकार को अपने मनुष्यों और अपने निर्माण-कार्यों की बड़ी सावधानी के साथ रक्षा करने का प्रयत्न करना चाहिये। जहाँ तक पैसे का सम्बन्ध है, उसे राज्य बिना किसी भय या ईर्ष्या के मानवीय मामलों के स्वाभाविक प्रवाह के ऊपर सुरक्षित रूप से छोड़ सकता है।"

इससे एक और परिणाम यह निकलता है कि किसी भी देश को किसी दूसरे देश की समृद्धि से ईर्ष्या करने की आवश्यकता नहीं है। इसके विपरीत यदि हमारे पड़ोसी समृद्ध हों, तभी हम उनसे यह आशा कर सकते हैं कि वे अच्छे ग्राहक होंगे और इस प्रकार हमारी समृद्धि को बढ़ाने में सहायक हो सकेंगे। यदि हम किसी प्रकार अपने पड़ोसियों की स्थिति को गिराकर उन्हें आलस्य और अज्ञान की दशा में लाने में सफल हो जायें, तो उसके फलस्वरूप हमें भी नुकसान उठाना पड़ेगा और शीघ्र ही हम स्वयं भी उसी दयनीय दशा के शिकार हो जायेंगे। इस बात को लेकर ह्यूम का प्रतिवाद अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण है और यह बहुत बार उद्धृत भी किया जाता है:

"इसलिये मैं यह स्वीकार करने को तैयार हूँ कि मैं न केवल एक मनुष्य के रूप में, बल्कि एक ब्रिटिश प्रजाजन के रूप में भगवान् से यह प्रार्थना करता हूँ कि जर्मनी, स्पेन, इटली और यहाँ तक कि फ्रांस का भी वाणिज्य खूब फले-फूले।"[१]

१. "व्यापार की ईर्ष्या" के सम्बन्ध में निबन्ध।

ऐडम स्मिथ के तुरन्त पूर्ववर्ती लोगों में ह्यूम सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। यहाँ पर उसका परिचय इसलिये नहीं दिया गया कि उसका समुचित रूप से विवेचन किया जा सके, अपितु इसलिये दिया गया है, क्योंकि यदि पृष्ठभूमि में ह्यूम का वर्णन न हो, तो ऐडम स्मिथ का कोई भी वर्णन उचित या सानुपात (प्रपोर्शंड) नहीं कहा जा सकता।

ऐडम स्मिथ

ऐडम स्मिथ[1] (१७२३-१७९०) का स्थान, विशेष रूप से हम इंग्लैण्ड के लोगों के लिये, राजनीतिक अर्थशास्त्र के इतिहास में इतना महत्त्वपूर्ण है, और यह इतना अधिक लोकप्रिय हो गया है, कि कोई भी विवेकशील नाविक ऐसे विशाल समुद्र पर आगे बढ़ने से पूर्व काफी हिचकता है। अन्य किसी भी स्थान की भाँति यहाँ भी केवल थोड़े से पृष्ठों में किया गया विवेचन अवश्य ही अपर्याप्त होगा, क्योंकि स्मिथ का प्रभाव और स्मिथ के विरुद्ध प्रतिक्रियाएँ उसके बाद के आर्थिक सिद्धान्तों के सारे इतिहास में व्याप्त हैं। ऐडम स्मिथ और राजनीतिक अर्थशास्त्र इन दोनों शब्दों को एक दूसरे का पर्यायवाची शब्द मानने की एक टालमटोल की मनोवृत्ति के लिये कम से कम इस बात को बहाना समझा जा सकता है। फिर भी इस प्रचलित परम्परा के दोनों ही पहलू पूरी तरह गलत हैं। ऐडम स्मिथ राजनीतिक अर्थशास्त्र का संस्थापक, आविष्कारक या अनुसन्धानकर्त्ता नहीं था। उसने इतना कुछ किया, इसका कारण यह तथ्य था कि उससे पहले इतना कुछ किया जा चुका था। किन्हीं भी अर्थों में उसे मार्गदर्शक (पायोनियर) नही कहा जा सकता। व्यापारवादी विचारक, इसमें सन्देह नहीं कि उन पर व्यावहारिकता का भूत सवार था, सब प्रकार की आर्थिक समस्याओं का विवेचन कर चुके थे। प्रकृतिवादी लोग

---

१. १७२३ में कर्कैल्डी में जन्म हुआ, ग्लासगो और आक्सफोर्ड में शिक्षा पायी। पहले ग्लासगो में (१७५१-१७६४) तर्कशास्त्र का प्रोफेसर रहा, और बाद में नैतिक दर्शन का प्रोफेसर रहा। उसके बाद ड्यूक आफ बक्लेच के निजी शिक्षक के रूप में यात्रा करता रहा। १७६७ में कर्कैल्डी लौटा। 'वैल्थ आफ नेशन्स' १७७६ में प्रकाशित हुई। १७७८ से लेकर १७९० में अपनी मृत्यु तक वह एडिनबरा में कमिश्नर आफ कस्टम्स रहा। दार्शनिक दिशा में उसने 'दी थ्योरी आफ मोरल सैन्टिमैन्ट्स' नामक पुस्तक लिखी।

संयुक्त रूप से आर्थिक प्रक्रिया का एक क्रमबद्ध विवरण प्रस्तुत करने के बहुत निकट तक पहुँच चुके थे, यद्यपि उन्होंने इसमें बहुत सी विचित्र सजावट की बातें भी भर दी थीं। ऐडम स्मिथ के बिना भी उस युग में काफी कुछ आर्थिक विचार-विमर्श हो चुका था और इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्रकृतिवादियों, डेविड ह्यूम तथा अन्य कई लेखकों की रचनाओं के आधार पर कोई प्रतिभाशाली विद्यार्थी "वैल्थ आफ नेशन्स" का बहुत बड़ा भाग तैयार कर सकता था। संक्षेप में, स्मिथ ने अपनी सारी रचनाओं से उन्हीं समस्याओं का विवेचन किया, जिनका पहले से ही विवेचन होता रहा था। इस किंवदन्ती का दूसरा पहलू वह है, जो यह मानकर चलता है कि राजनीतिक अर्थशास्त्र ऐडम स्मिथ को ईंट के रूप में प्राप्त हुआ था—यदि यह मान लिया जाय कि उस समय तक यह इतना विकसित हो चुका था और स्मिथ ने उसे संगमरमर बनाकर छोड़ा। परन्तु यह टिप्पणी भी सत्य से बहुत दूर है। यदि इस सब से बड़े स्काटलैंड निवासी की सफलता के सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से कहा जाय, तो "वैल्थ आफ़ नेशन्स" एक ऐसी रचना है, जो अत्यन्त स्पष्ट दोषों से भरी हुई है। जो लोग से (नाम है) की भाँति इस रचना को "एक विशाल गड़बड़झाला" कहते हैं, हो सकता है कि उनका मूल्यांकन कुछ कठोर हो; परन्तु यह निश्चित है कि यह पुस्तक एक अत्यन्त अव्यवस्थित पुस्तक है, जिसमें विचार का पूर्वापर अनुक्रम लम्बे-लम्बे विषय से असम्बद्ध प्रकरणों के पीछे सफलतापूर्वक छिपा हुआ है। इसके अतिरिक्त अपनी सारी सूक्ष्मता के बावजूद मुख्य-मुख्य बातों के सम्बन्ध में ऐडम स्मिथ कई बार आश्चर्यजनक रूप से घपले में पड़ जाता है, और कुछ थोड़े से अवसरों पर जैसा कि मूल्य के विवेचन के सम्बन्ध में पाठक को यहाँ तक सन्देह होने लग जाता है कि स्मिथ अपने मन में ही इस विषय में स्पष्ट नहीं है कि वह दो विषयों में से किस एक का विवेचन कर रहा है। इसी प्रकार, यद्यपि यह दोष कभी-कभी गुण भी बन जाता है, वह उसी एक अध्याय में परस्पर-विरोधी विचारधाराओं को ऐसे रूप में प्रस्तुत करता है, जिससे वह दो वैकल्पिक सिद्धान्तों की ओर संकेत करता सा प्रतीत होता है, और जब कि वह स्वयं उन दोनों विकल्पों में विद्यमान पारस्परिक विरोध का एक पक्ष में निर्णय नहीं कर पाता; या कई बार तो देखने में ऐसा प्रतीत होता है कि उसे उन परस्पर-विरोधियों का ज्ञान ही नहीं है। राजनीतिक अर्थशास्त्र,

जिस रूप में उसे ऐडम स्मिथ ने छोड़ा था, किसी भी तरह पूर्ण और परिष्कृत सिद्धान्त-प्रणाली नहीं था। दुर्बल व्यक्ति की अन्य सब रचनाओं की भाँति इसमें भी गलतियाँ थीं, बहुत से व्यवधान थे; अस्पष्टताएँ थीं और व्यक्तिगत पक्षपात थे।

फिर भी, शैतान को सन्तुष्ट करने के लिये इतना कह चुकने के बाद भी, यह सत्य है कि अर्थशास्त्रीय विचार के इतिहास में ऐडम स्मिथ का नाम अद्वितीय रूप से महान् है। भले ही वह अपने आप अँधेरे में टटोलने वाला व्यक्ति था, परन्तु कम से कम उसने आधार भूमि का पता लगा लिया था। उसने वस्तुओं पर ऐसे समूचे रूप से दृष्टि डाली, जैसे उससे पूर्व का कोई विचारक नहीं डाल सका था; और भले ही उसके द्वारा नियत किया गया क्रम दोष-युक्त हो, फिर भी यह सत्य है कि उसका किया हुआ विश्लेषण, जिसे उसके अनुयायियों ने परिष्कृत किया और जिसे एक प्रणाली का रूप दिया, ही एक बहुत बड़ी सीमा तक वह आधार बना, जिसके ऊपर बाद में आने वाला सारा अर्थशास्त्रीय विचार आगे प्रगति कर सका। ऐडम स्मिथ से पहले आर्थिक विवेचन तो काफी हो चुका था, परन्तु ऐडम स्मिथ के साथ हम अर्थशास्त्र के विवेचन की दशा तक पहुँच जाते हैं।

दुर्भाग्य से ऐडम स्मिथ को उसके सम्पूर्ण रूप में देख पाना बहुत कठिन है। इसका सीधा-सादा कारण यह है कि कुछ अंशों में ऐडम स्मिथ खेदजनक रूप से अत्यधिक लोक-विदित है। ऐडम स्मिथ के विचारों के अलग-अलग खंड उन लोगों को भी मालूम हैं, जिनका काम अर्थशास्त्रीय ज्ञान का संग्रह करना नहीं है। श्रम के विभाजन के सम्बन्ध में लिखे गये उसके अध्याय में सब से बढ़कर वह रूप, जिसमें उसने पिनों के निर्माण का वर्णन किया है, विभिन्न नौकरियों में वेतन की विभिन्न दरों के कारणों का विवेचन, उसके करारोपण के सिद्धान्त, और व्यापारवादियों के विरुद्ध विवाद में उसके उग्रतापूर्ण सन्दर्भ ये सब वे छुटपुट बातें हैं, जो उन लोगों को भी मालूम हैं, जो अर्थशास्त्र के अध्ययन से दूर ही दूर रहते हैं। परन्तु ऐडम स्मिथ की कुछ खास शिक्षाओं के सम्बन्ध में लोगों का इतना परिचित होना उसके सिद्धान्तों को समूचे रूप में देखने और उनका सारांश ग्रहण करने के कार्य को तथा अर्थशास्त्रीय सिद्धान्त के विकास पर पड़ने वाले उसके प्रभाव की मात्रा और प्रकृति को समझने के

कार्य को बहुत कठिन बना देता है। इसलिये ऐडम स्मिथ के कुछ पहलुओं पर उड़ती नजर डालने के बजाय इस अध्याय में मुख्य रूप से "दी वैल्थ आफ नेशन्स" का समूचे रूप में एक सर्वांगीण रूप प्रस्तुत करने का यत्न किया जायगा, जिससे कि अपेक्षाकृत अधिक सुपरिचित भाग भी सारी रचना के साथ अपने समुचित सम्बद्ध रूप में दिखाई पड़ सकें।

परन्तु उसके सिद्धान्त का मूल्यांकन करने का प्रयत्न करने से पहले उसके अपेक्षाकृत अधिक सामान्य दृष्टिकोणों के सम्बन्ध में कुछ एक वाक्य कह देना उचित होगा। जिन प्रभावों ने ऐडम स्मिथ को उत्पन्न किया, वे अनेक हैं; और उनका विचार करने के लिये हमें यहाँ रुकने की आवश्यकता नहीं है। कुछ श्रेय उसके अध्यापक हचेसन को दिया जा सकता है, जिसके प्रभावस्वरूप उसने इस बात पर जोर दिया कि "प्राकृतिक" क्या है? कुछ श्रेय क्योंकि सब आलोचक इस बात पर सहमत हैं और इसलिये यह कहना ठीक होगा मैंडेविल और उसकी इस आत्म-विरोधी मान्यता को दिया जा सकता है कि निजी "स्वार्थ" (निजी हित अधिक उपयुक्त शब्द होगा) सार्वजनिक हित में सहायक हो सकते हैं। कुछ श्रेय प्रकृतिवादियों के साथ हुए उसके विचार-विनिमय को दिया जा सकता है; यद्यपि अब यह बात सुनिश्चित हो चुकी है कि उसकी विचारधारा का मुख्य भाग उस समय से पहिले ही विकसित हो चुका था, जब कि वह प्रकृतिवादी विचारक वर्ग के नेताओं से मिला। यह कहना पर्याप्त है कि ऐडम स्मिथ का विचार प्रकृतिवादी तथा अठारहवीं शताब्दी के अन्य विचारकों से इस विषय में मेल खाता था कि वे सब लोग एक प्राकृतिक व्यवस्था में विश्वास रखते थे। ऐडम स्मिथ के मामले में यह विश्वास ऐसे विचारों पर आधारित था, जो अंशतः दार्शनिक और अंशतः धार्मिक थे। प्राकृतिक व्यवस्था का अर्थ यह था कि सब प्रकार के प्रतिबन्धों को हटा दिया जाय; और इसलिये स्मिथ स्वतन्त्रता का एक उत्साही समर्थक है, भले ही उसे इस विषय में कट्टर सिद्धान्तवादी नहीं कहा जा सकता। परन्तु उसकी दृष्टि में सब प्रतिबन्धों को हटाने का परिणाम आर्थिक अव्यवस्था न होगी; बल्कि इसके विपरीत केवल उसी दशा में प्राकृतिक व्यवस्था अपना काम सुचारु रूप से कर सकेगी। इस प्रकार की प्राकृतिक दशा में दैवीय शक्तियों द्वारा नियुक्त वह प्रेरणा, जो इस सारे संसार-यन्त्र को चला रही है, एक मनोवैज्ञानिक

सहजवृत्ति होगी। इसे संक्षेप में कहा जा सकता है कि वह हित, जो व्यक्ति को अपने प्रति और अपनी वस्तुओं के प्रति होता है, वही यह मनोवैज्ञानिक सहजवृत्ति है। यहाँ पर ऐडम स्मिथ में एक पहले से मान लिये गये तत्त्व को आधार बनाकर युक्ति करने की बात दिखाई पड़ती है। संसार में एक प्राकृतिक व्यवस्था है, जो एक बुद्धियुक्त सर्वोच्च शक्ति द्वारा इस प्रकार बनाई गई है, कि उसमें आत्महित इस यन्त्र को चालू रखने के लिये आवश्यक प्रेरणा प्रदान करता रहेगा; और इस आत्महित की क्रिया इस प्रकार की होगी कि उससे विरोधी शक्तियों में समतुलन (ईक्विलिब्रियम) बना रहे। इस मान्यता के फलस्वरूप हमारे सामने संसार का एक ऐसा पूर्णतया आशावादी दृष्टिकोण आता है, जिसमें एक परोपकारी दिव्य शक्ति ने यह व्यवस्था की है कि प्रगति और शान्ति मनुष्यों की ऐसी सहजवृत्तियों की स्वच्छन्द क्रीड़ा के परिणामस्वरूप उत्पन्न होगी, जो स्पष्ट शब्दों में कहा जाय तो, आत्मकेन्द्रित और आत्महित चिन्तन में रत हैं। परन्तु इस पूर्वस्वीकृत (ए प्रायरी) तत्त्व के साथ-साथ ऐडम स्मिथ का एक और भी पहलू है, जिसके कारण वह अत्यन्त कठोर यथार्थवादी है और कुछ अवसरों पर तो उसकी इस यथार्थवादिता में दुःखवाद का भी पुट आ जाता है। ऐडम स्मिथ के मन में अपनी समस्याओं का विवेचन करते हुए चाहे कोई भी दार्शनिक पक्षपात क्यों न रहा हो, परन्तु उसके पैर सदा जमीन पर दृढ़ता से जमे रहते हैं। लौकिक मामलों में वह कोई अधकचरा विचारक नहीं था, इसीलिये उसकी दार्शनिक पूर्व मान्यताएँ उसे अपनी अनुमितियों को उन स्थानों पर लागू करने से रोक नहीं पातीं, जहाँ कि उन्हें लागू नहीं किया जाना चाहिये; और जैसा कि प्रारम्भ में प्रतीत होता है कि वह सम्भवतः उन मान्यताओं को सब जगह लागू करेगा। इसी प्रकार यद्यपि ऐडम स्मिथ का सामान्य दृष्टिकोण असंदिग्ध रूप से आशावादी है, फिर भी जब किन्हीं विशेष मामलों का प्रश्न उपस्थित होता है, तो वह यह मानकर नहीं चलता कि संसार में जो कुछ हो रहा है, वह ठीक ही हो रहा है।

अठारहवीं शताब्दी में आर्थिक समस्या को प्रस्तुत करने की एक पद्धति यह भी थी कि इस बात को खोज निकाला जाय, और स्पष्ट रूप में लोगों के सामने रख दिया जाय, कि सम्पत्ति का वास्तविक स्रोत क्या है? व्यापारवादियों ने मोटे तौर पर राष्ट्र की सम्पत्ति की वृद्धि का श्रेय व्यापार के अनु-

कूल सन्तुलन को दिया था। प्रकृतिवादियों ने यह बताया था कि सारी सम्पत्ति कृषि से उत्पन्न होती है; और यह, कि अन्य सब पेशे अनुत्पादनशील हैं। ऐडम स्मिथ का प्रारम्भिक वाक्य ही इस विषय में उसकी स्थिति को स्पष्ट करने की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है: "प्रत्येक राष्ट्र का वार्षिक श्रम ही वह कोष है, जो मूलतः उस राष्ट्र को जीवन के लिये आवश्यक और सुविधाजनक उन वस्तुओं की उपलब्धि कराता है, जिनको वह राष्ट्र प्रतिवर्ष उपभोग करता है।"[1] इस प्रकार यहाँ सारी सम्पत्ति का स्रोत श्रम को बताया गया है; और सम्भवतः इसी के फलस्वरूप यूरोपीय महाद्वीप में यह भ्रामक बात प्रचलित है कि वहाँ स्मिथ की प्रणाली (या स्मिथियनिसमस) का उल्लेख औद्योगिक प्रणाली के रूप में किया जाता है। यह बात भ्रामक इसलिये है क्योंकि वस्तुतः ऐडम स्मिथ ने अपनी पुस्तक औद्योगिक क्रान्ति से बहुत पहले लिखी थी और इसलिये वह किसी भी रूप में न तो उसका प्रवर्तक है और न उसका समर्थक जैसा कि बहुत बार मान लिया जाता है; बल्कि वह तो कृषि का कहीं अधिक समर्थक है और औद्योगिक तथा वाणिज्य-विषयक हितों का उसकी अपेक्षा कहीं अधिक आलोचक है, जितना कि आमतौर से समझा जाता है। इसलिये स्मिथ की प्रारम्भिक मान्यताओं के आधार पर सम्पत्ति की वृद्धि उस कुशलता, प्रवीणता और सूझ-बूझ पर निर्भर है, जिसके द्वारा श्रम का प्रयोग किया जा रहा है। इस प्रकार स्मिथ अपनी पुस्तक के पहले खंड के पहले अध्याय में ही सीधा श्रम के विभाजन के सिद्धान्त की स्थापना करने लगता है। श्रम के विभाजन का सिद्धान्त स्पष्टतया किसी भी अर्थ में नया नहीं है। प्लेटो के आदर्श राज्य के मूल में यही सिद्धान्त विद्यमान है। जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, जैनोफन को भी इस सिद्धान्त के विषय में सब कुछ मालूम था और सभी देशों की बुद्धि इस सिद्धान्त के मुख्य भाग के प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करती रही है। फिर भी सामान्य तौर पर स्मिथ द्वारा इस सिद्धान्त के आविष्कार को जो इतना महत्त्व दिया जाता है, वह ठीक ही है; क्योंकि यहाँ श्रम के विभाजन को आर्थिक जीवन के एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथ्य के रूप में अग्रभूमि में प्रस्तुत किया गया है। इस सिद्धान्त की स्मिथ के सिद्धान्त पर प्रतिक्रिया बहुत अधिक

१. "वैल्थ आफ नेशन्स", भूमिका और योजना।

है। इस मूलभूत धारणा के दो दिशाओं में पड़ने वाले प्रभाव का यहाँ संकेत किया जा सकता है। पहली बात तो यह है कि श्रम का विभाजन आगे चल कर विनिमय की स्थापना का आधार बनता है और वस्तुतः स्मिथ अपने प्रारम्भ बिन्दु से ही अगली सीढ़ी पर चलकर पैसे और मूल्य के सम्बन्ध में विचार करने लगता है। यह कहा जाता है कि प्रकृतिवादियों की दुर्बलता यह है कि उनके पास मूल्य का कोई सिद्धान्त न था। स्मिथ ने जिस स्थल से प्रारम्भ किया, वहाँ से चलकर उसे अनिवार्य रूप से इस समस्या पर विचार करना पड़ा। दूसरी बात यह है कि श्रम के विभाजन और उसके साथ अनिवार्य रूप से जुड़े हुए बाद में होने वाले पदार्थों के विनिमय पर जोर देने के कारण स्मिथ ने समाज को मनुष्यों के एक ऐसे विशाल समूह के रूप में देखा था, जो उनमें परस्पर होने वाले विनिमयों के आधार पर संगठित है; और वह यह समझता था कि जिस भी बात से इन विनिमय-योग्य मूल्यों में वृद्धि हो, वह बात सम्पत्ति को बढ़ाने वाली होगी। स्मिथ की विचारधारा की जर्मनों द्वारा की गई अत्यधिक आलोचना का मूल यही है।

इसलिए इन प्रारम्भिक अध्यायों का महत्त्व इस दृष्टि से उतना नहीं है कि ऐडम स्मिथ ने श्रम के विभाजन के सम्बन्ध में कहा क्या है, अपितु इस दृष्टि से अधिक है कि यह श्रम का विभाजन उसके सिद्धान्त में केन्द्रीभूत और महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त किए हुए है। श्रम के विभाजन का परिणाम यह होता है कि उत्पत्ति बढ़ जाती है। श्रम के विभाजन से होने वाले लाभ कारीगरों की बढ़ी हुई कुशलता, समय की बचत और उसके कारण आविष्कारों को प्राप्त होने वाले प्रोत्साहन के कारण उत्पन्न होते हैं; ये बातें अपने आप में कोई युग-प्रवर्तनकारी खोजें नहीं हैं।[1] यहाँ तक कि इससे आगे का यह प्रसिद्ध नियम भी, कि श्रम का विभाजन बाजार के विस्तार से सीमित हुआ रहता है,[2] यदि ठीक ढंग से देखा जाय तो एक स्वतःसिद्ध वस्तु की अपेक्षा कुछ भी अधिक नहीं है; क्योंकि वह सीमा, जिस तक श्रम का विभाजन किया जा सकता है, स्पष्टतया ही उस काम की मात्रा पर निर्भर रहेगी, जो किया जाना है; और इसी बात को दूसरे शब्दों में कहा जाय, तो कहा जा सकता है कि वह बाजार के विस्तार

१. वही; खंड १ अध्याय १।

२. वही: खंड १, अध्याय ३।

पर निर्भर रहेगी। स्मिथ द्वारा किया गया श्रम-विभाजन के परिणामों का स्पष्टीकरण उसके द्वारा प्रस्तुत श्रम-विभाजन के सिद्धान्त के विवरण की अपेक्षा कहीं अधिक सन्तोषजनक है। उसका कथन है कि श्रम-विभाजन समृद्धि को बढ़ाने के उद्देश्य से किये गए, मनुष्य की बुद्धि से प्रेरित कार्यों का परिणाम नहीं है, बल्कि यह तो लेन-देन या वस्तु-विनिमय की स्वाभाविक प्रवृत्ति का परिणाम है, मानो लेन-देन या विनिमय का कार्य अपने आप में जीवन का आनन्द हो।[1] परन्तु इस प्रकार की एक भद्दी भूल करने के बाद स्मिथ एकदम श्रम के विभाजन की एक और अधिक युक्तिसंगत व्याख्या करता है; और कहता है कि यह मनुष्य को अपने साथियों के सहयोग और उनकी सहायता की अनवरत आवश्यकता की एक अभिव्यक्ति मात्र है। "मनुष्य को लगभग सदा ही अपने साथियों से सहायता प्राप्त करने की आवश्यकता होती है; और यह आशा करना व्यर्थ है कि उसे यह सहायता उनकी केवल परोपकार-भावना द्वारा प्राप्त होती रहेगी।" और इसके बाद स्मिथ अपने सही रूप में सामने आता है और वह कहता है : "हम अपने भोजन के लिए कसाई, शराब बनाने वाले या रोटी पकाने वाले की केवल परोपकार-भावना पर निर्भर नहीं रहते; बल्कि हम उनसे इन कामों की आशा इसलिए करते हैं, क्योंकि इससे उनके अपने हित पूर्ण होते हैं।" इस दृष्टिकोण के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति, जो दूसरों की आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए परिश्रम कर रहा होता है उसे साथ ही साथ यह भी निश्चय होता है कि दूसरे लोग उसकी आवश्यकताओं को पूर्ण करेंगे। समाज उन विनिमयों द्वारा परस्पर बँधा हुआ है, जो आत्म-हित द्वारा प्रेरित हैं और जो श्रम के विभाजन पर आधारित हैं।

इस प्रकार पहले तीन अध्यायों में श्रम के विभाजन का विवेचन करने के पश्चात् ऐडम स्मिथ चौथे अध्याय में पैसे के उद्गम का विवेचन करता है, जिसकी आवश्यकता के कारण स्मिथ के कथनानुसार मनुष्यों में विभिन्न पेशों का प्रारम्भ हुआ। "किसी न किसी सीमा तक प्रत्येक व्यक्ति एक व्यापारी बनता है" और इसलिये एक मुद्रा की आवश्यकता होती है, जो "वाणिज्य का सर्वमान्य साधन बन सके।" इस प्रकार "वस्तुओं के सापेक्ष मूल्य या विनिमय-योग्य

१. वही; खंड १, अध्याय २।

मूल्य" का विचार उत्पन्न होता है और हम उस प्रसिद्ध, और लगभग बदनाम अनुच्छेद तक पहुँच जाते हैं, जिसमें स्मिथ कहता है कि मूल्य के दो विभिन्न अर्थ होते हैं। कई बार तो मूल्य उस विशिष्ट वस्तु की उपयोगिता को सूचित कर रहा होता है; और कई बार वह उस वस्तु की अन्य वस्तुओं को खरीद सकने की शक्ति का सूचक होता है। इनमें से पहले प्रकार का मूल्य "उपयोग मूल्य" है और दूसरे प्रकार का मूल्य "विनिमय मूल्य" है। वह उचित रूप से मूल्य के इन परस्पर विरोधी रूपों की ओर ध्यान आकृष्ट करता है। और पानी और हीरों के उदाहरण देकर यह बताता है कि यह सम्भव है कि जिस वस्तु का उपयोग-मूल्य बहुत अधिक हो, उसका विनिमय-मूल्य बहुत थोड़ा हो, या बिलकुल न हो, और इसी प्रकार दूसरी ओर उपयोग-मूल्य कुछ भी न होने पर, सम्भव है, उस वस्तु का विनिमय-मूल्य बहुत हो। यह विषय विवाद का बहुत अच्छा विषय है, और खासतौर से तब, जब कि आस्ट्रियन विचारक मैदान में उतरते हैं। परन्तु जहाँ तक ऐडम स्मिथ का सम्बन्ध है, ह्यूबर्ट फिलिप्स के अमर शब्दों में,

उस चालाक चिड़िया ने
सीमान्त उपयोगिता की बात
कभी सुनी ही नहीं थी।

इस स्थान पर केवल इतना कह देना भर पर्याप्त है कि स्मिथ उपयोग-मूल्य क ऊपर दृष्टिपात भर करने के पश्चात् विनिमय-मूल्य के सम्बन्ध में विचार प्रारम्भ कर देता है।

जहाँ तक विषय-वस्तु का प्रश्न है, अगले तीन अध्यायों में विनिमय-मूल्य की धारणा का युक्ति-युक्त ढंग से विकास किया गया है। पहली बात तो यह है कि ऐडम स्मिथ (पाँचवें अध्याय में) इस विषय पर विचार करने लगा है कि इस विनिमय-मूल्य का "सही सही मापदंड" क्या है। यह अध्याय स्मिथ के सबसे अधिक अस्पष्ट अध्यायों में से एक है; और यहाँ पाठक पर यह प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता कि स्मिथ के मस्तिष्क में दो परस्पर बिलकुल भिन्न प्रश्न उलझे हुए हैं। कई बार तो ऐसा प्रतीत होता है कि वह इस बात का विवेचन कर रहा है कि मूल्य की निर्णायक वस्तु कौनसी है; परन्तु फिर किसी और स्थल पर ऐसा प्रतीत होने लगता है कि वह इस बात पर

विचार कर रहा है कि इस चंचल और परिवर्तनशील संसार में मूल्य का सर्वोत्तम, अर्थात् सबसे अधिक स्थायी मापदंड क्या है, उदाहरण के लिये, मेरे फ़ाउन्टेनपैन की कीमत का निर्धारण उस श्रम की मात्रा के द्वारा किया जा सकता है, जो इसे बनाने में लगाया गया है, और यदि इसका मूल्य १० रुपये है, तो वह मूल्य इसलिये हो सकता है कि इसको बनाने में १० रुपये के मूल्य का श्रम, चाहे वह किसी प्रकार गिना गया हो, लगा है। यह तो हुई एक बात; परन्तु सन् १८००, १८९० और १९२० में १० रुपये के मूल्य में जो उतार-चढ़ाव होते रहे, उन पर ध्यान देने से यह अनुभव होगा कि जब मैं कहता हूँ कि मेरे पैन की कीमत १० रुपये है, तो मैं समस्या के समाधान की ओर बहुत आगे नहीं बढ़ पाया। परन्तु यदि आजकल कोई नौकर ५ रुपये रोज पर काम करता हो, तो मैं कह सकता हूँ कि मेरे पैन की कीमत एक नौकर के दो दिन के काम के बराबर है। उस दशा में मैं अपने पैन के मूल्य के नाप के लिए उसकी सोने की कीमत की अपेक्षा श्रम को कहीं अधिक अच्छा समझ रहा होऊँगा। यह विचार करना, कि मूल्य का निर्धारण करने वाला तत्त्व क्या है, और यह विचार करना, कि मूल्य का आदर्श मापदंड क्या है, ये दो वस्तुतः अलग-अलग प्रश्न हैं; और स्मिथ मुख्य रूप से इनमें से पिछले प्रश्न के अनुसंधान में लगा है। सैद्धान्तिक आलोचना की सूक्ष्म गहराइयों में न जाते हुए इस महत्त्वपूर्ण अध्याय के मुख्य-मुख्य निष्कर्षों का उल्लेख किया जा सकता है। सम्भवतः इसमें सबसे अधिक मूलभूत संदर्भ उसका यह प्रारम्भिक वक्तव्य है :

"इसलिये किसी भी पदार्थ का मूल्य, उस व्यक्ति के लिए, जो उस पदार्थ का स्वामी तो है, परन्तु जो उस पदार्थ का उपयोग या उपभोग स्वयं नहीं करना चाहता, अपितु उस पदार्थ का विनिमय अन्य पदार्थों के साथ करना चाहता है, श्रम की उस मात्रा के बराबर होगा, जो उस मूल्य द्वारा खरीदी या प्राप्त की जा सकती है। इसलिये सब पदार्थों के विनिमय-मूल्य का वास्तविक मापदंड श्रम है।"

संक्षेप में, किसी भी वस्तु के स्वामी के लिए उस वस्तु का मूल्य, जिसे वह विनिमय में देना चाहता है सबसे अच्छी तरह श्रम की उस मात्रा द्वारा नापा जाता है, जो उस पदार्थ की विक्रय-कीमत द्वारा प्राप्त की जा सकती है।

परन्तु, भले ही इस अर्थ में श्रम-पदार्थों के विनिमय-मूल्य का सही मापदंड हो, लेकिन सामान्यतया उन वस्तुओं का मूल्यांकन और ही ढंग से किया जाता है। सुविधा और परम्परा के कारण वस्तुतः उनका मूल्यांकन पैसे के रूप में किया जाता है। परन्तु एक ओर जहाँ सोने और चाँदी के मूल्य में घट-बढ़ होती रहती है, वहाँ दूसरी ओर "सब कालों और स्थानों में श्रम की समान मात्रा का मूल्य श्रमिक के लिये समान ही कहा जा सकता है।" सम्भवतः वह यह कहना चाहता है कि अदन के उपवन से निकाले जाने के समय आदम की थकान से दुखती हुई कमर और आजकल रीजेंट स्ट्रीट में काम करने वाले मजदूर की थकान से दुखती हुई कमर, दोनों बराबर हैं। अर्थात् उतने श्रम का जितना मूल्य आदम के लिये था, उतना ही आज के मजदूर के लिये भी है। एक और प्रकार के सम्भावित प्रमाप के साथ भी स्मिथ ने जरा-सा खिलवाड़ किया है। अन्न की समान मात्राएँ भी, जो कि श्रमिक के जीवन-निर्वाह की प्रतीक हैं, अन्य किसी भी पदार्थ की अपेक्षा इस प्रकार के नाप के लिये अधिक उपयुक्त सिद्ध होगी; और वस्तुतः यदि हम यह मानकर चलें कि सामान्यतया वेतनों पर जीवन-निर्वाह का नियम ही लागू होता है, और यह कि जीवन की आवश्यकताएँ सदा एक जैसी रहती हैं, तो यह भी बहुत कुछ वैसा ही प्रमाप बन जाता है, जैसा कि श्रम। अन्तिम निष्कर्ष यह है कि "इसलिये यह स्पष्ट प्रतीत होता कि केवल श्रम ही मूल्य का सार्वभौम और एकमात्र ठीक-ठीक नाप है; या यही वह एक प्रमाप है, जिसके द्वारा हम विभिन्न पदार्थों के मूल्यों की सब कालों में और सब स्थानों में तुलना कर सकते हैं।" शताब्दी से शताब्दी तक की दृष्टि से अन्न चाँदी की अपेक्षा अधिक अच्छा प्रमाप है; किन्तु एक वर्ष से दूसरे वर्ष की तुलना करने की दृष्टि से चाँदी अन्न की अपेक्षा अधिक अच्छा प्रमाप है। सारा विवेचन बहुत कुछ धुंधला और अस्पष्ट है। इसमें श्रम के मूल्य की स्थिरता के सम्बन्ध में न केवल बहुत सी अनावश्यक कल्पनाएँ सम्मिलित कर ली गयी हैं, बल्कि ऐसा भी प्रतीत होता है कि सारी युक्तियाँ चक्कर काट कर, घूम-फिर कर बार-बार वहीं आ जाती हैं। परन्तु फिर भी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि स्मिथ के निष्कर्ष का मुख्य रूप से सम्बन्ध श्रम से है, जिसे मूल्य का सर्वोत्तम माप माना गया है; और अभिव्यक्ति की कुछ अस्पष्टताओं को छोड़ कर, कम से कम यहाँ, यह सिद्ध करने का प्रयत्न नहीं किया गया कि श्रम

मूल्य का निर्धारक है।

अगले अध्याय में (खंड १, अध्याय ६) स्मिथ पदार्थों की कीमतों के उन अंगों का विचार प्रारम्भ करता है, जिनसे मिलकर कीमत बनती है। किसी भी "समाज की प्रारम्भिक और असंस्कृत दशा में," जब कि संग्रहों (पूंजी) का संचय और भूमि पर निजी स्वामित्व नहीं होता, वह स्पष्ट रूप से श्रम को मूल्य का निर्धारक और मापदंड दोनों ही बतलाता है। इस दशा में श्रम की सारी उपज पर श्रमिक का अधिकार होता है; और (यह एक बिलकुल अलग प्रकार का विचार है) "श्रम की वह मात्रा, जो सामान्यतया किसी पदार्थ को प्राप्त करने या उसका उत्पादन करने में लगायी जाती है, वही एक ऐसी वस्तु है जो उस श्रम की मात्रा का नियमन कर सकती है, जिसका सामान्यतया विनिमय किया जाना चाहिये।" परन्तु ऐसा केवल समाज की प्रारम्भिक और असंस्कृत दशा में ही होता है। जब पूंजी संचित हो जाती है, तब कच्चे माल की कीमत और मजदूरी के वेतनों को चुका देने के बाद भी कुछ वस्तु ऐसी बचनी चाहिये, जो नवारम्भकर्त्ता का लाभ (प्राफिट) हो। यद्यपि ऐडम स्मिथ पूंजी पर होने वाले लाभ को एक खास प्रकार के श्रम का वेतन मात्र मानता है, परन्तु उसका कथन है कि लाभ का नियमन सामान्य वेतन पर लागू होने वाले सिद्धान्तों की अपेक्षा बिलकुल भिन्न सिद्धान्तों द्वारा होता है। इस दशा में न तो सारी उपज पर श्रम का अधिकार होता है और न इस दशा में श्रम ही पूर्णतया मूल्य का निर्धारक होता है। अन्त में, भूमि पर निजी अधिकार जम जाने के साथ-साथ एक और तीसरा तत्त्व उत्पन्न हो जाता है। "भूमि के स्वामी भी, अन्य सब लोगों की अपेक्षा, वहां से फसल काटना पसन्द करते हैं, जहां कि उन्होंने कभी बीज नहीं बोये थे। और इस प्रकार भूमि की स्वाभाविक उपज के लिये भी भाड़ा (रैन्ट या लगान) मानते हैं।" स्मिथ के विचार भाटक या भाड़े के सम्बन्ध में कभी भी स्पष्ट नहीं थे। यहां यह स्पष्ट है कि वह भाटक को एक प्रकार की लूट-खसोट मात्र समझता है। इस प्रकार हम अत्यन्त परिचित तिहरे विभाजन पर आ पहुंचते हैं, जिसके द्वारा यह स्पष्ट होता है कि सब कीमतों में भाटक, वेतन और लाभ के तत्त्व विद्यमान रहते हैं, जो क्रमशः अर्थशास्त्र के महान् त्रितय भूमि, श्रम और पूंजी से सम्बद्ध हैं।

परन्तु यह सिद्धान्त व्यवहार में किस प्रकार काम करता है? अगले

अध्याय (सातवें अध्याय) में जिसका शीर्षक है "पदार्थों की स्वाभाविक और बाजार-कीमतों के सम्बन्ध में", स्मिथ ने इस प्रश्न का उत्तर दिया है। वह यह मानकर चलता है और यह मुख्य रूप से केवल कल्पना ही है, कि प्रत्येक समाज में वेतनों, लाभ और भाटक की एक सामान्य या औसत दर होती है। इन सामान्य या औसत दरों को वह उस काल और स्थान की प्राकृतिक दरें" कहता है, जहाँ वे प्रचलित होती हैं। परन्तु "यह प्राकृतिक दर" एक भयंकर ऐसा वाक्यांश है, जिसके सम्बन्ध में अनेक प्रश्न उठ सकते हैं। इस प्राकृतिक दर से मिलती-जुलती वस्तु किसी भी पदार्थ की "प्राकृतिक कीमत" होती है, जो वह कीमत होती है, जिसमें से वेतन, लाभ और भाटक, इन तीनों की प्राकृतिक दरों का भुगतान हो सके। उस दशा में पदार्थ उतनी कीमत पर बिकता है, "जो उसका ठीक-ठीक मूल्य होता है।" इस विचार से ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे मूल्य भी कोई वस्तुरूपात्मक (ओब्जेक्टिव) वास्तविकता है, जिसका ठीक-ठीक निर्धारण किया जा सकता है। संक्षेप में, प्राकृतिक कीमत (या हमें कहना चाहिये "सामान्य कीमत ?") वस्तुतः मूल्य के "उत्पादन की लागत" वाले सिद्धान्त का प्रतिनिधित्व करती है। प्राकृतिक कीमत अपने आप में एक आदर्श है; और उसके मुकाबले में है—वास्तविक या बाजार कीमत, जो उस वस्तु की माँग और उपलब्धि की दशाओं द्वारा और ग्राहकों तथा विक्रेताओं की पारस्परिक प्रतियोगिता द्वारा नियत होती है। इस प्रतियोगिता के फल-स्वरूप प्राकृतिक कीमत ही वह केन्द्रीभूत कीमत बन जाती है, जिसकी ओर अन्ततोगत्वा सब कीमतें खिंचती रहती हैं। परन्तु कुछ अपवादस्वरूप मामलों में बाजार-कीमत बहुत लम्बे समय तक प्राकृतिक कीमत से बहुत ऊपर रह सकती है। इस प्रकार के मामलों में वह उन मामलों का उल्लेख करता है जिन्हें आजकल हम आभास-भाटक (क्वासि-रैन्ट) कहते हैं, और जो उस दशा में बढ़ी हुई माँग के रूप में प्रकट होते हैं, जब कि किसी पदार्थ के "निर्माण के रहस्य" काफी लम्बे समय तक गुप्त रखे जाते हैं; और वे मामले, जहाँ उत्पादन की परिस्थितियाँ तो सीमित होती हैं, और उन पदार्थों की माँग बहुत होती है; जैसा कि शराब के सम्बन्ध में है, जिसके लिये एक विशेष प्रकार की मिट्टी और अवस्थिति (सिचुएशन) की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार एकाधिकार के मामलों में भी यही बात लागू होती है, जहाँ कि कीमत "उतनी रखी

जाती है, जितनी कि अधिक से अधिक प्राप्त हो सकती है।" इस प्रकार यह है स्मिथ का मूल्य का सिद्धान्त। संक्षेप में, श्रम मूल्य का आदर्श मापदंड है। किसी भी दिये हुए खास समय में मूल्य का निर्धारण माँग और उपलब्धि की दशाओं द्वारा होता है; परन्तु प्रतियोगिता के प्रभाव के कारण; कुछ अपवाद स्वरूप ऐसी दशाओं को छोड़कर, जिनमें कि स्थिति विक्रेता के अनुकूल होती है, इस मूल्य की प्रवृत्ति सदा उत्पादन की लागत की ओर आने की ओर रहती है।

इस प्रकार श्रम, पूंजी और भूमि के तत्त्वों तक पहुँच चुकने के बाद स्मिथ पहले खंड के शेष अध्यायों में यह विचार करना प्रारम्भ करता है कि इनके अनुसार होने वाले आगम (रैवैन्यू) अर्थात् वेतन, लाभ और भाटक का निर्धारण किस प्रकार होता है। आठवें अध्याय में, जिसमें वेतनों के सम्बन्ध में विचार किया गया है स्मिथ की शक्ति और दुर्बलता दोनों ही बड़े स्पष्ट रूप में दिखाई पड़ती हैं। यह कहा जा सकता है कि उसकी युक्तियाँ वेतनों के किसी पक्के सिद्धान्त के विषय में किन्हीं निश्चित निष्कर्षों तक नहीं पहुँच पातीं। परन्तु दूसरी ओर वह कई प्रकार की विचार-शृंखलाएँ प्रस्तुत करता है, और बाद में निश्चित किये गये वेतन के सिद्धान्तों में से शायद ही कोई ऐसा हो, जिसका समर्थन इस अध्याय में आये हुए किसी संदर्भ द्वारा न हो सकता हो।

इस अध्याय का प्रारम्भ इस सिद्धान्त के द्वारा होता है कि "श्रम द्वारा की गयी उपज श्रम का प्राकृतिक पारिश्रमिक वेतन है" इस वाक्यांश में फिर वही कमबख्त शब्द "प्राकृतिक" आ पड़ा है। स्मिथ का कथन कि समाज की प्रारम्भिक दशा में "श्रम द्वारा की गयी सारी उपज पर श्रमिक का अधिकार रहता है।" यहाँ यदि ध्यान दिया जाय, तो प्रारम्भ में ही इस सिद्धान्त का समर्थन है कि "श्रम की सारी उपज पर श्रमिक का अधिकार है" जो उन्नीसवीं शताब्दी के समाजवादी सिद्धान्त का एक महत्त्वपूर्ण भाग है। परन्तु यह स्थिति भूमि पर लोगों के द्वारा निजी स्वामित्व जमा लिये जाने और पूंजी का संचय होने के बाद बनी नहीं रह सकती। इसके बाद अपने आधार को थोड़ा सा बदलकर स्मिथ वेतन के सिद्धान्त की रूपरेखा प्रस्तुत करता है, जो मालिकों और मजदूरों की सौदेबाजी करने की सामर्थ्य पर आधारित है। वस्तुतः यह

श्रम के सम्बन्ध में माँग और उपलब्धि के सिद्धान्त को लागू करता है। वेतन मजदूरों और मालिकों में हुए पारस्परिक युगबन्ध (कन्ट्रैक्ट) पर निर्भर होते हैं। इनमें से मजदूरों की इच्छा यह रहती है कि उन्हें अधिक से अधिक वेतन प्राप्त हो; और मालिकों की इच्छा यही रहती है कि उन्हें कम से कम वेतन देना पड़े। इस कारण दोनों पक्षों में परस्पर संगठन करने की प्रवृत्ति होती है। परन्तु स्मिथ को इस विषय में बिलकुल सन्देह नहीं है कि किस पक्ष की स्थिति मजबूत रहेगी। मालिक लोग थोड़े से होते हैं और वे आपस में आसानी से संगठित हो सकते हैं, जबकि मजदूरों को संगठन बनाने का निषेध कर दिया जाता है। मालिक लोग अपनी बात पर देर तक टिके रह सकते हैं चाहे ऊपर से दिखायी कुछ भी क्यों न पड़े, परन्तु "मालिक लोग सदा और सब स्थानों में एक प्रकार के गुपचुप, किन्तु निरन्तर और एकरूप संगठन में बँधे होते हैं; और उनका यह निश्चय होता है कि मजदूरों का वेतन उनकी मजदूरी की वास्तविक दर की अपेक्षा अधिक नहीं बढ़ाना है।" प्रत्येक दृष्टि से मालिक की स्थिति बहुत मजबूत होती है, जबकि मजदूरों को अपने "जोर-शोर के साथ बनाये गये संगठनों" से शायद ही कभी कोई लाभ हो पाता हो। इस प्रकार वेतन एक प्रकार की सौदेबाजी पर निर्भर होते हैं, परन्तु मजे की बात यह है कि सौदेबाजी करने की सारी शक्ति एक ही ओर होती है। फिर भी वेतन की निम्नता की ओर भी एक ऐसी सीमा होती है, जिससे नीचे वेतनों को देर तक घटाये रख पाना असम्भव होता है। यदि मजदूरों की जाति को बनाये रखना हो, तो इसके लिए यह आवश्यक है कि मजदूर का वेतन उसका अपना पेट भरने और अपने परिवार का पालन-पोषण करने के लिए पर्याप्त हो। यहाँ पर वेतन के लौह नियम का पूर्वाभास मिल जाता है, जो उस सौदेबाजी का स्वाभाविक परिणाम है, जिसमें कि सारी शक्ति एक ही पक्ष में होती है।

इससे आगे उन मामलों पर विचार करते हुए, जहाँ कि स्थिति श्रमिक-अनुकूल होती है (जैसा वहाँ, जहाँ मजदूर कम होते हैं) हम अपने आपको वेतन कोष-सिद्धान्त के किनारे लड़खड़ाते हुए पाते हैं: "यह बात स्पष्ट है कि जो लोग मजदूरी करके जीवित रहते हैं, उनकी माँग केवल उसी अनुपात में बढ़ सकती है, जिस अनुपात में वह कोष बढ़े, जो वेतनों का भुगतान करने के लिए नियत है।" यद्यपि वेतनों का भुगतान करने के लिए नियत कोष राष्ट्रीय

सम्पत्ति पर निर्भर रहता है; परन्तु वस्तुतः जहाँ तक वेतनों का सम्बन्ध है, राष्ट्रीय सम्पत्ति की वास्तविक अधिकता निर्णायक चीज नहीं है, अपितु उस सम्पत्ति में "निरन्तर होती जाने वाली वृद्धि" असली निर्णायक वस्तु है। इसलिये यह आवश्यक नहीं कि सबसे अधिक सम्पन्न देशों में मजदूरों के वेतन सबसे अधिक हों, बल्कि मजदूरों के वेतन उन देशों में सबसे अधिक होते हैं, जो पनप रहे होते हैं, और जिनकी समृद्धि दिनोंदिन बढ़ रही होती है। यहाँ कुछ क्षण के लिए हमें ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे हम बाद में विकसित हुए वेतनों के उपज सिद्धान्तों के आस-पास तक पहुँच रहे हों : "इसलिए श्रम का उदार प्रतिफल बढ़ती हुई राष्ट्रीय सम्पत्ति का एक आवश्यक परिणाम और साथ ही स्वाभाविक चिन्ह भी होता है।" इसके विपरीत शान्त और निश्चल दशाओं में वेतन बहुत कम भी हो सकते हैं।

इस अध्याय की समाप्ति वेतनों के सम्बन्ध में माल्थसवाद के सारांश के असाधारण पूर्वाभास के साथ होती है :

"स्वभावतः इस प्रकार के प्राणी संसार में उसी अनुपात में बढ़ते हैं, जितने कि उनके जीवन-निर्वाह के साधन होते हैं, और किसी भी प्रकार के प्राणी इन जीवन-निर्वाह के साधनों की अपेक्षा अधिक नहीं बढ़ सकते। परन्तु सभ्य समाज में जीवन-निर्वाह के साधनों की अल्पता केवल निम्न वर्गों के लोगों पर ही यह प्रतिबन्ध लगा सकती है कि वे मानव-प्राणियों में और वृद्धि न करें, और वह साधनों की अल्पता इस लक्ष्य को केवल इस प्रकार पूरा कर सकती है कि वह उन बच्चों के एक बड़े भाग को नष्ट कर दे, जो उन लोगों के विवाहों के फलस्वरूप उत्पन्न होते हैं।"

माल्थस की विचारधारा के अनुसार ऊँचे वेतनों के फलस्वरूप काम करने वाले मजदूरों की संख्या बढ़ जायगी। यदि श्रम की माँग बढ़ रही हो, तो कामगरों के उत्पादन को प्रोत्साहित करने के लिए वेतन बढ़ने ही चाहियें। वस्तुतः वेतन श्रम की माँग को सूचित करते हैं :

"इस प्रकार मनुष्यों के लिए होने वाली माँग अन्य किसी भी पदार्थ की माँग की भाँति अनिवार्य रूप से मनुष्यों के प्रजनन को नियमित रखती है। जब इस प्रजनन की गति बहुत धीमी पड़ जाती है, तो वह माँग इसे तीव्र करती है, और जब यह गति बहुत तीव्र हो जाती है, तो माँग इसे रोकती है।"

इस वाक्य में स्मिथ ने माल्थस का सारांश इतनी स्पष्टता और तीव्रता के साथ प्रस्तुत किया है जिससे स्वयं माल्थस को भी ईर्ष्या हो सकती थी।

इस तरह ऐडम स्मिथ का वेतनों के सम्बन्ध में विवेचन मुख्य रूप से इसलिए रोचक है कि वह टटोलते-टटोलते उन अधिकांश विचारों का पूर्वाभास सा दे देता है, जो आगे चलकर विकसित हुए। जिस सिद्धान्त पर वह सबसे ज्यादा बल देता है, वह वह सिद्धान्त है, जिसके अनुसार वेतन युगबन्ध (कान्ट्रैक्ट) के दोनों पक्षों की सौदेबाजी कर सकने की शक्ति का परिणाम मात्र होते हैं, और वह प्रभाव, जो स्मिथ द्वारा वर्णित उन्नतिशील और ह्रासमान और यथावत् निश्चल राज्यों का इस सिद्धान्त पर पड़ता है।

नौवें अध्याय में लाभों के सम्बन्ध में विचार करते हुए स्मिथ ने इस बात पर बल दिया है कि वेतनों की भांति लाभ भी किसी देश की सम्पत्ति की वर्धमान या ह्रासमान दशा पर निर्भर रहते हैं, परन्तु इनका उस दशा से सम्बन्ध वेतनों की अपेक्षा विपरीत दिशा में होता है। वस्तुओं के संग्रह में वृद्धि होने का अर्थ, प्रतियोगिता के कारण, यह होगा कि लाभ की दर घट जाय। लाभ की दर का सूचक उस काल में प्रचलित ब्याज की दर को माना जा सकता है, क्योंकि ब्याज की ऊँची दर इस बात को सूचित करती है कि पूंजी का लाभजनक उपयोग किया जा सकता है। इस प्रकार यह सामान्य सिद्धान्त यह मानकर चलता है कि वेतन और लाभ एक दूसरे से विपरीत दिशा में चलते हैं, इसलिए नहीं कि पूंजी द्वारा श्रम का शोषण किया जा रहा होता है, बल्कि इसलिए क्योंकि पूंजी के बढ़ते हुए बाहुल्य के कारण, जिस पर ऊँचे वेतन निर्भर होते हैं, पूंजी का प्रतिफल कम रह जाता है। इस सामान्य प्रवृत्ति के दो अपवाद हैं। एक तो नये उपनिवेशों में वेतन और लाभ दोनों साथ-साथ अधिक हो सकते हैं, और दूसरे एक यथावत् निश्चल दशा में, ऐसे देश में, जहाँ धन-सम्पत्ति खूब भरी-पूरी हो, लाभ और वेतन दोनों ही कम हो सकते हैं।

वेतनों और लाभ के सम्बन्ध में इतना कह देना ही काफी है। परन्तु प्रश्न यह है कि विभिन्न प्रकार के कामों में वेतनों और लाभों में होने वाले अन्तर का निर्धारण किस प्रकार होता है? जहाँ तक वेतनों का प्रश्न है, इस सम्बन्ध में विचार करते हुए हम स्मिथ के सबसे अधिक लोक-प्रचलित संदर्भों

में से (अध्याय १०) एक तक जा पहुँचते हैं। मोटे तौर पर अलग-अलग पेशों में वेतन उन पेशों की रुचिकरता (एग्रीएबलनेस), उनको सीख पाने की सरलता, उनमें निरन्तर काम प्राप्त होते रहने की सम्भावना, जिम्मेदारी और सफलता की सम्भावना की कमी या अधिकता के अनुसार बदलते रहते हैं। स्मिथ द्वारा इस प्रश्न का किया गया विवेचन स्पष्ट रूप से ऐसा है, जो समय बीतने पर भी पुराना न होगा, भले ही प्रचलित प्रथाओं द्वारा इसकी नवीनता जाती रहे। इस सम्बन्ध में उसकी उक्तियाँ बिलकुल उचित और दृढ़तापूर्ण हैं। परन्तु एक साधारण आलोचना के तौर पर यह कहा जा सकता है कि स्मिथ द्वारा किये गये स्पष्टीकरण केवल उन्हीं पेशों में पाये जाने वाले वेतन के अन्तर पर लागू होते हैं, जिनमें श्रम को सरलता से स्थानान्तरित किया जा सकता है। वह इस तथ्य को भूल जाता है कि श्रम का भण्डार एक ही नहीं है, बल्कि श्रम ऐसे अनेक वर्गों का संगठित रूप है, जो एक दूसरे से बिलकुल पृथक् हैं। स्मिथ द्वारा गिनाये गये पाँच कारण एक फेशनेबल डाक्टर और एक अशिक्षित मजदूर के पारिश्रमिक में या किसी हालीवुड के अभिनेता और राजनीतिक अर्थशास्त्र के प्रोफेसर के वेतन में पाये जाने वाले अन्तर की समुचित व्याख्या नहीं कर पाते। वेतनों के अन्तर के इन पाँच कारणों में से स्मिथ केवल दो को लाभों पर लागू करने योग्य समझता है; और वे हैं—उस व्यवसाय की रुचिकरता या अरुचिकरता, और उस व्यवसाय में निहित जोखिम (रिस्क)। साथ ही व्यवसाय की रुचिकरता का प्रभाव कामगर की अपेक्षा मालिकों पर बहुत कम पड़ता है, इसलिये सामान्य तौर पर स्मिथ यह परिणाम निकालता है कि इसके फलस्वरूप लाभ की दरों में वेतन की दरों की अपेक्षा कम अन्तर पड़ेगा। लाभों के सम्बन्ध में किये गये सामान्य विवेचन के सम्बन्ध में यह बात ध्यान देने योग्य है कि स्मिथ की दृष्टि में लाभ पूंजी से होने वाली कुल प्रतिप्राप्ति का ही समानार्थक है, और इसलिये ब्याज लाभों का ही एक अंशमात्र है। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो स्मिथ ने 'सकल लाभ' और 'शुद्ध लाभ' का कोई प्रणालीबद्ध विश्लेषण नहीं किया।

अन्त में आता है भाटक (रैन्ट) (अध्याय ११)। भाटक के सम्बन्ध में स्मिथ के विचार अस्पष्ट हैं। उसके मुख्य वक्तव्य से ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे वह भाटक को लूट-खसोट मात्र समझता है। "स्वभावतः भाटक वह

अधिकतम राशि होती है, जो कि किरायेदार भूमि की उन वास्तविक दशाओं में दे पाने में समर्थ हो सकता है।" जो कुछ किरायेदार के पास बचा रह जाता है, वह "स्पष्ट रूप से वह न्यूनतम राशि होती है, जिसे पाकर किरायेदार को बिना घाटा उठाये सन्तोष कर लेना होता है; और भू-स्वामी इससे कुछ भी अधिक उसके पास रहने नहीं देना चाहता।" इस प्रकार स्मिथ का कथन है कि भाटक भूमि को सुधारने में लगाये गये पैसे के उचित लाभ का प्रतीक नहीं है। भूस्वामी उस भूमि का भी भाटक माँगता है, जिसका सुधार बिलकुल नहीं किया गया। रिकार्डो आगे चलकर इस "भी" शब्द के सम्बन्ध में सन्देह प्रकट करते हुए कह सकेगा कि केवल यही तो भाटक है; अर्थात् रिकार्डो की दृष्टि में अपरिष्कृत भूमि का किराया ही वस्तुतः भाटक है। इसलिये भूमि का भाटक "स्वभावतः एक एकाधिकार के लिये ली जाने वाली कीमत है।" इसके साथ मिला हुआ यह विशुद्ध प्रकृतिवादी सिद्धान्त है कि भाटक प्रकृति की सहायता और उदारता के फलस्वरूप उत्पन्न होता है :

"भूमि लगभग सभी दशाओं में उसकी अपेक्षा कहीं अधिक अन्न की मात्रा उत्पन्न करती है, जितनी द्वारा वे श्रमिक लोग, जो उस उपज को उगाने और बाजार तक लाने के लिये आवश्यक हैं, उन अधिकतम सुविधाओं के साथ जीवन यापन कर सकें, जितनी कि श्रम को अन्यत्र कहीं भी प्राप्त हो सकती हैं··· इसलिये भूस्वामी के लिये भाटक के रूप में सदा कुछ-न-कुछ बच ही रहता है।"

चाहे यहाँ विचार कितना ही उलझा हुआ क्यों न हो, परन्तु सुनिश्चित रूप से यह प्रकृतिवादी दृष्टिकोण है। यहाँ रिकार्डो की-सी चालाकी या सीमान्त भूमि के विषय में कुशलतापूर्ण वाग्जाल जैसा कुछ नहीं है।

ऐडम स्मिथ के अर्थशास्त्र सम्बन्धी विचारों का सर्वांगीण रूप देखने के लिये दूसरा खण्ड, जिसमें "संग्रह (स्टाक अर्थात् पूँजी) की प्रकृति, उसके संचय और उसके विनियोग" के सम्बन्ध में विचार किया गया है, पहले खण्ड की अपेक्षा बहुत कम महत्त्वपूर्ण है। परन्तु यहाँ भी कुछ बातें ऐसी हैं, जिनमें स्मिथ द्वारा किये गये पूँजी के अर्थ के विश्लेषण और उसके द्वारा स्थिर तथा चल पूँजी के विवरणों के सम्बन्ध में हमें यहाँ रुकने की आवश्यकता नहीं है; परन्तु उसके द्वारा किये गये पूँजी के संचय के विवेचन और उत्पादनशील तथा अनुत्पादनशील श्रम में किये गये अन्तर के सम्बन्ध में स्मिथ के विचारों से

सहानुभूति न रखने वाले आलोचकों ने इतनी अधिक आलोचना की है कि इनके विषय में चुपचाप रहना उचित न होगा।

जैसा हम पहले देख चुके हैं, उत्पादनशील और अनुत्पादनशील श्रम में किया गया भेदभाव प्रकृतिवादियों की दूषित देन थी; परन्तु स्मिथ के यहाँ इन शब्दों का नया अर्थ है। यहाँ उत्पादनशील श्रम उस श्रम को बताया गया है, जिसके कारण उस पदार्थ के मूल्य में वृद्धि होती हो, जिस पर कि वह श्रम किया गया है। अनुत्पादनशील श्रम वह श्रम है, जिसके द्वारा पदार्थ के मूल्य में ऐसी कोई वृद्धि नहीं होती; फिर भले ही वह श्रम कितना ही उपयोगी क्यों न हो। स्मिथ की जोरदार भाषा में "किसी भी निर्माता श्रमिक का श्रम अपने आपको किसी खास वस्तु या किसी विक्रय योग्य पदार्थ के रूप में प्रस्तुत करता है; और वह वस्तु, जब श्रम किया जा चुका होता है, उसके कम से कम कुछ देर बाद तक उस रूप में रहती है।"[1] इसलिए कहा जा सकता है कि यह श्रम उत्पादनशील रहा। दूसरी ओर किसी भी घरेलू नौकर की सेवाएँ हैं, जिन्हें अनुत्पादनशील श्रम का उदाहरण माना गया है। "सामान्यतया ये सेवाएँ उन सेवाओं की समाप्ति के अगले क्षण ही नष्ट हो जाती हैं।" और इसी सूची में घरेलू नौकर के साथ-साथ गिनाये गये हैं—राजा, उसकी सारी सेना, जल सेना और सरकारी नौकर। उसके बाद हैं—पादरी, पुरोहित, वकील, विदूषक और नृत्यकार तथा गवैये। और ये सब लोग जो सेवाएँ करते हैं, वे (यह अत्यन्त कठोर कथन है) उन सेवाओं को किये जाने के साथ ही साथ समाप्त हो जाती हैं।

पर क्या वे सेवाएँ सचमुच उसी समय समाप्त हो जाती हैं? कोई भी सामान्य व्यक्ति पूछ सकता है। ऐडम स्मिथ की उत्पादनशील श्रम की कसौटी यह है कि वह श्रम किसी "विक्रय योग्य पदार्थ" के रूप में सामने आना चाहिये; या फिर उस श्रम का परिणाम यह होना चाहिये कि किसी विक्रय योग्य वस्तु का मूल्य पहले की अपेक्षा अधिक बढ़ जाय। जर्मन आदर्शवादी विचारक वर्ग ने ऐडम स्मिथ पर जो भौतिकवादी होने का आक्षेप किया है, वह बहुत कुछ इसी बात पर आधारित है। स्मिथ की आलोचना करते हुए यह

---

१. दी वेल्थ आफ नेशन्स, खण्ड २, अध्याय ३।

कहा गया है कि उसकी दृष्टि में सम्पत्ति केवल वही वस्तुएँ हैं, जो बाजार में लायी जाती हैं और लायी जा सकती हैं, और बेची जाती हैं या बेची जा सकती हैं; और इसके परिणामस्वरूप उसका विचार यह भी है कि सम्पत्ति में तभी वृद्धि होती है, जबकि विनिमय-मूल्यों में वृद्धि होती है। उत्पादनशील और अनुत्पादनशील श्रम के सम्बन्ध में यह सारा वाद-विवाद आजकल हमें बिलकुल निरर्थक प्रतीत होता है। यह एक ऐसा क्षेत्र है, जिसमें अनेक ऐसी पहेलियाँ ढूँढी जा सकती हैं, जिनको बूझ पाना सम्भव ही न हो, और जो बहुत बार हास्यास्पद भी होती हैं। इस सम्बन्ध में केवल दो बातें कहने की आवश्यकता है : पहली बात तो यह है कि ऐसे अनेक प्रकार के पेशे हो सकते हैं, जो ऐडम स्मिथ द्वारा बताये गये अर्थों में तो अनुत्पादनशील हों, परन्तु फिर भी परोक्ष रूप से अत्यधिक उत्पादनशील हों। जो डाक्टर किसी मजदूर के जीवन को बचाता है, उसे मजदूर के बाद के जीवन की उत्पादनशीलता[1] का कुछ न कुछ श्रेय अवश्य दिया जाना चाहिये; और एक ऐसे राष्ट्र को, जिसकी रक्षा वेतनभोगी सैनिकों की सेना द्वारा की गयी हो, उनके मृत्यु-शिलालेखों पर यह लिखना उचित न होगा कि उन सैनिकों की सेवाएँ उन सेवाओं के पूरे होने के साथ ही समाप्त हो गयीं। दूसरी बात यह है कि ठीक तौर पर देखा जाय, तो एक ही प्रकार की सेवाएँ विनिमय-मूल्य को बढ़ाने में सहायक हो भी सकती हैं और नहीं भी हो सकतीं। एक पेस्ट्री बनाने वाला रसोइया, जो एक पेस्ट्री बनाता है और उसे दूकान की खिड़की में बिकने के लिये सजा कर रख देता है, वह इस बात पर गर्व कर सकता है कि उसने उत्पादनशील श्रम किया है; क्योंकि वह श्रम एक विक्रय-योग्य पदार्थ के रूप में सामने आ गया है। परन्तु उस राजकीय रसोइये और उस घरेलू नौकर की स्थिति क्या होगी, जिनकी बनायी हुई पेस्ट्री उसके उत्पादन के बाद तुरन्त ही समाप्त हो जाती है ?

उसी अध्याय में एक और ध्यान देने योग्य बात, जो स्मिथ की अपनी विशेषता है, यह है कि स्मिथ ने मितव्ययिता को संचय का आधार बताया है; और इस बात को उसने बड़े जोर के साथ कहा है कि मितव्ययिता ही न

१. इस बात को मिल ने बाद में अनुभव किया; परन्तु इसके कारण वह और भी अधिक गहरी दलदल में फँस गया।

केवल निजी सम्पत्ति के संचय का आधार है, अपितु राज्य की सम्पत्ति के संचय का आधार भी यही है। वस्तुतः पूंजी की वृद्धि का श्रेय उद्योग को इतना नहीं है, जितना मितव्ययिता को। यद्यपि बाद में चलकर इस बात को लाडर्डेल ने स्वीकार नहीं किया, परन्तु यह बड़ा मधुर लगने वाला सिद्धान्त, जो बचत आन्दोलन को बढ़ाने के लिये अत्यधिक अनुकूल है, बहुत कुछ प्राचीन कट्टर विचारधारा पर आधारित है। प्रत्येक फिजूल खर्च व्यक्ति जनता का शत्रु है और प्रत्येक मितव्ययी व्यक्ति जनता का उपकारक है। इस विश्वास के लिये उसने अपनी युक्तियाँ बड़े जोरदार शब्दों में प्रस्तुत की हैं। स्मिथ के इस निरूपण में ध्यान देने योग्य बात यह तरीका है, जिससे उसने इस मितव्ययिता को अपने आत्म-हित के मूलभूत सिद्धान्त के साथ जोड़ दिया है, जो अपनी मितव्ययिता की प्रेरणा द्वारा राज्य को सरकार की गलतियों के बावजूद विनाश से बचा पाने में समर्थ है :

"यह मितव्ययिता और सदाचरण बहुत से अवसरों पर, ऐसा अनुभव से प्रतीत होता है, न केवल लोगों की निजी फिजूलखर्ची और उनके दुराचरण की क्षति-पूर्ति करने के लिये काफी होता है, बल्कि सरकार की सार्वजनिक फिजूल-खर्ची को भी पूरा कर पाने में समर्थ होता है। प्रत्येक व्यक्ति के द्वारा अपनी दशा को सुधारने के लिये किया जाने वाला समरूप, निरन्तर और अबाधित प्रयत्न, वह स्रोत, जिससे कि सारी सार्वजनिक और राष्ट्रीय तथा निजी समृद्धि उद्भूत होती है, अनेक बार इतना शक्तिशाली सिद्ध होता है कि वह वस्तुओं की सुधार की ओर स्वाभाविक प्रगति को बनाये रखे, फिर भले ही सरकार की ओर से कितनी ही फिजूलखर्ची की जा रही हो और प्रशासकों द्वारा कितनी ही बड़ी भूलें की जा रही हों। प्राणि-जीवन के अज्ञात सिद्धान्त की भाँति यह मितव्ययिता भी शरीर के स्वास्थ्य और शक्ति को उसी प्रकार अनेक बार वापस ले आती है, जिस प्रकार न केवल बीमारी के होते हुए बल्कि डाक्टर द्वारा दिये गये बेहूदा नुस्खों के बावजूद शरीर स्वस्थ हो जाता है।"

यहाँ आत्म-हित समाज के जीवन की सब से बड़ी जीवनी शक्ति बन जाती है, जो राज्य को उसकी सब त्रुटियों के बावजूद विनाश से बचा पाने में सफल होती है।[1]

१. उसी अध्याय में एक और संदर्भ में आत्म-हित के स्थायी और सर्वव्यापी प्रभाव पर

दूसरे खंड का अन्तिम अध्याय (पाँचवाँ अध्याय) उन विभिन्न उपायों के विषय में है, जिनके द्वारा पूँजी को किसी काम में लगाया जा सकता है; और उन उपायों का इस दृष्टि से आपेक्षिक लाभ भी बतलाया गया है कि उनसे उत्पादनशील श्रम को किस प्रकार प्रोत्साहन और सहारा मिल सकता है। यहां स्मिथ की युक्तियां दो दृष्टियों से ध्यान देने योग्य हैं। एक तो यह, कि उनमें प्रकृतिवादी सिद्धान्त बहुत अधिक स्पष्ट रूप से विद्यमान है, जिससे स्मिथ अपने आप को पूर्णतया अलग कर पाने में कभी समर्थ नहीं हुआ; और दूसरे इस दृष्टि से, कि उसने यहाँ पर स्वच्छन्द व्यापार (लैस्से फेयर) सिद्धान्त की स्थापना की, जिसे आगे चलकर उसने और अधिक स्पष्ट रूप में प्रस्तुत किया। यहाँ पर प्रश्न यह है कि समाज के लिये तुलनात्मक लाभ की दृष्टि से पूंजी के विभिन्न सम्भावित उपयोगों को किस पूर्वापर क्रम में रखा जाय। सब से ऊपर स्मिथ ने कृषि को रखा है। "पूंजी की कोई भी समान राशि उत्पादनशील श्रम को उसकी अपेक्षा अधिक कार्य में नहीं लगा सकती, जितनी कि किसान की पूंजी लगाती है।" परन्तु इसके लिये वह जो युक्तियां प्रस्तुत करता है, वे लगभग पूरी तरह प्रकृतिवादी ढंग की हैं, जो इस मान्यता पर आधारित हैं कि कृषि में प्रकृति स्वयं एक सहयोगी संस्था के रूप में काम कर रही होती है :

"न केवल किसान के मेहनत करने वाले नौकर यहाँ पर उत्पादनशील श्रमिक होते हैं, अपितु उसके मेहनत करने वाले पशु भी उत्पादनशील श्रमिक होते हैं। कृषि में प्रकृति भी मनुष्यों के साथ परिश्रम करती है; और यद्यपि उसके परिश्रम के लिये कोई खर्च नहीं करना पड़ता, फिर भी उससे उत्पन्न

और भी अधिक जोर दिया गया है, यद्यपि वहाँ इसका सम्बन्ध आत्म-हित के फलस्वरूप होने वाले सार्वजनिक लाभों से नहीं जोड़ा गया : "परन्तु वह सिद्धान्त, जो बचत करने की प्रेरणा देता है, है हमारी दशा को सुधारने की इच्छा। यह इच्छा, जो भले ही साधारणतया शान्त और निष्क्रिय पड़ी रहती है, परन्तु यह हमारे साथ माता के गर्भ से ही आती है, और तब तक हमारे साथ बनी रहती है, जब तक कि हम कब्र में नहीं पहुँच जाते। उस सारी अवधि में, जो हमारे जन्म और मरण के बीच में होती है, शायद ही मुश्किल से कोई ऐसा क्षण आता हो, जिसमें कि कोई भी मनुष्य इतने पूर्ण रूप से अपनी दशा से सन्तुष्ट हो कि उसे अपनी दशाओं में कोई परिवर्तन या सुधार करने की इच्छा न हो। सम्पत्ति को इकट्ठा करना तो एक साधन है, जिसके द्वारा अधिकांश मनुष्य अपनी दशा को सुधारना चाहते हैं।"[1] इत्यादि।

होने वाली उपज का उतना ही मूल्य होता है, जितना कि महँगे से महँगे कारीगर के श्रम का।"

संक्षेप में प्रकृति अपने आप कुछ ऐसी वस्तु उत्पन्न कर रही होती है, जिसका मूल्य होता है। यह फिर वही टर्गोट का "विशुद्ध उपहार" है। कृषि के बाद स्मिथ ने निर्माण-कार्यों को रखा है, और तीसरे नम्बर पर निर्यात व्यापार को। यहाँ पर व्यापारवादियों के मूल्यों के मापदण्ड को उलट देने में स्मिथ प्रकृतिवादियों के साथ सहमत है। जहाँ तक व्यापार का सम्बन्ध है, लोगों को काम पर लगाने के दृष्टिकोण से घरेलू व्यापार विदेशी व्यापार की अपेक्षा कहीं अधिक अच्छा है; और विदेशी व्यापार माल को लाने-ले जाने के व्यापार की अपेक्षा अधिक अच्छा है। परन्तु इन विभिन्न कामों में पूंजी का विभाजन "बिना किसी प्रतिबन्ध या दवाव" के, केवल प्राकृतिक शक्तियों द्वारा ही होना चाहिये :

"प्रत्येक देश की राजनीतिक अर्थ-व्यवस्था का महान् उद्देश्य यह है कि उस देश की सम्पत्ति और शक्ति को बढ़ाया जाय। इसलिये राजनीतिक अर्थ-व्यवस्था में उपभोग्य वस्तुओं के विदेशी व्यापार को घरेलू व्यापार की अपेक्षा न तो प्राथमिकता दी जानी चाहिये और न अतिरिक्त प्रोत्साहन। इसी प्रकार माल लाने ले जाने के व्यापार को भी इन दोनों में से किसी की अपेक्षा प्राथमिकता या प्रोत्साहन नहीं दिया जाना चाहिये। साथ ही घरेलू व्यापार, और विदेशी व्यापार में स्वाभाविक रूप से अपने आप देश की जितनी पूंजी लगनी हो, उतनी लगने देनी चाहिये। किसी प्रकार का दवाव डालकर या प्रलोभन देकर इनमें से किसी भी एक में पूंजी का अधिक भाग लगवाने का प्रयत्न नहीं करना चाहिये।"

इस प्रकार स्वच्छन्द व्यापार के सिद्धान्त का महान् स्थापक ऐडम स्मिथ अपनी पुस्तक के चौथे खंड में अपनी सब युक्तियों को इस नीति के समर्थन के लिये प्रस्तुत करता है।

इस चौथे खंड का नाम है "राजनीतिक अर्थशास्त्र की प्रणालियों के विषय में"। यह खंड मुख्य रूप से व्यापारवादियों की आलोचना और कुछ थोड़ी सी प्रकृतिवादियों की आलोचना में लिखा गया है और इसी खंड में व्यापारवादियों के विरुद्ध स्वच्छन्द व्यापार के पक्ष में तथा संरक्षण के विरोध

में युक्तियाँ अपने सम्पूर्ण रूप में प्रस्तुत की गई हैं। ऐडम स्मिथ ने व्यापार-वादियों के पक्ष का बड़े मोटे तौर पर जो यह कहकर स्थापन किया है कि "सम्पत्ति पैसे या सोने और चाँदी का ही नाम है", यह पूरी तरह उचित नहीं कहा जा सकता, और इसके सम्बन्ध से कुछ आक्षेप किया जा सकता है। परन्तु यहाँ हम केवल उसके अपने विचारों के विकास के सम्बन्ध में अध्ययन कर रहे हैं और इस विषय से हमारा बहुत कम सम्बन्ध है कि उसने दूसरों के विचारों को किस रूप में प्रस्तुत किया है। बहुत संक्षेप से उसका दृष्टिकोण यह समझा जा सकता है कि सोना और चाँदी भी ठीक उसी स्तर के पदार्थ हैं, जैसे कि अन्य पदार्थ; और व्यापार के स्वाभाविक प्रवाह में किसी भी देश को उतना सोना और चाँदी प्राप्त हो सकता है, जितना कि वह देश चाहता है, या उस देश को आवश्यकता है :

"जिस देश के पास वे वस्तुएँ हैं, जिनके द्वारा शराब खरीदी जा सकती है, उसे, जब भी वह चाहेगा, सदा शराब प्राप्त हो सकेगी; और जिस देश के पास वे वस्तुएँ हैं, जिसके द्वारा सोने और चाँदी को खरीदा जा सकता है, उसे इन धातुओं की कभी कमी न रहेगी। अन्य पदार्थों की भाँति ये धातुएँ भी एक खास कीमत पर खरीदी जानी होती हैं; और जिस प्रकार ये धातुएँ अन्य सब पदार्थों की कीमत होती हैं, उसी प्रकार अन्य सब पदार्थ इन धातुओं की कीमत हैं।"[१]

व्यापार की जिस स्वतन्त्रता के कारण हमारी आवश्यकता के अनुसार शराब हम तक पहुँच जाती है, उसी व्यापार की स्वतन्त्रता के ऊपर हम यह भी भरोसा कर सकते हैं कि हमारी आवश्यकता के अनुसार सोना और चाँदी भी हम तक आ पहुँचेंगे। इसके अतिरिक्त अल्प आयतन और अधिक मूल्य के फलस्वरूप बहुमूल्य धातुओं पर सक्षम माँग का जितनी अधिक सरलता से, और जितना अधिक पूर्ण प्रभाव पड़ता है, उतना अन्य किसी पदार्थ पर नहीं।

न केवल इतना, बल्कि आधुनिक द्रव्य-सिद्धान्त (मोनेटरी थ्योरी) की सुपरिचित विचारधारा के अनुसार स्मिथ यह युक्ति प्रस्तुत करता है कि सोने और चाँदी के देश से बाहर जाने पर रोक लगाने का प्रयत्न करना उस दशा में एक व्यर्थ का काम है, जबकि व्यापार का स्वाभाविक प्रवाह उन्हें देश से

१. वही; खण्ड ४, अध्याय १।

बाहर ले जाने के पक्ष में हो। "स्पेन और पुर्तगाल के सारे खूनी कानून" इन देशों से सोने और चाँदी के निर्यात को नहीं रोक सकते, यदि इन देशों में इन धातुओं की अधिकता के कारण इन धातुओं का मूल्य बाहर के देशों में उन धातुओं के प्राप्त हो सकने वाले मूल्य को अपेक्षा कम हो जाय। यह केवल एक अत्यन्त परिचित बात है, जिसे हम पहले ह्यूम वाले अध्याय में भी पढ़ चुके हैं कि सोने की अधिकता का परिणाम यह होगा कि देश में कीमतें ऊँची चढ़ जाएँगी; और उस दशा में वह देश माल बेचने के लिये तो अच्छा स्थान होगा, परन्तु माल खरीदने के लिये बुरा; और उसका परिणाम यह होगा कि उस देश से सोना बाहर जाने लगेगा, और तब तक बाहर जाता रहेगा, जब तक कि फिर समतुलन और स्थिरता की दशा स्थापित न हो जाय। वस्तुतः सोना और चाँदी अन्य पदार्थों की अपेक्षा कहीं कम आवश्यक है। "यदि किसी देश में खाद्य-सामग्री का अभाव हो, तो लोगों को भूखा मरना होगा", परन्तु सोने और चाँदी के अभाव में काम चला पाने के अनेक उपाय हैं; जैसे कागजी मुद्रा का प्रयोग। राष्ट्र की उपज के एक थोड़े से भाग का ही पड़ोस के देशों से सोना और चाँदी खरीदने के लिए प्रयोग करने की आवश्यकता होती है। इस उपज का अधिकांश भाग तो देश में ही घूमता रहता है और उपभोग में आ जाता है; और इस उपज का जो भाग विदेशों में भेजा जाता है, उसमें से भी अधिकांश भाग द्वारा विदेशी वस्तुएँ खरीदी जाती हैं। व्यापारवादियों को सोने के लिए जो खुजलाहट थी, उसके बिना भी यह सब क्रय-विक्रय चलता रह सकता था। कुल मिलाकर स्मिथ की युक्ति का झुकाव यह बताने की ओर है कि सोने में कोई रहस्यपूर्ण गुण तो हैं ही नहीं, बल्कि यह तो एक ऐसा पदार्थ है, जो वस्तुतः अन्य पदार्थों की अपेक्षा गौण है; और इसीलिए इसका महत्त्व उनकी अपेक्षा कम है:

"अन्य वस्तुओं का पैसों को खरीदने के अतिरिक्त अन्य कामों में भी उपयोग किया जा सकता है; परन्तु पैसे का वस्तुओं को खरीदने के अतिरिक्त और कोई उपयोग नहीं हो सकता। इसलिए अनिवार्य रूप से पैसा वस्तुओं के पीछे दौड़ता है और वस्तुएँ सदा, या अनिवार्य रूप से पैसे के पीछे नहीं दौड़तीं।"[१]

१. वही; खण्ड ४, अध्याय १।

"आप व्यापार की ओर ध्यान दीजिये तो सोना अपने आप आ जायगा"; यह है इस सम्बन्ध में स्मिथ की शिक्षा का सारांश। यह दावा, कि सोना सम्पत्ति का अधिक स्थायी रूप है, यह एक भ्रान्त धारणा पर आधारित है। लोहे और पीतल का सामान शराब की अपेक्षा अधिक टिकाऊ होता है; परन्तु केवल इसलिए हम लोहे और पीतल के सामान के बड़े-बड़े ढेर लगाकर "लोटों और कढ़ाइयों की अनगिनत संख्या देश में नहीं भरते चले जाते।" लोटों और कढ़ाइयों की देश के लिए आवश्यक और अभीष्ट संख्या उन बर्तनों के उपयोग द्वारा सीमित रहती है; और ठीक इसी प्रकार इन बहुमूल्य धातुओं का किया जाने वाला उपयोग उस मात्रा की सीमा का निर्धारण करता है, जो मात्रा किसी भी देश में बुद्धिमत्तापूर्वक या लाभजनक रूप से रखी जा सकती है। सोने और चाँदी के उपयोग को बढ़ा दीजिये "तो अनिवार्य रूप से देश में इन धातुओं की मात्रा बढ़ जायगी।" यदि आप देश में कृत्रिम रूप से इन धातुओं की मात्रा को इन धातुओं के उपयोग की अपेक्षा अधिक बढ़ा लेंगे, तो संसार का कोई भी उपाय इन धातुओं को देश से बाहर जाने से नहीं रोक सकेगा।

यदि विदेशी व्यापार का उद्देश्य सोने और चाँदी को प्राप्त करना नहीं है, तो फिर आखिर इसका लाभ क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में ऐडम स्मिथ का कथन है कि विदेशी व्यापार से दो बहुत स्पष्ट लाभ होते हैं। एक तो यह, कि विदेशी व्यापार द्वारा देश की अतिरिक्त फालतू उपज देश से बाहर चली जाती है और इसके बदले देश में वह वस्तु आती है, जिसकी कि देश में माँग होती है। स्मिथ की सामान्य विचारधारा की दृष्टि से और भी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि विदेशी व्यापार के परिणामस्वरूप "घरेलू बाजार की संकीर्णता कला या निर्माण-कार्य की किसी भी विशेष शाखा में श्रम के विभाजन को पूर्णता की चरम सीमा तक पहुँचने में बाधक नहीं बनती।" वस्तुतः ऐडम स्मिथ की दृष्टि में विदेशी व्यापार घरेलू व्यापार का केवल विस्तार मात्र है। इसके फलस्वरूप श्रम का विभाजन और विस्तृत हो जाता है; किसी एक दिशा में विशेषता प्राप्त करने की प्रवृत्ति बढ़ जाती है; और विनिमय बहुत अधिक बढ़ जाते हैं।

स्मिथ ने व्यापारवादी मान्यताओं की जो सामान्य आलोचना की है, उसके सम्बन्ध में इतना कहना पर्याप्त है। पाठक पर यह प्रभाव पड़े बिना नहीं

रहता, कि जब वह यह युक्ति प्रस्तुत करता है कि सोना भी ठीक अन्य किसी पदार्थ की भाँति एक पदार्थ है, तो सम्भवतः वह अपनी बात को सीमा से अधिक बढ़ाकर कह रहा है। पहले-पहल, इसमें सन्देह नहीं कि, सोना भी अन्य पदार्थों की भाँति ही एक पदार्थ था। परन्तु जब कोई एक पदार्थ किसी भी कारण से, और फिर वह कारण चाहे कुछ भी क्यों न हो, सब लोगों द्वारा स्वीकृत विनिमय का माध्यम बन जाता है, तो इसके साथ बहुत से ऐसे गुण जुड़ जाते हैं, जो इसके पैसे (द्रव्य) के पद पर आसीन होने से पहले इसमें विद्यमान नहीं थे। इसलिए यह अनिवार्य है कि इस प्रकार का पदार्थ अन्य सब पदार्थों से कुछ भिन्न प्रकार का पदार्थ हो जायगा। इस तथ्य के कारण कि सोना सब जगह स्वीकार कर लिया जाता है, और इसके परिणामस्वरूप यह एक इस प्रकार की सम्पत्ति है, जिसका प्रयोग किसी भी दिशा में किया जा सकता है, यह वर्तन (सोना) ऐडम स्मिथ के लोटे और कढ़ाइयों से पर्याप्त भिन्न समझा जा सकता है।

इसके आगे स्मिथ उन विभिन्न उपायों के सम्बन्ध में विचार प्रारम्भ करता है, जिनके द्वारा व्यापारवादियों ने व्यापार का अनुकूल सन्तुलन स्थापित करने की चेष्टा की थी। उसके सबसे अधिक शिक्षाप्रद और ज्ञानवर्धक अध्याय वे हैं, जिनमें आयात के ऊपर लगाये गये प्रतिबन्धों का विवेचन किया गया है। इन प्रतिबन्धों को उसने दो भागों में बाँट दिया है। पहले प्रकार के प्रतिबन्ध वे हैं, जो उन पदार्थों के आयात पर लगाये जाते हैं, जो अपने देश में ही तैयार किये जा सकते हैं, और इन प्रतिबन्धों को लगाते हुए इस बात पर बिलकुल ध्यान नहीं दिया जाता कि वे पदार्थ किस देश से आ रहे हैं। इन प्रतिबन्धों का दूसरा प्रकार है, जो व्यापारवादी विचारधारा के प्रतीक हैं, और जो उन सब वस्तुओं पर लगाये जाते हैं, जो उन देशों से आती हैं, जिनके साथ अपने देश के व्यापार का सन्तुलन प्रतिकूल है। इनमें से पहले प्रकार के प्रतिबन्ध लगाने का उपाय तो सीधा-सादा संरक्षणात्मक शुल्क लगाने का है, जिसका उद्देश्य यह होता है कि अपने देश के निर्माता को एकाधिकार प्राप्त हो जाय। स्मिथ यह स्वीकार करता है कि इस प्रकार के संरक्षणात्मक शुल्क से ऐसे किसी भी खास उद्योग को प्रोत्साहन प्राप्त हो सकता है, जिसको सहायता देने के लिये ऐसा शुल्क लगाया गया हो, और उसके फलस्वरूप श्रम और पूँजी को उस दिशा में

प्रेरित किया जा सकता है। परन्तु क्योंकि उद्योग पूंजी द्वारा सीमित रहते हैं, इसलिये इस प्रकार के नियमन द्वारा किसी भी देश में उद्योग को उस मात्रा से अधिक नहीं बढ़ाया जा सकता, जितने को वहाँ की पूँजी जारी रख सकती है। इसलिये संरक्षणात्मक शुल्क केवल इतना कर सकता है कि वह उद्योग (इंडस्ट्री) को एक व्यवसाय (बिजिनेस) से हटाकर दूसरे व्यवसाय में लगा दे।[1]

इसके अतिरिक्त ऐडम स्मिथ यह युक्ति भी प्रस्तुत करता है कि इस प्रकार संरक्षणात्मक शुल्क उद्योग को एक अधिक लाभदायक दिशा से हटाकर कम लाभदायक दिशा की ओर प्रेरित कर देगा। इसके दो कारण हैं। पहला कारण यह है कि मुख्य रूप से अपनी पूँजी को सुरक्षित रखने के लिये व्यापारी अपने पैसे को उपभोग्य वस्तुओं के विदेशी व्यापार की अपेक्षा घरेलू व्यापार में लगाना अधिक पसन्द करता है; और इसी प्रकार माल लाने-ले जाने के व्यापार की अपेक्षा उपभोग्य वस्तुओं के विदेशी व्यापार में लगाना अधिक पसन्द करता है। परन्तु वह क्रम है, जिसके अनुसार देश के लाभ को दृष्टि में रखते हुए पूँजी का सम्भावित उपयोग किया जाना चाहिये। दूसरा कारण और भी अधिक मूलभूत है; और वह हमें स्मिथ के सिद्धान्त के केन्द्र तक पहुँचा देता है। प्रत्येक व्यक्ति का उद्देश्य लाभ कमाना रहता है; और इसीलिये वह अपनी पूँजी का उपयोग वहाँ करता है, जहाँ उपज का मूल्य अधिकतम होने की सम्भावना हो। परन्तु समाज का वार्षिक आगम (रेवेन्यू या आय) उन सारी वस्तुओं का सर्वयोग है, जो कि देश में उत्पन्न की गयी हों। इसलिये प्रत्येक व्यक्ति अपने उद्देश्य को पूर्ण करने का प्रयत्न करते हुए अनजाने ही समूचे समाज की सम्पत्ति को बढ़ाने में सहायता कर रहा होता है:

"वस्तुतः उसका सार्वजनिक हित में वृद्धि करने का न तो इरादा होता है, और न उसे यह मालूम ही होता है कि वह उसमें कितनी वृद्धि कर रहा है। विदेशी उद्योग की अपेक्षा अपने देश के उद्योग को सहारा देना पसन्द करके वह केवल अपनी सुरक्षा चाह रहा होता है; और उस उद्योग का इस ढंग से संचालन करके, कि उसकी उपज अधिकतम मूल्य की हो, उसका उद्देश्य केवल अपना हित-साधन करना होता है, परन्तु वह इस विषय में, अन्य कई मामलों की भाँति,

१. वही; खंड ४, अध्याय २।

एक अदृश्य हाथ द्वारा एक ऐसे उद्देश्य को पूर्ण करने के लिये प्रेरित हो रहा होता है, जिसे पूर्ण करने का उसका अपना इरादा बिलकुल नहीं था।"

इस प्रकार का है वह अदृश्य हाथ, जिसका हस्तक्षेप बड़े आश्चर्यजनक रूप में व्यक्तिगत लाभ के लिए किये जाने वाले प्रयत्नों का सार्वजनिक हित के साथ मेल बिठा देता है। यह है—स्वच्छन्द व्यापार की नीति के लिये धार्मिक-सा प्रतीत होने वाला समर्थन। इसके अतिरिक्त अपने हित-साधन का प्रयत्न करते हुए प्रत्येक व्यक्ति उचित रूप से परिस्थितियों का जानकार होने के कारण वह सरकार की अपेक्षा उनके सम्बन्ध में अधिक ठीक निर्णय कर सकता है। किसी भी राजनीतिज्ञ की ओर से निजी लोगों को इस दिशा में प्रेरित करने का प्रयत्न, कि वे अपनी पूंजी का प्रयोग किस प्रकार करें, "अधिकतम अनावश्यक प्रयत्न" है। और जब आयातों पर प्रतिबन्ध लगाकर व्यापार और उद्योग को उन दिशाओं की ओर प्रेरित किया जाता है, जिन दिशाओं में कि वे अपनी इच्छा से न जाते, तो यही अधिकतम अनावश्यक प्रयत्न किया जा रहा होता है। संक्षेप में संरक्षात्मक शुल्क या तो व्यर्थ होते हैं, और या हानिकारक होते हैं। व्यर्थ वे उस दशा में होते हैं, जब अपने देश में तैयार हुआ माल उतना ही सस्ता हो जितना कि विदेशी माल है। हानिकारक वे उस दशा में होते हैं, जब उनके फल-स्वरूप लोग अधिकतम सस्ते बाजार में से माल खरीद पाने से रोक दिये जायें :

"किसी भी परिवार के विवेकयुक्त मुखिया का यह बंधा हुआ गुर होता है कि उस वस्तु को घर पर बनाने का प्रयत्न न किया जाय, जिसे बनाने में उससे अधिक खर्च पड़े, जितने में वह बाजार में खरीदी जा सकती है।...जो बात प्रत्येक निजी परिवार के प्रबन्ध के सम्बन्ध में बुद्धिमत्तापूर्ण है, वह एक विशाल राज्य के प्रबन्ध में मुश्किल से ही मूर्खता की बात हो सकती है।"[1]

ऐडम स्मिथ द्वारा स्वच्छन्द व्यापार के समर्थन में दी हुई युक्तियों का सारांश संक्षेप में यही कुछ है। सौभाग्य से यहां हमारे लिये इस महान् प्रश्न की जांच-पड़ताल करना आवश्यक है; परन्तु यहां किसी भी रूप में स्वच्छन्द व्यापार का विरोध किये बिना, केवल इतना देख लेना आवश्यक है कि ऐडम स्मिथ की युक्तियां कहां तक अपने काल की परिस्थितियों और विचारों पर आधारित

१. वही: खंड ४: अध्याय २।

है। आधारभूत युक्तियाँ दो हैं : पहली युक्ति यह है कि संसार में एक प्राकृतिक व्यवस्था है, जिसमें मनुष्य अपनी पूंजी और अपने नवारम्भों का एक विशेष दिशा में प्रयोग करते हैं; और यह प्राकृतिक व्यवस्था देश के प्रति लाभदायकता की दृष्टि से एक क्रमशः घटते जाने वाले स्वर के अनुसार होती है। यह बात उस काल की परिस्थितियों की दृष्टि से तो सत्य थी, जब कि पूंजी अपेक्षाकृत गतिहीन थी, और लोगों को अपनी पूंजी को अपनी दृष्टि से परे जाने देते हुए हिचकिचाहट होती थी। ऐडम स्मिथ का कथन है : "इस प्रकार घर ही वह केन्द्र है, जिसके चारों ओर प्रत्येक देश के निवासियों की पूंजी निरन्तर चक्कर लगा रही है।" परन्तु विदेशी विनियोग के विकास और वित्त-साधन तथा नवारम्भ के अन्तर्राष्ट्रीयकरण के पश्चात् आज कोई भी यह बात कहने को तैयार न होगा। दूसरी युक्ति 'अदृश्य हाथ' वाली युक्ति है; उस दिव्य शक्ति की युक्ति, जो हमारे स्वार्थयुक्त उद्देश्यों को सार्वजनिक हितों का रूप दे देती है। स्पष्ट है कि हम इस बात में विश्वास नहीं करते; बल्कि हम यह समझ चुके हैं कि व्यक्ति के हित और व्यक्ति की समृद्धि का समाज के कल्याण से बिलकुल विरोध हो सकता है; और जैसी गणितीय एकीकरण (मैथेमैटिकल इंटेग्रेशन) की सीधी-सादी प्रक्रिया स्मिथ ने सुझायी है, उसे माना नहीं जा सकता। और यदि हमारी बात ठीक है, तो देश में कोई न कोई रोक-थाम करना और प्रतिबन्ध लगाने वाली शक्ति अवश्य होनी चाहिये; और यह प्रतिबन्ध लगाने की शक्ति राज्य के अतिरिक्त अन्य किसी को नहीं सौंपी जा सकती। इस प्रकार स्वच्छ व्यापार की नीति की मूलभूत मान्यताओं पर से हमारा विश्वास उठ गया है; और ऐडम स्मिथ की सरकारी हस्तक्षेप की "मूर्खता और धांधली" के सम्बन्ध में प्रस्तुत की गयी युक्तियाँ, जो व्यापार पर लगाये गये अनेक परेशान करने वाले प्रतिबन्धों का परिणाम थीं, अब लोगों को वैसी सही नहीं जान पड़तीं, जैसी कि वे पहले किसी समय जान पड़ती थीं। फिर भी ऐडम स्मिथ उस ढंग का कट्टर सिद्धान्तवादी स्वच्छन्द व्यापार का समर्थक नहीं था, जैसे कि बाद वाली पीढ़ियों में चलकर उत्पन्न हुए। वह दो प्रकार के मामलों का उल्लेख करता है, जहाँ स्वदेशी उद्योग को प्रोत्साहन देने के लिये विदेशी उद्योगों पर कुछ न कुछ बोझ डाला जाना चाहिये; और वह दो अन्य ऐसे प्रकार के मामलों का उल्लेख करता है, जहाँ उसके कथनानुसार

उनके सम्बन्ध में विचार किया जाना उचित है। इनमें से कम से कम दो प्रकार के मामले ऐसे हैं, जिनमें स्वच्छन्द व्यापार की नीति का काफी दूर तक उल्लंघन करने के पक्ष में ऐडम स्मिथ को प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है, और किया भी गया है। पहला सुनिश्चित अपवाद है। वह दशा, जब कि कोई विशिष्ट प्रकार का उद्योग देश की सुरक्षा के लिये आवश्यक हो।" स्मिथ की प्रसिद्ध उक्ति है कि रक्षा समृद्धि की अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण वस्तु है; और स्मिथ, जो विश्व भ्रातृत्व की प्रवृत्तियों के बावजूद एक उत्साही देशभक्त था, इस आधार पर नेवीगेशन ऐक्ट (जल परिवहन अधिनियम) का समर्थन करता है। यदि इस अपवाद को स्वीकार कर लिया जाय तो इन दिनों में, जब कि युद्ध की दशा में सारा राष्ट्र और उसके सब साधन शत्रु के विरुद्ध संगठित होकर जुट जाते हैं, यह स्पष्ट है कि इसका उपयोग स्मिथ के काल की अपेक्षा कहीं अधिक विस्तृत रूप में किया जायगा।

दूसरा सुनिश्चित अपवाद आजकल के दिनों में अपेक्षाकृत कम महत्त्व का है। ऐसे अपवाद का सम्बन्ध उन दशाओं में आयात-शुल्क लगाने से है, जब कि अपने देश में बन रहे उसी माल पर पहले से ही कोई निर्माण-शुल्क (ऐक्साइज़ ड्यूटी) के ढंग का कर लगा हुआ हो। इस आयात-शुल्क के द्वारा स्वदेशी और विदेशी वस्तुओं के लिये दशाएँ एक समान हो जाती हैं और इसे इसलिये केवल समानता के व्यवहार की ओर उठाया गया एक कदम भर समझा जा सकता है। जो दो मामले विचार योग्य बताये गये हैं, उनमें से पहले का सम्बन्ध प्रतिशोध के उलझे हुए प्रश्न से है, जहाँ कि किसी दूसरे देश ने हमारे देश के माल पर बहुत भारी शुल्क लगाये हुए हैं; और इन मामलों में शुल्क लगाने का उद्देश्य यह है कि विदेशों को इस बात के लिये मनाया जाय कि वह भी हमारे माल पर से शुल्क हटा ले। इस प्रकार के शुल्क लगाने की स्मिथ अस्पष्ट-सी अनुमति देता है, बशर्ते कि उनके द्वारा सफलता मिलने की सम्भावना हो। परन्तु चाहे उनके सफल होने की आशा हो या या न हो, वह उस "धोखेबाज और कुशल प्राणी का उल्लेख करता है, जिसे चालू भाषा में कूटनीतिज्ञ या राजनीतिज्ञ कहा जाता है।" चौथा अपवाद (विचार योग्य मामलों में से दूसरा) इस विषय से सम्बद्ध है कि जब स्वच्छन्द व्यापार एक बार समाप्त हो चुका हो तो, उसे किस ढंग से और किस सीमा तक दुबारा

प्रारम्भ करना उचित होगा। आजकल के जमाने में यह युक्ति कम दिलचस्पी की चीज नहीं है। स्मिथ इस बात का अनुभव करता है कि एकाएक स्वच्छन्द व्यापार को लागू कर देने का यह परिणाम हो सकता है कि जिन उद्योगों को एकाएक विदेशी प्रतियोगिता का सामना करना पड़े, उनसे बड़ी मात्रा में बेकारी फैल जाय; और वह साथ ही यह भी कह सकता है कि "ऐसे मामले में मानवता की यह माँग हो सकती है कि व्यापार की स्वच्छन्दता को केवल धीरे-धीरे और क्रमशः ही प्रारम्भ किया जाय; और इस विषय में काफी धैर्य और परिस्थितियों के भली भाँति निरीक्षण से काम लिया जाय।" स्वच्छन्द व्यापार के पुनः प्रारम्भ को स्थगित करने के लिये मानवता के हित को दृष्टि में रखते हुए स्मिथ की इस आधार पर सहमति कि जिससे बेकारी के फैलने को रोका जा सके, आज के युग के लिये काफी दिलचस्पी की चीज है, जब कि विद्यमान बेकारी को हटाने के लिये संरक्षण की माँग इतने जोरों से की जा रही है कि सुनते-सुनते लोगों के कान बहरे हो गये हैं।

ऐडम स्मिथ द्वारा आयातों पर लगाये गये दूसरी प्रकार के प्रतिबन्धों—उन सब वस्तुओं पर लगाये गये प्रतिबन्धों के विषय में, जो उन देशों से आती हैं, जिनके साथ अपने देश के व्यापार का सन्तुलन प्रतिकूल है[1]—की आलोचना से सामान्य रुचि की दो बातें सामने आती हैं। पहली बात तो यह है कि व्यापारवादियों की यह सोचने की प्रवृत्ति के विरुद्ध, कि प्रत्येक राष्ट्र का हित अपने पड़ोसी राष्ट्र को भिखमंगा बना देने में ही है, वह इस बात को बड़े जोर के साथ प्रस्तुत करता है कि इन मामलों में सब राष्ट्रों के हित साँझे हैं। यह वही बात है, जो सब प्रकृतिवादियों और डेविड ह्यूम में समान रूप से पायी जाती है। "बिना किसी प्रकार के दबाव या प्रतिबन्ध" के किया जाने वाला व्यापार दोनों पक्षों के लिये लाभदायक रहता है। और युद्धकाल में चाहे जो हो, किन्तु शान्ति काल में प्रत्येक देश का लाभ इसी बात में है कि उसके आसे-पास चारों ओर सम्पन्न और समृद्ध राष्ट्र विद्यमान हों। "जिस प्रकार उद्योगी मनुष्यों के लिये पड़ोस में रहने वाला एक धनी व्यक्ति एक गरीब व्यक्ति की अपेक्षा अधिक अच्छा ग्राहक सिद्ध हो सकता है, उसी प्रकार एक धनी राष्ट्र

१. वही; खंड ४, अध्याय ३।

भी।" दूसरी बात है—उसके द्वारा व्यापार के सन्तुलन के मुकाबले में प्रस्तुत किया गया एक दूसरे तथा अधिक महत्त्वपूर्ण संतुलन का पूर्वाभास, और वह है वार्षिक उपज और उपभोग का सन्तुलन। यह वार्षिक उपज और उपभोग का सन्तुलन ही समृद्धि की सच्ची कसौटी है। और यह सन्तुलन किसी भी ऐसे देश में, जो सब राष्ट्रों से अलग-अलग पड़ा हो, विदेशी व्यापार के अभाव में भी उसी प्रकार विद्यमान रह सकता है, जैसे कि यह सन्तुलन समूचे रूप में संसार को देखने पर उस संसार में रहता है। किसी भी देश में उपभोग की अपेक्षा उपज का सन्तुलन अधिक रह सकता है; भले ही व्यापारवादियों के ढंग से देखने पर उसका व्यापार का सन्तुलन उसके प्रतिकूल हो। परन्तु ऐडम स्मिथ केवल इस विचार की ओर संकेत भर करके रह गया है; उसने इस विचार को विकसित नहीं किया।

प्रकृतिवादी प्रणाली की आलोचना—जिसका शीर्षक है "कृषि प्रणालियों के सम्बन्ध में" जो व्यापारवादियों की आलोचना के बाद आती है, अपेक्षाकृत बहुत छोटी सी झड़प है। इसकी मुख्य रोचकता सम्भवतः इस बात में है कि यह कितनी बड़ी हद तक इस बात को प्रकट करती है कि ऐडम स्मिथ कितनी हद तक अनजाने, और अपने प्रतिवादों के बावजूद प्रकृतिवादी विचारधारा के अन्दर ही रहा। प्रकृतिवादियों द्वारा प्रयुक्त "उत्पादनशील" और "अनुत्पादनशील" शब्दों की आलोचना करते हुए वह कहता है और उसका कथन ठीक भी है कि :

"हमें किसी भी ऐसे विवाह को अनुर्वर या अनुत्पादनशील नहीं कहना चाहिये, जिसके फलस्वरूप भले ही माता और पिता का स्थान लेने के लिये केवल एक लड़का और एक लड़की ही उत्पन्न हुए हों, और भले ही इसके द्वारा मनुष्य जाति की जनसंख्या न बढ़ी हो, अपितु केवल उतनी रही हो, जितनी कि वह पहले थी।"[१]

यह सच है; परन्तु प्रकृतिवादी लोग, और न केवल प्रकृतिवादी अपितु अन्य लोग भी, कह सकते हैं कि अन्ततोगत्वा इस प्रकार का विवाह बढ़ी हुई जनसंख्या का उत्पादक तो न रहा, जो प्रकृतिवादी तर्क-परम्परा का

१. वही; खंड ४, अध्याय ६।

महत्त्वपूर्ण लक्ष्य है । प्रकृतिवादी विचारधारा और भी अधिक प्रबल रूप में नीचे लिखे वाक्य में दिखायी पड़ती है :

"जिस प्रकार वह विवाह, जिसके फलस्वरूप तीन बच्चे उत्पन्न होते हों, निश्चित रूप से उस विवाह की अपेक्षा अधिक उत्पादनशील है, जिसके फलस्वरूप केवल दो बच्चे उत्पन्न होते हैं । इसी प्रकार किसानों, और देहात में भूमि पर काम करने वालों का श्रम निश्चित रूप से व्यापारियों, कारीगरों और अन्य वस्तुओं के निर्माताओं की अपेक्षा अधिक उत्पादनशील है । परन्तु किसी एक वर्ग की अधिक उपज होने का अर्थ यह नहीं है कि दूसरा वर्ग बिलकुल ही अनुर्वर या अनुत्पादनशील हो ।"

कृषि की अपेक्षाकृत अधिक उत्पादनशीलता को स्वीकार करके ऐडम स्मिथ ने प्रकृतिवाद के सारांश को स्वीकार कर लिया है । जैसा कि श्री गोनर्ड ने बड़े सुन्दर ढंग से कहा है कि स्मिथ ने शब्दों के विरुद्ध तो प्रतिवाद किया है, किन्तु प्रकृतिवाद के विचार को स्वीकार कर लिया ।[1]

अन्य बहुत सी बातों को, जो कि ऐडम स्मिथ को पूरी तरह समझने की दृष्टि से किसी भी प्रकार कम रोचक नहीं है, यहाँ छोड़ ही जाना होगा । इनमें विशेष रूप से एक है—इम्पीरियल फेडरेशन की योजना, जो स्मिथ द्वारा व्यापारवादियों की औपनिवेशिक नीति की आलोचना का एक गौण फल है । इसी प्रकार है—स्मिथ द्वारा करारोपण के सिद्धान्तों का किया गया विवेचन, जो अब तक अनेक पाठ्य-पुस्तकों में पाया जाता है । इसी प्रकार राजा के व्ययों के सम्बन्ध में भी उसका एक अध्याय है, जिनमें से हम सरकार के कार्यों के सम्बन्ध में स्मिथ के दृष्टिकोण को निष्कर्ष के रूप में निकाल सकते हैं; और वे कई अपवाद (जो बहुत से हैं), जिनकी उसने अहस्तक्षेप के सामान्य सिद्धान्त का उल्लंघन करने के लिये भी अनुमति दे दी है । परन्तु मेरा ख्याल है कि ऐडम स्मिथ की विचार-प्रणाली को समूचे रूप में देखकर उसके मुख्य-मुख्य अंगों का उल्लेख करने के सम्बन्ध में काफी कुछ कह दिया गया है । और साथ ही यह भी स्पष्ट हो गया है कि अर्थशास्त्रीय सिद्धान्त के विकास में उसका कितना महत्त्वपूर्ण स्थान है । इसमें कोई सन्देह नहीं कि एक पृथक् विज्ञान के

१. गोनर्ड । हिस्ट्री आफ इकोनोमिक डाक्ट्रीन्स ; खंड २, पृष्ठ २११ ।

रूप में राजनीतिक अर्थशास्त्र के विकास में वह न केवल केन्द्रीय और सबसे महान् लेखक रहा है, अपितु विचार और व्यवहार दोनों पर ही उसका प्रभाव किसी भी अन्य अर्थशास्त्री की अपेक्षा कहीं अधिक पड़ा है। उसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसने जीवन की एक ऐसी व्याख्या प्रस्तुत की है, जो एक सीमा तक परिस्थितियों के तथ्यों से मेल खाती थी और अब भी मेल खाती है। उसने समाज के आर्थिक पक्ष को इस रूप में देखा कि समाज प्रतियोगिता और आत्म-हित के द्वारा स्वतःचालित है और वह श्रम के विभाजन और उसके फलस्वरूप उत्पन्न होने वाली विनिमय की बहुमुखी प्रक्रियाओं द्वारा आपस में संगठित है। इस अपने आप को ठीक कर लेने वाले यन्त्रजात में इतनी अधिक क्षमता है कि स्मिथ केवल यह माँग करता रहा कि इस यन्त्रजात को अपना पूरा और ठीक-ठीक काम करने की पूरी स्वतन्त्रता दी जाय। यह ठीक है कि इसमें से बहुत सी बात स्वयं सिद्ध मान ली गयी है; परन्तु जो ऐडम स्मिथ एक अदृश्य हाथ की छाया के पीछे शरण लेने की चेष्टा करता है, उसका सुधार करने के लिये वहीं निरन्तर एक और ऐडम स्मिथ विद्यमान है, जो अत्यन्त सतर्क, कुशल, दूरदर्शी और इतना बुद्धिमान है कि उसे सनकी तक कहा जा सके, और कुछ वैसा ही अविश्वासी-सा स्काटलैंडवासी है, जैसे कि स्काटलैंड के पूर्वी समुद्र तट पर स्मिथ प्रत्येक गाँव में बड़ी संख्या में जन्म लेते हैं; भले ही उनमें से कोई एकाध ही इतना गौरव प्राप्त कर पाता है, जितना कि कर्कल्डी के इस सबसे महान् निवासी को प्राप्त हुआ।

ऐडम स्मिथ के उस रूप को सन्तुलित करने के लिये, जिसमें कि वह बहुत सी बिना सिद्ध हुई मान्यताओं को लेकर चल पड़ता है, उसका एक और रूप है, जो कि अपने साथी मनुष्यों को इतनी अधिक अच्छी तरह पहचानता है कि उसे कभी भी इससे अधिक आश्चर्य नहीं होता, कि वह एक चुभता हुआ वाक्य कह दे; और यह चुभता हुआ वाक्य भी ऐसा होता है, जो चुभते समय भी दयापूर्ण-सा प्रतीत होता है। सम्भवतः इसी कारण स्मिथ में बहुत सी परस्पर-विरोधी बातें भरी हुई हैं। यदि इसे कुछ उदारतापूर्वक कहा जाय, तो उसकी प्रतिभा बहुमुखी है। वह विश्व-भ्रातृत्व का समर्थक था (यदि संसार में वस्तुतः कोई विश्व-भ्रातृत्व का समर्थक हुआ हो तो), फिर भी देशभक्ति में वह किसी से कम नहीं था। यद्यपि वह स्वच्छन्द व्यापार नीति का सबसे बड़ा समर्थक

था, और वह इस बात में विश्वास करता था कि व्यक्तिगत और आत्म-केन्द्रित सहयवृत्तियाँ भी अन्ततोगत्वा समाज के लिये हितकारी हैं, फिर भी उसे इस सम्बन्ध में कोई भ्रम नहीं था कि यदि लोगों के स्वार्थों को प्रबाध छूट दे दी गयी, तो उसके परिणाम क्या होंगे? यद्यपि वह अपने समय से लेकर आज तक स्वच्छन्द व्यापार का प्रवर्तक समझा जाता रहा है, फिर भी उसने संरक्षण-वादी दल के लिये एक ऐसा मन्त्र प्रदान किया है कि यदि वह दल समझदार होता, तो उसे अपने झंडे पर लिखकर रखता। यह बात, कि स्मिथ में सब लक्ष्यों के लिये कुछ न कुछ सामग्री विद्यमान है, इस बात का सबसे बड़ा प्रमाण है कि वह उन अन्य सब लोगों की तुलना में, जो उसके आस-पास और चारों ओर खड़े हैं, एक दैत्य के समान महान् था।

फिर भी स्मिथ आलोचना से बच नहीं सका; और एक विशिष्ट विचारक वर्ग के लिये तो वह स्पष्ट रूप से ही निरन्तर उत्तेजना का कारण बना रहा है। स्मिथ के पाँव भूमि पर इतनी दृढ़ता से टिके हुए थे कि वे लोग, जिनके सिर आकाश के बादलों में छिपे हुए थे, कभी भी इस बात को अनुभव न कर पाये कि स्मिथ का आधार कितना सुदृढ़ था। आदर्शवादी विचारक वर्ग और वे लोग, जिनकी देश-भक्ति दूसरों के प्रति शत्रुता के कारण काँटेदार तार सी बन गयी है, समान रूप से ऐडम स्मिथ की कठोर आलोचना करते रहे हैं। हिल्डेब्रैंड, लिस्ट, मुल्लर और हमारे अपने समय में स्पैन, ये सब स्मिथ की एक सुनिर्धारित आलोचना की परम्परा के प्रतिनिधि हैं।[1] यहाँ इस बात पर ध्यान देना भी उचित होगा कि विरोधी आलोचक किन बातों को ऐडम स्मिथ की दुर्बलता समझते हैं।

पहली बात; यह कहा गया है कि उसकी सम्पत्ति का दृष्टिकोण अत्यन्त संकुचित है। यह हम पहले देख चुके हैं कि ऐडम स्मिथ का प्रारम्भ हमें विनि-मय योग्य मूल्य के विचार तक पहुँचा देता है और इसलिये वह सम्पत्ति और विनिमय योग्य मूल्य, दोनों को एक ही समझता है। इसलिए उसका सिद्धान्त केवल मात्र "मूल्य और कीमत के प्रचलित नियमों का" ही वर्णन करता है; और इसके परिणामस्वरूप राष्ट्रीय कल्याण के और अधिक विस्तृत पहलू

---

१. देखो स्पैन; वह अनुवाद, जो अब "टाइप्स आफ इकोनोमिक थ्योरी" के नाम से उपलब्ध है।

उसकी पकड़ाई में नहीं आते। यहाँ भी, जैसा कि इनमें से अधिकांश बातों पर लागू होगा, स्मिथ अपनी गलती को स्वयं ही सब से अधिक भले ढंग से सुधार देता है, और "वैल्थ आफ नेशन्स" को समूचे रूप में पढ़ने पर ऐसा कोई भी गलत प्रभाव ठीक हो जायगा, जो किन्हीं विशिष्ट सन्दर्भों के आधार पर बन गया हो।

दूसरी बात; स्मिथ पर अत्यधिक व्यक्तिवाद का आक्षेप किया जाता है। यह आक्षेप किया गया है कि वह जर्मन वाक्यांश में "ऐटोमिस्टिख" (atomistisch) है। वह समाज को व्यक्तियों की एक विशाल भीड़ के रूप में देखता है, जो केवल आत्म-हित की प्रेरणा से एक दूसरे पर होने वाली प्रतिक्रिया के सिवाय एक दूसरे से असम्बद्ध है। इसका परिणाम यह होता है कि वह राज्य के इस महत्त्व को भूल जाता है, कि, राजनीति के एक दृष्टिकोण के अनुसार, व्यक्ति केवल अपने राज्य में ही अपने सच्चे महत्त्व को प्राप्त कर पाता है। यह बात, कि स्मिथ उनमें से नहीं है, जो लोग राज्य को एक पवित्र महाशक्ति समझते हैं, खुले तौर पर स्वीकार की जा सकती है; और यह बात, कि उसने राज्य के संरक्षणात्मक कार्यों की आवश्यकता को नहीं पहचाना, उसके विरुद्ध आक्षेप के रूप में प्रस्तुत नहीं की जा सकती; क्योंकि वस्तुतः उसने अपनी रचनाएँ औद्योगिक क्रान्ति से पहले लिखी थीं, और राज्य का एक संरक्षणात्मक शक्ति के रूप में आधुनिक विचार मुख्य रूप से उन दशाओं का परिणाम है, जो ऐडम स्मिथ के समय के पश्चात् प्रकट हुईं।

तीसरी बात यह है, कि आलोचकों को स्मिथ की रचनाओं में एक प्रकार का भौतिकवाद और आदर्शवाद का अभाव दिखायी पड़ता है। अंशतः यह बात उपरिलिखित पहली बात का ही विस्तार मात्र है; अर्थात् स्मिथ ने संपत्ति को केवल उन वस्तुओं तक सीमित कर दिया है, जो खरीदी और बेची जा सकती हैं। परन्तु अंशतः आलोचना कुछ और दूर तक जाती है; और यह कहा गया है कि स्मिथ उन प्रश्नों के सम्बन्ध में विचार करने में असमर्थ रहा है, जो सम्पत्ति के समुचित उपभोग या सम्पत्ति के उत्कृष्ट उद्देश्यों और उपयोगों से सम्बद्ध थे। यहाँ फिर भी यही कहा जा सकता है कि ऊपर से देखने पर इस आलोचना में कुछ सार प्रतीत हो सकता है, और वह भी विशेषरूप से तब, जबकि यह आलोचना पृथक्-पृथक् बिखरे हुए संदर्भों पर आधारित हो; परन्तु

वस्तुतः स्मिथ की रचनाओं में हमें एक ऐसी सर्वांग सम्पूर्णता दृष्टिगोचर होती है, जो उसके अधिकांश अनुयायियों में दिखायी नहीं पड़ती। जहाँ तक इस आलोचना में कुछ भी जान है, वहाँ तक इसके दो उत्तर दिये जा सकते हैं। पहली बात तो यह है कि "वैल्थ आफ नेशन्स" पुस्तक स्मिथ का केवल आधा भाग है; और ऐसा उसने जान-बूझ कर और इरादे के साथ किया है। यह इस ढंग से लिखी गयी है कि इसमें स्मिथ के केवल जीवन के आर्थिक और भौतिक पहलुओं के सम्बन्ध में ही विचार संगृहीत हैं। और दूसरी बात यह है कि सब (या अधिकांश) स्काटलैण्डवासियों की भाँति ऐडम स्मिथ अपने मन की बात चट से खोलकर नहीं कह देता; बल्कि जहाँ कोई ऊँचा विषय सम्मुख हो, वहाँ वह मुँह बन्द रखना ही अधिक पसन्द करता है। सच्चा स्काटलैण्ड निवासी आदर्शों की बात करते हुए सकुचाता है, क्योंकि उसे यह डर लगता रहता है कि आदर्शों की बात करते हुए कहीं वह बुद्धू न लगने लगे।

और इस प्रकार अब हम ऐडम स्मिथ से विदा लेते हैं।

अध्याय ६

माल्थस और रिकार्डो

माल्थस

थामस रावर्ट माल्थस[1] (१७६६—१८३४) प्राचीन अंग्रेजी राजनीतिक अर्थशास्त्र की आधारशिला रखने वाली त्रयी में से दूसरा महान् लेखक था। एक उर्वर लेखक की दृष्टि से यह बड़े आश्चर्य की बात है कि वह केवल एक ही ग्रन्थ का लेखक रहा और केवल एक ही विचार का प्रवर्तक रहा। उसकी यह पुस्तक है 'निबन्ध' (ऐस्से), जिसका इसकी अपेक्षा और कोई सुनिश्चित शीर्षक देना शायद बहुत भला न हो; क्योंकि यह पुस्तक समय के साथ अपना रूप बदलती रही। इस पुस्तक में प्रतिपादित विचार है तथाकथित "जनसंख्या का सिद्धान्त"। यह निश्चित भाव से कहा जा सकता है कि किसी भी प्रतिष्ठित नागरिक को इतना बदनाम नहीं किया गया और न गालियाँ ही दी गयीं, जितनी कि माल्थस को। प्रथम श्रेणी के किसी भी लेखक के मन्तव्यों का इतना अधिक खंडन नहीं किया गया, जितना कि माल्थस के मन्तव्यों का, यद्यपि यहाँ पर यह भी कह देना उचित होगा कि उसका खंडन ऐसे लेखकों ने भी किया, जिनकी रचनाओं में इस बात का पर्याप्त प्रमाण विद्यमान है कि उन्होंने न तो कभी उस पुस्तक को पढ़ा ही है, और न समझा है, जिससे उन्हें इतना द्वेष है।

फिर भी एक दृष्टि से माल्थस ने न तो कोई चीज बहुत नयी लिखी और न बहुत चौंकाने वाली। यदि माल्थसवाद का अभिप्राय माल्थस के सिद्धान्त से

---

१. जन्म १७६६ में डोरकिंग के निकट हुआ। यह नवम रेंगलर (केम्ब्रिज विश्वविद्यालय में गणित में सर्वोत्तम रहने वाला छात्र) था। जीसस कालेज का फैलो रहा। चर्च में दीक्षित हो गया। ईस्ट इंडिया कम्पनी के हेलेबरी कालेज में राजनीतिक अर्थशास्त्र का प्रोफेसर रहा। "जनसंख्या के सम्बन्ध में निबन्ध" के अतिरिक्त उसने और कई छोटी पुस्तिकाएँ लिखीं (जैसे माटक और अन्न के आयात के विषय में) और 'राजनीतिक अर्थशास्त्र के सिद्धान्त' नामक पुस्तक भी लिखी।

हो—जो सम्भवतः एक बहुत बड़ी कल्पना है—तो माल्थसवाद के स्पष्ट रूप में प्रवर्तक "जनसंख्या के विषय में निबन्ध" के लिखे जाने से बहुत पहले भी विद्यमान थे। वेतनों के सम्बन्ध में अपने उस अध्याय में, जिसमें बहुत से वेतन सिद्धान्तों की ओर संकेत किया गया है, ऐडम स्मिथ ने, जैसा कि हम पहले ऊपर उद्धृत संदर्भों में देख चुके हैं, यह लिखा था कि मनुष्यों की माँग, अन्य किसी भी पदार्थ की माँग की भाँति, मनुष्यों के उत्पादन को नियमित रखती है।" यदि कोई चाहे तो वह इसे माल्थसवाद का घनीभूत सारांश समझ सकता है; और अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में अनेक लेखकों की रचनाओं में से, जिनमें ज्येष्ठ मिराबो का नाम एक उदाहरण के तौर पर लिया जा सकता है, ऐसे उद्धरण संगृहीत किये जा सकते हैं, जो माल्थस की विचारधारा के सूचक हों। माल्थस की मौलिकता का जो भी कुछ दावा किया जा सकता है, वह केवल इतना है कि उसने एक ऐसे सिद्धान्त के महत्त्व को अनुभव किया, जिसे अन्य लोगों ने मामूली तौर पर लिख दिया था। जिस चीज को अन्य लोगों ने एक स्फुट सूक्ति के रूप में लिखकर छोड़ दिया था, वही उसके लिये एक केन्द्रीय और सर्वप्रमुख ऐसा सिद्धान्त बन गया, जो सब वस्तुओं पर प्रकाश डालता था।

माल्थस को पूरी तरह समझने के लिये उस पृष्ठभूमि का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है, जिसके कारण "जनसंख्या के विषय पर निबन्ध" को लिखने की प्रेरणा प्राप्त हुई, और उन अद्भुत क्रमिक दशाओं का भी ज्ञान आवश्यक है, जिसमें से होकर माल्थस का सिद्धान्त विकसित हुआ। इस निबन्ध का जन्म माल्थस और उसके पिता डेनियल माल्थस के मध्य हुए एक घरेलू वाद-विवाद के फलस्वरूप हुआ। डेनियल माल्थस कुछ वामपक्षीय विचारों का व्यक्ति था और रूसो का मित्र था। उस समय का वातावरण भूमि पर स्वर्ग उतारने की अत्यन्त सुन्दर और मधुर कल्पनाओं से भरा हुआ था, जिसकी प्रतिनिधि अत्यन्त उत्साही कौंदोरसे (Condorcet) था; और इंगलैण्ड में यह उत्साह गॉडविन की रचनाओं 'पोलिटिकल जस्टिस' (१७९६) और "दी इन्क्वायरर" (१७९७) में प्रकट हुआ था। गॉडविन को अधिक से अधिक एक राजनीतिक सिद्धान्त-शास्त्री माना जा सकता है और आर्थिक सिद्धान्त के साथ उसका केवल इतना सम्बन्ध हो सकता है कि उसके विचारों की कुछ प्रतिक्रिया आर्थिक सिद्धान्तों

पर भी हुई हो। इसलिए इतना कहना पर्याप्त है कि जिस स्थिति का उसने एक पैगम्बर की भाँति भविष्य-दर्शन किया था, वह एक अराजकतापूर्ण समाज था, जिसमें सुखी मनुष्य सम्पत्ति, वासनाओं और विवाह की बेड़ियों से मुक्त होकर प्रतिदिन केवल आधा घंटा परिश्रम करके आनन्दपूर्वक जीवन व्यतीत कर सकेंगे। इस प्रकार के दिवा-स्वप्नों को लेकर, जो मनुष्य की पूर्णता और अन्ततोगत्वा मनुष्य की पृथ्वी पर अमरता पर आधारित थे, पिता और पुत्र में विवाद हो गया। जब यह विवाद समाप्त हो गया या स्थगित हो गया, तो युवक माल्थस ने विलम्बित मति से (esprit d'escalier; अवसर बीत जाने के बाद युक्तियाँ सोचना) प्रेरित होकर उन युक्तियों को कागज पर उतारना प्रारम्भ कर दिया, जिन्हें यदि वह ठीक समय पर सोच पाता, तो ये युक्तियाँ सफलतापूर्वक उसके पिता को निरुत्तर कर सकतीं।

इस प्रकार "जनसंख्या के विषय में निबन्ध" का पहला संस्करण तैयार हुआ, जो १७९८ में प्रकाशित हुआ और इस संस्करण का रंग-ढंग इसके उद्गम से पूरी तरह मेल खाता है। यह एक ऐसी रचना है, जिसमें गॉडविन और कौंदोरसे के विरुद्ध विवाद में दनदनाते हुए एक युवक की पूरी शक्ति और उग्रता भरी हुई है। इस पुस्तक का उद्देश्य गॉडविन द्वारा बताये गये अर्थों में मनुष्य की पूर्ण बन सकने की योग्यता का निषेध करना है; और यह समाज की उस दशा की अस्थिरता को सिद्ध करके किया गया है, जो दशा गॉडविन ने अपनी कल्पना में देखी थी।

पहले संस्करण में गॉडविन के पक्ष का खंडन करने के लिये माल्थस ने दो स्थापनाएँ की हैं। पहली स्थापना तो यह है कि मनुष्य के अस्तित्व के लिये भोजन अत्यन्त आवश्यक है और दूसरी बात यह है कि "स्त्री और पुरुषों के मध्य काम-वासना का होना अनिवार्य है और यह लगभग अपनी वर्तमान दशा में ही विद्यमान रहेगी।"[1] संक्षेप में, जनसंख्या में बढ़ाने की उससे कहीं अधिक शक्ति होती है, जितनी कि जीवन-निर्वाह के साधनों में बढ़ने की शक्ति होती है। यहाँ पहले संस्करण में "रेखागणितीय" और "अंकगणितीय" प्रगुणन (प्रोग्रेशन) अपने बहुत कुछ कठोर और कट्टर रूप में सामने आते हैं। इस प्रकार

१. पहला संस्करण; इकोनोमिक सोसायटी द्वारा पुनः मुद्रित, पृष्ठ ११।

सुसज्जित होकर माल्थस ने गॉडविन के पक्ष का खंडन करने में खूब आनन्द लिया। क्योंकि यदि यह मान लिया जाय, कि गॉडविन द्वारा कल्पित समाज एक बार सही-सलामत प्रारम्भ कर दिया जाय, तो जनसंख्या को बढ़ाने की दृष्टि से उस समाज की अपेक्षा अधिक अनुकूल किसी अन्य स्थिति की कल्पना भी नहीं की जा सकती। उसके बाद रेखागणितीय और अंकगणितीय प्रगुणनों को लागू कीजिये; और फिर सोचिये कि ५० वर्ष की अल्प अवधि में ही वह समाज कहाँ जा पहुँचेगा ? फिर वही घृणित वासनाएँ वापस लौट आयेंगी और अपने वंश को बनाये रखने का सशक्त नियम प्रबल रूप में सामने आयेगा; और उसके बाद "पापों की सारी काली परम्परा, जो झूठ से सम्बद्ध है, तुरन्त उत्पन्न हो जायगी।" पहले संस्करण का मूल वक्तव्य बहुत सीधा-सादा है। यदि यह मान लिया जाय कि जनसंख्या में जीवन-निर्वाह के साधनों की अपेक्षा बढ़ने की कहीं अधिक शक्ति होती है, तो अवश्य ही ऐसी कोई शक्तियाँ होनी चाहिएँ, जो जनसंख्या को सीमा के अन्दर रखती हों। इन जनसंख्या की निवारक शक्तियों को अन्ततोगत्वा "पाप" और "कष्ट" इन दो वर्गों में बाँटा जा सकता है। इसलिये गॉडविन द्वारा कल्पित पृथ्वी पर विद्यमान स्वर्ग केवल एक सुन्दर कल्पना का अंश है, जो सत्य का कठोर स्पर्श पाते ही लुप्त हो जाता है।

इस प्रकार अपना पटाखा छोड़ने के बाद माल्थस ने अपने विषय का प्रणालीसम्मत ढंग से प्रतिपादन करने का प्रयत्न किया। उसने दूर-दूर तक यात्रा की और इस विषय में खूब अध्ययन किया जिससे कि वह अपने पहले-पहल आवेग में लिखे गये सिद्धान्त को इस प्रश्न के सम्बन्ध में परिपक्व विवेचन का रूप दे सके। इस सबका परिणाम हुआ १८०३ का दूसरा संस्करण। यह पुस्तक पहली पुस्तक की अपेक्षा कई दृष्टियों से बहुत भिन्न थी। एक खास बात यह थी कि इन बीच के वर्षों में की गई आलोचनाओं और विवेचनों के फलस्वरूप माल्थस ने अपनी पुस्तक में कुछ ऐसे परिवर्तन कर दिये जिनके कारण उसकी युक्ति-परम्परा में आधारभूत परिवर्तन हो गया। अपनी पहली पुस्तक में उसने जनसंख्या पर केवल दो रोकों को स्वीकार किया था, और वह रोकें थीं—पाप और कष्ट। परन्तु, जैसा कि संकेत किया गया है, ऐसे बहुत से बूढ़े अविवाहित लोग हैं, जो प्रकट रूप से न तो दुखी हैं और न प्रकट रूप से पापी ही हैं। इस कठिनाई को हल करने के लिये माल्थस ने जनसंख्या पर एक और

सम्भावित तीसरी रोक की कल्पना की; और वह रोक थी—नैतिक संयम। परन्तु इस प्रकार एक सुस्पष्ट आक्षेप का मुकाबला करने के लिये अपने मूल सिद्धान्त में परिवर्तन करके वस्तुतः माल्थस ने अपनी मूल युक्ति का आधार ही समाप्त कर दिया। क्योंकि जनसंख्या पर यदि तीसरी सम्भावित रोक नैतिक संयम को मान लिया जाय, तो मनुष्य की पूर्ण बन सकने की क्षमता के विरुद्ध दी गयी युक्ति (युक्ति-संगत रूप से) निष्प्राण हो जाती है; क्योंकि यदि इस पृथ्वी के निवासियों के लिये यह संभव हो (भले ही ऐसा होना न हो) कि पृथ्वी के निवासी एक आवश्यक सीमा तक नैतिक संयम का पालन कर सकते हैं, तो गॉडविन द्वारा कल्पित पार्थिव स्वर्ग सदा पापों की काली परम्परा के भयानक आक्रमण से बचा रहेगा। इस फलस्वरूप कोन्दोर्से और गॉडविन, जिनके नाम पहले मुखपृष्ठ पर थे, धीरे-धीरे चित्र में से विलुप्त होने लगते हैं।

दूसरे (और उसके बाद के) संस्करणों में और अधिक सावधान वक्तव्य देते हुए माल्थस ने अपने पहले अध्याय में अपने अभीष्ट मन्तव्य को संक्षेप में लिख दिया है। यहाँ उसका सम्पूर्ण सिद्धान्त सुविधा के लिये तीन प्रसिद्ध स्थापनाओं के रूप में घनीभूत रूप में विद्यमान है :

(१) जनसंख्या अनिवार्य रूप से जीवन-निर्वाह के साधनों द्वारा सीमित रहती है।

(२) जहाँ भी जीवन-निर्वाह के साधन बढ़ जाते हैं, वहाँ जनसंख्या अनिवार्य रूप से बढ़ जाती है; बशर्ते कि उसे किन्हीं शक्तिशाली और स्पष्ट रोकों द्वारा रोका न जाय।

(३) ये रोकें और वे रोकें, जो जनसंख्या की बढ़ने की महान् शक्ति को दबाती हैं और इस शक्ति के प्रभावों को केवल उस स्तर तक सीमित रखती हैं, जिस स्तर तक जीवन-निर्वाह के साधन विद्यमान हैं, वे सब नैतिक संयम, पाप और कष्ट इन तीन वर्गों में बाँटी जा सकती हैं।[1]

इन तीन स्थापनाओं में से पहली के लिये किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। जीवन-निर्वाह के साधनों द्वारा जितने लोगों का निर्वाह हो सकता है, उससे अधिक व्यक्ति किसी भी प्रकार रह ही नहीं सकते। दूसरी स्थापना को माल्थस

१. "ऐस्से आन पापुलेशन"; खंड १, अध्याय १, पृष्ठ १८-१९; भाग १ ऐवरीमैन एडीशन। सुविधा के लिये आगे के सब उदाहरण भी इसी संस्करण में से दिये गये हैं।

अत्यधिक सावधान वक्तव्य समझता है और वह एक फुटनोट में एक और अधिक सही सुर प्रस्तुत करता है, जिसका अभिप्राय यह है कि "जहाँ भी जीवन-निर्वाह के साधन रहेंगे, वहाँ जनसंख्या सदैव बढ़ेगी।" और इस सारे प्रसंग में वह इस ओर भी सुस्पष्ट धारणा को लेकर युक्ति करता है कि जहाँ भी खाद्य-पदार्थ बढ़ जाते हैं, वहाँ जनसंख्या भी बढ़ जाती है, क्योंकि खाद्य-पदार्थ वस्तुतः जनसंख्या की मांग हैं। इसी बिन्दु पर उसके दो अनुपातों का विवेचन टिका हुआ है, रेखागणितीय प्रगुणन और अंकगणितीय प्रगुणन; जो माल्थस के सिद्धान्त के विवाद में एक महत्त्वपूर्ण विषय बना रहा है। माल्थस यह मानकर चलता है कि मनुष्य जाति में अपनी संख्या को बढ़ाने की प्रेरणा सब कालों और परिस्थितियों में निरन्तर एक जैसी बनी रहती है। उसने अपने एक वाक्यांश में इस बात को इस रूप में लिखा है कि "स्त्रियों और पुरुषों में प्रत्येक आयु में वासना इतनी लगभग एक जैसी रहती है कि बीजगणित की भाषा में इसे सदा ही एक दी हुई निश्चित मात्रा समझा जा सकता है।"[1] पर यह एक केवल कल्पना ही है, जिसकी पुष्टि के लिए प्रमाण उपस्थित नहीं किया जा सकता, और बाद में इस कल्पना को स्वीकार करने से इनकार करके ही माल्थस के सिद्धान्त की कठोर आलोचना की गयी। परन्तु यदि थोड़ी देर के लिये यह मान लिया जाय, कि यह कल्पना उचित है, तो यदि जनसंख्या २५ वर्ष में दुगुनी हो सकती है (जैसा कि उस समय अमेरिका में प्राप्त अनुभव से प्रमाणित होता प्रतीत होता था), तो उसके बाद आने वाली हर २५ वर्ष की अवधियों में वह जनसंख्या अपने आप को इस प्रगुणन के अनुसार बढ़ाती जायगी, १ : २ : ४ : ८ : १६ : ३२ इत्यादि।

जीवन-निर्वाह के साधनों की वृद्धि के सम्बन्ध में अंकगणितीय अनुपात द्वारा नियमित होने के सिद्धान्त को स्थापित करने वाली युक्ति-परम्परा और भी कम सन्तोषजनक है। यह वस्तुतः किसी प्रकार का प्रमाण है ही नहीं; और एक नौवें रैंगलर की कीर्ति के उपयुक्त तो किसी भी तरह नहीं है। माल्थस का कथन है कि यदि हम यह मान लें, कि उपज अगले २५ वर्षों में बढ़ाकर दुगनी की जा सकती है, तो यह "वृद्धि उसकी अपेक्षा कहीं अधिक

१. वही; खंड २, अध्याय ११, भाग १, पृष्ठ ११२।

होगी, जितनी कि युक्तिपूर्वक आशा की जा सकती है।"[1] और उसके बाद आने वाली २५ वर्ष की अवधियों के बारे में वह केवल यह मानकर काम चला लेता है कि, प्रत्येक अवधि में उत्पादन में उतनी ही मात्रा की वृद्धि होती रहेगी, जितनी कि उस समय उत्पन्न हो रही है। परन्तु इस अंकगणितीय प्रगुणन के लिये कोई प्रमाण नहीं है। यह माल्थस की दृष्टि में भी केवल एक बाहरी अनुमान है; एक ऐसी "कल्पना, जिसमें बिलकुल ठीक-ठाक सुनिश्चित होने का दावा नहीं किया जा सकता; और जो स्पष्ट रूप से पृथ्वी की उत्पादन की शक्ति पर अधिक निर्भर है, और पृथ्वी की उत्पादन-शक्ति के सम्बन्ध में हमारे अनुभवों पर कम आधारित है।"

यदि इन अनुपातों को स्वीकार कर लिया जाय, तो संसार में अवश्य ऐसी शक्तियाँ होनी चाहियें, जो जनसंख्या को जीवन-निर्वाह के साधनों की सीमा से आगे बढ़ने से रोकें। संशोधित सिद्धान्त में इन शक्तियों का वर्णन नैतिक संयम, पाप और कष्ट के रूप में किया गया है; परन्तु एक और दूसरा वर्गीकरण भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है, जिसके अनुसार इन्हें "निरोधात्मक रोकों" और "विधानात्मक रोकों" में विभक्त किया गया है। निरोधात्मक रोकों के अन्तर्गत वे सब प्रभाव आ जाते हैं, जो जन्म की दर को कम रखने में सहायक होते हैं। नैतिक संयम, यदि संयम को काफी दूर तक ले जाया जाय तो, स्पष्ट रूप से इसी शीर्षक के अन्तर्गत आता है। माल्थस की दृष्टि में वे सब पापपूर्ण उपाय, जिनका परिणाम जन्म लेने वाले बच्चों की संख्या को कम रखना होता है, इसी शीर्षक के अन्तर्गत आते हैं। दूसरी ओर विधानात्मक रोकें वे सब प्रभाव हैं, जो मृत्यु की दर को बढ़ाते हैं। "महामारियों, युद्धों, संक्रामक रोगों और दुर्भिक्षों की सारी परम्परा।" यदि ये सब विपत्तियाँ हमारे ऊपर प्रकृति के नियमों के फलस्वरूप आती हैं, तो वे शुद्धरूप से कष्ट हैं; और यदि वे हमारी अपनी करतूतों के परिणाम हैं, तो उन्हें पाप कहा जा सकता है, और उनका परिणाम कष्ट है। यह पिछला विभाजन कहाँ तक युक्तियुक्त है, यह विवाद का विषय हो सकता है। यह सम्भव है कि दूरदर्शिता और ज्ञान के द्वारा रोग, दुर्भिक्ष और बाढ़ों द्वारा होने वाले विनाश से उसी प्रकार बचा जा सके, जैसे

---

१. वही; भाग १, पृष्ठ ६

युद्धों से बचा जा सकता है। यह बात कि मनुष्य इस प्रकार की घटनाओं की जिम्मेदारी परमात्मा के सिर से हटाकर अपने ऊपर लेने को तैयार है, इस बात का चिन्ह है कि अब वह वयस्क हो चला है।

यह कहा जा चुका है कि नैतिक संयम की बात दूसरे संस्करण में जोड़ी गई है; फिर भी यह नवीनता उतनी वास्तविक नहीं है, जितनी कि दिखाई पड़ती है।[1] पहले संस्करण में माल्थस ने सारांशतः नैतिक संयम के सिद्धान्त पर बार-बार जोर दिया है। परन्तु गॉडविन के विरुद्ध अपनी युक्ति को सबल बनाये रखने के लिये उसने यह कल्पना कर ली, और शायद बहुत उग्र कल्पना कर ली, कि अकेले अविवाहित रहने की दशा या तो कष्ट की दशा है, और या दूसरे विकल्प के रूप में पाप को जन्म देने वाली दशा है। कुछ इस ढंग का निष्कर्ष वस्तुतः माल्थस १७९८ तक निकाल चुका था।[2] माल्थस के सम्बन्ध में यह कहना सम्भवतः अनुचित न होगा कि अपने प्रथम संस्करण में उसने वस्तुतः नैतिक संयम के सिद्धांत को स्वीकार कर लिया था, परन्तु अपनी युक्ति-परम्परा के कारण उसे नैतिक संयम को कष्ट के समक्ष समझने को विवश होना पड़ा।

एक दृष्टि से माल्थस ने ऐडम स्मिथ की रचनाओं के लिये एक रोचक प्रशस्ति प्रस्तुत की है, जिसने व्यापारवादियों की आलोचना करते हुए सम्पत्ति को बढ़ाने के लिये सरकार के हस्तक्षेप की निस्सारता, बल्कि हानिकारकता सिद्ध की थी। ये वस्तुएँ कुछ नियमों के आधीन हैं और शासन-सत्ता द्वारा कृत्रिम प्रतिबन्ध लगाकर देश में सोने की मात्रा को बढ़ाने का प्रयत्न केवल

---

१. माल्थस ने इस भाव को बहुत सीमित अर्थों में प्रयुक्त किया है। "नैतिक संयम शब्द से मेरा अभिप्राय विवाह के सम्बन्ध में ऐसे समय से है, जिसमें विवेकपूर्ण उद्देश्यों को सम्मुख रखते हुए इस संयम की अवधि में व्यक्ति अपने आचरण को पूर्णतया नैतिक रखे।" खंड १, अध्याय २, फुटनोट भाग १, पृष्ठ १४।

२. "यह संयम लगभग अनिवार्य रूप से, यद्यपि सदैव नहीं, पाप को जन्म देता है।" प्रथम संस्करण, पृष्ठ २९। "विवाह के मार्ग में आने वाली प्रत्येक बाधा को सुनिश्चित रूप से एक प्रकार का असुख ही समझना चाहिये।" पृष्ठ ७९। "इस बात की सम्भावना के कारण, कि परिवार का निर्वाह करने में कठिनाई होगी; विवाह के सम्बन्ध में हल्की से हल्की रोक को भी भली भाँति उसी शीर्षक के अन्तर्गत रखा जा सकता है (अर्थात् कष्ट का ही एक प्रकार)" पृष्ठ १०८। यहाँ पर कोई भी सिड़ी (सनकी) व्यक्ति यह निर्देश कर सकता है कि पहले और दूसरे संस्करणों की तिथियों के बीच माल्थस का विवाह हुआ था।

जब व्यावहारिक उपाय सुझाने का प्रश्न उपस्थित होता है, तो माल्थस बहुत कुछ असमर्थ सिद्ध होता है। माल्थसवाद से आमतौर से जो कुछ लोग समझते हैं, उसके ठीक विपरीत माल्थस अपने आप को केवल इस कथन तक सीमित रखता है कि हमें विवाह करने में बहुत शीघ्रता नहीं करनी चाहिये। वह अपनी महिला-पाठिकाओं से विशेष रूप से यह अनुरोध करता है कि "यदि उन्हें उचित रूप से यह विश्वास हो, कि वे २७ या २८ वर्ष की आयु में भी विवाह कर पाने में समर्थ होंगी", तो उन्हें इतनी आयु तक प्रतीक्षा करनी उचित है, और उन्हें प्रतीक्षा करनी चाहिए। "भले ही इस एकान्तवास के कारण पुरुष कितनी ही अधीरता क्यों न अनुभव करते हों ?[1]" यह एक स्नेही और दयालु बूढ़े चाचा की सी आवाज है, एक क्रूर राक्षस की आवाज नहीं, जैसा कि माल्थस को गलती से बहुत बार समझ लिया जाता है। और यह सलाह उतनी ही प्रभावहीन है, जितनी कि ऐसे मामलों में चाचा की सलाह प्रायः हुआ करती है; क्योंकि २८ वर्ष की आयु में विवाह होने के बाद भी बच्चों की चिन्ताजनक और विनाशकारी झड़ी के लिये पर्याप्त समय रहता है। मिल से विपरीत, माल्थस विवाह के बाद नैतिक संयम के प्रयोग की सलाह किसी रूप में नहीं देता। उसका दृष्टिकोण बहुत कुछ यह है कि मनुष्य विवाह को टालते जाने में तो अपने विवेक का उपयोग कर सकता है, परन्तु विवाह के बाद जो भी कुछ होता है, उसकी जिम्मेदारी मनुष्य के अतिरिक्त किसी और पर होनी चाहिये। "जब कोई पुरुष विवाह करता है, तो वह यह नहीं बता सकता कि उसके कितने बच्चे होंगे ?" यहां तक कि, वह बहुत बड़े परिवारों को उनके भरण-पोषण के लिए सहायता देने के लिये एक सुधरी हुई प्रणाली को हलका-सा आशीर्वाद भी देता है। और जब वह इस प्रकार के बड़े परिवार को "एक ऐसे कष्ट से, जिसके सम्बन्ध में यह आशा करना अयुक्तिसंगत होगा कि वह उसे पहले से सोच पाता; मुक्ति दिलाने के प्रश्न का विवेचन करता है, तो उसकी भाषा बहुत कुछ आन्दोलनकारियों की सी हो जाती है।[2]

उसका दूसरा व्यावहारिक प्रस्ताव, जिसका अर्थशास्त्रीय सिद्धान्त से नहीं के बराबर सम्बन्ध है, दरिद्रता-कानून को धीरे-धीरे हटा देने के विषय में है।

---

१. वही; खंड ४, अध्याय ९, भाग २, पृष्ठ १५१।

१. वही; खंड ४, अध्याय १३, भाग २, पृष्ठ २५५।

उसका सुझाव, जिसकी व्याख्या उस काल की परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए हो सकती है, यह है कि राज्य को औपचारिक रूप से यह घोषणा कर देनी चाहिए कि वह दरिद्र लोगों के राज्य से भरण-पोषण प्राप्त करने के अधिकार को स्वीकार नहीं करता; और विवाह संस्कार में इस आशय का एक उपदेश और जोड़ देना चाहिए कि प्रत्येक व्यक्ति की यह जिम्मेदारी है कि वह अपने बच्चों का पालन-पोषण करे; और यह बात स्पष्ट कर दी जानी चाहिये कि जो इन स्पष्ट चेतावनियों के बाद भी गलती करेंगे, वे प्रकृति द्वारा दंडित होने के लिये छोड़ दिये जायेंगे। या तो वे अभाव से पीड़ित रहेंगे, या फिर उन्हें किसी उपकारी व्यक्ति की दया पर निर्भर रहना होगा। इसके अतिरिक्त उचित दंड देने के लिये हम परमात्मा (या प्रकृति) पर भरोसा कर सकते हैं, जिससे किसी व्यक्ति की अन्तरात्मा को दुःखी होने की आवश्यकता न होगी। "जब प्रकृति हमारी ओर से शासन करने और दंड देने को तैयार हो, उस समय उसके हाथ से दंड छीनकर वधिक का क्रूर कर्म करने का दायित्व अपने ऊपर लेने की इच्छा बहुत ही दयनीय महत्त्वाकांक्षा है।"[1] जिस व्यक्ति को दंड मिल रहा है, उसे प्रकृति के नियम, जो परमात्मा के नियम हैं, दंडित कर रहे होते हैं, और जिस समय दंड दिया जा रहा हो, उस समय शेष समाज को चाहिए कि वह कुछ देर के लिये दूसरी ओर देखता रहे। माल्थस का यह पहलू उसके न्यूनतम आकर्षक पहलुओं में से एक है कि उसकी वस्तुओं की योजना में दरिद्र लोग ही पूर्णतया अपनी दरिद्रता के लिये जिम्मेदार हैं। न तो वेतन की दरों, न धर्म, न समाज की संस्थाओं, न परमात्मा और न राज्य को ही उनकी दरिद्रता के लिये दोष दिया जा सकता है। "वे स्वयं अपनी दरिद्रता के कारण हैं।"[2] विशेष रूप से "लोगों की दुरवस्था से सरकार के विरुद्ध निकाला गया निष्कर्ष स्पष्ट रूप से अनुचित है," क्योंकि अभाव और दुःख का मुख्य कारण सरकार से केवल परोक्ष रूप से सम्बद्ध है।[3] यहाँ इस बात पर जोर देना अनावश्यक है कि इस सिद्धान्त का सरकार की स्वच्छ व्यापार की नीति से घनिष्ठ सम्बन्ध है।

१. वही; खंड ४, अध्याय ८, भाग २, पृष्ठ २०२।
२. वही; खंड ३, अध्याय २, भाग २, पृष्ठ २०।
३. वही; खंड ३, अध्याय १३, भाग १, पृष्ठ ३१२

दुष्टतापूर्ण है।[1] इस नियम की धारणा को माल्थस ने स्वयं मनुष्यों की वृद्धि पर लागू किया। यहाँ भी एक नियम है, जिसे मनमाने तौर, पर हटाकर परे नहीं किया जा सकता; इस क्षेत्र में भी जनसंख्या की वृद्धि को कृत्रिम रूप से प्रोत्साहित करने का सरकारों का प्रयत्न व्यर्थ है, क्योंकि जनसंख्या तब तक किसी भी दशा में नहीं बढ़ेगी, जब तक कि जीवन-निर्वाह के साधन नहीं बढ़ेंगे; और यदि जीवन-निर्वाह के ये साधन बढ़ जायें, तो जनसंख्या बिना किसी सरकारी प्रोत्साहन के अवश्य ही बढ़ जायेगी। जनसंख्या को बढ़ाने के लिये अधिकांश सरकारें जिन उपायों का अवलम्बन करती हैं, वे पूर्णतया व्यर्थ हैं; और उनका परिणाम केवल यह हो सकता है कि मृत्यु-संख्या बढ़ जाय।[2] सच कहा जाय तो विवाहों को सब से प्रोत्साहन देने वाली वस्तु मृत्यु है, क्योंकि मृत्यु के द्वारा नई पीढ़ी के लिये विवाहों का मार्ग खुल जाता है। जो लोग छोटी आयु में विवाहों को प्रोत्साहन देना चाहते हैं, तो उनके लिये उचित यह है कि यदि वे अकाल से घबराते हैं, तो उन्हें कम से कम "यत्नपूर्वक विनाश के उन अन्य उपायों को प्रोत्साहित करना चाहिये, जिनके लिये अब तक हम प्रकृति को विवश करते रहे हैं कि वह उनका प्रयोग करे।"[3] इस प्रकार इसी विचारधारा पर चलते-चलते कहा जा सकता है कि केवल प्रवसन (ऐमिग्रेशन) द्वारा कोई भी देश जनहीन नहीं हो सकता। जो लोग देश को छोड़कर चले जायेंगे, वे केवल अन्य लोगों के लिये स्थान खाली कर रहे होंगे। परन्तु "किसी देश से उसके उद्योगों को और जीवन-निर्वाह के साधनों को छीन लीजिये, तो वह देश एकदम जनहीन हो जायगा।"[4] समृद्धि जनसंख्या पर निर्भर नहीं है, अपितु जनसंख्या समृद्धि पर निर्भर है। यह सत्य नहीं है कि परमात्मा बिना खाद्य-पदार्थ उत्पन्न किये किसी खाने वाले मुंह को उत्पन्न नहीं करता; बल्कि सत्य यह है कि अज्ञात बालकों का इतना आधिक्य है कि जहाँ भी कहीं भोजन होता है, वहीं एक मुँह प्रकट हो जाता है। पहल खाद्य-पदार्थ से होती है, और जन-

---

१. माल्थस ने स्वयं भी इस समानता की ओर ध्यान आकृष्ट किया है; खंड ३, अध्याय १४।

२. वही; खंड २, अध्याय ४; भाग १, पृष्ठ १६५-१६६।

३. वही; खंड ४, अध्याय ५, भाग २, पृष्ठ १७६।

४. वही; खंड २, अध्याय १०, भाग १, पृष्ठ २७२।

संख्या बढ़ाने का एक मात्र नुस्खा यह है कि खाद्य-पदार्थों की उपलब्धि को बढ़ाया जाय; और बाकी सारे मामले को व्यक्तिगत नवारम्भ के भरोसे छोड़ दिया जाय, जो सुनिश्चित रूप से कभी असफल न होगा।

परन्तु यदि एक दृष्टि से माल्थस ने ऐडम स्मिथ के सिद्धान्त को पूर्ण किया, तो दूसरी दृष्टि से उसकी विचारधारा उससे ठीक विपरीत थी। क्योंकि स्मिथ ने एक ऐसी आधारभूत एकलयता की स्थापना की थी, जिसे एक अदृश्य शक्ति ने व्यवस्थित किया है, और जो वैयक्तिक हितों के संघर्ष में से समाज के अधिकतम लाभ को जन्म देती है। इस प्रकार वह पूर्णतया और दृढ़तापूर्वक आशावादी था, भले ही यह अदृश्य हाथ केवल उसके विश्वास की ही वस्तु क्यों न हो। किन्तु दूसरी ओर माल्थस अत्यधिक निराशावादी है। उसके यहाँ भी एक नियम है, किन्तु उस नियम का स्वरूप ऐडम स्मिथ के नियम से कितना भिन्न है। नैतिक संयम के अतिरिक्त, जिसमें स्पष्ट रूप से उसे बहुत व्यावहारिक विश्वास नहीं है, उसके नियमों के पीछे विद्यमान शक्तियाँ पाप और कष्ट हैं। प्रकृति के वे नियम, जिनका वह बार-बार उल्लेख करता है, मुख्यतया दंडात्मक हैं; और वह हमें बार-बार याद कराता है कि प्रकृति के ये नियम ईश्वर के नियम हैं। प्राकृतिक उत्पात वे साधन हैं, जिनके द्वारा परमात्मा हमें उस प्रकार के आचरण से दूर रहने की चेतावनी देता है, जो हमारे अस्तित्व के लिये उपयुक्त नहीं हैं। "यदि हम खाने और पीने में अनियमित रहें, तो हमारा स्वास्थ्य बिगड़ जाता है···यदि हम अपनी जनसंख्या को अत्यधिक तेजी से बढ़ाने लगें, तो हम गरीबी और संक्रामक व्याधियों के कारण दुर्दशाग्रस्त होकर मर जाते हैं।" प्रकृति और परमात्मा के ये इस प्रकार के नियम हमें यह चेतावनी देते हैं कि हम अपने आवेगों के वशीभूत होकर बहुत दूर तक बढ़ गये हैं, और यदि हम उस चेतावनी की परवाह न करें, तो "हम उचित रूप से आज्ञा-उल्लंघन के दंड के भागी होते हैं और हमारे कष्ट दूसरों के लिए चेतावनी का काम करते हैं।"[१] उन्नीसवीं शताब्दी के अर्थशास्त्रीय सिद्धान्त में जो विषाद और निराशा की गहरी छाप दिखायी पड़ती है, वह काफी बड़ी सीमा तक माल्थस की देन है।

---

१. वही; खंड ४, अध्याय १, भाग २, पृष्ठ १५२।

आज के युग में माल्थस का इस पुरानी धारणा से बचाव करना अनावश्यक है कि वह एक ऐसा राक्षस था, जो महामारी, दुर्भिक्ष और युद्ध से प्रसन्न होता था, और जो प्रत्येक रात्रि को यह प्रार्थना किया करता था कि इस प्रकार की विपत्तियाँ, जो दैवीय शक्तियों ने संसार को फालतू बालकों से साफ करने के लिये बनायी हैं, समय-समय पर आती रहा करें। कम से कम स्वयं माल्थस ने भी इस बात को आवश्यक समझा था कि वह औपचारिक रूप से यह स्पष्ट कर दे कि वह इन विभिन्न रोकों का प्रशंसक और समर्थक नहीं है; फिर भी उसकी रचना को आद्योपान्त पढ़ने पर यह प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता कि वह विपत्ति के लिए प्रार्थना कर रहा है। सम्भवतः पहले संस्करण में माल्थस अपने प्रतिद्वन्द्वियों को ललकार रहा था, और यह एक ऐसी मुद्रा है, जो तरुण व्यक्तियों में बहुत शानदार प्रतीत होती है। अन्य सब स्वप्नदर्शियों के प्रतिकूल, वह लोगों पर वास्तविकता की ठंडी पिचकारी छोड़ने में आनन्द अनुभव करता है; और अपने आपको मृत्यु और महामारी के वृत्तान्त-लेखक के रूप में प्रस्तुत करते हुए वह आश्चर्यजनक शान्ति और अनुद्विग्नता प्रकट करता है। वह अपनी अत्यधिक महान् साहित्यिक निपुणता का प्रयोग अपने विचारों को इतने तीखे रूप में प्रस्तुत करने के लिये करता है, जिसका उद्देश्य भले ही चोट पहुँचाना न हो, किन्तु सहमा देना अवश्य है। और कई बार वह ऐसी बातें भी कह बैठता है, जो लोक-स्वीकृत धारणाओं के प्रतिकूल होती हैं; जैसे वह अध्ययनपूर्ण, किन्तु हृदयहीन रीति से "उन दुःखी लोगों" का उल्लेख करता है, "जिनका इस जीवन की विशाल लाटरी में खींचा हुआ पत्ता खाली निकल गया है।" और जहाँ वह निरोधात्मक रोकों के सम्बन्ध में लिखता है, और उन्हें "फालतू जनसंख्या को नष्ट करने के लिये फैलने वाली बड़ी और विनाशकारी महामारियों" की अपेक्षा अच्छा बताता है यद्यपि वहाँ उसने क्षमा-याचना-सी करते हुए इतना और जोड़ दिया है कि वह एक ऐसे विचार को प्रकट कर रहा है, जो पहले पहल सुनने में अवश्य ही विचित्र जान पड़ता है।" जब वह फालतू जनसंख्या की समस्या से व्यग्र प्रकृति की ओर से होने वाली प्रतिक्रिया पर विचार करने लगता है, तो उसकी आवाज में कुछ तृप्ति और आनन्द का सा भाव सुनाई पड़ता है, जब कि वह कहता है कि "यद्यपि हम सदा पहले से तरीका (mode) तो नहीं बता सकते (जो प्रकृति अपनायेगी), किन्तु तथ्य (fact) की भविष्य-

बाणी हम सुनिश्चित रूप से कर सकते हैं।"[1] किसी भी साधारण व्यक्ति के लिये उसके उन सरल और वस्तुरूपात्मक (आब्जैक्टिव) विवरणों को बिना सिहरे पढ़ पाना सम्भव नहीं है, जिनमें उसने उन प्रक्रियाओं का वर्णन किया है, जिनके द्वारा जब हम उन मार्गों में से किसी एक को रोक देते हैं, जिनमें से होकर मृत्यु की विशाल धारा अविराम प्रवाहित हो रही है, तो दूसरे मार्ग उसी अनुपात में अधिक घातक हो उठते हैं।[2] यह ठीक है कि माल्थस को बहुत गलत रूपों में लोगों के सामने प्रस्तुत किया गया है, और उसे बहुत गलत समझा गया है, परन्तु उस प्रेत को खड़ा करने की जिम्मेदारी से उसे एक दम मुक्त कर पाना कठिन है जो १९वीं शताब्दी के अधिकांश भाग में लोगों को आतंकित किये रहा।

कई दृष्टियों से माल्थस एक विशिष्ट और प्रभावोत्पादक व्यक्ति रहा है। अपने प्रबन्ध के एक अपक्व और असावधान वक्तव्य द्वारा वह जनता का ध्यान अपनी ओर इतना अधिक आकृष्ट कर पाने में सफल हुआ, जितना शायद उस दशा में कभी न कर पाता, जबकि वह पत्रकारिता की प्रवृत्ति के बजाय विद्वत्ता की प्रवृत्ति से प्रेरित होकर अपनी रचना लिखता। यद्यपि विषय की दृष्टि से उतना नहीं, पर प्रणाली की दृष्टि से वह नवीन था, परन्तु यह उसका सौभाग्य था कि उसने अपनी रचना बहुत उपयुक्त समय पर लिखी; क्योंकि एक ओर तो इंग्लैण्ड में बढ़ती हुई जनसंख्या की ओर लोगों का ध्यान केन्द्रित था और दूसरी ओर खराब फसलों, युद्ध के परिणामों और सब ओर फैली हुई गन्दगी के रूप में विधानात्मक (पाज़िटिव) रोकें सब लोगों को

१. वही; भाग १, पृष्ठ ११२।

२. "चेचक निश्चित रूप से इन मार्गों में से एक है, और यह एक बहुत विस्तृत मार्ग है, जिसे प्रकृति ने पिछले एक हजार सालों से जनसंख्या को घटाकर जीवन-निर्वाह के साधनों के स्तर तक बनाये रखने के लिये खोला हुआ है। परन्तु यदि इस मार्ग को बन्द कर दिया जाता, तो या तो अन्य मार्ग अधिक विस्तृत हो जाते, या और नये मार्ग तैयार हो जाते (खंड ४, अध्याय ५, भाग २, पृष्ठ १८३)। परन्तु इस सारे अध्याय में माल्थस अत्यन्त प्रसन्न मुद्रा में दिखाई पड़ता है। माल्थस की "पशुता" की सूचक एक बात यह भी है कि उसने अवैध बच्चों को अत्यन्त हृदयहीनता के साथ तिरस्कृत कर दिया है: "तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाय, तो शिशु का मूल्य नहीं के बराबर है, क्योंकि अविलम्ब ही उसका स्थान और बच्चे ले लेंगे।" (खंड ४, अध्याय ८, भाग २, पृष्ठ २०३)।

स्पष्ट दिखाई पड़ रही थीं। इसके अतिरिक्त, भले ही उसकी निर्लिप्तता की भावना कई लोगों को बुरी लगी, फिर भी उस स्वच्छन्द व्यापार की धूम के युग में उसके इस निपुण सुझाव के कारण, कि गरीब लोग अपनी गरीबी के लिए स्वयं ही जिम्मेदार हैं, और सब ओर फैले हुए कष्टों का दायित्व सरकार पर बिलकुल नहीं है, उसका सिद्धान्त उन लोगों को बहुत भला लगा, जो इस प्रकार दायित्व से मुक्त कर दिये गये थे। फिर भी यदि हम उसके संशोधित सिद्धान्तों को लें, जिनके द्वारा माल्थस का मूल्यांकन किया जाना चाहिए, तो उसमें शायद ही कोई वस्तु ऐसी हो, जिसे स्वीकार करने में किसी को भी कोई हिचक होनी चाहिए। साथ ही, तथापि यूरोपियन युद्ध के कारण माल्थस के सिद्धान्तों में लोगों की दिलचस्पी बहुत कुछ फिर जाग उठी है, फिर भी वर्तमान पीढ़ी के लिए इस समस्या का आतंक बहुत कुछ समाप्त हो चुका है। इसका कारण भी बहुत दूर नहीं है। पक्के अर्थों में माल्थसवाद की मूलभूत मान्यता यह है कि जनसंख्या में अपने आपको बढ़ाते जाने की सदा एक जैसी शक्ति विद्यमान रहती है। इसका अर्थ यह है कि यदि निरोधात्मक रोकें न रहें, तो जन्म दर निरन्तर एक जैसी ही बनी रहेगी। परन्तु जनसंख्या-सम्बन्धी आँकड़ों की एक सबसे अधिक स्पष्ट विशेषता यह है कि गत ५० वर्षों में जन्म-दर निरन्तर घटती ही गई है। यह विशेषता इतनी स्पष्ट है कि कुछ देशों में तो यह भय उत्पन्न हो गया है कि कहीं वहाँ की जनसंख्या समाप्त ही न हो जाय, और इसलिए वहाँ बच्चों का महत्त्व बहुत अधिक समझा जाता है। सौभाग्य से जन्म-दर के ह्रास के कारणों पर विचार करने का स्थान यह नहीं है, परन्तु एक ऐसी समस्या पर, जिसके सम्बन्ध में कोई भी अदालत में गवाही देने नहीं जायेगा, अपने विचार प्रकट किये बिना भी यह स्पष्ट है कि इस घटती हुई जन्म-दर का कारण या तो कम होती हुई (क्षीयमाण) उत्पादन शक्ति है, जैसा कि गॉडविन ने और बाद में केरी ने स्थापना की थी, (उस दशा में माल्थस की मूलभूत कल्पना ही मिथ्या सिद्ध हो जायगी) और या विकल्पतः दूसरा कारण विवाह के बाद बच्चों के जन्म पर जान-बूझ कर, और स्वेच्छा-पूर्वक लगाया गया प्रतिबन्ध हो सकता है। जैसा हम पहले देख चुके हैं कि इस अन्तिम कारण की माल्थस ने कल्पना नहीं की थी। आजकल की दशाओं पर लागू करने के लिए यह मानना पड़ेगा कि या तो माल्थस ने उत्पादन-शक्ति

की एकरूपता की अपनी मूलभूत मान्यता की स्थापना अत्यधिक सैद्धान्तिक रूप से कर दी है, या विकल्पत: निरोधात्मक रोकों का वर्णन नये सिरे से किये जाने की आवश्यकता है, जिसमें उन बातों को भी सम्मिलित कर लिया जाय, जिनसे माल्थस एकदम अपरिचित था।

माल्थस के संक्षिप्त विवरण में भी भाटक के सम्बन्ध में उसके सिद्धान्त का कुछ न कुछ उल्लेख रहना ही चाहिए। उसने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन अपनी पुस्तक "भाटक की प्रगति और प्रकृति के सम्बन्ध में एक जाँच" (१८१५) (एन इन्क्वायरी इन्टू दी नेचर एण्ड प्रोग्रेस आफ रैन्ट) में किया है। इसमें उसने काफी हद तक उन शिक्षाओं और आधारभूत बातों का पहले ही वर्णन कर दिया है, जिन्हें आगे चलकर रिकार्डो ने लिखा। अपनी इस पुस्तिका में प्रारम्भ में माल्थस कृषि उपज की महँगी कीमतों के कारणों पर विचार करता है; और उसका दृष्टिकोण उससे पूर्ववर्ती लेखकों से मेल नहीं खाता, जो 'से' और 'सिसमोंदी' की भाँति ऊँची कीमत को पूर्ण रूप से एकाधिकार का परिणाम मानते हैं। कच्चे माल की ऊँची कीमतों के माल्थस तीन कारण बतलाता है। पहला कारण तो भूमि की वह किस्म है, जो भूमि को उसकी अपेक्षा अधिक उपज देने में समर्थ बनाती है, जितना कि उस भूमि पर काम करने वाले लोगों के निर्वाह के लिए आवश्यक है (प्रकृतिवादी विचारधारा का अवशेष); और तीसरा कारण है अत्यधिक उर्वर भूमि की अपेक्षाकृत स्वल्पता। दूसरा कारण, जो उसके जनसंख्या सम्बन्धी सामान्य सिद्धान्त के साथ पूरा मेल खाता है, यह है कि कृषि उपज अपनी माँग स्वयं उत्पन्न करती है और यह विशेषता अन्य किसी पदार्थ में नहीं पायी जाती। अन्य पदार्थों की माँग स्वयं उत्पादन से बाह्य और उससे स्वतन्त्र होती हैं, जिसका परिणाम यह होता है कि उत्पादन अधिक होने पर वे पदार्थ सस्ते हो जाते हैं; परन्तु इसके विपरीत क्योंकि खाद्य-पदार्थ जनसंख्या की माँग है, इसलिए जीवन के लिए आवश्यक वस्तुओं की माँग स्वयं उनकी उपज पर निर्भर है। इससे यह विरोधाभास-सा परिणाम निकलता है कि कृषि-पदार्थों के सम्बन्ध में महँगाई का कारण उन वस्तुओं का आधिक्य है, स्वल्पता नहीं।

भाटक की व्याख्या इन्हीं विचारों से निकाले गये अनुमानों द्वारा होती है। "जब तक उर्वर भूमि प्रचुर मात्रा में है...तब तक अवश्य कोई भी व्यक्ति

जमींदार को लगान नहीं देगा।" उसके बाद "वह भूमि भी, जो अपेक्षाकृत दरिद्र है और कम सुविधाजनक स्थान पर है, कृषि योग्य बनाई जा सकती है।" परन्तु इन सब मामलों में उपज केवल "प्राकृतिक या आवश्यक कीमत" पर ही बिक सकती है, क्योंकि "प्रत्येक प्रगतिशील देश में उपज की कीमत कृषि के काम आ रही निम्नतम कोटि की भूमि पर होने वाले उत्पादन की लागत के लगभग बराबर ही होगी।" माल्थस रिकार्डो के भाटक-सिद्धान्त और सामान्यतया स्वीकृत भाटक-सिद्धान्त के विवरण के कितना निकट पहुँच गया था, यह बात नीचे लिखे सन्दर्भ से स्पष्ट हो जायगी। इस सन्दर्भ में पृथ्वी की तुलना एक "विशाल मशीन" से की गयी है। यह उपमा आगे चलकर केरी को बहुत प्रिय लगी।

"किसी भी देश में सबसे अधिक उपजाऊ भूमि, जो निर्माताओं की सबसे अच्छी मशीनों की तरह न्यूनतम श्रम और पूंजी से अधिकतम उत्पादन कर सकती है, कभी भी इतनी पर्याप्त नहीं होती कि उससे बढ़ती हुई जनसंख्या की प्रभावी माँग पूरी हो सके। इसलिए कच्चे माल की कीमत तब तक बढ़ती जाती है, जब तक कि वह इतनी अधिक न हो जाय, कि उससे उस उपज को घटिया मशीनों से या और खर्चीली प्रक्रियाओं द्वारा उगाने का खर्च भी निकाल सके; और क्योंकि एक ही किस्म के अनाज के लिये दो कीमतें नहीं हो सकती, इसलिए वे सब मशीनें, जिनको चलाने में उपज की तुलना में कम पूंजी की आवश्यकता होती है, अपनी अच्छाई के अनुपात में अवश्य ही कुछ न कुछ भाटक उत्पन्न करती हैं।" (पृष्ठ ३८)।[1]

---

१. यह बात ध्यान देने योग्य है कि इस बिन्दु पर माल्थस रिकार्डो की अपेक्षा कहीं अधिक सूक्ष्म और स्पष्ट है, जिसके लिए रिकार्डो की बहुत बार आलोचना की जाती है; इस दृष्टि से कि यह इस बात को स्पष्ट कर देता है कि घटिया भूमि पर खेती प्रारम्भ करने से पहले ही कीमतें बढ़ जाती हैं, और भाटक उत्पन्न होने लगते हैं; और वस्तुतः यही दशायें घटिया भूमि पर कृषि को प्रोत्साहन देती हैं: "तब तक किसी भी नई भूमि पर खेती प्रारम्भ नहीं की जायगी, तब तक कि भाटक उत्पन्न न होने लगे; और या जिस भूमि पर पहले से खेती हो रही है, उसकी अपेक्षा अधिक कीमत मिल सकने की आशा न हो।" साथ ही "जब तक भाटक उत्पन्न न होने लगे, या कीमत बढ़ने का अवकाश न हो, तब तक जिस भूमि पर खेती हो रही है, उसकी अपेक्षा एक घटिया किस्म की भूमि पर खेती करने की बात समझ में नहीं आती।" (पृष्ठ २७ और २८)

रिकार्डो

प्रचलित दृष्टिकोण के अनुसार डेविड रिकार्डो[1] (१७७२-१८२३) वह दुष्ट प्रतिभा थी, जिसने राजनीतिक अर्थशास्त्र को गलत दिशा में चला दिया। उसे एक कठोर बंजर और अमानवीय कट्टरता की ओर मोड़ दिया; या विकल्पतः अपनी तीखी तर्क-प्रणाली और अपने पक्ष के निर्मम समर्थन के कारण वह सब काल के अर्थशास्त्रियों में सबसे महान् समझा जाता है; यद्यपि साथ ही यह कहना होगा कि रिकार्डो के रचे हुए भवन का अब शायद ही कोई भाग शेष बचा हो। फिर भी रिकार्डो की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली अर्थशास्त्री और कोई नहीं हुआ; भले ही उसका यह प्रभाव ऐसे रूपों में पड़ा हो, जिन्हें देखकर स्वयं रिकार्डो भी चकित हो जाता। उसका भाग्य बहुत ही विचित्र रहा। अन्य किसी भी अर्थशास्त्री की अपेक्षा उसे लेकर कहीं अधिक वाद-विवाद हुए। रिकार्डो के हाथ में पहुँचकर इंगलैण्ड का प्राचीन राजनीतिक अर्थशास्त्र अपने अन्तिम और पूर्ण रूप को प्राप्त हुआ; यहाँ तक कि अगली पीढ़ी के अर्थशास्त्रीय विचारक ऐडम स्मिथ, माल्थस और रिकार्डो द्वारा पूर्णता को पहुँचाये हुए सिद्धान्त को दुहराने के अतिरिक्त और कुछ न कर सके। फिर भी यह मानवीय प्रयत्न की उपहासास्पदता का एक रोचक उदाहरण है कि रिकार्डो में वे सब निष्कर्ष पाये जाते है, जिन्हें वैज्ञानिक समाजवादियों ने कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार किया; और वही निष्कर्ष "बुर्जुवा अर्थ व्यवस्था" और तत्कालीन अर्थ-व्यवस्था पर आक्रमण करने के लिए युक्तियों के शस्त्र-भंडार बन गये। यदि मार्क्स और लेनिन की बड़ी-बड़ी शानदार मूर्तियाँ बनाई जानी हों तो पृष्ठभूमि में कहीं न कहीं रिकार्डो की भी एक मूर्ति के लिए स्थान होना चाहिए।

रिकार्डो की लिखित रचनाओं के विषय के सम्बन्ध में इतना नहीं, परन्तु

१. लन्दन में १७७२ में यहूदी परिवार में पैदा हुआ था। उसका पिता एक महाजन था, जिसका जन्म हालैण्ड में हुआ था। बहुत छोटी आयु से वह संग्रह विनिमय-बाजार (स्टाक ऐक्सचेंज) में जाने लगा था। उसने खूब धन कमाया; बाद में भू-स्वामी बन गया और पार्लियामेंट का सदस्य बना। अपनी पुस्तक "प्रिंसिपल" के अतिरिक्त उसने कई पुस्तिकाएँ भी लिखी हैं; उदाहरण के लिए "सोने-चाँदी की ऊँची कीमतों के सम्बन्ध में"। उसकी ये पुस्तिकाएँ अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं।

उनके बाह्यरूप के सम्बन्ध में इतना कह देना शायद पर्याप्त होगा कि वह कोई लेखक नहीं था। वह स्वयं भी इस बात को हलका-सा अनुभव करता था कि वह कच्चा लेखक है; परन्तु यह संदिग्ध है कि इस सम्बन्ध में वह पूरी सचाई को जान पाया था। उसकी मुख्य रचना "दि प्रिंसिपल्स आफ पोलिटीकल इकानामी एंड टैक्सेशन" को पुस्तक कहना भी विवेकहीन खुशामद ही होगी। यह पुस्तक एक व्यस्त मनुष्य का विस्तृत अध्ययन मात्र है। इसमें कुछ अध्याय बहुत छोटे हैं, और कुछ बहुत लम्बे; जिन्हें ठीक व्यवस्थित ढंग से लिख पाना उसे बहुत कठिन प्रतीत हुआ। इसमें बहुत सी अपरिष्कृत टिप्पणियाँ और अपने स्मरण के लिये, बहुत सी ऐसी बातें लिखी हुई हैं, जिनमें लेखक को विशेष रुचि थी। इसके बचाव के लिये, यह स्वीकार किया जा सकता है कि, रिकार्डो के पास यह युक्ति थी, जिसके ऊपर बहुत थोड़े लेखक भरोसा कर सकते हैं कि पुस्तक लिखना उनका उद्देश्य ही नहीं था। ये सब बातें तो उसने अपने और अपने मित्रों के लाभ के लिये स्मरण-योग्य टिप्पणियों के रूप में लिखी थीं जिन्हें बाद में अपने मित्रों के प्रोत्साहन पर उसने प्रकाशित करवा दिया। परन्तु, रिकार्डो की रचनाओं के जंगल में फँसे हुए एकाकी यात्री के लिये यह बड़ी क्षुद्र सान्त्वना है।

यह कहने की प्रथा हो गयी है कि अर्थशास्त्र में अव्यक्त तर्क का सबसे उत्तम उदाहरण रिकार्डो है। यह बात सत्य है; फिर भी यह सम्पूर्ण सत्य नहीं है। वस्तुतः रिकार्डो कुछ सत्य माने हुए सिद्धान्तों को लेकर अपनी युक्ति प्रारम्भ करता है और उन सिद्धान्तों पर तब तक चलता जाता है, जब तक उनसे अत्यन्त कटु—और कई बार तो अत्यधिक कटु—निष्कर्ष न निकल आये। भले ही आजकल हमें रिकार्डो द्वारा निकाले गये निष्कर्षों और हमारे ज्ञात संसार के मध्य में विद्यमान खाई का भली भाँति ज्ञान है, लेकिन यह स्मरण रखना भला होगा कि सम्भवतः रिकार्डो के समय में यह खाई इतनी चौड़ी नहीं रही थी। यह भी सत्य है कि उसकी पुस्तक "कल्पना कीजिये" कि एक ऐसी भयावह शृङ्खला है कि पाठक अव्यक्त कल्पनाओं के संसार में हाँकने-सा लगता है। फिर भी, रिकार्डो भले ही अव्यक्त कल्पनाओं के संसार में लिखता हुआ-सा प्रतीत होता है, परन्तु वह ऐसे काल्पनिक संसार में रहता नहीं था। बल्कि इसके विपरीत, किसी भी अर्थशास्त्री ने

संसार को उसकी अपेक्षा अधिक अच्छी तरह नहीं जाना और न इस संसार में से इतना अधिक धन ही कमाया। इसके अतिरिक्त अपने सब समय-समय पर लिखे गये लेखों में, जो उसकी पुस्तक "प्रिंसिपल" की अपेक्षा किसी भी प्रकार कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं, रिकार्डो ने सदा अपने सामने उस समय के बहुत ही व्यावहारिक और आवश्यक प्रश्नों को रखा था।

रिकार्डो साहित्यिक दृष्टि से जो कुछ था, उसे बनाने में सम्भवतः सबसे मुख्य कारण उसकी वंश-परम्परागत यहूदी सुलभ-सूक्ष्मता में ढूंढा जा सकता है। श्री गोनर्ड ने बड़े विस्तार से रिकार्डो और मार्क्स में उन दोनों के समान-जातीय उद्गम के आधार पर बड़ी प्रभावोत्पादक तुलना की है। मार्क्स में कई आध्यात्मिक समानताएँ ऐसी थीं, जो रिकार्डो में भी पाई जाती हैं। इसके साथ ही संग्रह विनिमय बाजार (स्टाक ऐक्सचेंज) में प्राप्त हुए रिकार्डो के अनुभव को भी जोड़ दिया जाना चाहिये, जहाँ रिकार्डो की स्वच्छन्द प्रतियोगिता की कल्पना सबसे अधिक पूर्ण रूप में फलीभूत हुई। उसकी साहित्यिक रचनाएँ वस्तुतः एक असाहित्यिक यहूदी दलाल की उपज है, जिसके पास उन रचनाओं को सँवारने या स्पष्ट करने के लिये न तो समय था, और न उतना कौशल ही था, और जिसने यह गलत कल्पना कर ली थी, कि उसके पाठक भी उतने ही समझदार होंगे, जितना कि वह स्वयं था।

राजनीतिक अर्थशास्त्र के विचार-क्षेत्र के बारे में रिकार्डो का दृष्टिकोण क्या था, इस सम्बन्ध में एक सामान्य बात पाठक को प्रारम्भ में ही दिखाई पड़ती है। अपनी भूमिका में ही उसने यह बात लिख दी है कि भूमि से होने वाली उपज भाटक, लाभ और वेतन में बाँटी जाती है और "राजनीतिक अर्थ-शास्त्र के सम्मुख मुख्य समस्या उन नियमों का निर्धारण करना है, जिनके द्वारा यह वितरण नियमित होता है।"[1] और इससे भी अधिक जोरदार रूप में वह माल्थस को लिखे गये पत्र—२० अक्तूबर १८२०—में कहता है :

"तुम्हारा विचार है कि राजनीतिक अर्थशास्त्र सम्पत्ति की प्रकृति और कारणों के सम्बन्ध में अनुसन्धान है। मेरा खयाल है कि इसे उन कारणों के सम्बन्ध में अनुसंधान कहना उचित होगा, जो उद्योग द्वारा हुई उपज के, उन

---

१. प्रिंसिपल आफ पोलीटिकल इकोनोमी एंड टैक्सेशन; एवरीमैन एडीशन, पृष्ठ १।

वर्गों में वितरण का निर्धारण करते हैं, जिन वर्गों ने मिलकर उस उद्योग को बनाया हुआ है। मात्रा के सम्बन्ध में कोई नियम नहीं बनाया जा सकता है। दिनोंदिन मुझे यह विश्वास होता जा रहा है कि पहले प्रकार का अनुसंधान व्यर्थ और भ्रमात्मक है और केवल पिछले प्रकार का अनुसंधान ही इस विज्ञान का सच्चा लक्ष्य है।"[१]

इस प्रकार सारा ध्यान अन्य सब बातों की अपेक्षा वितरण की समस्या पर केन्द्रित हो जाता है, जिसका उद्देश्य राष्ट्रीय लाभांश के ऊपर किये जाने वाले विभिन्न दावों में से उनके अनुपात को निर्धारित करना है। परन्तु इस कार्यक्रम को रिकार्डो शायद ही पूरा कर पाया। जहाँ मार्क्स ने रिकार्डो के अन्य सिद्धान्तों को बहुत अच्छे ढंग से सँवारा, वहाँ मार्क्स द्वारा वितरण पर दिया गया जोर भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं। क्योंकि यदि उत्पादन के क्षेत्र में अन्तिम कसौटी कार्य-क्षमता—(ऐफीसियेन्सी) है, तो वितरण के क्षेत्र में नीचे दबी हुई समस्या, जो जल्दी या देर में अवश्य सामने आती है, न्याय की समस्या है।

अर्थशास्त्रीय विचार के इतिहास में रिकार्डो के ध्यान को ठीक-ठीक पहचानने के लिये उसकी पुस्तक "प्रिंसिपल्स" का अध्ययन कर लेना लगभग पर्याप्त है। यहाँ उसका प्रारम्भिक विन्दु— यह संदिग्ध है कि यह वस्तुतः उसके विचार का भी प्रारम्भिक विन्दु था, या नहीं—वही पुराना मूल्य का प्रश्न है, जिस पर उसने अपना सबसे लम्बा अध्याय लिखा है। यहाँ उसका सिद्धान्त, जो पहली दृष्टि में बहुत सरल और समझ में आने वाला प्रतीत होता है, घिसटते-घिसटते ऐसे सुधरे हुए रूपों में पहुँच जाता है, जिससे पाठक को, जो यहाँ तक पढ़ता हुआ पहुँच जाता है। यह ठीक-ठीक निश्चय नहीं हो पाता कि प्रारम्भ की सरलता अब कितनी शेष रह गयी है; और बाद में जाकर वस्तुतः स्वयं रिकार्डो को भी अपने समूचे सिद्धान्त पर सन्देह होने लगा था। वह ऐडम स्मिथ के पद-चिह्नों पर चलते हुए उपयोग मूल्य और विनिमय-मूल्य में भेद करता है; और इस बात को स्पष्ट करता है कि विनिमय-मूल्य होने के लिये किसी भी पदार्थ में उपयोगिता (यूटिलिटी) का होना आवश्यक है, भले

१. लेटर्स आफ रिकार्डो टु माल्थस ; पृष्ठ १७५।

ही उपयोगिता विनिमय-मूल्य का मापदंड न हो सके। यह मान लेने पर कि किन्हीं पदार्थों में उपयोगिता विद्यमान है, उन पदार्थों का विनिमय-मूल्य दो स्रोतों द्वारा निर्धारित होता है: (१) उनकी स्वल्पता और (२) उन पदार्थों को प्राप्त करने के लिये आवश्यक श्रम की मात्रा। परन्तु हम इन दो प्रभावशील कारणों को प्रभाव के किस अनुपात में विभक्त कर सकते हैं? यहाँ रिकार्डो ने आश्चर्यजनक साहस के साथ सब पदार्थों को दो सीधे-सादे विभागों में बाँट दिया है। कुछ पदार्थ ऐसे हैं कि कितना ही श्रम करके भी उनकी मात्रा को बढ़ाया नहीं जा सकता; इसलिये ऐसे पदर्थों का मूल्य बढ़ी हुई उपलब्धि के कारण कम नहीं हो सकता। इस प्रकार के मामलों में मूल्य का निर्धारण एकमात्र स्वल्पता (स्केयर्सिटी) से ही होता है। इस प्रकार की वस्तुओं में "दुर्लभ मूर्तियाँ और चित्र, अप्राप्य पुस्तकें और सिक्के" हैं, और अन्य वे सब वस्तुएँ, जो विशाल "आक" पक्षी के अंडे के ढंग की हों, जो अर्थशास्त्री के अद्भुतालय की वस्तुएँ हैं, इसी वर्ग में सम्मिलित हैं। दूसरी ओर वे पदार्थ हैं, जिनकी मात्रा को मानवीय उद्योग के प्रयोग द्वारा इतना बढ़ाया जा सकता है, कि उसकी "लगभग कोई निश्चित सीमा ही नहीं है।" यहाँ विनिमय-मूल्य की आधार-शिला "उन वस्तुओं पर व्यय किये गये श्रम की तुलनात्मक मात्रा है।" यद्यपि अध्याय के प्रारम्भ में अपने सामान्य वक्तव्य में रिकार्डो अपनी इस स्थापना को केवल "समाज की प्रारम्भिक दशाओं" तक का प्रतिबन्ध लगाकर सीमित कर देता है, और इसके बाद फिर एक और विशेषण दे बैठता है "लगभग पूर्ण रूप से"।[1] परन्तु देखने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि समाज की सभी दशाओं में यही बात आधारशिला बनकर रहती है।[2]

यह कहा जा सकता है कि समस्या के इस प्रकार के दबंग विभाजन में उसका खण्डन स्वयं निहित है। मूल्य की समस्या एक है; और मूल्य का सिद्धान्त ऐसा होना चाहिये, जो उन सब स्थानों पर मूल्य की व्याख्या कर सके, जहाँ कहीं भी मूल्य विद्यमान हो। यह बात अधिकतम असम्भावित है कि एक प्रकार

१. पहले-पहल उसने कहा था "पूर्णतया" पर शीघ्र ही रिकार्डो के सन्देह इस प्रश्न में आ घुसे।

२. प्रि सिपल्स; अध्याय १, मूल्य के सम्बन्ध में, अनुभाग १।

के पदार्थों में तो मूल्य का स्रोत एक कारण-समूह हो, और दूसरे प्रकार के पदार्थों में उनसे बिलकुल भिन्न कोई और ही कारण-समूह। यहाँ रिकार्डो की मूलभूत त्रुटि यह मान लेने में है कि उन दो प्रकार की वस्तुओं के मध्य विभाजन की कोई ऐसी स्पष्ट रेखा विद्यमान है, जिनमें से एक प्रकार की वस्तुएँ तो परिमाण में केवल किसी जादू के जोर से ही-(जिसकी सम्भावना अर्थशास्त्र के सिद्धान्त ग्रन्थ में नहीं की जा सकती) बढ़ायी जा सकती हैं, और दूसरी वे, जिनका परिमाण अगर लोग चाहें तो "लगभग किसी भी सीमा तक" बढ़ाया जा सकता है। यह कहा जा सकता है कि वस्तुतः इन दोनों में से किसी भी वर्ग का अस्तित्व नहीं है। यह निश्चित है कि यदि इनका अस्तित्व हो भी, तो ये दोनों वर्ग अत्यन्त सूक्ष्म स्तरों की परम्परा से उतरते हुए एक दूसरे में जाकर विलीन हो जाते हैं। सत्य यह है कि एक निश्चित समय में सब पदार्थ सीमित मात्रा में ही होते हैं, और वस्तुतः क्योंकि वे इतने सीमित होते हैं, इसीलिये उनकी मात्रा को बढ़ाने का प्रश्न उत्पन्न होता है; और दूसरी सीमा पर, भले ही यह सुनने में हेत्वाभास-सा लगे परन्तु ऐसी शायद ही कोई वस्तुएँ हों, जो व्यावहारिक प्रयोजन की दृष्टि से इतनी सीमित हों, कि उनकी मात्रा किसी भी दशा में बढ़ायी न जा सके। प्राचीन श्रेष्ठ कलाकारों की कलाकृतियां और महान् "आक" के अंडे ही सम्भवतः परम्परागत उदाहरण हैं। यह सत्य है कि किसी विशिष्ट प्राचीन महान् कलाकार की कलाकृतियाँ तब तक स्पष्ट रूप से बहुत सीमित हैं, जब तक कि उस व्यापार की सूझ-बूझ सीमित रहे। परन्तु प्राचीन महान् कलाकारों की रचनाओं का उत्पादन जारी रहता है, भले ही उन कलाकृतियों के पूर्ण होने में पाँच सौ वर्ष भी क्यों न लग जायें। यह कल्पना सरलतापूर्वक की जा सकती है कि सन् २४०० में प्राचीन श्रेष्ठ कलाकृतियों का व्यापार आगस्टस जॉन की कलाकृतियों से भरा मिलेगा। इसी प्रकार हमारे परिचित मित्र महान् "आक" की भी बात है। यह ठीक है कि इस चिड़िया ने जो अंडे दिये थे, वे गिने-चुने हैं, परन्तु यह सुनिश्चित रूप से सम्भव है, भले ही यह काफी परेशानी का काम क्यों न हो, कि विलुप्त पक्षियों के अंडों की संख्या को बढ़ाया जा सकता है, यदि अन्य बहुत सी चिड़ियाओं को उसी मार्ग का पथिक बना दिया जाय, जिस पर महान् "आक" गया। कोई बहुत दुःसाहसी मनुष्य ही यह कह सकता है कि किसानों की चिड़िया-विरोधी

समिति की पूर्ण सफलता का महान् "ग्राक" के अंडों के मूल्य पर कोई प्रभाव न पड़ेगा। इसका प्रभाव अवश्य पड़ेगा, क्योंकि इसके द्वारा विलुप्त पक्षियों के अण्डों की उपलब्धि बढ़ जायगी; और यद्यपि यह स्वीकार करना होगा कि यह नयी उपलब्धि किन्हीं भी अर्थों में महान् "ग्राक" के अण्डों की स्थानापन्न नहीं होगी, फिर भी इसमें कोई सन्देह नहीं कि महान् "ग्राक" के अंडों के कुछ ग्राहक उन स्थानापन्न नये अंडों को लेने को तैयार हो जायँगे।

यहाँ इस बात का भी उल्लेख किया जा सकता है कि रिकार्डो ने, जो मार्क्स की अपेक्षा कम दुःसाहसी था, वस्तुतः इस बात का कोई प्रमाण उपस्थित नहीं किया कि उन पदार्थों का जिनकी मात्रा बढ़ायी जा सकती है; विनिमय उन पदार्थों में से प्रत्येक लगे श्रम की मात्रा के अनुसार होता है। इस कथित प्रमाण के अधिकतम निकट तक पहुँच उस संदर्भ में प्राप्त होती है, जहाँ वह यह कहता है कि अपने आपको इस स्थापना की सत्यता का विश्वास दिलाने के लिये हमें केवल "श्रम को संक्षिप्त करने के साधनों में किये जाने वाले किसी भी सुधार की कल्पना भर करनी होगी।" और परिणाम क्या होगा? स्पष्टतया अन्तिम तैयार मूल्य में गिरावट आ जायगी। यह स्थापना का एक ऐसा प्रमाण है जो उसी स्थापना की सत्यता पर आधारित है।[1]

परन्तु इस प्रकार आधारशिला के रूप में प्रस्तुत किये गये सिद्धान्त में अविलम्ब ही रिकार्डो ने कई अपवाद जोड़ दिये हैं, जिनका परिणाम यह हुआ है कि उसकी आधारशिला उसकी अपेक्षा कहीं अधिक खण्डित हो गयी है, जितना कि रिकार्डो, कम से कम अपनी पुस्तक "प्रिंसिपल्स" में, स्वीकार करने को तैयार था। पहली कठिनाई श्रम की विभिन्न किस्मों के कारण उत्पन्न होती है। रिकार्डो यहाँ हमें बताता है कि "श्रम की विभिन्न किस्मों के मूल्यांकन में बाजार में शीघ्र ही ऐसा साम्य स्थापन (एडजस्टमेंट) हो जाता है, जो सब व्यावहारिक प्रयोजनों की दृष्टि से पर्याप्त सुनिश्चित होता है।" इस प्रकार एक ऐसा मापदण्ड निकल आता है, जो "एक बार बन जाने के बाद बहुत ही कम परिवर्तित हो सकता है।"[2] परन्तु यह बात स्पष्ट हो जानी चाहिये कि मूल्य का सिद्धान्त, जिसका उद्देश्य इस बात की व्याख्या करना है कि बाजार में क्या

१. वही; अध्याय १, अनुभाग १, पृष्ठ १५।
२. वही; अध्याय १, अनुभाग २, पृष्ठ २१, २२।

होता है, उन बातों का अपना आधार मानकर नहीं चल सकता, जो वस्तुतः बाजार में होती हैं। यह एक ऐसी पुरानी समस्या है, जो सारे अर्थशास्त्रीय विवेचन में व्याप्त है, अर्थात् यह निश्चय करने की समस्या कि इन दोनों तत्त्वों में से कौनसा कारण है, और कौनसा कार्य। क्या मूल्यों की तुला विभिन्न प्रकार के श्रमों से सम्बद्ध है, जिसे हम भगवान् जाने कैसे, जैसे-तैसे पहचान पाते हैं, और जो बाद में उत्पन्न हुए पदार्थों के मूल्यों के रूप में बाजार में प्रतिफलित होती है; या फिर पदार्थों का मूल्य कठोर सहानुभूतिशून्य बाजार में स्वतन्त्र रूप से निर्धारित होता है, और उसके बाद विभिन्न प्रकार के श्रम से सम्बद्ध आपेक्षिक मूल्यों के रूप में प्रतिफलित होता है? यह स्पष्ट है कि जो सिद्धान्त बाजार में विद्यमान मूल्य को पदार्थों के निर्माण पर लगे श्रम की अभिव्यक्ति मानकर चलता है, वह यह जानने के लिये बाजार में नहीं आ सकता, कि विभिन्न प्रकार के श्रमों का मूल्यांकन किस अनुपात में किया जाय।[1]

रिकार्डो ने अन्य जिन सीमित करने वाली शर्तों का उल्लेख किया है, उनका सम्बन्ध उस कार्य में लगी हुई पूंजी को उत्पन्न करने के लिये आवश्यक समय और श्रम से, उसके स्थिर और प्रवहमान पूंजी के मध्य वितरण, पूंजी की अधिक या कम चिरस्थायिता की मात्रा, और उस समय से है, जो पदार्थों के बाजार में लाये जाने तक अवश्य ही लग जाता है। यद्यपि रिकार्डो इन सब बातों को अपेक्षाकृत महत्त्वहीन समझने की बात कहता है, किन्तु उसके अपने वक्तव्य से यह सन्देह पैदा होता है, जिसके कारण, जैसा कि अब मालूम हो चुका है, रिकार्डो का अपना मन काफी अशान्त रहा था। फिर भी "दि प्रिंसिपल्स" में जहाँ तक भी कर पाना सम्भव था, मूल्य और उत्पादन के लिये आवश्यक श्रम की मात्रा को एक बताने का बड़ा साहसपूर्ण प्रदर्शन किया गया है। रिकार्डो के बहुत से प्रतिबन्धों और संकोचों की ओर से बड़ी सरलता से

---

१. यह ध्यान देना बहुत रोचक होगा कि इस विषय में मार्क्स के शब्द भी रिकार्डो से कितने मिलते-जुलते हैं: "वे विभिन्न अनुपात, जिनमें श्रम को अकुशल श्रम के मापदण्ड द्वारा नाप लिया जाता है, एक ऐसी सामाजिक प्रक्रिया द्वारा स्थापित होते हैं, जो उत्पादकों की पीठ पीछे चल रही होती है; और जो परम्पराओं द्वारा नियत प्रतीत होती है।" (मार्क्स, कैपीटल; अध्याय १, अनुभाग २, पृष्ठ ५२) यह रहस्यपूर्ण प्रक्रिया, जो उत्पादकों के पीठ पीछे हो रही होती है, वस्तुतः, फिर वही केवल मात्र बाजार का निर्णय है।

आँख मींच ली गयी; और यह मान लिया गया कि रिकार्डो ने संसार के सम्मुख मूल्य का श्रम-सिद्धान्त प्रस्तुत किया है।

यह पूछा जा सकता है कि इस सिद्धान्त पर, कि मूल्य किसी पदार्थ पर लगे श्रम की अभिव्यक्ति है, भूमि के उपयोग किये जाने और उसके फलस्वरूप भाटक के भुगतान का क्या प्रभाव पड़ता है ? इस प्रश्न का उत्तर हमें वहाँ तक पहुँचा देता है, जो यदि रिकार्डो का केन्द्रीभूत सिद्धान्त न भी सही, फिर भी उसके सिद्धान्तों में सब से अधिक प्रसिद्ध सिद्धान्त है, और जिसका नाम है—रिकार्डो का भाटक सिद्धान्त। यह सत्य है कि रिकार्डो का भाटक सिद्धान्त अपने सार रूप में पहले अन्य लेखकों द्वारा प्रस्तुत किया जा चुका था, फिर भी रिकार्डो ने उसकी स्थापना इतनी पूर्णता और इतनी स्पष्टता के साथ की, कि जिसके कारण यह सिद्धान्त सदा के लिये उसी का बन गया और यह इस योग्य भी था। यहाँ यह स्मरणीय है कि प्रकृतिवादी विचारक भाटक को प्रकृति द्वारा दी गई सहायता के प्रमाण के रूप में देखते थे। ऐडम स्मिथ का झुकाव भी सम्भवतः इसी दृष्टिकोण की ओर था, क्योंकि उसकी विचारधारा में भी प्रकृतिवादी विचारधारा के अवशेष घुले-मिले थे। अन्य कम प्रसिद्ध लेखकों का तो कहना ही क्या, स्वयं माल्थस ने भी भाटक के एक ऐसे सिद्धान्त का मार्ग दिखाया था, जो प्रकृति की उदारता पर नहीं, अपितु कृपणता पर निर्भर था।

इन बाद के दिनों में जब हम एक बार रिकार्डो की भाटक की सीमित परिभाषा को हृदयंगम कर लेते हैं, तो रिकार्डो का भाटक सिद्धान्त बहुत कुछ स्पष्ट और सरल बन जाता है। यह सिद्धान्त एक अत्यधिक लोक-प्रचलित वाक्यांश में यह है कि "भाटक भूमि से प्राप्त होने वाली उपज का वह भाग है, जो भूस्वामी को भूमि की मौलिक और अविनाश्य शक्तियों के उपयोग के लिये दिया जाता है।"[१] इसलिये रिकार्डो का भाटक उससे बहुत भिन्न वस्तु है, जो अर्थ भाटक से भूस्वामी किसान या अन्य वे सामान्य लोग लेते हैं, जिनके मस्तिष्क में भाटक का अर्थ सदा से वह भुगतान रहा है और सदा रहेगा, जिसमें फार्म की इमारतों, भूमि के सुधार में लगाई गई पूँजी और अन्य फार्मसम्बन्धी सब बातों के लिये किये जाने वाले भुगतान के तत्त्व सम्मिलित रहते हैं। नई

१. वही; अध्याय २, पृष्ठ ११।

जगह को बसाने वाला कोई भी व्यक्ति कह सकता है कि भूमि में सिवाय उन शक्तियों के जो उसमें शैतान ने भर दी हैं, और कोई मौलिक शक्तियां नहीं हैं। कोई अक्षम किसान प्रतिवाद के रूप में कह सकता है कि भूमि में ऐसी कोई शक्ति नहीं है, जो अविनाश्य हो। सामान्य मनुष्य यह कह सकता है कि यदि यह मान भी लिया जाय कि भूमि में ऐसी शक्तियां हैं, तो वे अन्य ऐसी दूसरी शक्तियों के साथ अविच्छेद्य रूप से उलझी हुई हैं, जिनका मूल अपेक्षाकृत बाद का है, और अधिक मानवीय है; और सामान्यतया भाटक का जो अर्थ समझा जाता है, उसको रिकार्डो के भाटक या आर्थिक भाटक में और भाटक के अंगभूत उन अन्य तत्त्वों में, जो ब्याज के ढंग के हैं, पृथक्-पृथक् करने का प्रयत्न भी व्यर्थ है।

पाठ्य-पुस्तकों के कारण रिकार्डो का भाटक सिद्धान्त इतना लोक-परिचित हो गया है कि यहां उसका केवल ढांचा भर दे देना काफी होगा। यदि यह मान लिया जाय कि किसी नये प्रदेश में "समृद्ध और उर्वर भूमि की प्रचुरता है," तो वहां भाटक बिलकुल नहीं होगा; क्योंकि कोई भी व्यक्ति उस वस्तु के लिये भुगतान नहीं करेगा, जिसकी प्रचुर मात्रा ऐसी विद्यमान है, जिसका अभी तक उपयोग नहीं किया जा रहा है। परन्तु यह सर्वोत्तम भूमि क्योंकि परिमाण में असीमित नहीं होगी, इसलिये जनसंख्या की वृद्धि के साथ-साथ यह आवश्यक होगा कि अपेक्षाकृत घटिया किस्म की भूमि पर भी खेती प्रारम्भ की जाय। उस दशा में अपेक्षाकृत उत्कृष्ट किस्म की भूमि पर भाटक उत्पन्न होने लगेगा। इस प्रकार क्रमशः जनसंख्या की प्रत्येक नई वृद्धि के साथ, जो लोगों को और घटिया किस्म की भूमि पर खेती करने को विवश करेगी, सब से अन्त में प्रयुक्त होने वाली भूमि पर कोई भाटक प्राप्त नहीं हो रहा होगा। भाटक उन भूमियों पर प्राप्त होगा, जो पहले सीमान्त पर थीं; और उससे अधिक उत्कृष्ट स्तर की भूमियों पर विद्यमान भाटक उसी अनुपात में बढ़ जायगा।

परन्तु इस सिद्धान्त को और भी सुस्पष्ट रूप में प्रस्तुत कर पाना सम्भव है। "कल्पना कीजिये" (यदि हम रिकार्डो के इस प्रिय शब्द को उधार ले सकें) कि तीन प्रकार की भूमियां हैं, जो पूंजी और श्रम की समान मात्रा के प्रयोग से क्रमशः १००, ९० और ८० मन अनाज की शुद्ध उपज करती हैं। जब तक केवल पहले प्रकार की भूमि पर खेती हो रही होगी, तब तक कोई भाटक प्राप्त

नहीं होगा। जब दूसरी किस्म की भूमि पर खेती की जाने लगेगी, तो पहले किस्म की भूमि पर १० मन अनाज के बराबर भाटक प्राप्त होगा, क्योंकि बाजार में अन्न की केवल एक ही कीमत रह सकती है; और वह कीमत ऐसी होनी चाहिये, जिससे कि उस भूमि की खेती का भी खर्च निकल सके, जिसमें केवल ६० मन अनाज पैदा होता है। इसी प्रकार तीसरी किस्म की भूमि पर उतर आने पर भाटक-शून्य भूमि अब वह होगी, जिस पर ८० मन अन्न पैदा होता है। इससे पहले की सीमान्त भूमि (जिस पर ६० मन अन्न पैदा होता है) पर अब १० मन अन्न के बराबर भाटक पैदा होने लगेगा; और सब से अच्छी किस्म की भूमि पर अब तक जो भाटक १० मन अन्न के बराबर होता था, वह बढ़कर २० मन अन्न के बराबर हो जायगा और इसी प्रकार यह क्रम आगे अनिश्चित दूरी तक चलता चलेगा।

यहाँ यह देखा जा सकता है कि रिकार्डो का भाटक सिद्धान्त मूल्य के श्रम-सिद्धान्त से किस प्रकार सम्बद्ध है। मूल्य का निर्धारण उत्पादन की लागत द्वारा होता है; परन्तु कृषिज उपज के मामले में स्पष्ट रूप से कोई एकसार उत्पादन की लागत नहीं है। इस दशा में मूल्य की समानता उत्पादन की लागतों की सम्भावित अनन्त संख्याओं में से किसके साथ की जाय? स्पष्ट है कि मूल्य की यह समानता अधिकतम ऊँची उत्पादन की लागत के साथ करनी होगी, क्योंकि यदि समाज की आवश्यकताएँ ऐसी हैं, जिनके कारण अनुपयुक्त दशाओं में भी खेती करने की आवश्यकता पड़ती है, तो प्राप्त होने वाली कीमत इतनी होनी चाहिये कि उससे उस खेती पर किया जाने वाला व्यय निकल सके। इसलिये कीमत का निर्धारण उन लोगों की उत्पादन की लागत द्वारा होता है, जो सब से अधिक अनुपयुक्त परिस्थितियों में भी उत्पादन करना जारी रखते हैं; और क्योंकि बाजार में कीमतों में एकरूपता रहती है, इसलिये उन लोगों को अतिरिक्त लाभ (सरप्लस) होता रहेगा, जो अपेक्षाकृत अधिक अच्छी दशाओं में उत्पादन कर रहे होंगे। इस प्रकार रिकार्डो का भाटक सिद्धान्त सिमटकर इस एक स्पष्ट वक्तव्य के रूप में आ जाता है कि यदि बाजार में कीमतों में एकरूपता रहे, (जैसी कि रहेगी ही) तो उन दो समान प्रकार के पदार्थों में से; जो विभिन्न लागत द्वारा तैयार किये जाते हैं, उस पदार्थ पर अतिरिक्त लाभ प्राप्त होने लगेगा, जो अधिक अनुकूल दशाओं में उत्पन्न किया जा रहा

है। रिकार्डो ने बहुत सुनिश्चित रूप में कहा है कि भाटक "सदा दो श्रम और पूंजी की समान मात्राओं के प्रयोग द्वारा प्राप्त हुई उपजों के बीच का अन्तर होता है" और इस प्रकार की परिभाषा वाला भाटक स्पष्ट रूप से केवल कृषि के क्षेत्र तक ही सीमित नहीं, अपितु, जैसा कि बाद में जाकर सिद्धान्त विकसित हुआ, यह भाटक आर्थिक जीवन के किसी भी विभाग में उत्पन्न हो सकता है।

यहां आलोचक यह कह सकता है कि रिकार्डो का भाटक का सम्पूर्ण वर्णन इस एक त्रुटि के कारण दूषित हो जाता है, कि उसने कार्य और कारण को समझने में भूल की है, जिसके फलस्वरूप वहुत चपला हो जाता है। उसका वक्तव्य यह है कि जनसंख्या की वृद्धि किसी भी देश को इसके लिये विवश करती है कि वह घटिया किस्म की भूमि पर खेती करे; और इसके परिणामस्वरूप उत्पादन की लागतें बढ़ जाती हैं और उस व्यय को पूरा करने के लिये कीमत बढ़ जाती है। परन्तु वस्तुतः रिकार्डो एक काल्पनिक संसार में रह रहा है। परन्तु एक ऐसी काल्पनिक दशा में भी यह स्पष्ट है कि, कीमतों में वृद्धि घटिया किस्म की भूमि पर खेती की जाने से पहले होगी, खेती की जाने के बाद नहीं। सही पूर्वापर अनुक्रम स्पष्टतया यह होगा कि जब अन्न की स्वल्पता अनुभव होगी, तो कीमत बढ़ जायगी; और कीमत बढ़ने के फलस्वरूप घटिया किस्म की भूमि पर भी खेती कर पाने की सुविधा हो जायगी। यहां विस्तार से यह बतलाना अनावश्यक है कि इस बात का रिकार्डो के सामान्य मूल सिद्धान्त पर क्या प्रभाव पड़ता है। यह इस वक्तव्य को ठीक उलट देने जैसा प्रतीत होता है कि "जिस अन्न का उत्पादन श्रम की अधिकतम मात्रा द्वारा किया जाता है, वही अन्न की कीमत को नियमित करता है।"[१] इसके विपरीत सम्भव है कि अन्न की कीमत ही यह निर्धारित करती हो, कि किस सीमा तक खेती को बढ़ाते जाना लाभदायक है।

रिकार्डो के भाटक सिद्धान्त के सम्बन्ध में कुछ पाद-टिप्पणियां (फुट नोट) और उस सिद्धान्त से निकाले गये कुछ निष्कर्ष भी ध्यान देने योग्य हैं। जहां उसका सिद्धान्त यह मानकर चलता है कि कहीं एक इस स्तर की भूमि है,

१. वही; पृष्ठ ४०-४१।

जिससे कोई भाटक प्राप्त नहीं होता या प्राप्त नहीं होगा, वहाँ रिकार्डो इस बात को अनुभव करता है कि घटिया किस्म की भूमि पर खेती प्रारम्भ करने के बजाय उत्कृष्ट किस्म की भूमि पर ही श्रम और पूंजी की और अधिक "मात्राएँ" (doses) (यदि इस परवर्ती काल के वाक्यांश का प्रयोग क्षम्य समझा जाय) लगाई जा सकती हैं। इस प्रकार पहले से ही खेती की जा रही भूमि पर अपेक्षाकृत कम अक्षम प्रयोगों के द्वारा भी ठीक उसी प्रकार भाटक उत्पन्न होगा; क्योंकि भाटक "अनिवार्य रूप से उस दशा में उत्पन्न होता है, जब कि श्रम की अतिरिक्त मात्रा को काम में लगाया जाय, और उससे अनुपात में पहले की अपेक्षा कम प्रतिप्राप्ति हो।"[1] (यहाँ क्षीयमाण प्रतिप्राप्ति का नियम अपनी पूर्ण अभिव्यक्ति के लिये प्रयत्नशील है) आधुनिक पारिभाषिक शब्दों में कहा जाय, तो इसका अर्थ यह है कि भाटक का सिद्धान्त तीव्रता (intensively) और साथ-साथ विस्तार (extensively) दोनों की दृष्टि से ही क्रियाशील हो सकता है।

इस सिद्धान्त से सब से अधिक महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष यह निकाला जा सकता है कि भाटक (रिकार्डो द्वारा प्रयुक्त अर्थ में) उत्पादन की लागत में अन्तर्भूत नहीं होता; और यह कि इसके फलस्वरूप यदि लगान माफ भी कर दिया जाय, तो उसका कीमत पर कोई प्रभाव न होगा। यह निष्कर्ष इस तथ्य से निकलता है कि कीमत का निर्धारण सब से अधिक प्रतिकूल दशाओं में होने वाले उत्पादन के द्वारा होता है। यह उत्पादन उस भूमि पर किया जा रहा होता है, जो इस सिद्धान्त की कल्पना के अनुसार किसी प्रकार का भाटक नहीं देती क्योंकि भाटक तो केवल बाद में उत्पन्न होने वाला एक अतिरिक्त लाभ है, जो अच्छी किस्म की भूमि की भेदात्मक सुविधा (डिफरेंशियल एडवान्टेज) का प्रतीक है। रिकार्डो के सिद्धान्त में निहित एक और निष्कर्ष यह है कि भाटक, वह अतिरिक्त लाभ, जो भूस्वामी की थैली में पहुँचता है, समाज की प्रगति के साथ-साथ बढ़ता जायगा। यह भाटक देश की बढ़ती हुई सम्पत्ति का परिणाम है, और सम्पत्ति में वृद्धि होने के साथ-साथ (पक्के माल्थसवादी सिद्धान्त के अनुसार) जनसंख्या में भी वृद्धि होगी, जो अपने निर्वाह के लिये घटिया किस्म की भूमि पर भी खेती करने को विवश होगी। परन्तु बढ़ते हुए भाटक की इस

१. वही; पृष्ठ ३७।

प्रवृत्ति को कृषि की पद्धतियों में सुधार करके रोका जा सकता है, जिसके फल-स्वरूप जिस भूमि पर इस समय खेती हो रही है, उसी पर अन्न की और अतिरिक्त मात्रा उत्पन्न की जा सकेगी। ऐसी कोई भी बात, जो उन भूमियों की असमानताओं को कम करती है, जिन पर अवश्य ही खेती की जायगी, भाटक को कम करेगी; और जैसा कि रिकार्डो ने अपने एक शानदार वाक्य में कहा है, भाटक उस समय सब से अधिक तेजी से बढ़ता है जब कि बाकी बची हुई काम में आने योग्य भूमि की उत्पादन शक्तियां तेजी से घटती जाती हैं; अर्थात् भू-स्वामी के लिये सब से अनुकूल परिस्थिति वह है जब अच्छी भूमि के समाप्त हो चुकने के बाद जनसंख्या बिलकुल अनुर्वर चट्टानों पर खेती करने के लिये विवश हो जाय।

यह स्पष्टतया दृष्टिगोचर होता है कि रिकार्डो के सिद्धान्त के परिणाम कितने दूरगामी हैं। अन्य किसी भी दावे पर विचार करने से पहले भूमि से प्राप्त होने वाली उपज का एक भाग भूस्वामी को दे दिया जाता है, जिसके बदले में उसने कोई सेवा नहीं की होती। केवल इतना ही नहीं, बल्कि वह भाग जनसंख्या की वृद्धि के साथ-साथ क्रमशः बढ़ता जाता है, यहाँ तक कि (रिकार्डो के सिद्धान्त की दृष्टि से) इस बात की कोई सीमा ही नहीं है कि वार्षिक उपज का कितना बड़ा भाग इस प्रकार खप जायगा। इसी प्रकार यहाँ प्रकृतिवादी दृष्टिकोण का ठीक विलोम प्रस्तुत किया गया है। प्रकृतिवादी दृष्टि-कोण में भूस्वामियों का स्थान अत्यन्त आदर और उपयोगिता का था। साथ ही वे भाटक को प्रकृति की मातृ-सुलभ उपकारपूर्ण सहायता का प्रमाण मानते थे परन्तु अब यहाँ प्रकृति का व्यवहार सौतेली माता का सा हो गया था: "हमें प्रकृति के श्रम का मूल्य चुकाना पड़ता है; परन्तु इसलिये नहीं कि वह बहुत काम करती है, अपितु इसलिये कि वह कम काम करती है। ज्यों-ज्यों वह अपने उपहारों में कंजूस होती जाती है, त्यों-त्यों वह अपने काम के लिये उसी अनुपात में अधिकाधिक कीमत मांगती है।"[१] अर्थशास्त्रीय क्षितिज पर विषाद छाया हुआ दीख पड़ता है।

रिकार्डो के अन्य प्रभावपूर्ण सिद्धान्तों में से सब से अधिक महत्त्वपूर्ण

---

१. वही; अध्याय २, फुटनोट, पृष्ठ ३९।

सिद्धान्त वह है, जिसका सम्बन्ध वेतनों के साथ है। वेतन, अर्थात् श्रम की कीमत, वस्तुतः मूल्य का ही एक उदाहरण है। जैसा कि पहले देखा जा चुका है, मूल्य का निर्धारण उत्पादन के लिये आवश्यक श्रम की मात्रा द्वारा निर्धारित होता है। परन्तु जहाँ एक ओर यह "प्राकृतिक कीमत" होती है, वहाँ कभी-कभी सांयोजिक (ऐक्सीडेंटल) और अस्थायी कीमतें भी हो सकती हैं, जो प्राकृतिक कीमत से इस कारण भिन्न होंगी कि कोई भी पदार्थ किसी भी अवधि तक सुनिश्चित रूप से एक अभीष्ट मात्रा में ही उपलब्ध नहीं होता रह सकता। इस प्रकार के मूल्य में अन्तर पड़ने के फलस्वरूप पूँजी का उत्पादन की विभिन्न दिशाओं में समुचित रूप से बँटवारा होता है; और रिकार्डो की योजना में यह कल्पना की गई है कि बाजार की कीमत निरन्तर घटती-बढ़ती रहती है, और उसकी प्रवृत्ति सदा प्राकृतिक कीमत की ओर लौट आने की रहती है; और यह प्राकृतिक कीमत उत्पादन पर व्यय किये जाने वाले श्रम के बराबर होती है।[1] इन सिद्धान्तों को वेतनों पर जो कि श्रम की कीमत हैं, लागू करने पर मालूम होगा कि श्रम की एक तो बाजार कीमत होगी और एक प्राकृतिक कीमत। बाजार कीमत वह कीमत होगी, जो वस्तुतः दी जाती है और जो माँग और उपलब्धि के अनुपात पर निर्भर है। इस दशा में श्रम की अधिकता बाजार कीमत को गिरायेगी और श्रम की स्वल्पता बाजार कीमत को उठायेगी। किन्तु इस प्रकार के उतार-चढ़ाव चाहे जितने क्यों न होते रहें; किन्तु अन्य स्थानों की भाँति यहाँ भी कीमत की प्रवृत्ति प्राकृतिक कीमत की ओर ही लौट आने की रहेगी।

तब श्रम की प्राकृतिक कीमत क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर उस सिद्धान्त में मिल सकता है, जो आगे चलकर लैसेल के बाद 'वेतन का लोह सिद्धान्त' या 'वेतन का पीतल सिद्धान्त' नाम से प्रसिद्ध हुआ। यदि इस सिद्धान्त के रचयिता का नाम ठीक-ठीक न मालूम हो, तो इसका श्रेय रिकार्डो को न देकर उन अन्य लेखकों को दिया जाना चाहिये, जिन्होंने उस विचारधारा को व्यक्त किया, जो अठारहवीं शताब्दी के अन्त में बिलकुल सामान्य दृष्टिकोण बन चुकी थी। पहले हम टर्गो के अत्यन्त सुनिश्चित और संक्षिप्त वक्तव्य का उल्लेख

१. वही; अध्याय ४, प्राकृतिक और बाजार कीमत के सम्बन्ध में।

कर ही चुके हैं।[1] रिकार्डो के कथनानुसार "श्रम की प्राकृतिक कीमत वह है, जो श्रमिकों को इसलिये दी जानी आवश्यक है कि जिससे वे लोग अपना जीवन निर्वाह कर सकें और अपनी जाति को भविष्य में भी बनाये रखने में समर्थ हों, और जिससे न उनकी संख्या बढ़े और न घटे।"[2] ज्यों-ज्यों खाद्य-पदार्थों तथा जीवन के लिये आवश्यक वस्तुओं की कीमत बढ़ेगी या घटेगी, त्यों-त्यों श्रम की प्राकृतिक कीमत भी बढ़ेगी और घटेगी। श्रम की बाजार कीमत की प्रवृत्ति सदा इस प्राकृतिक कीमत की ओर आने की ही रहेगी; क्योंकि स्पष्ट है कि बाजार कीमत प्राकृतिक कीमत से नीचे इसलिये नहीं रह सकती, क्योंकि उससे श्रम के परिमाण में कमी हो जायगी, और यदि बाजार कीमत प्राकृतिक कीमत से ऊपर हो जायगी, तो जनसंख्या बढ़ जायगी; और श्रम का परिमाण बढ़ जाने के कारण फिर बाजार कीमत नीचे गिरने लगेगी। रिकार्डो की दृष्टि में जो पूर्णतया माल्थसवादी था "कोई भी और बात इतनी अच्छी तरह सिद्ध नहीं हुई थी, जितनी यह कि श्रमिकों की उपलब्धि अन्ततोगत्वा सदा उनके जीवन-निर्वाह के साधनों के अनुपात में ही रहेगी।"[3] संक्षेप में श्रम की प्राकृतिक कीमत मनुष्यों के उत्पादन की न्यूनतम लागत के बराबर होगी।

यह है रिकार्डो का पहला हृदयहीन वक्तव्य, जो इस बात की ओर संकेत करता है कि वेतन की वह प्राकृतिक दर, जिसकी ओर वेतन सदा गिरने की कोशिश करता रहेगा, वह दर है, जो किसी भी श्रमिक और उसकी पत्नी को लगभग अपने दो बालकों के परिवार का भरण-पोषण करने के लिये न्यूनतम आवश्यक राशि हो। परन्तु जैसा कि रिकार्डो प्राय: करता है, यहाँ भी उसने आगे के विवेचन में यदि अपने सिद्धान्त की जड़ को बहुत अधिक खोखला नहीं भी कर दिया, तो भी उसने सिद्धान्त को अलक्षित ढंग से सुधार दिया है। पहली बात तो यह है कि वह यह मानता है कि जिसे वह "सुधरता हुआ समाज" कहता है, जिसमें पूंजी में एक के बाद दूसरी वृद्धि होती जाती है, उसमें बाजार दर "एक काफ़ी बड़े अनिश्चित समय तक" प्राकृतिक दर से ऊँची रह सकती है। इस तथ्य के अतिरिक्त, कि इस नियम का लागू होना अनिश्चित

१. देखो पहले पृष्ठ ६०।

२. वही; अध्याय ५, वेतन के सम्बन्ध में पृष्ठ ५२।

३. वही; अध्याय २१, पृष्ठ १६४।

काल के लिये स्थगित हो सकता है, इस नियम को आघात पहुँचाने वाली एक और बड़ी छूट यह दी गई है कि खाद्य तथा जीवन के लिये आवश्यक वस्तुओं की दृष्टि से आकलन करने पर भी श्रम की प्राकृतिक कीमत पूर्णतया स्थिर नहीं है और वह सदा एक जैसी नहीं बनी रह सकती। यह प्राकृतिक कीमत न केवल विभिन्न देशों में अलग-अलग होती है, अपितु एक ही देश में अलग-अलग समयों में बदलती रहती है। संक्षेप में, "वस्तुतः यह लोगों की आदतों और प्रथाओं पर निर्भर रहती है।" इस प्रकार रिकार्डो की दृष्टि में वेतन द्वारा प्रकट किया गया स्तर जीवन-निर्वाह का स्तर नहीं है, अपितु प्रथाओं पर आश्रित स्तर है। यदि प्राकृतिक दर केवल प्रथाओं पर आधारित हो, तो यह कहना कि वेतनों की प्रवृत्ति अपनी प्राकृतिक दर की ओर लौट आने की होती है, एक ही बात को केवल शब्द बदलकर कहने के समान है। जो कुछ भी हो सकता है, वह पूर्णतया "लोगों की आदतों और प्रथाओं पर निर्भर है।" रिकार्डो ने "सुविधाओं और आनन्दोपभोगों के प्रति रुचि पर काफी जोर दिया था, जो आवश्यकता से अधिक जनसंख्या की वृद्धि के विरुद्ध सुरक्षा का काम देगी। आजकल हम इसे जीवन के परम्परागत स्तर को परिपुष्ट करने के रूप में समझ सकते हैं। यह स्पष्ट है कि यदि इन अवधियों में से किसी एक में; जब कि बाजार दर अनिश्चित अवधि के लिये प्राकृतिक दर से ऊँची है, इस प्रकार की सुविधाओं के प्रति रुचि विकसित हो जाय, तो इस अनिश्चित अवधि की समाप्ति पर "लोगों की आदतें और प्रथाएँ" बदल चुकी होंगी, और रिकार्डो की श्रम की प्राकृतिक कीमत को भी इन नई प्रथाओं और आदतों का ध्यान रखकर चलना होगा।

इस प्रकार वेतनों के लौह नियम का रिकार्डो का वक्तव्य बहुत कठोरतया अटूट नहीं है, अपितु यह तो विशेष रूप से परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तनीय प्रतीत होता है। यदि इस सिद्धान्त को इसके अपेक्षाकृत अपरिष्कृत और अधिक लोकस्वीकृत रूप में भी लिया जाय, तो भी यह स्मरण रखना चाहिये कि यह सिद्धान्त, कि वेतनों की प्रवृत्ति न्यूनतम की ओर घटते जाने की होती है, जो सम्भवतः टर्गोट और रिकार्डो के मध्य काल की स्थिति की दृष्टि से बहुत गलत नहीं था, रिकार्डो के बाद दो दृष्टियों से खोखला हो चुका है। पहली बात तो यह है कि उसने कामगर को सब से पृथक् बिलकुल अकेले रूप में देखा, जो

काम देने वाले मालिक के मुकाबले में बहुत घाटे में रहता था। वह वेतनों पर व्यवसाय संघों (काम्बिनेशन्स) और ट्रेड यूनियनों की होने वाली प्रतिक्रिया को पहले से कल्पना नहीं कर सकता था। दूसरी बात, यह बिलकुल स्पष्ट है कि माल्थस के उन सिद्धान्तों को, जो "लौह नियम" के पीछे काम कर रहे हैं, नये सिरे से प्रस्तुत किये जाने की आवश्यकता है। निरोधात्मक रोक अब वह नहीं रही है, जो कुछ वह पहले कभी थी। यह बात कि बच्चे अन्न का तनिक सा संकेत पाते ही इस संसार में दौड़े चले आते हैं, निश्चित रूप से अब उतनी सत्य नहीं रही है, जितनी कि यह पहले थी। इसके विपरीत जीवन के स्तर के ऊँचा उठने के फलस्वरूप जन्म की दर में कमी होती जा सकती है; और सामान्यतया होती भी है। अन्य सब बातों की अपेक्षा इन दो ही कारणों का यह परिणाम है कि अब तथाकथित "वेतन के लौह नियम" का महत्व परीक्षार्थियों को छोड़कर सिद्धान्त की दृष्टि से नहीं के बराबर है।

रिकार्डो की प्रस्थापनाओं (प्रोफेशन्स) को पढ़ने से पाठकों को यह आशा हो जाती है कि रिकार्डो यह विवेचन करेगा कि उपज का वितरण विभिन्न दावेदारों में किस अनुपात में होता है। परन्तु जहाँ वह अपने विवेचन में ऐसे किसी परिणामसूचक निष्कर्ष तक नहीं पहुँच पाता, जिसकी कि आशा की जाती है, वहाँ वह यह अवश्य बता देता है कि उसके सिद्धान्त के अनुसार यह अनुपात किस प्रकार बदलता रहेगा। भाटक, जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, बढ़ जायगा, नाम-वेतनों का रुख (नामिनल वेजिज) भी बढ़ने की ओर होगा, क्योंकि घटिया किस्म की भूमि पर खेती करने के फलस्वरूप खाद्य-पदार्थों की कीमत बढ़ जायगी; परन्तु वास्तविक वेतन, जो जीवन-निर्वाह की दृष्टि से घटते-बढ़ते हैं, नहीं बढ़ पायेंगे। वैसे भले ही यह रिकार्डो के सिद्धान्त की पक्की व्याख्या के प्रतिकूल जान पड़े, परन्तु वेतनों में हुई सामान्य वृद्धि इतनी पर्याप्त नहीं होगी कि उससे कामगर की सभी पदार्थों के मूल्य में हुई वृद्धि के कारण होने वाली क्षति की पूर्ति हो सके।[1] लाभों के विषय में, जिनके साथ ब्याज को भी मिलाकर एक ही कर दिया गया है, रिकार्डो की स्थिति पूरी तरह स्पष्ट नहीं है; परन्तु एक सामान्य स्थापना के साथ वह बड़ी दृढ़ता से चिपटा रहता

---

१. वही; अध्याय ५, वेतनों के सम्बन्ध में, पृष्ठ ५७।

है। वह धारणा यह है कि जिस भी बात से वेतन बढ़ेंगे उससे लाभ अवश्य ही कम हो जायेंगे, और वस्तुतः वेतनों में वृद्धि के अतिरिक्त अन्य किसी भी बात का लाभ पर कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता।[1] यहां "अधिक वेतनों से होने वाली बचत" के लिये या उन कारणों पर विचार के लिये, जिनके द्वारा श्रम की उत्पत्ति (आउटपुट) में अन्तर पड़ सकता है, कोई स्थान नहीं है। वेतन और लाभ एक दूसरे से ठीक उल्टे दो छोर हैं; और इनमें से एक में कमी होने का अर्थ है दूसरे में वृद्धि। अन्ततोगत्वा, जैसा कि पहले देखा जा चुका है, पैसे के रूप में मिलने वाले वेतन बढ़ जायेंगे, जिससे लाभ की दर का रुख घटने की ओर हो जायगा।

ऐसी रिकार्डो की वितरण की योजना है। हितों की प्राचीन लयबद्धता के स्थान पर उसने सब वस्तुओं के भीतर मतभेद और पारस्परिक विरोध को ला रखा है। "भूस्वामियों का हित सदा उपभोक्ता या निर्माता के हित के विरुद्ध रहता है।"[2] इसी प्रकार मजदूर और मालिक के हित भी शाश्वत रूप से एक दूसरे के प्रतिकूल रहते हैं और उनमें कभी भी परस्पर समझौता नहीं कराया जा सकता। जब भी एक को लाभ होता है, तब दूसरे को नुकसान हो रहा होता है। इतना ही नहीं केवल भूस्वामी को छोड़कर बाकी सबका भविष्य निरन्तर घुलते जाने की प्रक्रिया का ही है। ऐडम स्मिथ का विशाल हृदय आशावाद समाप्त हो चुका है और उसका स्थान एक ऐसे निराशावाद ने ले लिया है, जिसे किसी भी प्रकार सान्त्वना देकर शान्त नहीं किया जा सकता। इसके बाद भी रिकार्डो अटल रूप से अहस्तक्षेपवादी (नानइंटरवेंशलिस्ट) है। वह कहता है "ये हैं वे नियम, जिनके द्वारा वेतनों का नियमन होता है।" इसके बाद वह इसके विपरीत इतना और जोड़ देता है "अन्य सब युगबन्धों (कन्ट्रैक्ट) की भांति वेतनों का नियन्त्रण भी बाजार की न्याय्य और स्वच्छन्द प्रतियोगिता द्वारा होने देना चाहिये, और कभी भी कानून के हस्तक्षेप द्वारा उनका नियन्त्रण नहीं करना चाहिये।"[3] रिकार्डो के इस विषाद भरे संसार में,

---

१. वही; अध्याय ६, लाभों के सम्बन्ध में, पृष्ठ ७०-७१।

२. वही; अध्याय २, पृष्ठ २२५। यह सत्य है कि इस विषय में बहुत थोड़ा सा अपवाद भी है।

३. वही; अध्याय ५; वेतनों के विषय में; पृष्ठ ६१।

कोई भी पूछ सकता है और वस्तुतः कुछ लोगों ने पूछा भी कि, इस मामले में सरकार का हस्तक्षेप क्यों नहीं होना चाहिये ? कोई आशावादी व्यक्ति तो, जिसे स्वर्ग में विद्यमान परमात्मा पर विश्वास हो, या जो यह मानता हो कि विवेकपूर्ण आत्महित द्वारा सबका भला होता है, स्वच्छन्द व्यापार की नीति की ध्वजा ऊँची कर सकता है; परन्तु एक ऐसे निराशावादी को, जिसे भविष्य में केवल बुरे दिन और खराब जमाना ही दिखाई पड़ रहा हो, सिद्धान्ततः हस्तक्षेप के सिद्धान्त का विरोध नहीं करना चाहिये, बशर्ते कि उसका निराशावाद इतना लबालब न हो चुका हो कि उसका विश्वास यह हो गया हो कि भले ही सब बीमारियाँ बुरी हैं, परन्तु उन सब बीमारियों के इलाज उनसे भी बुरे हैं।[1]

विदेशी व्यापार के सिद्धांत तथा मुद्रा-सम्बन्धी समस्याओं के क्षेत्र में रिकार्डो के लेखन के सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा जा सकता है; किन्तु यहाँ उस सबके कहने का अवकाश नहीं है। यहाँ इतना कह देना काफी होगा कि क्योंकि रिकार्डो के लेखन का प्रारम्भिक बिन्दु अपने समय की अत्यावश्यक समस्याएँ थीं, इसलिए इन अपेक्षाकृत अधिक प्राविधिक (टैकनीकल) विवेचनों में उसका महत्त्व उतना ही अधिक है, जितना कि अर्थशास्त्र के अपेक्षाकृत अधिक सामान्य भागों में। उसने उन नियमों का स्पष्टीकरण किया, जिनके द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के फलस्वरूप बहुमूल्य धातुओं का विभिन्न देशों में वितरण होता है। मुद्रा के मामलों में उसने द्रव्य (पैसा; मनी) के मात्रा सिद्धान्त की व्याख्या की और उसने बड़ी निपुणता से द्रव्य के अवमूल्यन (डिप्रिशियेशन) के अर्थ का विश्लेषण किया। उसने इस बात की सिफारिश की कि सोने और चांदी के प्रयोग में मितव्ययिता से काम लिया जाय; और उसने यह युक्ति तक प्रस्तुत की कि "मुद्रा (करेंसी) उस समय अधिकतम पूर्ण दशा में होती है, जबकि मुद्रा सबकी सब कागजी हो, परन्तु उस कागजी मुद्रा के साथ उतने मूल्य का स्वर्ण भी विद्यमान हो, जितने का वह कागजी मुद्रा होने का दावा करती है।"[2] उसने

---

१. श्री गीनार्ड ने बड़े उचित रूप से इस बात की ओर ध्यान आकृष्ट किया है कि निराशात्मक विश्वास और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की विचारधारा का मेल कितना असंगत है, जो रिकार्डो की विचार-परम्परा की विशेषता है। श्री गीनार्ड ने इसका कारण ब्रिटिश चरित्र में कैलविनवादी और पवित्रतावादी तत्व को बताया है। परन्तु रिकार्डो के सम्बन्ध में यह प्रभाव कैलविन से भी पहले का होना चाहिये।

२. वही: अध्याय २७, पृष्ठ २४४।

अपनी लिखित रचनाओं में उस स्वर्ण-प्रमाप के विशिष्ट अंगों का भविष्य-दर्शन किया, जो १९२५ में दुबारा जारी किया गया। परन्तु मुद्रा-विशेषज्ञ के रूप में रिकार्डो का विवेचन करने के लोभ को हमें संवरण ही करना होगा।

भले ही रिकार्डो के सिद्धान्तों के ढांचे में से आज बहुत थोड़ी वस्तु शेष बची हो, फिर भी यह सत्य है कि रिकार्डो उन्नीसवीं शताब्दी के सर्वप्रमुख प्रभावों में से एक था; और इससे बढ़कर यह भी सत्य है कि उसका प्रभाव उन दिशाओं में भी रहा कि यदि रिकार्डो उसे सोच पाता, तो शायद वह कांप उठता। उसका मुख्य लक्ष्य वितरण के सिद्धान्त का स्पष्टीकरण करना और विशेष रूप से विभिन्न प्रकार के करारोपण के करापातों (इंसीडेन्स) पर विचार करना था। यह विचार उसने कुछ ऐसी विशिष्ट मान्यताओं को लेकर प्रारम्भ किया, जिन्हें वह अकाट्य समझता था और उसके बाद वह बिना रुके कुछ विशिष्ट तर्कसंगत निष्कर्षों की ओर बढ़ता गया। रिकार्डो के यहां मानवीय क्रियाओं की स्वच्छन्दता अथवा संघर्ष के कारणों की विविधता के लिये कोई अवकाश नहीं है; और ये दोनों बातें ऐसी हैं, जो समाज की यन्त्रविधि की व्याख्या करने में केवल तर्कशास्त्र की अपेक्षा कहीं अधिक उपयोगी हैं। सबसे बढ़कर, रिकार्डो ने यह मान लिया है कि प्रतियोगिता—जो सर्वव्यापक है, प्रतिबन्धशून्य है और स्वतः सक्रिय हो उठती है—सब क्रियाओं की प्रेरक शक्ति है। परन्तु आजकल यह बात सत्य नहीं है; और वस्तुतः यह बात कभी भी सत्य नहीं थी। "जब किसी निर्माता का लाभ सामान्य स्तर से भी नीचे गिर जाता है, तब उसे व्यापार को क्यों जारी रखना चाहिए?"[1] उसे स्वयं इस प्रश्न का उत्तर मालूम है, जैसा कि वह दो अध्याय आगे चलकर स्पष्ट करता है; वह यह है कि जिन लोगों को किसी व्यवसाय में घाटा हो रहा होता है, वे भी उसे इस बहुत पक्के कारण से जारी रख सकते हैं, कि वे उससे एकाएक बाहर नहीं निकल सकते। कोई जहाज बनाने वाला व्यवसायी अपनी पूंजी को रातोंरात कृषि की ओर परिवर्तित नहीं कर सकता। परन्तु वास्तविक संसार का ऐसा दुविधा में डालने वाला ज्ञान रिकार्डो की युक्ति की प्रगति पर कोई प्रभाव नहीं डाल पाता था। एक बात और; जहां-तहां अनेक सहानुभूतिपूर्ण

---

१. वही; अध्याय १७, फुटनोट, पृष्ठ १६०।

उक्तियों के बावजूद श्रमिक वर्ग के प्रति उसका सारा दृष्टिकोण यही रहा कि वे केवल उत्पादन के साधन मात्र हैं। "कल्पना कीजिये, कि किसी देश की परिस्थितियाँ ऐसी हो जायें कि निम्नतम वर्ग के श्रमिकों को न केवल अपनी जाति को यथापूर्व बनाये रखने की, अपितु उसे बढ़ाने की आवश्यकता पड़ जाय, तो उनके वेतनों में उसके अनुसार ही परिवर्तन कर दिये जायेंगे।"[1] मार्क्स की औद्योगिक-संचिति सेना (इंडस्ट्रियल रिजर्व आर्मी) में भी श्रमिकों को इससे अधिक निश्चितता के साथ एक अलग जाति नहीं बना दिया गया है, जो नवारम्भ (ऐन्टरप्राइज) के उच्चतर उद्देश्यों को पूर्ण करने के लिए ही जीवित रखी जाती है। एक और जगह एक बहुत प्रसिद्ध संदर्भ में, जिसका सिसमोन्दी ने उचित रूप से बार-बार प्रयोग किया, उसने ऐडम स्मिथ के विरुद्ध यह तर्क प्रस्तुत किया कि स्मिथ ने बड़ी विशुद्ध आय की अपेक्षा बड़ी सकल आय के लाभों को बहुत बढ़ा-चढ़ा कर बताया है। रिकार्डो कहता है कि असली महत्त्व विशुद्ध आय का है; और यदि विशुद्ध आय अपेक्षाकृत कम जनसंख्या द्वारा प्राप्त की जा सकती है, तो फालतू जनसंख्या को बढ़ाने का क्या उपयोग है?[2] उसकी इस तर्क-प्रणाली पर चलने से यह बात अभीष्ट प्रतीत होगी कि जनसंख्या घटाते-घटाते केवल एक कर दी जाय; और वह अन्तिम बचा हुआ व्यक्ति जादू और मशीनों की सहायता से अत्यन्त विशाल शुद्ध अतिरिक्त लाभ प्राप्त कर रहा हो। यह अरुचिकर सिद्धान्त, कि सम्पत्ति मनुष्य के उपभोग के लिए नहीं बनी, अपितु मनुष्य सम्पत्ति के उत्पादन के लिए बना है, यहाँ पर अपने प्रौढ़ रूप में प्रस्तुत किया गया दीख पड़ता है।

रिकार्डो ने अपने सब सिद्धान्तों को ऐसे रूप में जनता के सामने छोड़ा, जिससे उनको गलत रूप में उद्धृत किया जा सके और उनका दुरुपयोग किया जा सके। उसके इन सिद्धान्तों को संक्षिप्त रूप में याद रख पाना बहुत सरल है; और रिकार्डो ने अपने सरल सिद्धान्तों को पेचीदा बनाने और सुधारने के लिये बाद में जो शर्तें लगायीं, उनको भूल पाना बहुत आसान है (और शायद उन्हें पूरी तरह समझ पाना भी हमेशा कठिन रहा है।) इसलिये यह बात कुछ आश्चर्यजनक नहीं कि रिकार्डो के मोटे और अपरिष्कृत सिद्धान्तों का दूसरे

१. वही; अध्याय १६, पृष्ठ १४३।

२. वही; अध्याय २६, सकल और विशुद्ध आगम के सम्बन्ध में; पृष्ठ २३५।

प्रयोजनों के लिए उपयोग किया गया। सबसे बढ़कर बात यह है कि उसने बिलकुल मनमाने तथाकथित वैज्ञानिक समाजवाद की आधारशिला प्रस्तुत कर दी। मूल्य का श्रम-सिद्धान्त, जिससे रिकार्डो बाद में अधिक और अधिक असन्तुष्ट होता गया प्रतीत होता है, मार्क्स के सिद्धान्तों का आधार है; और इस दावे का, कि "सारी उपज पर श्रम का अधिकार है," मूल भी यही है। भाटक का सिद्धान्त, खास तौर से तब, जबकि लोग यह भूल जाते हैं कि रिकार्डो का भाटक एक अव्यक्त वस्तु है, कृषि-सम्बन्धी समाजवाद को प्रोत्साहन देता हुआ प्रतीत होता है। रिकार्डो का वेतनों का सिद्धान्त, जब उसमें से रिकार्डो की वे सब शर्तें निकाल दी जाती हैं, जो इतनी महत्त्वपूर्ण हैं कि उनके कारण उस सिद्धान्त का कोई भी अर्थ नहीं रह जाता, समाजवाद का युद्ध का नारा बन गया। उसका वेतनों और लाभों का विरोध वर्ग-युद्ध का प्रतीक मालूम होता है। व्यंग्यप्रिय लोगों को यह बात सबसे अधिक विचित्र जान पड़ेगी कि प्राचीन इंगलिश राजनीतिक अर्थ-व्यवस्था के इस सर्वोच्च समर्थक की रचनाओं में से मार्क्स और उसके अनुयायियों को अपने मन्तव्यों के लिये युक्तियाँ प्राप्त होती रहीं। यह बात, कि जब रिकार्डो के विचारों की दूसरी जगह पौध लगायी गयी, तो उसकी सूक्ष्मताएँ छूट ही गयीं, सच अवश्य है, किन्तु इसका विशेष महत्त्व नहीं। सम्भवतः रिकार्डो से अन्तिम पाठ यह सीखा जा सकता है कि साहित्यिक सौंदर्य केवल भाषा के शृंगार की ही वस्तु नहीं है, अपितु उपयोगी भी है; और जो लेखक आत्माभिव्यक्ति की कला में अक्षम है, यदि उसे गलत रूप में पेश किया जाने लगे, तो उसमें दोष स्वयं लेखक का ही समझा जाना चाहिये।

अध्याय ७

लाडर्डेल, रे और सिसमोन्डी

ऐडम स्मिथ, माल्थस और रिकार्डो के द्वारा एक अर्थ में प्राचीन (क्लासिकल) राजनीतिक व्यवस्था का ढाँचा पूर्ण हो जाता है। इस बिन्दु से आगे यह निश्चय कर पाना सरल नहीं है कि हमारे आर्थिक विचार के प्रतिनिधियों को किस पूर्वापर क्रम में रखा जाय, या उनके विचारों के स्पष्टीकरण के लिये उनका वर्गीकरण किस प्रकार सर्वोत्तम रूप में किया जाय। प्राचीन विचारधारा के अनुयायियों ने व्यक्ति और राज्य के मध्य विद्यमान संतुलनों के सम्बन्ध में कुछ खास धारणाएँ बना ली थीं। बाद में जाकर उन लोगों का दृष्टिकोण सामान्यतया निराशावादी हो गया था, जो जनसंख्या के सिद्धान्त और भाटक के रिकार्डो द्वारा स्थापित सिद्धान्तों के उदाहरणों से स्पष्ट है। यथेच्छाचारिता और स्वच्छन्द व्यापार का पक्षपोषक होने के कारण उन्हें सारे संसार की सहानुभूति प्राप्त थी। वे अत्यन्त पक्के व्यक्तिवादी लोग थे। प्राचीन विचारधारा के इन पहलुओं में से प्रत्येक के विरुद्ध प्रतिक्रिया होनी अनिवार्य थी और इसी प्रकार यह भी अनिवार्य था कि कुछ लोग उन्हीं पुराने स्वीकृत और कट्टर सिद्धान्तों को कुछ सुधार करके गुनगुनाते रहें।

इस प्रकार नई पीढ़ी में आकर प्राचीन विचारधारा के अत्यधिक व्यक्तिवाद के आलोचक हुए, जिन्होंने उन मान्यताओं का खंडन किया, जिनके ऊपर यथेच्छाचारिता का सिद्धान्त खड़ा था। कुछ लोग संरक्षण के समर्थक हैं। कुछ ऐसे लोग भी हैं, जो सृष्टि का एक अपेक्षाकृत अधिक आशावादी दृष्टिकोण प्रस्तुत करने के लिये संघर्ष कर रहे हैं। कुछ ऐसे लोग भी हैं, जो थोथे दिखावटी विश्व-भ्रातृत्ववाद के विरुद्ध राष्ट्र के पक्ष का समर्थन करते हैं। एक बड़े चित्रफलक पर प्राचीन विचारधारा के विरुद्ध प्रतिक्रिया की ये विभिन्न रेखाएँ एक के बाद एक देखी जा सकती हैं, परन्तु दुर्भाग्य से इस प्रतिक्रिया से सम्बद्ध लेखक विकास की इन विभिन्न दिशाओं के अनुसार किसी सुसंगत रूप में वर्गीकृत नहीं किये जा सकते ; और इसलिये अगले चार अध्यायों में केवल

एक मोटा और कामचलाऊ वर्गीकरण कर पाना ही सम्भव है । इस अध्याय में ऐडम स्मिथ के तीन प्रारम्भिक आलोचकों लाडर्डेल, रे और सिसमोन्दी का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया जायगा । लाडर्डेल और रे का सम्बन्ध मुख्य रूप से उन विचारों से है, जिन्हें वे सम्पत्ति की प्रकृति के सम्बन्ध में स्मिथ के भ्रान्त विचार समझते थे । यह बात रे और सिसमोन्दी में समान रूप से पायी जाती है कि वे दोनों यथेच्छाचारिता की नीति का खंडन करते हैं, और इस बात को आग्रहपूर्वक कहते हैं कि राज्य के ऊपर बहुत सी जिम्मेदारियाँ हैं । यह सत्य है कि यह प्रतिक्रिया एक ओर रे को तो बहुत कुछ पितृ-सुलभ गुणों से युक्त राज्य की ओर ले जाती है, जब कि दूसरी ओर यह सिसमोन्दी को समाजवाद की दिशा में प्रेरित करती है । इससे अगले अध्याय में तीन जर्मन लेखकों, मुल्लर, लिस्ट और वान थुनन के सम्बन्ध में विचार किया जायगा । मुल्लर और लिस्ट दोनों में काफी समानताएँ हैं और वे राष्ट्रीयता और संरक्षण के रूप में हुई प्रतिक्रिया के प्रतिनिधि हैं, हालाँकि वस्तुतः मुल्लर द्वारा स्मिथ की की गयी आलोचना विस्तृत और सर्वांगीण है । वान थुनन अवश्य एक ऐसा तारा है, जो बिलकुल अलग ही चमकता है; परन्तु सम्भवतः उसे अपने स्वदेशवासी जर्मन लेखकों के साथ रखे जाने में अन्य किसी स्थान में रखे जाने की अपेक्षा अधिक भला अनुभव होगा । नवें अध्याय में आशावादी प्रतिक्रिया का बहुत संक्षेप में विवेचन किया जायगा, जैसी कि यह प्रतिक्रिया कैरी और बेस्टीयाट की रचनाओं में प्रकट हुई है । यहाँ फिर कैरी को लिस्ट के साथ रखना शायद अधिक भला होता, क्योंकि उस दशा में वे दोनों संरक्षण के प्रमुख समर्थकों के रूप में अपने एक ही दृष्टिकोण के प्रतिनिधि बन सकते । अन्त में दसवें अध्याय में से, सीनियर, मिल और कैर्नीज के रूप में पुरानी कट्टर विचारधारा के उदाहरण प्रस्तुत किये जायेंगे ।

लाडर्डेल

यह बात ध्यान देने योग्य है कि इस अध्याय में जिन तीन लोगों को स्थान दिया गया है, उनमें से दो ऐडम स्मिथ के अपने देश के निवासी थे । यद्यपि वे सामान्य जनता की स्मृति में अपना कोई बड़ा स्थान बना पाने में सफल नहीं हुए, फिर भी वे इस कारण उल्लेख योग्य हैं, उन्होंने ऐडम स्मिथ की कुछ

मान्यताओं की बिलकुल मौलिक आलोचनाएँ कीं। एक ओर जहाँ ऐडम स्मिथ सामान्य बुद्धि और चतुरता का अवतार था, वहाँ दूसरी ओर इन आलोचकों को यदि वस्तुतः सनकी न भी माना जाय, तो भी उन्हें काफी मनोरंजक और विचित्र अवश्य मानना पड़ेगा। यह कुछ सनकीपन असंदिग्ध रूप से जोन रे की अपेक्षा लाडर्डेल के आठवें अर्ल जेम्स मेटलैंड में कहीं अधिक स्पष्ट था।

लाडर्डेल[1] (१७५६-१८३०) अपने समय में काफी महत्त्वपूर्ण व्यक्ति रहा और वह हाउस आफ लार्ड्स के दैनिक विवरणों में अपनी असहमतियाँ (प्रोटैस्ट) अंकित कराने का बहुत आदी था। अर्थशास्त्रीय साहित्य को उसकी देन उसकी पुस्तक के रूप में प्राप्त होती है, जिसका पूरा नाम है "ऐन इन्क्वायरी इंटू दी नेचर एंड ओरिजिन आफ पब्लिक वैल्थ ऐंड इंटू दी मीन्स ऐंड काजिज आफ इट्स इंक्रीज" (सार्वजनिक सम्पत्ति की प्रकृति और उद्गम तथा उसकी वृद्धि के साधनों और कारणों के सम्बन्ध में एक जाँच)। यह पुस्तक काफी संक्षिप्त है, जो प्रशंसा की बात है। इसमें विचार बहुत थोड़े हैं। ये विचार काफी दृढ़ता और कुशलता के साथ अपने निष्कर्ष तक पहुँचाये गये हैं; और वस्तुतः वे प्रायः ऐसे बिन्दु तक पहुँच जाते हैं, जहाँ वे आत्मविरोधी हो उठते हैं। उसने अपने "विज्ञापन" में यह दावा किया है कि उसके विचार "न केवल नये हैं, अपितु पुराने विचारों के लोगों के लिये असह्य भी हैं।" लाडर्डेल के सिद्धान्तों का केन्द्रीय बिन्दु उसके ग्रन्थ के शीर्षक में ही बहुत कुछ पहले से मालूम हो जाता है। वह हमें बताता है कि सार्वजनिक अर्थ-व्यवस्था अनिवार्य रूप से समाज की सब दशाओं में एक विवाद का विषय बनी रहती है। यह विवाद बिलकुल उजड्ड और अशिक्षित लोगों में भी चलता है; और यह स्वाभाविक है कि उनकी अपरिष्कृत और भ्रान्त धारणाएँ उन्हें ऐसी बातें कहने को प्रेरित करें, जो अनिश्चितता पर आधारित हों, और जिनमें गलती होने की सम्भावना बहुत अधिक हो।"[2] जहाँ कहीं भी ऐडम स्मिथ का वास्ता पड़ता है,[3]

१. जन्म १७५६ में हुआ। १७८० में पार्लियामेन्ट का सदस्य बना; १७८६ में उत्तराधिकार में स्काटिश पीयर बन गया और १७९० में स्काट्स पीयर के रूप में प्रतिनिधि चुना गया। राजनीतिक दृष्टि से वह अपने जीवन-काल में ही चरम वामपक्ष से चरम दक्षिण पक्ष तक पहुँच गया। अपने देशवासियों की भाषा में वह "कुछ सनकी आदमी" था।

२. पब्लिक वैल्थ; पृष्ठ ३-४।

३. उदाहरण के लिए "ऐसा कोई भी मत नहीं है, जो राष्ट्रीय सम्पत्ति के उद्गम स्थानों

वहाँ लाडर्डेल की सारी रचनाओं में एक अत्यन्त कठोर और दोषान्वेषण की भावना दिखाई पड़ती है; और उसके सारे विवेचन का अर्थ यह प्रतीत होता है कि स्मिथ भी इन्हीं अपरिष्कृत और भ्रान्त धारणाओं का शिकार रहा। बाजार के लोगों की पूज्य प्रतिमा (स्मिथ) के जिस विशेष उदाहरण को लाडर्डेल ने आलोचना के लिये चुना है, वह यह है, जिसमें राष्ट्र की सम्पत्ति का व्यक्ति के धन के साथ घपला कर दिया गया है, और जिसमें यह मान लिया गया है कि जिस भी वस्तु से व्यक्ति का धन बढ़ेगा, उससे सार्वजनिक सम्पत्ति भी उतनी ही बढ़ जायगी। यह ध्यान देने योग्य है कि लाडर्डेल सदा 'सम्पत्ति' शब्द का प्रयोग उस समय करता है, जब कि उसका उचित विशेषण 'सार्वजनिक' हो, जब कि दूसरी ओर व्यक्ति के सम्बन्ध में बोलते हुए वह 'धन' शब्द का प्रयोग करता है। स्मिथ के जिस सन्दर्भ को लाडर्डेल विशेष रूप से दूषित समझता है, वह "वैल्थ आफ् नेशन्स" के दूसरे भाग का तीसरा अध्याय है, जिसमें "महान् विचारक" ने पूँजी के संचय के सम्बन्ध में विमर्श किया है। इस सन्दर्भ में स्मिथ कहता है: "जैसे किसी व्यक्ति की पूँजी केवल उस राशि के द्वारा ही बढ़ सकती है, जिसे वह अपने वार्षिक आगम (रैवेन्यू) या अपने वार्षिक लाभ में से बचा पाता है, वैसी प्रकार समाज की, जो केवल उन व्यक्तियों का समूह मात्र है जिनसे वह बनता है, पूँजी भी केवल उसी रूप में बढ़ाई जा सकती है।" इस गुर के अन्तिम भाग से ही लाडर्डेल विशेष रूप से असन्तुष्ट है। न केवल समाज की पूँजी (या सम्पत्ति) को सब व्यक्तियों की पूँजी (या धन) के सर्वयोग के समान और एक ही वस्तु समझ पाना सम्भव नहीं है, अपितु ये दोनों वस्तुतः एक दूसरे की मूलतः विरोधी हैं। सार्वजनिक सम्पत्ति और निजी धन में इस भेद या वस्तुतः विरोध के आधार को ढूंढने के लिये हमें लाडर्डेल के साथ उस अनन्त दलदल में चलना पड़ेगा, जहाँ मूल्य के अर्थ का विवेचन करने के लिये अर्थशास्त्री तथा अन्य लोग बड़ी सतर्कता के साथ अनन्त काल से जुटे हुए हैं और भूल-भुलैयाओं में भटकते हुए किसी भी अन्त तक नहीं पहुँच पाये हैं। उसका कथन है कि किसी भी पदार्थ का मूल्य होने के लिये उसमें दो शर्तों का पाया जाना आवश्यक है। पहली बात तो यह है कि वह

के सम्बन्ध में कहीं भी प्रचलित हो, और उसे "वैल्थ आफ नेशन्स" में अनुसंधान के विभिन्न भागों में कहीं न कहीं अपना न लिया गया हो"। (पब्लिक वैल्थ, पृष्ठ ११६)

पदार्थ या तो मनुष्य के लिये उपयोगी होने के कारण, अथवा आनन्दजनक होने के कारण उसकी आकांक्षा का विषय होना चाहिये ; और दूसरी बात यह है कि वह पदार्थ "स्वल्प मात्रा में" होना चाहिये।[1] यदि मांग के सम्बन्ध में दशाएँ पहले जैसी ही बनी रहें, तो मूल्य स्वल्पता के बढ़ने के साथ-साथ बढ़ेगा, और वस्तु की अधिकता होने पर घट जायगा। परन्तु यदि व्यक्ति का 'धन' स्वल्पता (जो किसी दूसरी जगह विद्यमान होती है) द्वारा बढ़ता है, तो लाडर्डेल की युक्ति है कि सार्वजनिक सम्पत्ति और निजी धन में अवश्य परस्पर विरोध होगा; और दोनों की वृद्धि के कारण बिलकुल अलग-अलग होंगे। सार्वजनिक सम्पत्ति को सामान्यतया लोग सम्पूर्ण निजी सम्पत्ति का एकीकृत रूप मानते हैं; और जैसा ऐडम स्मिथ के उदाहरण से स्पष्ट है, लोग यह समझते हैं कि जो मितव्ययिता "निजी धन को बढ़ाने का सबसे अधिक सामान्य उपाय है" वही मितव्ययिता "सार्वजनिक सम्पत्ति की भी जननी है"।[2] वस्तुतः, जैसा कि देखा जा चुका है, निजी सम्पत्ति के लिये स्वल्पता का होना आवश्यक है, और "मनुष्य जाति की सामान्य बुद्धि ऐसे प्रस्ताव के विरुद्ध विद्रोह कर देगी, जिसमें किसी राष्ट्र की सम्पत्ति बढ़ाने के लिये किसी ऐसे पदार्थ की स्वल्पता उत्पन्न करने का सुझाव दिया गया हो, जो सामान्यतया मनुष्यों के लिये उपयोगी और आवश्यक हो।" वह इसी युक्ति को अपने इस सन्दर्भ में जारी रखता है, जो प्रायः उद्धृत किया जाता है :

"उदाहरण के लिये हम एक ऐसे देश की कल्पना करते हैं, जिसमें जीवन के लिये आवश्यक वस्तुएँ और असुविधाएँ प्रभूत मात्रा में विद्यमान हैं और जिसमें जगह-जगह शुद्ध पानी की धाराएँ बह रही हैं। उस मनुष्य की बुद्धि के बारे में क्या धारणा बनायी जायगी, जो ऐसे देश की सम्पत्ति को बढ़ाने के लिये यह प्रस्ताव रखे कि पानी की स्वल्पता कर दी जाय; वह पानी जिसकी प्रभूत मात्रा उचित रूप से समाज के लिये सबसे बड़ा वरदान समझी जाती हो। यह ठीक है कि इस प्रकार का योजना-निर्माता इस उपाय के द्वारा व्यक्तियों के धन को बढ़ाने में अवश्य सफल हो जायगा; क्योंकि वह उस पानी में जिसमें उपयोगी और वांछनीय होने का गुण तब भी विद्यमान रहेगा, स्वल्प मात्रा में

१. पब्लिक वैल्थ; पृष्ठ १२।

२. वही ; पृष्ठ, ४०।

होने का गुण और जोड़ देगा, जिससे असंदिग्ध रूप से पानी का मूल्य हो जायेगा।"[1]

इसका विलोम पक्ष भी बड़ी प्रबलता के साथ प्रस्तुत किया गया है :

"हम कुछ देर के लिये यह कल्पना कर लेते हैं कि किसी भी प्रकार के खाद्य-पदार्थों को उतनी ही प्रभूत मात्रा में उत्पन्न कर पाना सम्भव है, जितना कि पानी। उस व्यक्ति की सलाह के सम्बन्ध में क्या धारणा बनायी जायगी, जो बड़ी सावधानतापूर्वक यह सिफारिश करे कि भले ही वस्तुओं की स्वल्पता हो जाय, किन्तु वस्तुओं की इस गर्व-योग्य प्रचुरता की दशा को उत्पन्न करने से बचना ही चाहिये। क्योंकि यह सलाह तात्कालिक बुराइयों की रोक-थाम के लिए कितनी ही आकर्षक क्यों न जान पड़े, किन्तु अन्त में अनिवार्य रूप से यह राष्ट्र की सम्पत्ति को घटायेगी ही। फिर भी यह सम्मति चाहे कितनी ही हास्यास्पद प्रतीत क्यों न हो, पर, जैसे जो भी वस्तु पानी और हवा के समान प्रभूत मात्रा में पैदा हो जाती है, उसमें मूल्य का अस्तित्व नहीं रहता, वैसे ही यह स्पष्ट है कि इस प्रकार की प्रभूत मात्रा पैदा कर देने से निजी धन का सर्वयोग निश्चित रूप से उतनी ही मात्रा में कम हो जायगा, जितना उन खाद्य-पदार्थों के मूल्य का सर्वयोग था, जिनका मूल्य इस प्रकार नष्ट कर दिया गया है।"[2]

इस प्रकार सार्वजनिक सम्पत्ति और निजी धन में पूर्ण विरोध है। समाज का लाभ इस बात में है कि वस्तुएं प्रभूत मात्रा में हों और व्यक्ति (जिसके पास वे वस्तुएं हैं) का लाभ इस बात में है कि वस्तुओं की स्वल्पता हो जाय। वस्तुतः लाडर्डेल तो इतनी दूर तक जाता है कि वह सामान्य रूप से यह बात कहता है कि "धन में वृद्धि जब पदार्थों की मात्रा में घटा-बढ़ी के कारण हुई हो, तो वह सदा इस बात का प्रमाण होती है कि सम्पत्ति में तत्काल ही कोई कमी हुई है; और धनों में हुई कमी सम्पत्ति में तत्काल हुई वृद्धि की परिचायक है।"[3] इस प्रकार लाडर्डेल अपनी सम्पत्ति की परिभाषा तक आ पहुँचता है, जिसके अन्तर्गत "वे सब वस्तुएँ हैं, जिन्हें मनुष्य अपने लिये उपयोगी या आनन्ददायक होने के कारण प्राप्त करना चाहता है," जबकि व्यक्तिगत धन के अन्तर्गत "वे सब वस्तुएँ आती हैं, जिन्हें मनुष्य अपने लिये उपयोगी या

१. वही, पृष्ठ ४३-४४। २. वही; पृष्ठ ४५-४६।
३. वही; पृष्ठ ५५-५६।

आनन्ददायक होने के कारण प्राप्त करना चाहता है, और जो साथ ही स्वल्प मात्रा में विद्यमान हैं।"[1] ज्यों-ज्यों स्वल्पता बढ़ती है, त्यों-त्यों पहली वस्तु अर्थात् सम्पत्ति घटती जाती है और उसके साथ ही बाद वाली वस्तु अर्थात् निजी धन अवश्य ही बढ़ जाता है।

उन चार कारणों का विशद विवेचन करते हुए, जिनके कारण मूल्य में घट-बढ़ होती है (मात्रा में कमी या वृद्धि, और माँग में कमी या वृद्धि) लाडर्डेल उस वस्तु का विश्लेषण करने लगता है, जिसे आजकल 'माँग की लोच का सिद्धान्त' कहा जायगा। इस प्रकार यदि इनमें से पहले कारण अर्थात् मात्रा की कमी (या स्वल्पता) को लें, तो मूल्य को बढ़ाने में प्रतियोगिता का प्रभाव उससे कहीं दूर तक पहुँच जाता है, जितने की कि आशा की जा सकती है। यह मूल्य की वृद्धि इस बात पर निर्भर होगी कि मनुष्य किस सीमा तक अपने आपको अन्य दूसरे आनन्दों के उपभोग से वंचित रखने के लिये तैयार है; और इसमें नियामक बात यह होगी कि "मनुष्य जाति में अपने साधारण आनन्दोपभोगों को जारी रखने की इच्छा रहती है;" और उनका किसी भी पदार्थ को उसी मात्रा में प्राप्त करने की कोशिश का आग्रह, जिस मात्रा में कि वे उसे पहले प्राप्त करते रहे थे, "उनकी उस प्रवृत्ति के अनुपात में होता है, जो उनमें या तो आवश्यकता, या आदत या रुचि के कारण पैदा हो जाती है।" इससे इस बात की व्याख्या हो जाती है कि विभिन्न वस्तुओं के मूल्य पर पड़ने वाले स्वल्पता के परिणामों में अन्तर क्यों होता है। जीवन के लिये अत्यावश्यक वस्तुओं के मामले में मूल्य एक से बढ़कर पचास हो जा सकता है, जबकि केवल पसन्द या विलास की वस्तुओं के मूल्य में उनकी वृद्धि उनके सामान्य मूल्य से दुगुनी या तिगुनी भी मुश्किल से ही हो पाती है।[2] जैसा कि लाडर्डेल ने अपने उसी विवेचन के एक और भाग में कहा है: "मूल्य में चाहे कितनी भी वृद्धि क्यों न हो जाय, किन्तु मनुष्य जीवन के लिये अत्यावश्यक वस्तुओं की प्राप्ति के प्रयत्न को छोड़ने को तैयार नहीं होगा, बशर्ते कि बड़े से बड़ा बलिदान करने पर भी वे वस्तुएँ उसे प्राप्त हो सकें।"[3]

लाडर्डेल ने सम्पत्ति के उत्पादन में पूंजी की क्रियाविधि (फंक्शन) का जो

१. वही; पृष्ठ ५६-५७। २. वही; पृष्ठ ६५-६६।
३. वही; पृष्ठ ७६।

सूक्ष्म विश्लेषण किया है, वह भी ध्यान देने योग्य है। उसका कथन है कि भूमि, श्रम और पूंजी ये तीनों सम्पत्ति के मूलभूत स्रोत हैं। यद्यपि विकास की विभिन्न दशाओं में इस लक्ष्य की पूर्ति में उनके योगदान का अनुपात अलग-अलग होता है। जहाँ तक पूंजी की क्रियाविधि का सम्बन्ध है, लाडर्डेल जिस दृष्टिकोण की आलोचना करता है, वह दृष्टिकोण वह है, जो ऐडम स्मिथ के कुछ वक्तव्यों में (भाग १ अध्याय ६) दिखायी पड़ता है, और जिसका अभिप्राय यह है कि संग्रह (स्टाक) पर होने वाला लाभ उस मूल्य में से चुकाया जाता है और उस मूल्य में से ही प्राप्त होता है, जो मजदूर कच्चे माल में अपने श्रम द्वारा पैदा करता है। इस सिद्धान्त की लाडर्डेल ने जिस रूप में व्याख्या की है, उससे इसमें मार्क्सवादी सिद्धान्त की-सी गंध आने लगती है। लाडर्डेल का कथन है कि इस दृष्टिकोण के अनुसार पूंजी आगम (रैवेन्यू) का मूलभूत स्रोत नहीं रहेगी, क्योंकि ऐसी दशा में लाभ "केवल श्रमिक की जेब से संग्रह के मालिक की जेब में स्थानान्तरण मात्र होगा।"[1] इस दृष्टिकोण के विरुद्ध लाडर्डेल युक्ति प्रस्तुत करते हुए कहता है कि वह लाभ, जो पूंजी को प्राप्त होता है, इस ढंग का सीधा-सादा हस्तान्तरण नहीं है। जो लाभ पूंजी को प्राप्त होता है, वह पूंजी की अपनी स्वतन्त्र सेवाओं के फलस्वरूप उत्पन्न होता है; अर्थात् इस रूप में कि वह श्रम के एक उस भाग का स्थान स्वयं ले लेती है, जो अन्य दशाओं में मनुष्य के हाथ द्वारा किया जाता; या दूसरे शब्दों में वह लाभ इसे श्रम के उस भाग को करने के फलस्वरूप प्राप्त होता है, जिसे कर पाना मनुष्य की व्यक्तिगत सामर्थ्य से बाहर की बात है।"[2] एक आदमी फावड़े की सहायता से ऐसे पचास आदमियों का काम कर सकता है, जो अपने नाखूनों से भूमि को खोदने का काम कर रहे हों (अवश्य ही यह न्यून आकलन है), इसलिए पूंजी

१. वही; पृष्ठ १५८। वह "वेल्थ आफ नेशन्स" के भाग २ अध्याय ३ से एक वाक्य को भी उद्धृत करता है, जो विशेषरूप से ऐसा है कि जिसकी मार्क्सवादी व्याख्या की जा सके। "निर्माता का श्रम सामान्यतया उस कच्चे माल के मूल्य में, जिस पर वह काम करता है, वृद्धि कर देता है। यह वृद्धि उसके अपने निर्वाह और उसके मालिक के लाभ के बराबर होती है।" इसमें सन्देह नहीं कि इस सन्दर्भ में निर्माता शब्द से अठारहवीं शताब्दी का है; और वस्तुतः इसका सच्चा आशय उस व्यक्ति से है, जो अपने हाथ से चीजें तैयार करता है।

२. वही; पृष्ठ १६१।

का यह भाग उन उन्चास मनुष्यों की आवश्यकता को पूरा कर देता है, जो इस प्रकार अनावश्यक हो जाते हैं। इस तरह उन पाँच प्रकारों में से प्रत्येक में जिसके द्वारा लाडर्डेल के कथनानुसार पूंजी उत्पादन में सहायक बन सकती है, पूंजी पर प्राप्त होने वाला लाभ मुख्यतया श्रम का स्थान ले लेने के फलस्वरूप प्राप्त होता है।[1] इस प्रकार वस्तु स्थिति असल में यह नहीं है कि पूंजी श्रम को कार्य में लगाने के लिए लाभदायक होती है या यह "श्रम की उत्पादक शक्तियों में वृद्धि कर देती है"; इसका वास्तविक कार्य यह है कि यह श्रम का स्थान ले लेती है। और इस दृष्टिकोण के परिणाम बहुत दूरगामी हैं। जिसे सुविधा के लिए और लाडर्डेल की भाषा में हम स्मिथ का दृष्टिकोण कह सकते हैं, वह यह है कि श्रम विद्यमान पूंजी की मात्रा द्वारा सीमित हुआ रहता है, और उसी पूंजी के अनुपात में घटता-बढ़ता रहता है; और इसलिए "सम्पत्ति को बढ़ाने का सर्वोच्च और असीम साधन" पूंजी में वृद्धि करना ही है। लाडर्डेल के विचार में किसी भी देश को उसकी अपेक्षा अधिक पूंजी एकत्र करने से लाभ नहीं हो सकता, जितनी पूंजी का प्रयोग लाभदायक रूप से श्रम का स्थानापन्न बनने के लिए किया जा सकता है।[2]

इस तर्क-प्रणाली पर चलते हुए हम व्यावहारिक दिशा में लाडर्डेल के केन्द्रीय बिन्दु पर आ पहुँचते हैं, जो इतनी दूर तक आगे घसीटा गया है कि वह आत्म-विरोधी-सा जान पड़ता है। तर्कसंगत रूप से यह तो निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि सम्पत्ति में केवल उन्हीं साधनों के द्वारा वृद्धि की जा सकती है, जिनके द्वारा वह पहले-पहल उत्पन्न की गयी थी; परन्तु सामान्य लोग उन साधनों में, जिनके द्वारा व्यक्ति उचित रूप से अपने निजी धन को बढ़ा सकता है, और उस नीति में, जिसके द्वारा सार्वजनिक सम्पत्ति में वृद्धि

१. एक महत्त्वपूर्ण फुटनोट में लाडर्डेल ने लिखा है—"यह विचारों का एक अजीब घपला है, जिसके कारण डाक्टर स्मिथ ने पूंजी की कार्य-प्रणाली का वर्णन इस रूप में किया है कि जैसे वह श्रम की उत्पादक शक्तियों को बढ़ाती है। यदि इसी शैली से तर्क किया जाय, तो मनुष्य यह कह सकता है कि किन्हीं दो निश्चित स्थानों के बीच में यदि १० मील की घुमावदार सड़क को सीधा और छोटा करके ५ मील कर दिया जाय, तो उससे चलने वाले व्यक्ति की चाल दुगनी हो जायगी।" पृष्ठ १८५।

२. वही; पृष्ठ २०३-२०५।

हो सकती है, घपला कर देने के कारण मितव्ययिता को ही सम्पन्न बनने का उपाय समझने लगे हैं।[1] परन्तु लाडर्डेल को यह मितव्ययिता, जो "धन संचय करने की अभिशप्त वासना है", बिलकुल पसन्द नहीं है; और न वह इस प्राचीन और स्मिथवादी सिद्धान्त का ही समर्थक है कि प्रत्येक फिजूलखर्च व्यक्ति जनता का शत्रु और प्रत्येक मितव्ययी व्यक्ति परोपकारी व्यक्ति है। अपेक्षाकृत प्रारम्भिक कृषि-बहुल दशा में, जब मनुष्य के पास उतनी पूंजी विद्यमान हो, जितनी का वह उपयोग कर सकता है, तब इस बात में, कि वह अपने उपभोग को केवल इसलिए कम कर ले कि उसके पास उससे कहीं अधिक पूंजी एकत्र हो जाय, जितनी का कि वह प्रयोग कर सकता है, न तो उसका अपना फायदा है, और न किसी दूसरे का। और सभी समयों में एक ऐसा बिन्दु होता है, जिससे आगे पूंजी को बढ़ाते जाना लाभदायक नहीं होता।[2] इसीलिए मज्जमान कोष (सिंकिंग फंड) बनाना मूर्खता है। इसीलिए माँग को प्रोत्साहन देने की आवश्यकता है, जिस पर सारे उद्योग निर्भर हैं। अन्त में लाडर्डेल एक ऐसी बात कहता है, जो आगे आने वाली बहुत सी बातों का आभास देती है। उसका कथन है कि "सम्पत्ति की अत्यधिक असमानता सभी जगह सार्वजनिक सम्पत्ति की वृद्धि में एक प्रमुख बाधा बनी है"; और यह कि सम्पत्ति का उचित वितरण कर देने से देश की समृद्धि अवश्य बढ़ती है, क्योंकि इससे उस देश के घरेलू बाजार में एक नियमित और क्रमशः बढ़ती जाने वाली माँग बनी रहती है।[3]

रे

जोन रे[4] (१७८६-१८७३) में लाडर्डेल के साथ बहुत सी समानताएँ हैं; और यद्यपि वह अपेक्षाकृत अधिक भारी भरकम और कम उग्र लेखक है, फिर भी उसकी आवाज इतनी स्पष्ट रूप से निराशाजनक नहीं है। अधिकांश में वह भी उन आधारभूत सिद्धान्तों का आलोचक है, जिनके ऊपर ऐडम स्मिथ ने

१. वही; पृष्ठ २०८।

२. वही; पृष्ठ २२८।

३. वही; पृष्ठ ३४५ और ३४६।

४. जन्म फुटडी (या फिट्टी) में एबरडीन में हुआ। मैरिसकल कालेज में शिक्षा प्राप्त की। बाद में एडिनबरा में चिकित्साशास्त्र का अध्ययन किया। ऐसा प्रतीत होता है कि

अपना महल खड़ा किया है; और विशेष रूप से उसकी दो मान्यताओं का; एक तो यह कि राष्ट्रीय सम्पत्ति व्यक्तिगत सम्पत्ति के संचय द्वारा बढ़ायी जा सकती है, और दूसरी बात यह है कि निजी और राष्ट्रीय हितों के मध्य एक प्राकृतिक समस्वरता विद्यमान है। उसके यही विचार उसकी मुख्य रचना "न्यू प्रिंसिपल्स आन दी सब्जेक्ट आफ पोलीटिकल इकानामी"[1] (राजनीतिक अर्थशास्त्र के विषय में नये सिद्धान्त) (१८३४) में प्रतिपादित किए गये हैं। राष्ट्रीय पूंजी में वृद्धि करने के साधन के रूप में निजी संचय की एक सीमा है, जिससे आगे वह बढ़ नहीं सकता।[2] प्रत्येक देश में, जैसा लाडर्डेल के उदाहरण में भी हमने देखा था, उन हंसियों या खुरपों की संख्या की एक सीमा होती है, जिनका लाभजनक रूप से उपयोग किया जा सकता है। वस्तुतः एक स्थान पर ऐडम स्मिथ ने भी लोटे और थालियों के सम्बन्ध में इसी आशय की बात कही है। इस बिन्दु से आगे केवल संचय करते जाने का अपने आप में कोई लाभ न होगा। राष्ट्रीय पूंजी को और अधिक बढ़ाने के लिए राष्ट्र का कुछ और ऊँचे स्तर तक विकास किया जाना आवश्यक है। हंसियों और खुरपों के स्थान पर उनका काम करने वाली मशीनें बनाई जानी चाहियें। इसका अर्थ है कि आविष्कार और प्रगति होनी चाहिए।[3]

रे के लिए यह बिन्दु मूलभूत महत्त्व का है। एक संदर्भ में, जो इतना

वह आथक और वैवाहिक दोनों प्रकार के दुर्भाग्य के कारण देश से बाहर जाने को बाधित हुआ। उसने कनाडा तथा अन्य स्थानों पर अध्यापन, चिकित्सा इत्यादि करते हुए विविध प्रकार का जीवन बिताया। उसका अन्त बहुत कुछ करुणाजनक निर्वासन में सैंडविच द्वीप में एक प्रकार के प्रशासक के रूप में हुआ।

१. इस पुस्तक का पूरा शीर्षक वस्तुतः इसकी अपेक्षा कहीं अधिक भारी-भरकम और लम्बा है। १६०५ में डाक्टर मिक्स्टर ने 'रे' की पुस्तक का नये सिरे से सम्पादन किया और उसका शीर्षक उसने "दि सोशियोलोजिकल थ्योरी आफ कैपिटल" रखा। दुर्भाग्य से इस संस्करण में पुस्तक की सामग्री को पूर्णतया उलट-पुलट कर नये रूप में प्रस्तुत किया गया है जिससे सम्पादक के कथनानुसार, वह अधिक तर्कसंगत व्यवस्थित रूप में सामने आ सके ऐडम स्मिथ ने इस बात को "अत्यधिक अनावश्यक व्यवधान (अटैंशन)" कहा होता। फि भी अपनी इस पुस्तक में हमने इसी संस्करण का जहाँ-तहाँ उल्लेख किया है, क्योंकि य सबसे अधिक सुप्राप्य है।

२. सोशियोलोजिकल थ्योरी आफ केपिटल; पृष्ठ १५७।

३. वही; पृष्ठ १५२-१५३।

लम्बा है कि उसको उद्धृत कर पाना कठिन है, उसने यह युक्ति प्रस्तुत की है कि साधारणतया व्यक्ति अपनी पूंजी को सांझे कोष में से एक बड़ा भाग लेकर बढ़ाते जाते हैं। एक व्यक्ति धनी बनता है, जबकि दूसरा व्यक्ति गरीब बनता जाता है। परन्तु जहाँ एक व्यक्ति अपनी सम्पत्ति में मकान के बाद मकान और खेत के बाद खेत बढ़ाता जा रहा हो, वहाँ यह बहुत सम्भव है कि राष्ट्रीय सम्पत्ति में कोई परिवर्तन न हुआ हो। इसके विपरीत पड़ोसी राष्ट्रों की सम्पत्ति की वृद्धि और ह्रास साथ-साथ होता है। इस प्रकार उसका मुख्य सारांश यह है :

"जबकि व्यक्ति सामान्यतया उस सम्पत्ति के अधिक और अधिक भाग पर कब्जा करके धनी बनते प्रतीत होते हैं, जिसका अस्तित्व पहले से ही विद्यमान है, वहाँ राष्ट्र उस सम्पत्ति के उत्पादन द्वारा धनी बनते हैं, जिसका अस्तित्व पहले नहीं था। इन दोनों प्रक्रियाओं में अन्तर यह है कि इनमें से एक प्रक्रिया तो अधिकार करने की है और दूसरी सृजन करने की।"[1]

इसी दृष्टिकोण का यह परिणाम है कि रे अपनी वस्तुओं की योजना में आविष्कार को बहुत प्रमुख स्थान देता है। वस्तुतः उसकी पुस्तक मुख्य रूप से समाज के विकास में आविष्कार के स्थान का अध्ययन है। आविष्कार ही एक ऐसी वस्तु है, जिसे कहा जा सकता है कि वह सम्पत्ति का सृजन करता है; और इसी रूप में यह राष्ट्रीय सम्पत्ति की वृद्धि की प्रक्रिया में एक आवश्यक तत्त्व है। परन्तु राष्ट्रीय और निजी सम्पत्ति के मध्य किये गये अन्तर को ध्यान में रखते हुए व्यक्तिगत सम्पत्ति की वृद्धि के लिए इसका स्थान वैसा महत्त्वपूर्ण नहीं समझा जा सकता।[2] इससे मिला-जुला ही उसका ऐडम स्मिथ के श्रम के विभाजन के प्रश्न पर मतभेद है। स्मिथ ने आविष्कार के प्रोत्साहन को श्रम के विभाजन का ही एक परिणाम बताया है। परन्तु रे का कथन है कि—और यह कथन काफी कुछ जानदार भी है—यह तो घटनाओं के वास्तविक क्रम को उलटकर प्रस्तुत करना है। ज्ञान और खोजों का अर्थ है उपकरणों की वृद्धि, और औजारों की विविधता का अर्थ है पेशों की विविधता। यह बिलकुल फिजूलखर्ची होगी कि सब लोग अपने पास सब औजार रखें;

---

१. वही; पृष्ठ ३८३।

२. वही; पृष्ठ ३८१।

क्योंकि उस दशा में उन औजारों का एक बड़ा भाग निकम्मा पड़ा रहा करेगा।[1] इस प्रकार श्रम का विभाजन होने वाली आविष्कार की प्रगति से पहले उत्पन्न होता है और उसी पर निर्भर भी रहता है। वस्तुतः एक समरस, और इसीलिए नीरस पेशा, जो श्रम के विभाजन का ही अंशतः पर्याय है, मनुष्य की शक्ति और प्रतिभा को क्षीण और कुण्ठित करने लगेगा और इस प्रकार एक समरस और नीरस व्यवस्था के शिकार हुए लोगों को और आगे आविष्कार करने से निरुत्साहित करेगा। यहाँ वह निस्सन्देह इस दृष्टि से ठीक है कि हमें इस विषय में फिर विचार करना चाहिए कि हमें किस वस्तु पर बल देना है; और साथ ही उसने स्मिथ के श्रम के विभाजन के सिद्धान्त में दक्षता (डेक्स्टैरिटी) को न्यूनतम महत्त्व देकर भी शायद ठीक ही किया है। क्योंकि दक्षता का महत्त्व केवल कला के प्रारम्भिक काल में ही रहता है; और ज्यों-ज्यों उन्नति होती जाती है, त्यों-त्यों "हाथ कम काम करता है और औजार अधिक काम करते हैं।"[2] संक्षेप में रे की दृष्टि में श्रम का विभाजन उन्नति का कारण नहीं, अपितु परिणाम है। यह उस आविष्कार की प्रतिभा का एक प्रत्यक्ष परिणाम मात्र है, जो समाज को एक उन्नततर स्तर तक उठाती है।

इस तथ्य में, कि रे की दृष्टि में निजी सम्पत्ति का संचय मुख्य रूप से सामग्रियों पर कब्जा करने पर ही आधारित है, यह बात भी निहित है कि राष्ट्रीय हितों और व्यक्ति के हितों में कोई स्वाभाविक एकरूपता (आइडेन्टिटी) नहीं है। "क्या एक शान्तचित्त और सोच-सोच कर काम करने वाले जुआरी का श्रम या ठग का श्रम सार्वजनिक सम्पत्ति में वृद्धि करता है?" क्या बहुत अधिक सौदेबाजी करने की प्रवृत्ति सार्वजनिक सम्पत्ति में वृद्धि करती है? इन मामलों में, और इसी प्रकार के अन्य अनगिनत मामलों में यह सम्भव है कि आत्म-हित का पथ-प्रदर्शन अदृश्य हाथ के द्वारा महान् उद्देश्यों की पूर्ति के लिये न हो सके।[3] इस प्रकार रे बहुत युक्तियुक्त ढंग से यथेच्छाचारिता के सिद्धान्त का खंडन करता है और सरकार द्वारा विवेकपूर्वक हस्तक्षेप करने का समर्थन करता है। जब मनुष्य बड़े-बड़े समाजों में संगठित हो जाते हैं, तब यह असम्भव है कि उनमें से प्रत्येक सार्वजनिक हित के कार्यों में सक्रिय भाग ले सके। यह

१. वही; पृष्ठ १०२-१०१। २. वही; पृष्ठ २३७—२४२।
३. वही; पृष्ठ ३४५।

काम कानून बनाने वाले का हो जाता है। यथेच्छाचारिता के सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति अपना हित करने के प्रयत्न में, बिना किसी इरादे के, और परोक्ष रूप से राष्ट्रीय सम्पत्ति में वृद्धि कर रहा होता है। तब यह स्वीकार करना होगा कि केवल विधान-निर्माता ही राष्ट्रीय समृद्धि को बढ़ाने के लिये जान-बूझकर और योजनापूर्वक कार्य कर सकता है। परन्तु क्योंकि उसका यह हस्तक्षेप घटनाओं के उस क्रम को अस्त-व्यस्त कर सकता है, जो कि इस हस्तक्षेप के अभाव में होता, इसलिये यह हस्तक्षेप प्रकृति के क्रम के विपरीत होने के कारण यथेच्छाचारिता के सिद्धान्त के अनुसार हानिकारक माना जाता है।[1]

रे का कथन है कि ऐसा मानना बिलकुल निराधार है। किसी भी प्रकार यह बात स्पष्टतया दिखाई नहीं जा सकती कि विधान-निर्माता की कला राष्ट्रों की समृद्धि को बढ़ाने में अक्षम है, और वस्तुतः तो यह कल्पना इससे ठीक उल्टी की जानी चाहिये।[2] उसके मस्तिष्क में जो उदाहरण सब से अधिक स्थान घेरे हुए है, वह है उपयोगी कलाओं का एक देश से दूसरे देश में जाना। पहले-पहल ये स्थानान्तरण उग्र कारणों के फलस्वरूप हुए थे। वे युद्धों, क्रान्तियों और निर्वासनों के परिणाम थे। परन्तु यदि इस प्रकार के अशुभ प्रभाव आजकल क्रियाशील नहीं है, तो क्या हमें परोक्ष रूप में प्राप्त होने वाले उन लाभों से हाथ धो बैठना चाहिये, जो इस प्रकार के कारणों से उत्पन्न हो सकते थे? या क्या यह हमारे "स्वभाव के बौद्धिक भाग" का कर्तव्य नहीं है कि वह अच्छाई को प्राप्त करने और बुराई की रोक-थाम करने का यत्न करे।[3] इसलिये कलाओं के ज्ञान के प्रसार की प्रारम्भिक प्रचंड पद्धतियों के स्थान पर अब विधान-निर्माताओं को अपने प्रत्यक्ष प्रयत्नों द्वारा कलाओं को अपने यहाँ

---

१. वही; पृष्ठ २५७-२६२।

२. रे की यह उपमा रूपक बहुत मनोरंजक है, भले ही यह पूर्णतया प्रस्तुत विषय से सम्बद्ध नहीं है। "यदि कुछ लोगों को किन्हीं दो स्थानों के बीच में बार-बार आने-जाने का अवसर पड़े, तो वे बिना किसी योजना के एक स्वाभाविक पगडंडी बना लेंगे। क्या वह पगडंडी, जो उनके इरादे का कोई अंश न थी, उस पगडंडी से अच्छी होगी, जिसे उस स्थान के लोगों ने एक सुसंगठित इकाई के रूप में कार्य करते हुए कृत्रिम रूप से और जान-बूझकर इरादे के अनुसार बनाया हो?" पृष्ठ ३१२; पैरिस कौन्सिल के अस्तित्व को बनाये रखने के लिये प्रस्तुत किया गया तर्क।

३. वही; पृष्ठ २६५।

आकृष्ट करना चाहिये। इस प्रकार विधान-निर्माताओं को कार्यवाही करने का आदेश दिया गया है; परन्तु यह कार्यवाही सावधानी के साथ की जानी चाहिये। रे ने विधान-निर्माता के हाथ में इस प्रयोजन के लिये जो शस्त्र दिये हैं, वे प्रीमियम, सहायता राशि (बाउन्टी) और शुल्क (ड्यूटी) हैं।[1] इस युक्ति को सहारा देने के लिये रे एक और मन्तव्य प्रस्तुत करता है कि वे मामले, जिनमें निजी प्रयत्न के फलस्वरूप किसी नये देश में कोई उद्योग सफलतापूर्वक स्थानान्तरित हो सका हो, बहुत विरल है, और इस बात की सम्भावना नहीं के बराबर है कि इस प्रकार के प्रयत्न से कोई मुनाफा हो सके। उसका कथन है कि "यह अधिक उचित और न्याय्य होगा कि इस प्रकार की योजनाओं का आवश्यक प्राथमिक व्यय सारे समाज द्वारा उठाया जाय।" हमें इस बात की प्रतीक्षा करने की जरूरत नहीं है कि "कब किसी अभागे योजना-निर्माता की गणना की भूलों के फलस्वरूप हमें सार्वजनिक लाभ प्राप्त हो सकेगा।"[2] इस प्रकार शिशु-उद्योग की युक्ति अपनी शैय्या से धीरे-धीरे उठती दिखाई पड़ती है।

रे के केन्द्रीय सिद्धान्त की भी ऐसी काफी आलोचना की जा सकती है, जो प्रायः उन लोगों की की जानी चाहिये, जो दूसरों की आलोचना के लिये सदा कमर कसे रहते हैं। यह ठीक है कि उसने कुछ उपयोगी सुधार के उपाय सुझाये हैं, परन्तु उसकी मुख्य मान्यताएँ, यदि उनका सामान्यीकरण कर दिया जाय तो, उतनी ही कच्ची सिद्ध होती हैं, जितनी कि वे, जिनका उसने खंडन किया है। यह बात ध्यान देने पर मनोरंजक जान पड़ती है कि वह उस सिद्धान्त को, जो राष्ट्रीय सम्पत्ति की वृद्धि को निजी पूंजी के संचय के साथ एकरूप मानता है, केवल इसलिये आत्मविरोधी समझता है, क्योंकि ऐडम स्मिथ ने नये धन्धों (आर्ट्स) प्रारम्भ करने के महत्त्व को स्वीकार किया है।[3] परन्तु रे की निम्नलिखित स्वीकारोक्ति के आधार पर रे के सिद्धान्त को भी खंडित समझना इतना ही युक्तिसंगत होगा :

"व्यक्ति और राष्ट्र दोनों ही अपनी आय में से बचत करने के अतिरिक्त अन्य स्रोतों से भी सम्पत्ति प्राप्त करते हैं। कुशलता भी उतनी ही आवश्यक, और परिणामतः उतनी ही मूल्यवान, तथा दोनों का उद्योग से सहयोग कराने

१. वही; पृष्ठ ३६६-३७०। २. वही; पृष्ठ ४२६।
३. वही; पृष्ठ ४०७।

वाली है, जितनी पूंजी या मितव्ययिता; और इसलिये व्यक्ति या राष्ट्र किसी अभीष्ट कुशलता को प्राप्त करने के लिये जो कुछ व्यय करता है, उसे उचित व्यय ही कहा जायगा।"[1] यह एक ऐसा निर्दोष वक्तव्य है, जिसे किन्हीं असावधान क्षणों में ऐडम स्मिथ भी स्वीकार कर सकता था। परन्तु यह वक्तव्य किसी न किसी रूप में राष्ट्रीय सम्पत्ति और निजी सम्पत्ति के उस करारे अन्तर की तली को ही फोड़ देता है, जिसे अन्य स्थानों पर रे ने प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है।

रे उन लोगों के लिये मनोरंजक अध्ययन की वस्तु है, जो एक मस्तिष्क के ऊपर होने वाली दूसरे मस्तिष्क की प्रतिक्रिया को देखना पसन्द करते हैं। सम्भवतः अंशतः एक जैसी अमेरिकन परिस्थितियों में रहने के कारण उसमें काफी कुछ सामग्री ऐसी है, जो केरी का पहले से ही पूर्वाभास-सा देती प्रतीत होती है; विशेष रूप से इस दृष्टि से कि उसने भूमि को एक उपकरण (इंस्ट्रूमेन्ट) माना है, जिसे अन्य उपकरणों से किसी प्रकार पृथक् नहीं समझा जा सकता; और एक उस सिद्धान्त की दृष्टि से भी, जो केरी के मूल्य-सिद्धान्त के निकट तक पहुँच जाता है, जिसमें मूल्य पुनरुत्पादन की लागत द्वारा निर्धारित होता है।[2]

इसी प्रकार रे में हमें जहाँ-तहाँ लिस्ट के भी संकेत मिलते हैं, जिसके विचार भी उसके अमेरिका में प्राप्त अनुभवों और अध्ययन के आधार पर परिपक्व हुए थे। जब रे देश में किसी नये उद्योग को प्रारम्भ करने के महत्त्व पर

---

१. वही; पृष्ठ ४२८।

२. इस प्रकार उपकरणों का विवेचन करते हुए वह इस बात को स्पष्ट करता है कि "वह खेत, जिसे उपयोग के योग्य बना लिया गया हो, एक उपकरण है...वह शक्ति, जिसने इस उपकरण को तैयार किया है, किसान का श्रम है।" (पृष्ठ १६) और फिर "सुसंस्कृत भूमि का एक भाग, जिसे किसान का वैसा ही उपकरण माना गया है, जिनसे वह काम लेता है, उसके अन्य किसी भी उपकरण से भिन्न नहीं है।" (पृष्ठ ४०) मूल्य के प्रश्न के सम्बन्ध में उसने कहा है कि जहाँ वस्तुएँ पहले की अपेक्षा कम परिश्रम द्वारा उत्पन्न की जाने लगती हैं, वहाँ वे अपने स्वामियों के लिये अपने विनिमय में, पहले की अपेक्षा कम वस्तुएँ प्राप्त करा पाती हैं। उनका विनिमय इस आधार पर नहीं होता कि वस्तुतः उनके ऊपर कितना श्रम किया गया है, अपितु इस आधार पर होता है कि श्रम उनसे मिलती-जुलती दूसरी वस्तुओं को बनाने पर कितना श्रम होता है। (पृष्ठ १०७)

बल देता है, जिससे कि बाद में वह उद्योग सम्पत्ति का एक स्रोत बन सके, और इस बात का संकेत करता है कि विधान-निर्माता "थोड़े व्यय द्वारा ही समाज की उत्पादन-शक्ति में वृद्धि कर सकता है," तो वह न केवल जर्मन अर्थशास्त्री के विचारों का ही पूर्वाभास दे रहा होता है, अपितु उसके शब्द भी बहुत कुछ वही होते हैं। अन्तिम बात यह, कि यदि यह बात बहुत ही काल्पनिक न जान पड़े, तो विलास और प्रदर्शन के सम्बन्ध में उसकी टिप्पणियाँ और उसका 'कौन्स्पिकुअस' (सुस्पष्ट) और 'कंजम्पशन' (उपभोग) शब्दों का संयोग थोर्स्टीन वैबलेन की एक अद्भुत पूर्वकालिक प्रतिध्वनि-सा प्रतीत होता है।[1]

सिसमोन्दी

सिसमोन्दी[2] (१७७३-१८४२) का अर्थशास्त्रीय लेखक के रूप में स्थान निश्चित कर पाना बहुत कठिन है। इसका कारण यह है कि उसका मस्तिष्क संक्रामक की दशा में था। यद्यपि वह कभी भी भटककर अपने प्रारम्भिक बिन्दु से अलग नहीं हुआ, फिर भी वह कभी अपने स्वाभाविक लक्ष्य पर नहीं पहुँच सका। यद्यपि उसकी अनेक विचारधाराओं से अनेक समानताएँ हैं, परन्तु इसी के परिणामस्वरूप उसे किसी भी एक विचारक वर्ग में सम्मिलित नहीं किया जा सकता। अपनी पहली महत्त्वपूर्ण रचना "इलारिशैस कामर्सियेल"[3] (१८०३) में उसकी स्थिति बहुत सीधी-सादी है। वह, जैसा कि एक युवक को उचित है, ऐडम स्मिथ का बहुत कम आलोचना करने वाला अनुयायी बनकर ही सन्तुष्ट है। इसके अतिरिक्त उसके शिष्यत्व में एक उल्लासप्रद ईमानदारी भी है।

१. वही; पृष्ठ २४५।

२. जन्म १७७३ में जेनेवा में हुआ और मृत्यु भी वहीं हुई। उसने अपना काफी समय इटली में बिताया, जहाँ वह खेती के काम में लगा रहा, और वहाँ उसने अपनी मध्यकालीन इटेलियन गणतन्त्रों के इतिहास पर विशाल पुस्तक सोलह भागों में लिखी। बाद में उसने फ्रांसीसियों का इतिहास लिखना प्रारम्भ किया, जिसके उनतीस भाग उसने लिखे। उसने और भी अनेक रचनाएँ लिखीं, जो इनकी तुलना में बहुत छोटे आकार की हैं। वह अपनी जवानी के दिनों में इंग्लैंड गया और उसके बाद भी।

३. इस पुस्तक का पूरा शीर्षक महत्त्वपूर्ण है : De la Richesse Commerciale ou Principes d'Economie Politique appliques a la Legislation du Commerce. अर्थात् "वाणिज्य सम्पत्ति अथवा व्यापारिक विधान पर लागू किये राजनीतिक अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों के विषय में।"

अपने कुछ अध्यायों के सम्बन्ध में वह कहता है कि जिन लोगों ने ऐडम स्मिथ[1] का अध्ययन किया है, उनके लिये उन अध्यायों में वस्तुतः कुछ भी नया नहीं है; और यह भी कि उसका लक्ष्य उन सलाहों को फ्रांस के लिये प्रस्तुत करना है, जिन्हें पहले ऐडम स्मिथ ने इंग्लैण्ड के लिये लिखा था।[2] उसकी इस स्वीकारोक्ति में, कि यदि उसने अपनी इस पुस्तक में कोई नई खोज नहीं भी की है, कम से कम उसे इस तथ्य का भी ज्ञान अवश्य है,[3] एक आकर्षक निश्छलता झलकती है।

मुख्यतया सिसमोन्दी की इस पहली रचना का केन्द्र-बिन्दु हितों की लय-बद्धता, यथेच्छाचारिता की नीति की आवश्यकता और सरकारी हस्तक्षेप की मूर्खता के पुनः प्रतिपादन में ही दिखाई पड़ती है। जब एक स्थान पर वह स्पष्टीकरण करते हुए कहता है कि जब वाणिज्य को स्वतन्त्र छोड़ दिया जाता है,तो पूँजी स्वभावतः उस दिशा में चल पड़ती है, जो राष्ट्र के लिये सबसे अधिक लाभदायक दिशा होती है। जिस राष्ट्र की वह पूँजी है,[4] तब, और उसके इस वक्तव्य में कि "सब मनुष्य अपने-अपने हित को पूर्ण करने का प्रयत्न करते हुए अविराम राष्ट्रीय हित को पूर्ण करने में प्रवृत्त रहते हैं"[5] अदृश्य हाथ की प्रतिध्वनि की अपेक्षा भी ऐडम स्मिथ की अधिक नकल दिखाई पड़ती है। इस प्रकार हम इस उज्ज्वल आशावादी निष्कर्ष पर आ पहुँचते हैं कि "वह पूँजीपति, जो अपने लाभ के लिये प्रयत्नशील रहता है, साथ ही राष्ट्रीय हित के लिये भी सदा यत्न कर रहा होता है"[6] और उसके शब्द "सां सैस" (अविराम) और "तूजोर" (सदैव) बिना किसी संशोधन के ज्यों के त्यों कठोर रूप में विद्यमान हैं। इस प्रकार वह एक जगह एक शानदार उत्तर (नोबल रिपोंस) उद्धृत करता है, जो ब्रिटिश व्यापार जगत् ने उनकी सहायता के लिये अधीर सरकार को दिया था कि वे केवल यह अनुग्रह चाहते हैं कि "la grace de nous oublier" (हमें भूल जाने की कृपा कीजिये)।[7] यह सब यथेच्छाचारिता की नीति की ही गुरवन मालूम पड़ती है। परन्तु यहाँ पर भी बाद में आने वाले सिसमोन्दी की विचार-

१. द ला रिस कोमर्शियल; भाग १ पृष्ठ १०।

२. वही; भाग १, पृष्ठ १२। ३. नोवो प्रिंसीप; पृष्ठ ७।

४. द ला रिशैस कोमर्शियेल;भाग १, पृष्ठ २५७। ५. वही; भाग १, पृष्ठ १२६।

६. वही; भाग, १ पृष्ठ १४९। ७. वही; भाग २, पृष्ठ १४३।

धारा के कुछ संकेत मिल जाते हैं। उदाहरण के लिये जब वह कहता है कि "कोई भी विचारशील व्यक्ति यह देखकर दुखी हुए बिना नहीं रह सकता कि राष्ट्र में एक ऐसा सबसे अधिक रोचक वर्ग है, जो अपने परिश्रम से सारे राष्ट्र का पालन-पोषण करता है, और वह स्वयं उस परिश्रम के आनन्दोपभोग से इसलिये वंचित कर दिया जाता है कि जिससे वह उस परिश्रम के फल का एक बड़ा भाग उन लोगों को दे दे, जो राष्ट्र के ऊपर भारस्वरूप हैं।"[1]

जब सिसमोन्दी ऐतिहासिक अनुसंधान में १६ वर्ष व्यतीत कर चुकने के बाद फिर अर्थशास्त्रीय क्षेत्र में अपनी पुस्तक "नोवो प्रिंसीप दैकोनोमी पोलीतीक"[2] (राजनीतिक अर्थशास्त्र के नये सिद्धान्त) (१८१९) के द्वारा फिर प्रविष्ट हुआ, सम्भव है कि वह तब भी ऐडम स्मिथ का आदर करने वाला प्रशंसक रहा हो, किन्तु अवश्य ही अब वह अति विनम्र शिष्य नहीं रहा था। इस बीच के समय में उसने संसार को एक सवेग संक्रमण और औद्योगीकरण के युग में से गुजरते हुए देखा था। उस समय संसार के हर कोने में अधिक उत्पादन करने और अधिक से अधिक सस्ते ढंग से उत्पादन करने की 'हाय हाय' मची हुई थी। उसने संसार को देखा था और इसमें प्रशंसा योग्य बात उसे कोई दिखाई न पड़ी। इस सारे जोर-शोर से किये जाने वाले संचय के पीछे पुराणपन्थी राजनीतिक अर्थशास्त्र की शिक्षाएं विद्यमान थीं। परन्तु परिपक्व होते हुए सिसमोन्दी की दृष्टि में राजनीतिक अर्थशास्त्र को कुछ और ही वस्तु होना चाहिये था। यह (la theorie de la bienfaisance) "कल्याण का सिद्धान्त"[3] था और इसका उद्देश्य मनुष्यों के भौतिक कल्याण की वृद्धि करना था। परन्तु १८१९ के यूरोप में, और सबसे बढ़कर उस काल के इंग्लैण्ड में जीवन में आनन्दोपभोग की क्या स्थिति थी? बड़ी विषादपूर्ण शब्दावली में, जिसकी तुलना में माल्थस बड़ा उत्साही आशावादी प्रतीत होने लगता है, सिसमोन्दी एक क्षुधित, पीड़ित और पतित संसार का वर्णन करता है; और उसका मन

---

१. वही; भाग १, पृष्ठ १०६।

२. इस पुस्तक का शीर्षक भी रोचक है : "Nouveaux Principes d'Economie politique, ou de la Richesse dans ses Rapports avec la Population."

३. "नोवो प्रिंसीप"; भाग २, पृष्ठ २४८; भाग १, पृष्ठ ८ और।

होता है कि वह श्रम के विभाजन और निर्माण-पद्धतियों के आविष्कार को शाप दे, क्योंकि यही वह चट्टान है, जिससे टकराकर मानव-जाति का जहाज टूट-फूट गया है।[1] सिसमोन्दी को यह बेचैनी भरा प्रश्न पूछना बिलकुल उचित जान पड़ता है : "हम कहाँ जा रहे हैं ?" इस संसार में, जिसमें कि हमें वस्तुओं की उन्नति सब ओर दिखायी पड़ रही है परन्तु सब ओर मनुष्यों का दुख ही दुख दिखाई पड़ता है, सुखी लोग कहाँ हैं ?[2]

सिसमोन्दी की केन्द्रीय विचारधारा बिलकुल सीधी-सादी है; और यह ऐसी सर्व व्यापक-सी है कि वह केवल एक ही विचार वाला व्यक्ति प्रतीत होने लगता है; और उसका वह विचार यह है कि उसने उन बुराइयों पर बहुत जोर दिया है, जो प्रतिबन्धहीन प्रतियोगिता के फलस्वरूप उत्पन्न होती हैं, और जो, सबसे बढ़कर, वस्तुओं के अत्यधिक उत्पादन के रूप में दिखाई पड़ती है—उन वस्तुओं का उत्पादन, जिनकी न कोई माँग है और न हो सकती है। वस्तुओं का यह आवश्यकता से अधिक उत्पादन, जिससे सिसमोन्दी इतना परेशान है, यह ध्यान देने योग्य है कि सब पदार्थों का एक सामान्य अति-उत्पादन (ओवर-प्रोडक्सन) है; और यह केवल थोड़े से पदार्थों का अन्य पदार्थों की तुलना में अति-उत्पादन नहीं है। उसके विचार में यह श्रम के विभाजन और बड़े पैमाने पर होने वाले उत्पादन का सीधा परिणाम है। अलग-अलग रहने की दशा में मनुष्य केवल अपने लिये माल तैयार करता है, और वह जानता है कि उसे माल का उत्पादन कब बन्द कर देना है और कब विश्राम करना है। परन्तु समाज में रहते हुए वह दूसरों के लिये उत्पादन कर रहा होता है, और उसे यह पता नहीं चल सकता कि सामग्री की पर्याप्त मात्रा का उत्पादन किस समय तक हो चुका है।[3] इसलिये जो व्यक्ति समाज से अलग अकेला रहता है, उसके सामने एक बड़ी स्पष्ट सीमा रहती है कि उसे कितनी मात्रा तक वस्तुओं का संचय करना चाहिये। संचय का उद्देश्य उसके बाद "आनन्दोपभोग करना और विश्राम करना है; और व्यक्ति में जितना उपभोग कर पाने की क्षमता है, उससे अधिक मात्रा में संचय करना मूर्खता है। परन्तु पेचीदा समाज में मनुष्य के प्रयत्न उसके स्वाभाविक प्रतिफल से पृथक् रहते हैं, जिसका फल यह होता है कि एक मनुष्य

१. वही; भाग २, पृष्ठ ११३। २. वही; भाग १, पृष्ठ ३१६।
३. वही; भाग १, पृष्ठ ६८।

तो श्रम करता है और दूसरा मनुष्य आराम करता है। फिर भी, यह बात बहुत कुछ अस्पष्ट-सी है, परन्तु व्यक्ति की भाँति यह समाज के बारे में भी सत्य है कि उपभोग की क्षमता की एक सीमा है। परन्तु क्योंकि अब यह सीमा स्पष्ट दिखाई नहीं पड़ती, इसलिये लोग "अधिक उत्पादन के उत्साह से प्रेरित हुए रहते हैं और इस उत्साह को प्रत्येक लेखक उत्तेजित करता है और प्रत्येक सरकार प्रोत्साहन देती है।[1] माँग उत्पादन से पहले होनी चाहिये; परन्तु तथ्य यह है कि उत्पादक केवल इस बात पर विचार करता है कि वह अधिक और अधिक उत्पादन कर पाने में समर्थ है या नहीं ? वह इस बात पर विचार नहीं करता कि जब वह उस पदार्थ को उत्पन्न कर चुकेगा, उस समय बाजार में उस पदार्थ की माँग होगी भी या नहीं।[2] इसका अर्थ यह है कि उत्पादन पूँजी की उस मात्रा पर निर्भर रहता है, जो उत्पादक के पास होती है। ये सब दुष्परिणाम इस तथ्य के कारण और भी अधिक विकट हो उठते हैं कि (जो बहुत बाद होने वाले औद्योगिक संयोजनों की प्रवृत्ति को बढ़ाने में कम महत्त्वपूर्ण नहीं रहा) उद्योगों का विस्तार करना उन्हें संकुचित करने की अपेक्षा कहीं अधिक आसान होता है और यह कि विभिन्न कारणों के फलस्वरूप किसी भी व्यवसाय-संस्था के आकार पर प्रतिबन्ध लगाना या उसे बन्द कर देना वस्तुतः लगभग असम्भव ही होता है।[3] सिसमोन्दी को, जब वह अपने चारों ओर देखता था, सारी दुनिया एक पैसे के रूप में दीखती थी, जिसमें बाजारों में जरूरत से ज्यादा माल भरा पड़ा है, और सब ओर ऐसा उत्पादन हो रहा है, जिसके लिये उपभोक्ता हैं ही नहीं। इस बात का परिणाम कि उत्पादन माँग पर आधारित नहीं, अपितु प्राप्त हो सकने वाली पूँजी पर आधारित था।[4]

सिसमोन्दी का वितरण का सिद्धान्त, जिसके ऊपर उसका अति-उत्पादन

---

१. वही; भाग १, पृष्ठ ७७ से ८०। २. वही; भाग १, पृष्ठ ३१७।

३. "Les producteurs ne se retireront point du travail, et leu nombre ne diminuera que lorsqu'une partie des chefs d'atelie aura fait faillite, et qu'une partie des ouvriers sera morte d misere." (वही; खंड २, पृष्ठ ३१०) अर्थात् "उत्पादक लोग अपने काम से कभी विरत न होंगे, और उन की संख्या केवल तभी कम होगी जब या तो उनके बड़े-बड़े कारखानों में से क फेल हो जायेंगे या उनके श्रमिकों का एक भाग दरिद्रता और कष्ट के कारण मर जायगा।"

४. वही; भाग १, पृष्ठ ३३८।

का सिद्धान्त आधारित है, उन वस्तुओं में से एक है, जिन्हें उनकी प्राकृतिक अस्पष्टता में ही पड़े रहने देना ही उचित होता है। सिसमोन्दी द्वारा किया गया वार्षिक उत्पादन और वार्षिक आगम का अन्तर तथा उसका यह दृष्टि-कोण, कि किसी भी वर्ष का वार्षिक उत्पादन उससे पहले वर्ष के आगम द्वारा खरीदा जाता है, एक ऐसे मस्तिष्क को हमारे सामने प्रकट करते हैं, जो युक्तियुक्त तर्क से अपरिचित था। इस दिशा में सिसमोन्दी के सिद्धान्तों का मूल्य केवल पुरातत्व की विचित्र वस्तु के रूप में ही है और इस कारण उसे केवल-जाँच पड़ताल के लिए ही अद्भुतालय से बाहर लाना उचित नहीं है।[1] उसकी शक्ति उसके सामान्य मन्तव्यों की तीव्रता में है; उस अमूर्त्त तर्क में नहीं, जिसके ऊपर वे मन्तव्य आधारित हैं। दुर्बोध तर्क में से सिसमोन्दी के लिए एक ऐसा सुनिश्चित विश्वास निकल आता है, जो कम से कम समझ में आने वाला तो है; और वह यह है कि उत्पादन और उपभोग में संतुलन रहना चाहिए; और यह कि राष्ट्र या तो अत्यधिक व्यय करने से अथवा अत्यल्प व्यय करने से नष्ट हो जा सकते हैं।[2] वस्तुतः उसका सिद्धान्त न्यून-उपभोग का सिद्धान्त है।

सम्भवतः सिसमोन्दी में व्यापारिक आधार-शिला इतनी उलझी हुई और अनिश्चित इसलिए है, क्योंकि हो सकता है कि मुख्य प्रेरणा किसी अन्य स्थान से मिली हो। उसका मनुष्य के प्रति दृष्टिकोण एक नीतिशास्त्री का-सा है। जहाँ वह त्याग की बातें करता है, वहाँ उनमें बहुत कुछ धार्मिक-सा उत्साह दिखाई पड़ता है। सिसमोन्दी की दृष्टि में मनुष्य एक ऐसा प्राणी है, जिसके लिए विश्राम (ल रिपोस) एक स्वाभाविक रुचि की वस्तु है। इसलिए वस्तुओं की योजना इस प्रकार की होनी चाहिए, जिसमें इस स्वाभाविक रुचि की भी तृप्ति हो सके।[3] एक परोपकार की-सी भावना के साथ वह कहता है

१. जो पाठक इस बात के अभिलाषी हैं कि वे सिसमोन्दी को समझ पाने में असफल रहें, उनको 'नोवो प्रिंसीप' पुस्तक के खंड २, अध्याय ५ और ६ पढ़ने चाहियें, जो "राष्ट्रीय आगम का नागरिकों के विभिन्न वर्गों में विभाजन" और "उत्पादन का उपभोग और आगम से होने वाले व्यय द्वारा पारस्परिक निर्धारण" के सम्बन्ध में हैं।

२. वही; भाग १, पृष्ठ १२०-१२२।

३. वही; भाग १, पृष्ठ ७८।

"L'homme travaille pour que l'homme se repose" (आदमी इसीलिए काम करता है, जिससे वह आराम कर सके)। परन्तु उत्पादन की धुन में हम सारे परिश्रम के उद्देश्य और जीवन के लक्ष्य को भूल जाते हैं।

सब क्योंकि महत्त्वपूर्ण वस्तु केवल सम्पत्ति का संचय नहीं है, अपितु अधिकाधिक आनन्द प्राप्त करने के लिए सम्पत्ति का नियन्त्रण और उसका उचित दशाओं में संचालन महत्त्वपूर्ण वस्तु है। अत: असीमित प्रतियोगिता की पवित्रता समाप्त हो जाती है। यथेच्छाचारिता की नीति अकथनीय कष्ट को जन्म देती है और इसलिए यह आवश्यक है कि सरकार की ओर से बहुत बड़े पैमाने पर हस्तक्षेप किया जाय;[1] क्योंकि राज्य का कार्य यह है कि वह बलवानों से दुर्बल की रक्षा करे; और जो अपना बचाव न कर सकते हों, उनका बचाव करे; और प्रत्येक व्यक्ति के अलग अलग अस्थायी हितों की अपेक्षा सबके स्थायी हितों की ओर अधिक ध्यान दे। और पिछले अनुभवों को देखते हुए (जैसा कि वह संकेत करता है, ऐडम स्मिथ के समय से लेकर सिसमोन्दी के समय तक) यह चीज बहुत अधिक स्पष्ट हो चुकी है कि इस प्रकार की एक सत्ता की आवश्यकता है, जिससे "मनुष्यों को उस सम्पत्ति की वृद्धि के लिये बलिदान होने से रोका जा सके, जिससे उन्हें कोई फायदा मिलने वाला नहीं है।"[2]

हितों की लयबद्धता (हारमोनी) के सिद्धान्त और अदृश्य हाथ की सर्वशक्ति-सत्ता के सिद्धान्त को भी इसी के अनुरूप परवर्ती सिसमोन्दी ने बहुत कुछ बदल दिया है; और, यद्यपि उसने ठीक इन्हीं शब्दों का प्रयोग नहीं किया, परन्तु वह इस बात को अनुभव करता है कि यथेच्छाचारिता की नीति सोदेबाजी की शक्ति की असमानता के कारण किस प्रकार असफल हो जा सकती है। यह भी सम्भव है कि दिन-दहाड़े डकैती में आत्म-हित प्रकट होता हो, और उसी प्रकार यह भी सम्भव है कि डकैती के शिकार बने व्यक्ति को आत्म-हित

१. "Nous invoquons presque constamment, pour surveiller le progres de la richesse, cett intervention qu' Adam Smith repoussait." "सम्पत्ति की प्रगति को रोकने के लिए हम लगभग सदा ही इस हस्तक्षेप की दुहाई देते हैं, जिसे ऐडम स्मिथ ने अस्वीकृत कर दिया था।" (वही; भाग १, पृष्ठ ५४)

२. वही; भाग १, पृष्ठ ५५।

इसी बात में दिखाई पड़े कि वह किसी प्रकार का प्रतिरोध न करे बशर्ते कि इस प्रकार आत्म-समर्पण कर देने से उसके मारे जाने से बचने की सम्भावना कुछ अधिक बढ़ जाती हो।[1] सिसमोन्दी का कथन है कि समाज की संस्थाओं ने इसी प्रकार के प्रतिबन्धों को जन्म दिया है, भले ही वे इस प्रकार की स्पष्ट दीख पड़ने वाली हिंसा से युक्त न हों। "समाज ने गरीब मनुष्य को प्रायः अपने आपको अधिकाधिक कष्टदायक परिस्थितियों के सम्मुख आत्मसमर्पण कर देने के लिए विवश किया है, क्योंकि यदि वह इन दशाओं के सम्मुख न झुके, तो उसे भूखों मरना होगा। क्योंकि समाज ने उसे संकटजनक दशा में डाला है, इसलिए यह दायित्व भी समाज का ही हो जाता है कि वह उसका बचाव करे।"[2] यदि हितों के इस संघर्ष को अपनी स्वाभाविक चाल से चलने दिया जाय, तो इससे अन्याय की विजय[3] होने की सम्भावना है; क्योंकि यह बहुत सम्भव है कि दुर्बल लोगों का हित इसी बात में हो कि वे किसी प्रकार का प्रतिरोध न करें।

इस प्रकार हम बहुत सीधे-सादे शब्दों में सरकार के कर्त्तव्यों तक आ पहुँचते हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपने हितों को पूर्ण करने के लिए यन्त्र की चाल बढ़ाने की कोशिश करता है। सरकार का काम यह होना चाहिए कि वह इस यन्त्र की गति को धीमा करे और नियमित करे। वह सम्पत्ति के संचय में की जाने वाली क्रियाओं को नियमित और मद्धिम करने की चेष्टा करे।[4] सिसमोन्दी तथा दूसरे अर्थशास्त्रियों में अन्तर, जैसा कि उसने स्वयं व्यक्त किया है, यह था कि जहाँ दूसरे अर्थशास्त्री नये औद्योगिक उत्साह की जी खोलकर प्रशंसा करते थे और अधिकाधिक प्रतिद्वन्द्विता और तीव्र गति करने पर जोर देते थे, वहाँ सिसमोन्दी केवल इन वस्तुओं से आशंकित होता था और उसने मानवता के प्रेमियों से यह अनुरोध किया था कि वे "समाज के रथ की गति को कम करने में सहायता करें; क्योंकि यदि यह गति तीव्र और तीव्र होती गयी, तो ऐसा प्रतीत होता है कि यह हमें किसी खाई में ले जाकर गिरा देने वाली है।"[5]

---

१. वही; भाग १, पृष्ठ १६७। २. वही; भाग १, पृष्ठ १६७।
३. वही; भाग १, पृष्ठ ३७६। ४. वही; भाग १, पृष्ठ ३८१-३८५।
५. देखो; "एत्यूद स्युर लैकोनोमी पोलीतीक" भाग १, पृष्ठ २११।

चाल को धीमा करने की बात कहना तो आसान है; परन्तु चाल धीमी की कैसे जाय? उदाहरण के लिए आविष्कारों और यन्त्रों के उलझे हुए प्रश्न को लीजिए, जिसके सम्बन्ध में सिसमोन्दी के अपने निराले ही विचार थे। मोटे तौर पर वह आविष्कारों को घृणा की दृष्टि से देखता है। वे आविष्कार, यद्यपि यह आवश्यक तो नहीं, परन्तु साधारणतया दुष्परिणामों को ही उत्पन्न करते हैं। मनुष्यों की बुद्धि, शारीरिक शक्ति, स्वास्थ्य और सौन्दर्य सब कुछ कम होता चला जाता है; और इसके बदले में उसे जो कुछ मिलता है, वह है केवल सम्पत्ति को उत्पन्न करने की बढ़ी हुई शक्ति।[1] यह सत्य है कि इन आविष्कारों के फलस्वरूप छोटे-छोटे बच्चे भी अपने बाल्य-काल से ही जुर्राबें तक बनाने में समर्थ हो जाते हैं। जब कि उससे पहले उन्होंने जीवन के किसी भी सुख का स्वाद नहीं लिया होता। परन्तु ये चीजें कितनी सस्ती बिकती हैं? आविष्कारों का सामान्य प्रभाव यह होता है कि उनके फलस्वरूप श्रम की मांग कम हो जाती है और इस प्रकार आविष्कारों से देश दरिद्रतर हो जाता है, भले ही यह बड़ा प्रभाव विदेशी व्यापार की क्रिया द्वारा कुछ समय तक छिपा रहे; क्योंकि विदेशी व्यापार उत्पादक देश में तो समृद्धि को उत्पन्न कर रहा होता है, जब कि सम्भव है कि वह सारे विनाश को किसी अन्य स्थान पर केन्द्रित कर रहा हो। इस प्रकार इंग्लैंड के निर्माताओं के मामले में यह हुआ कि "सारा कष्ट यूरोप महाद्वीप के निर्माताओं के सिर आ पड़ा है और सारा आनन्दोपभोग इंग्लैंड के लोगों को प्राप्त हुआ है।"[2] फिर भी सब आविष्कारों की निन्दा करना उचित नहीं। सिसमोन्दी ने इसके लिये पहले से विद्यमान अतृप्त मांग को कसौटी बनाया है। "जब कभी भी उपभोग के लिये की जाने वाली मांग उत्पादन के साधनों के सामर्थ्य से अधिक हो, उस समय कोई भी नया आविष्कार समाज के लिये लाभदायक होता है; क्योंकि यह पहले से विद्यमान आवश्यकताओं को तृप्त करने के लिये साधन प्रदान करता है। इसके विपरीत जब उत्पादन उपभोग के लिये पूर्णतया पर्याप्त हो, उस समय इस प्रकार का आविष्कार केवल एक विपत्ति के समान ही होता है; क्योंकि इसके द्वारा उपभोक्ताओं के आनन्दोपभोग में इसके अतिरिक्त और कोई वृद्धि नहीं होती कि

१. "नोवो प्रिंसीप", भाग १, पृष्ठ ३६६।
२. वही भाग १, पृष्ठ ३२२।

उनकी आवश्यकताएँ अपेक्षाकृत कुछ थोड़ी कीमत पर तृप्त हो जाती हों, जब कि दूसरी ओर उस आविष्कार से उत्पादकों का जीवन ही घुट-सा जाता है।"[1] पहले बाजार का विस्तार किया जाना चाहिये। यदि बाजार का विस्तार हो जाय, तो आविष्कार के लिये अवकाश हो सकता है। इसी युक्ति को और संशोधित करते हुए--सिसमोन्दी कहता है कि जब कोई आविष्कार इस प्रकार बाजार को विस्तृत कर सके कि उसके द्वारा तैयार होने वाला पदार्थ गरीब लोगों के भी उपयोग की वस्तु बन सके, तो वह आविष्कार लाभदायक होता है। परन्तु यदि बाजार का विस्तार न किया जा सके, चाहे तो इस कारण कि सब आवश्यकताएँ पहले से ही पूर्ण हो रही हैं, और या इस कारण कि चाहे कितनी ही कीमत क्यों न घटा दी जाय, गरीब लोग उस वस्तु का उपभोग कभी प्रारम्भ न करेंगे, तो वह आविष्कार मानव-जाति के लिये एक महान् विपत्ति है; क्योंकि ऐसी दशा में लाभ केवल थोड़े से निर्माताओं को हो रहा होगा; और वह भी अन्य निर्माताओं के नुकसान के ऊपर; या सम्भव है कि कुछ राष्ट्रों को दूसरे राष्ट्रों को नुकसान पहुँचाकर लाभ होने लगे।[2] इसी प्रकार जब सिसमोन्दी (लाउडेटर टैम्पोरिस ऐक्टी) अतीत की स्तुति करने का भार अपने सिर ले लेता है, तो यह आनन्दपूर्ण युग का एक चिन्ह समझा जा सकता है कि उन दिनों मनुष्य केवल उस समय आविष्कारों की ओर ध्यान देंगे, जब कि कोई नयी आवश्यकता अनुभव होने लगेगी।[3]

अब यह विचार करना शेष रहता है कि समाज और कामगर को आविष्कारकों के प्रकोप से बचाने के लिये क्या कुछ किया जा सकता है? परन्तु इस दिशा में सिसमोन्दी एक बहुत ही परीक्षणात्मक और विचित्र-सा सुझाव देने के अतिरिक्त और कुछ नहीं करता। वह इस बात को अनुभव करता है कि जब तक दूसरे देश इन घातक आविष्कारों का प्रयोग करने के लिये स्वतन्त्र हैं, तब तक अपने देश में इनके प्रयोग के निषेध का प्रयत्न व्यर्थ होगा। इनसे संरक्षण का जो एक मात्र उपाय वह सुझाता है, वह यह कि आविष्कारक को जो विशेषाधिकार प्रदान किये जाते हैं, उन्हें समाप्त कर दिया जाय। यदि सब आविष्कार सब लोगों को एक साथ ज्ञात हो सकें और उपलब्ध हो सकें, तो

१. वही; भाग २, पृष्ठ ३१७। २. वही; भाग १, पृष्ठ ३२१।
३. ऐत्यूद; भाग १, पृष्ठ ३४।

उसका कथन है, और इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वह हृदय से व्यक्तिवादी है, कि तब "ऐसे आविष्कारों का उत्साह स्वयं ठंडा पड़ जायगा।"[1]

जनसंख्या के सम्बन्ध में माल्थस ने जो एक वाद-विवाद का विषय अर्थशास्त्रियों के सम्मुख बड़े हलकेपन से फेंक दिया था, उसके सम्बन्ध में सिसमोन्दी के विचार बिलकुल अपने हैं। उसका कथन है कि जनसंख्या आगम (रैवेन्यू) द्वारा सीमित रहती है। जो कुछ माल्थस ने कहा था, उससे भिन्न सिसमोन्दी का यह कथन है कि जनसंख्या जीवन-निर्वाह के साधनों की सम्भावित सीमा तक कभी नहीं पहुँचती; और शायद कभी नहीं पहुँचेगी। जनसंख्या की वृद्धि इसलिये रुकी रहती है, क्योंकि जीवन-निर्वाह के साधनों को खरीद पाना असम्भव हो जाता है; या इसलिये कि लोगों को जीवन-निर्वाह के साधनों को उत्पन्न करने के लिये काम नहीं करने दिया जाता। इस प्रकार यह रोक जीवन-निर्वाह के साधनों द्वारा नहीं लगती, अपितु मनुष्य की "इच्छा" द्वारा लगती है; और सबसे बढ़कर भूस्वामी की इच्छा द्वारा, जो दूसरों को अपनी भूमि पर तब तक काम करने की अनुमति नहीं देता, जब तक कि उसे अपनी सहमति के लिये लगान या आगम (रैवेन्यू) प्राप्त न हो जाय।[2] वस्तुतः यह बात तो मुश्किल से ही माल्थस के विरोध में है, परन्तु मानवीय संकल्प (वालोन्ते) के तत्व का और भी स्पष्टीकरण करते हुए मनुष्य की स्वाभाविक क्रियाओं के सम्बन्ध में उसके विचार माल्थस के विचारों से बहुत अधिक भिन्न हैं। वह मुख्य वस्तु, जिस पर जनसंख्या निर्भर रहती है, श्रम के लिये होने वाली माँग है।[3] यदि लोगों को करने को काम मिलता रहे और उन्हें बँधी आय मिलते रहने का आश्वासन हो, तो वे विवाह करेंगे और बच्चे उत्पन्न

---

१. नोवोप्रिंसीप; भाग २, पृष्ठ २११-२२२। २. वही; भाग २, पृष्ठ २६७-२७०।

३. माल्थस के साथ समानता और अलग-अलग पहलुओं पर दिया गया बल दोनों ही समान रूप से रोचक हैं: "La population se mesure toujours, en derniere analyse, sur la demande du travail. Toutes les fois que le travail sera demande, et qu'un salaire suffisant lui sera offert, l'ouvrier naitra pour le gagner." "अन्तिम विश्लेषण में, जनसंख्या सदा श्रम की माँग द्वारा सीमित हुई रहती है। जब भी श्रम की माँग होगी, और श्रमिकों को पर्याप्त वेतन प्रस्तुत किया जायगा, तभी वे उसे कमाने के लिये आ उपस्थित होंगे।" (वही; भाग २, पृष्ठ २८४)।

करेंगे। नये समाज का अभिशाप यह है कि इसमें कामगर को उसकी आय की कोई सुरक्षा नहीं है; और क्योंकि कामगर अपनी स्थिति के सम्बन्ध में भ्रम में रहता है, इसलिये ऐसे बच्चे भी उत्पन्न हो जाते हैं, जिनके निर्वाह की कोई व्यवस्था नहीं होती। सिसमोन्दी का यह दृढ़ विश्वास है कि कामगर लोग तब तक विवाह न करेंगे, जब तक कि वे आर्थिक दृष्टि से विवाह करने योग्य न हो जायँ; और यह भी कि वे अपने परिवार को अपनी आय के अनुपात में सीमित रखेंगे अर्थात् यह मान लिया गया है कि उनकी आय स्थायी होगी और एक नियत मात्रा में होती रहेगी। परन्तु यदि किसी प्रकार का स्थायित्व न हो और कामगरों का स्थान मशीन लेती चली जाय, तो इनकी स्थिति कितनी गम्भीर हो जायगी? कामगर अपनी आय के सम्बन्ध में भविष्य के लिये किसी भी प्रकार की गणना या अनुमान नहीं कर सकेंगे, वह आय उनके अनजाने ही दूसरों द्वारा घटाई-बढ़ाई जा सकती है। नवारम्भकर्ता स्वयं भी अपने आगणन में गलती कर सकता है।[1] इस प्रकार रोज कमाने और रोज खाने का जीवन बिताते हुए "श्रमिक लोग यह सोचकर सन्तुष्ट हो जाते हैं कि उनके बच्चे भी इसी प्रकार करते रहेंगे।" इसके अतिरिक्त क्या बच्चे अपने आप में दान प्राप्त करने का प्रमाणपत्र नहीं हैं? और क्या वे स्वयं सात वर्ष की आयु से ही वेतन कमाना प्रारम्भ नहीं कर सकते? इस प्रकार विवाह पर लगे हुए प्रतिबन्ध लुप्त हो जाते हैं और वे बच्चे जन्म लेते हैं, जिनके निर्वाह के लिये समाज ने कोई प्रतिबन्ध नहीं किया हुआ।[2] इस दशा में काम के लिये माँग उतनी महत्त्वपूर्ण नहीं है, जितनी कि नियमित और अनवरत माँग। क्योंकि यदि माँग कुछ व्यवधान छोड़-छोड़कर उत्पन्न होती हो, तो उसके फलस्वरूप उत्पन्न होने वाले कामगर केवल मृत्यु का शिकार बनने के लिये उत्पन्न होंगे।[3]

अब यह बात स्पष्ट दीख पड़ेगी कि हम फिर उसी पुराने बिन्दु पर आ पहुँचे हैं। आवश्यकता से अधिक जनसंख्या अस्थायित्व का परिणाम है; और वह अस्थायित्व अपने आप में अति-उत्पादन और औद्योगिक क्रान्ति के युग में हुए सब शैतानी आविष्कारों का परिणाम है। इस दशा को सुधारने के लिये उसने जो विचार प्रस्तुत किये हैं, वे भले ही अव्यावहारिक हों, फिर भी रोचक

१. वही; भाग २, पृष्ठ २५६। २. वही; भाग २, पृष्ठ २६३।
३. वही; भाग २, पृष्ठ २८५।

अवश्य है। वह बहुत कुछ स्पष्ट रूप से स्वीकार करता है कि विवाहित लोगों को भी उतना परिवार बन जाने के बाद, जितना बनाने का उन्हें हक है जो मोटे तौर पर एक लड़का और एक लड़की प्रतीत होता है—ब्रह्मचर्य के नियमों का पालन करना चाहिये। इससे अधिक बच्चे पैदा करना अन्याय और निष्ठुरतापूर्ण होगा; क्योंकि उस दशा का अर्थ यह होगा कि दूसरे लोगों का यौवन में विवाह के सुख से, या वृद्धावस्था में बालकों के आनन्द से वंचित रखा जाय।[1] इससे आगे सिसमोन्दी जिन उपायों की ओर संकेत करता है, या, हम कह सकते हैं कि सुझाता है, वे बहुत उग्र हैं।[2] वह इस बात तक के लिये तैयार है कि गरीब लोगों को विवाह करने का निषेध कर दिया जाय; या कम से कम उनसे कुछ निश्चित गारंटियाँ माँगी जायँ। जहाँ तक कृषि में लगी हुई जनसंख्या का सम्बन्ध है, सरकार का लक्ष्य यह होना चाहिये कि श्रम और सम्पत्ति (जायदाद) को एक जगह मिला दिया जाय; और अन्ततोगत्वा सिसमोन्दी के सुझावों के अनुसार विवाह के लिये जायदाद-सम्बन्धी योग्यता (क्वालिफिकेशन) निश्चित की जानी चाहिए। शहरों में भी लक्ष्य ऐसा ही होना चाहिये, हालाँकि यह काम इतना आसान नहीं है। इसके लिये कामगरों की उस सन्दिग्ध और दयनीय दशा को समाप्त किया जाना चाहिये, जिसमें कि वे इस समय रहते हैं, और उनके लिये एक खास पद और प्रतिष्ठा प्राप्त कर पाना सम्भव बनाया जाना चाहिये; और जब तक वह निर्धारित पद और प्रतिष्ठा प्राप्त न हो जाय, तब तक विवाह करने का निषेध रहना चाहिये। इसका अर्थ है कि अन्य वस्तुओं के साथ-साथ काम देने वाले मालिक की ओर से भी कोई गारण्टी रहनी चाहिये। इसका अर्थ है कि काम देने वाले मालिक को अपने कर्मचारियों के विवाह पर अन्तिम स्वीकृति देने या अस्वीकृत कर देने का अधिकार मिल जायगा। दूसरी ओर इसका अर्थ यह है कि कामगर उस उद्योग के ऊपर एक स्थायी भार बनकर रहेगा।[3]

सारांश यह है कि सिसमोन्दी एक ऐसी आवाज है, जो वर्तमान दशाओं के विरुद्ध प्रतिवाद कर रही है; और केवल इसी दृष्टि से वह महत्त्वपूर्ण भी है।

१. वही; भाग २, पृष्ठ २६५।

२. वह अपने पहले संस्करणों में इस विषय में कहीं अधिक सुनिश्चित था।

३. वही; भाग २, पृष्ठ ११६, १६३ इत्यादि।

जहाँ तक यह प्रश्न है कि उसने संसार के सम्मुख क्या-क्या सिद्धान्त प्रस्तुत किये, वह नगण्य है। उसका यह मुख्य भय, जो उसने रुद्ध बाजारों और वाणिज्य सम्बन्धी संकट की व्याख्या के रूप में प्रस्तुत किया है, कि सब वस्तुओं का सामान्य रूप से अति-उत्पादन हो रहा है, स्पष्ट ही तर्क की कसोटी पर टिकता नहीं है; और कट्टर पुराणपन्थी विचारधारा के प्रवक्ताओं को यह प्रदर्शित करने में कभी कोई कठिनाई नहीं हुई कि जहाँ यह तो सम्भव है कि कुछ विशिष्ट पदार्थों का अति-उत्पादन हो जाय, वहाँ यह कल्पना से भी परे की बात है कि सब पदार्थों का एक साथ समान रूप से अति-उत्पादन हो जाय।[1] अति-उत्पादन का अर्थ वस्तुतः गलत अनुपात में उत्पादन है। सीमा के अन्दर रहते हुए इसका अर्थ यह है कि अन्य उत्पादन वस्तुओं के परिमाण की दृष्टि से कोई एक वस्तु आवश्यकता से बहुत अधिक उत्पन्न की जा रही है। इसका अर्थ यह है कि जब अति-उत्पादन हो रहा होता है, तब अन्यत्र कहीं न्यून-उत्पादन (अंडर-प्रोडक्शन) भी हो रहा होता है। इसी प्रकार मशीनों और यान्त्रिक सुधारों के विषय में अपने सिद्धान्तों में और उद्योग के विस्तार को उसी समय उचित मानने में, जबकि उसके लिये पहले से माँग मौजूद हो, सिसमोन्डी आर्थिक जीवन के आधे के लगभग तथ्यों की ओर से आँख फेर लेता है, और उन सम्भावित प्रतिक्रियाओं की उपेक्षा कर देता है, जो उपलब्धि की दशाओं में घट-बढ़ के कारण माँग पर हो सकती हैं। यह कहना शायद ज्यादती न हो कि सिसमोन्डी के उन सिद्धान्तों में से जिन्हें वह सत्य समझता था, एक भी काल की कसौटी पर खरा नहीं उतरा है। फिर भी केवल इसी कारण सिसमोन्डी को उपेक्षणीय नहीं समझा जा सकता। एक ऐसे युग में, जबकि प्रतिवाद की आवश्यकता थी, उसने दृढ़ता के साथ यह कहा कि सम्पत्ति मनुष्य के लिये बनी है, और मनुष्य सम्पत्ति के लिये नहीं, जैसा कि उस समय का राजनीतिक अर्थशास्त्र ध्वनित करता-सा प्रतीत होता था।[2] औद्योगिक क्रान्ति के विषमतम समय में उसने बड़ी विनय के साथ यह पूछा कि दुनिया कहाँ जा रही है? और उसने कामगर के काम के स्थायित्व और उसके पद और प्रतिष्ठा के महत्व पर बहुत बल दिया। परन्तु यह सच है कि वह विशिष्ट रूप से कहीं भी नहीं पहुँच पाया।

१. देखो मिल का "प्रिंसिपल्स आफ पोलीटिकल इकॉनॉमी," खंड ३, अध्याय १४।

२. देखो पेत्यूद, भाग १, पृष्ठ ६२।

वह समाजवाद तक कभी नहीं पहुँचा, हालांकि उसकी रचनाओं में से समाजवादी भावनाओं के उद्धरण संगृहीत कर पाना आसान होगा; और परवर्ती समाजवादी लेखकों पर उसका जो प्रभाव पड़ा, उसकी उपेक्षा करना भी मूर्खता होगी। परन्तु उसका अन्तिम रुख बहुत कुछ असहायता और किंकर्तव्यविमूढ़ता का-सा है, क्योंकि उसके सामने एक ऐसी समस्या खड़ी है, जिसका वह कोई हल नहीं ढूंढ पाता।[1] वह शायद अर्थशास्त्री की अपेक्षा नीतिशास्त्री अधिक है, जो हमें बार-बार यह याद करता रहता है, जैसा कि इन बाद के दिनों में हमारे कुछ कवियों ने भी किया है, कि वे लोग मूर्ख हैं, जो और अधिक मशीनें बनाने के लिये मशीनें बनाने की कल्पना में ही डूबे रहते हैं। उसने जीवन की उस दरिद्रता की ओर भी ध्यान आकृष्ट किया है, जिसके कारण मनुष्य के पास जरा देर खड़े होने, और अपने चारों ओर देखने के लिये भी समय नहीं रहा है। न्याय्य क्रोध, जिससे सिसमोन्दी को प्रेरणा मिलती रही, एक उत्कृष्ट आवेग है; और क्रुद्ध क्रान्तदर्शी नेता भी एक उपयोगी लक्ष्य को पूर्ण कर जाता है; यह बात दूसरी है कि क्रोध अनेक बार गलत-तर्क की ओर ले जाता है।

---

१. वे करुण शब्द, जिनसे कुछ संस्करणों में "नोवो प्रिंसीप" समाप्त होती है, बहुत बार उद्धृत किये जाते रहे हैं : "Je l'avoue, apres avoir indique ou est a nos yeux le principe, ou est la justice, je ne me sens pas la force de tracer les moyens d'execution; la distribution des profits du travail entre ceux qui concourent a' les produire me parait vicieuse, mais il me semble presque au-dessus des forces humaines de concevoir un etat de propriete absolument different de celui que nous fait connaitre l'experience."

—यह स्पष्ट कर चुकने के बाद कि हमारी दृष्टि में सिद्धान्त और न्याय किस दिशा में निहित हैं, मैं यह स्वीकार करता हूँ कि मैं अपने आपको इतना सशक्त अनुभव नहीं करता कि उनको क्रियान्वित करने के साधनों का निर्देश कर सकूँ। श्रम से उत्पन्न होने वाले लाभ का उन लोगों में वितरण करना, जो उनके उत्पादन की प्रतियोगिता में जुटे हैं, मुझे दुष्टता-पूर्ण प्रतीत होता है, परन्तु मुझे यह बात मानवीय शक्तियों की पहुँच से लगभग परे की ही जान पड़ती है कि हम सम्पत्ति (propeety) की एक ऐसी स्थिति की कल्पना कर सकें, जो उस स्थिति से एक दम भिन्न हो जिसे हम अनुभव द्वारा जानते आये हैं।

मुल्लर, लिस्ट और वान थुनन

इस अध्याय में वर्णित तीनों जर्मन लेखकों में से ऐडम मुल्लर[1] (१७७९-१८२९) इस देश (इंगलैण्ड) में सबसे कम लोक-विदित है। उसका भाग्य भी काफी विचित्र रहा। बीच में यदि लोग उसे पूरी तरह नहीं भूल गये थे, तो भी उसकी काफी कुछ उपेक्षा-सी रही। हाल ही में जर्मनी के नियो-रोमान्टिक विचारक दल ने, जिसका दृष्टिकोण मुल्लर के दृष्टिकोण के समान था, उसे उपेक्षा के गर्त से निकालकर बहुत-कुछ सफलतापूर्वक फिर से प्रस्तुत किया। डाक्टर स्पैन हमें यह समझाने के लिये प्रयत्नशील हैं (हमारे देखे हुए संस्करण के अनुसार) कि मुल्लर सब कालों का, या अपने समय का सबसे महान् अर्थशास्त्री था। क्योंकि उसके समकालीन लोगों में एक रिकार्डो और एक माल्थस भी था, इसलिये इस सम्बन्ध में अपेक्षाकृत सावधानतापूर्वक की गयी प्रशंसा भी अत्युक्ति-सी ही प्रतीत होगी। दूसरी ओर कुछ लोग ऐसे भी हैं, जिन्हें मुल्लर बिलकुल अर्थशास्त्री ही नहीं जान पड़ता। उनकी दृष्टि में वह केवल भारी-भारी शब्दों का खेल करने वाला व्यक्ति था। इस विषय में भले ही किसी को सन्देह भी हो, किन्तु यहाँ हमने उसे उचित रूप से आलोचना की एक पृथक् और सुस्पष्ट धारा का प्रतिनिधि माना है; और इसका कारण यह है कि वह आध्यात्मिक दृष्टि से लिस्ट के बहुत कुछ समान था।

सम्भवतः मुल्लर अपने आपको मुख्य रूप से राजनीतिक लेखक और केवल गौण रूप से अर्थशास्त्रीय सिद्धान्तों का आविष्कर्ता समझता रहा होगा। यह

---

१. १७७९ में बर्लिन में जन्म हुआ। बर्लिन और गोटिंजन में पढ़ा। १८०५ में रोमन कैथोलिक चर्च में प्रविष्ट हुआ। बाद में आस्ट्रिया की राज्य-सेवा में भरती हो गया। अन्त में वियेना में स्टेट चांसलरी में कौंसिलर बन गया। उसकी मुख्य पुस्तकें "ऐलेमैंट डर स्टाट्सकुंस्ट" (Elemente der Staatskunst) (१८०९) और "वैर सख ईनर न्यूऐन थ्योरी डेस गैल्डेस" (Versuche einer neuen Theorie des Geldes) (१८१६) हैं, परन्तु इनके अतिरिक्त उसका विविध लेखन बहुत काफी है।

सत्य है कि राजनीति के सम्बन्ध में उसके विचार ऐसे हैं कि उसके प्रतिपादन में राजनीति और अर्थशास्त्र एक दूसरे से इस प्रकार उलझ जाते हैं कि उन्हें पृथक् कर पाना सम्भव नहीं है; फिर भी उसके साथ ही यह बात भी बहुत साफ है कि उसका मन मुख्य रूप से उन बातों में लगा रहता है, जो साधारणतया अर्थशास्त्र से भिन्न समझी जाती हैं। ऐडम स्मिथ की शिक्षा के कुछ पहलुओं के विरुद्ध जो प्रतिक्रिया हुई, उसका श्रेय अन्य किसी भी व्यक्ति की अपेक्षा मुल्लर को ही अधिक है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि स्मिथ ने अपने सिद्धान्त का आधार व्यक्ति की ही सहजवृत्तियों और क्रियाओं को बनाया था; परन्तु वह उतना एकपक्षीय कदापि नहीं था, जितना कि बाद की आलोचनाओं से वह प्रतीत होता है। इसलिये बिना भारी अन्याय किये कहा जा सकता है कि ऐडम स्मिथ की दृष्टि में राज्य व्यक्तियों का एक जगह एकत्रित समूह मात्र है; और राष्ट्रीय सम्पत्ति निजी सम्पत्तियों का सर्वयोग है। उसकी दृष्टि में सम्पूर्ण आर्थिक प्रेरणा का उद्गम स्थान व्यक्ति के हृदय में ढूंढना उचित है, जो अत्यधिक विवेकपूर्ण आत्म-हित द्वारा संचालित होता है। एक वाक्यांश में, जो बाद में बहुत लोकप्रिय हो गया, ऐडम स्मिथ "अणुवादी" (ऐटमिस्टिक; यह विश्वास करने वाला कि अणुओं ने अपने आपको स्वयं व्यवस्थित करके विश्व की रचना की) था; और उसके सार्वजनिक हित, जहाँ तक इसके सम्बन्ध में विचार किया गया, केवल एक गौण उपज भर था, जो "अदृश्य हाथ" की चुपचाप होने वाली क्रियाओं का परिणाम था। परन्तु इसके विपरीत ऐडम मुल्लर की दृष्टि में राज्य का स्थान पहले है, और मनुष्य का महत्त्व केवल उस राज्य से सम्बद्ध होने के कारण ही है। इसलिये यह आवश्यक है कि अर्थशास्त्र को मुल्लर की देन को ठीक-ठीक हृदयंगम करने के लिये हम उसके अपेक्षाकृत अधिक सामान्य राजनीतिक सिद्धान्तों का आश्रय लें।

मुल्लर की रचनाओं में दो सर्वप्रमुख प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं। पहली बात तो यह है कि मुल्लर तथाकथित रोमांटिकवाद का ही एक अंग और भाग था, और वह राजनीतिक एवं आर्थिक क्षेत्र में इस वाद का प्रमुख प्रतिनिधि था। "रोमांटिकवाद" के, जिस रूप में वह जर्मनी में विद्यमान था, ठीक-ठीक महत्त्व को समझने के लिये यह जान लेना उचित होगा कि यह वाक्यांश उनमें से एक है, जिसकी सुस्पष्ट परिभाषा करने के बजाय उनकी

अस्पष्ट-सी झलक दिखला देना भर अच्छा समझा जाता है। एक विचारक वर्ग के रूप में रोमांटिकवादी अदृश्य और अनन्त, अज्ञेय और असीम को पाने के लिये प्रयत्नशील रहते थे। उनका सारा ध्यान जीवन की शाश्वत अबूझ पहेलियों की ओर रहता था। इसलिये उनका झुकाव एक ऐसे रहस्यवाद की ओर रहता था, जो उन लोगों की समझ से परे की वस्तु था, जो दृश्य और भौतिक जगत् में उलझे हुए थे। दूसरा बड़ा प्रभाव 'बर्क' का था, जिसका उल्लेख मुल्लर सर्वत्र अत्यधिक प्रशंसापूर्ण शब्दों में करता है।

मुल्लर के सिद्धान्त का केन्द्र-बिन्दु अरस्तू का यह सिद्धान्त है कि राज्य से बाहर मनुष्य की पृथक् कल्पना ही नहीं की जा सकती। प्रत्येक व्यक्ति नागरिक जीवन के केन्द्र में विद्यमान है, और उसके चारों ओर राज्य का ताना-बाना बुना हुआ है, ठीक उस प्रकार, जैसे प्रत्येक व्यक्ति राज्य की जीवन-अवधि के मध्य में विद्यमान है; पीछे की ओर उसका अतीत फैला हुआ है, जिसका सम्मान किया जाना चाहिये, और आगे की ओर भविष्य है, जिसका ध्यान रखा जाना चाहिये। इस दशा में राज्य एक कृत्रिम सृष्टि नहीं है, जिसका निर्माण नागरिक जीवन के किन्हीं खास उद्देश्यों और लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिये किया गया हो, अपितु यह स्वयं नागरिक जीवन का ही सर्वयोग है। एक वाक्यांश में, जिसका मुल्लर बारंबार प्रयोग करता है, यह मनुष्य की केवल आधारभूत आवश्यकता नहीं, अपितु यह मनुष्य की सर्वोच्च आवश्यकता है।[1]

इसके अतिरिक्त—एक और बात, जिसमें बर्क का प्रभाव और अधिक प्रत्यक्ष दीख पड़ता है राज्य काल की अवधि में भी निरन्तरता का प्रतिनिधित्व करता है। मनुष्य पृथ्वी के साथ जिस महान् संघर्ष में जुटा हुआ है, उसमें उसे साथियों की आवश्यकता है। और यह साथ केवल उन लोगों तक ही सीमित नहीं है, जो इस संघर्ष के समय समकालीन होते हैं, अपितु उसमें बीती हुई सब पीढ़ियाँ भी सम्मिलित होती हैं, क्योंकि कोई भी पीढ़ी अकेली इस संघर्ष में सफल नहीं हो सकती। तब राज्य का इस प्रकार का दुहरा सहयोग (ऐलायंस)

---

१. ऐलीमेन्टे डेर स्टाट्सकुन्स्टस खंड १, पृष्ठ २६-३१। राज्य "das Bedurfniss aller Bedurfnisse des Herzens, des Geistes und des Leibes" है। अर्थात् राज्य हृदय, आत्मा और शरीर की सब आवश्यकताओं की आवश्यकता है। यहाँ दिये गये उद्धरण या उल्लेख हर्द फ्लेम पुस्तकमाला के हाल के संस्करणों में से हैं।

है; न केवल उन लोगों का, जो एक ही समय में एक साथ जी रहे होते हैं, अपितु उन लोगों का भी, जो समय की दृष्टि से एक दूसरे के पीछे आ रहे होते हैं।[1] इस प्रकार यह, अर्थात् राज्य, अमर है और हमें इसके सम्बन्ध में इसे गतिशून्य मानकर नहीं, अपितु अविराम गतिशील मानकर विचार करना चाहिये। इस प्रकार समय के प्रवाह में सब की परस्पराश्रितता आधारभूत वस्तु बना दी गई है। कुटुम्ब की उपमा मुल्लर बार-बार प्रस्तुत करता है। प्रत्येक व्यक्ति केवल इसीलिये वस्तुओं का उत्पादन और उन पर अधिकार कर सकता है, क्योंकि वह उस समूह का एक सदस्य है, जो कुल मिलकर कुटुम्ब बन जाता है।[2] क्योंकि मुल्लर का यह विश्वास था कि मध्ययुग में समाज वस्तुतः इसी प्रकार के पारिवारिक आधार पर संगठित था, इसीलिये उसकी रचनाएँ सामन्तवादी प्रणाली तथा राज्य में कुलीन लोगों के स्थान और उनके कार्यों की प्रशंसाओं से भरी हुई हैं। राज्य को एक ऐसे विशाल दैत्य (leviathan) के समान होना चाहिये; जो व्यक्ति को खाकर पनप रहा हो, यह मुल्लर के राजनीतिक सिद्धान्त का सारांश है; और जर्मन विचार क्षेत्र में यह दृष्टिकोण कुछ असाधारण नहीं है; परन्तु उसकी खास बात यह है कि किसी न किसी तरह उसने अपने आपको यह समझा लिया था कि उसका आदर्श सामन्तवादी प्रणाली में साकार हुआ है।

इस प्रकार जल्दी में उसके राजनीतिक सिद्धान्तों की कुछ रूपरेखा प्रस्तुत करने के बाद मुल्लर के अपेक्षाकृत स्पष्ट रूप से आर्थिक सिद्धान्तों तक पहुँच पाना सम्भव है। और सब से पहले, व्यक्तिवाद का विरोधी होने के कारण वह उस पूर्णतया निजी सम्पत्ति की बार-बार निन्दा करता है, जो रोमन कानून की दुष्टतापूर्ण देन है, और जो सामन्तवादी प्रणाली में—कितनी अच्छी बात है! बिलकुल विद्यमान नहीं थी। व्यक्ति को समष्टि से काटकर अलग कर देने का परिणाम यह होगा कि हर कोई और सब दरिद्रता में जीवन बितायेंगे; उन सब में अपनी बिलकुल अलग सम्पत्ति प्राप्त करने की लालसा होगी, जो कितनी भी विशाल सम्पत्ति के द्वारा भी पूरी न हो सकेगी।[3] जिस प्रकार यदि किसी परिवार की सम्पत्ति उसके सदस्यों में बराबर-बराबर बाँट दी जाय, तो वे

१. वही; खंड १, पृष्ठ ५९-६०। २. थियोरी डेस जेल्डेस, पृष्ठ १०।
३. वही; पृष्ठ ७।

उसकी अपेक्षा अधिक गरीब हो जाते हैं, जितने कि वे सम्पत्ति की अविभक्त दशा में थे, हालांकि अंकगणित की दृष्टि से सम्पत्ति की कुल मात्रा में कोई अन्तर नहीं पड़ा होता, इसी प्रकार समाज में भी एक ऐसी शक्ति विद्यमान होती है, जो सब मूल्यों को बढ़ा देती है।[1] मुल्लर का कथन है कि सम्पत्ति वस्तुतः तीन प्रकार की होती है—(क) विशुद्ध निजी सम्पत्ति, (ख) सहकारी (कोऑपरेटिव) सम्पत्ति, और (ग) राज्यीय सम्पत्ति। इतना ही नहीं, ये सब तत्त्व सब सम्पत्तियों में विद्यमान होते हैं, या होने चाहियें; और व्यक्ति का सम्पत्ति पर अधिकार केवल उसी सीमा तक है, जहाँ तक कि वह उस सम्पत्ति को, जो खास तौर से उसकी अपनी है, दूसरों के साथ बाँटने के लिये तैयार रहे, और यदि अवसर पड़े, तो उस सम्पत्ति को राज्य को सौंप देने को भी उद्यत रहे। वास्तविक सम्पत्ति का अस्तित्व केवल साँझे स्वामित्व में ही है; और सम्पूर्ण निजी सम्पत्ति वस्तुतः केवल उसके उपयोग का (यूज़ूफ़क्ट) अधिकार मात्र है।[2] मुल्लर की सामन्तवादी प्रणाली के प्रति भक्ति का कारण भी यही तथ्य है कि उसके विचार से इस प्रणाली में यही सिद्धान्त काम कर रहा था; और एक जगह तो वह मोटे तौर पर सामन्तवाद की परिभाषा ही इस रूप में करता है कि यह निजी सम्पत्ति के मार्ग में सब क़ानूनी कठिनाइयों का समर्थक है।

सम्पत्ति की प्रकृति और उत्पादन के अर्थ की ओर अभिमुख होते हुए मुल्लर ऐडम स्मिथ से अपने मतभेदों को और भी अधिक बलपूर्वक प्रस्तुत करता है। यथेच्छाचारिता (लैस्से फेयर) की नीति के प्रतिकूल राजनीतिज्ञों का कार्य क्या होना चाहिए? उनका कार्य यह होना चाहिए कि वे अपने राज्य की समूची आवश्यकता पर शाश्वतता (ऐटर्निटी) की दृष्टि से विचार करें।[3] अहस्तक्षेप का अर्थ है निरंकुश (एब्सोल्यूट) सम्पत्ति के अधिकार को स्वीकार कर लेना और सारी सम्पत्ति पर से राज्य के दावों को छोड़ देना।[4] जो सिद्धान्त प्रकृति के नियम की दुहाई देता है, वह केवल इस दृष्टि से "क्रान्तिकारी है, कि उससे यह ध्वनित होता है कि मानव-संस्थाएँ और कानून दिवालिये

१. वही; पृष्ठ ११। २. वही; पृष्ठ १९-२०।

३. स्टाट्सकुंस्ट; खंड १, पृष्ठ २१८-२६६।

४. थियोरी डेस जैल्डेस; पृष्ठ १०२-१०३।

है।[1] मुल्लर के लिए राज्य ही सदा सब वस्तुओं का केन्द्र रहता है और इसके फलस्वरूप सारी सम्पत्ति, सारे उत्पादन और सारे उपभोग सब पर इसी दृष्टि से विचार किया जाना चाहिए कि उनकी इस शाश्वत वस्तु पर, जिसे हम राज्य कहते हैं, क्या प्रतिक्रिया होती है। असल में किसी वस्तु का केवल वह महत्त्व, जो राज्य के अन्तर्गत और राज्य को अविराम नवजीवन प्रदान करने के लिए होता है, उस वस्तु का मूल्य होता है, और यह कीमत से भिन्न है, (जिस का सम्बन्ध केवल किसी समय विशेष से ही होता है)[2] और मुल्लर ने प्राचीन राजनीतिक अर्थशास्त्र की जो आलोचना की है, उसका केन्द्रीय बिन्दु ही यह है कि वह सम्पत्ति विषयक ऐसा सिद्धान्त है, जिसमें इस उच्च अर्थ में वस्तुओं के मूल्य का बिलकुल ध्यान नहीं रखा गया है।[3] इस राजनीतिक अर्थशास्त्र का सरोकार केवल वस्तुओं से रहता है, व्यक्तियों से बिलकुल नहीं। मुल्लर ने ऐडम स्मिथ पर यह आक्षेप किया है कि उसने अपने विमर्श में केवल उन्हीं भौतिक वस्तुओं पर ध्यान दिया है, जो खरीदी और बेची जा सकती हैं; और यह मानना होगा कि स्मिथ का उत्पादनशील और अनुत्पादनशील श्रम का विवेचन, यदि उसे उस मूर्खतापूर्ण विवाद के विकास से अलग करके देखा जाय, तो उस विचारक के लिये बहुत असह्य सा प्रतीत होगा, जिसके दार्शनिक विचार किसी विक्रय-योग्य पुस्तक में संगृहीत न हुए हों। परन्तु मुल्लर के विचारानुसार "सम्पत्ति क्या है" इस प्रश्न पर इस दूसरे प्रश्न "सम्पत्ति पैदा कैसे होती है" से पृथक् विचार किया ही नहीं जा सकता।[4] राजनीतिक अर्थ-व्यवस्था की उस प्रणाली का, जिसका लक्ष्य "तैयार माल" (उत्पाद) को बढ़ाते जाना ही हो, और जो तैयार माल की ओर अधिक वृद्धि के मार्ग में आने वाली सब बाधाओं को हटा दे, परिणाम यही हो सकता है कि एक ऐसी सम्पत्ति तैयार हो जाय, जिसके भविष्य में निरन्तर बने रहने का कोई भरोसा न हो।[5] ऐडम स्मिथ ने भी सम्पत्ति को केवल उन वस्तुओं तक, जिनका कुछ विनिमय-मूल्य है, सीमित रखकर अपने से पूर्व के विचारकों की भाँति अन्य कई महत्त्वपूर्ण प्रश्नों की उपेक्षा कर दी है। उदाहरण के लिये अन्य बहुत सी बात के साथ वह इस

१. वही; पृष्ठ १३२। २. वही; पृष्ठ ५६-५६।
३. वही; पृष्ठ ६६-६७। ४. एलाट्सक्वेस्ट; खंड १, पृष्ठ २५...६।
५. वही; खंड १, पृष्ठ २५६-२५७।

विषय पर विचार करना भूल गया है कि राज्य में वह कौनसी शक्ति या गतिविधि है, जो सम्पत्ति को बनाये रखती है।[1]

इस प्रकार हम राजनीतिक अर्थशास्त्र के उस स्वरूप तक आ पहुँचते हैं, जो अधिकांशतः उन बाह्य वस्तुओं से मुक्त हैं, जो यदि महत्त्वपूर्ण हैं भी, तो केवल इसलिये महत्त्वपूर्ण हैं कि वे सम्बद्ध व्यक्तियों की उत्पादन की शक्तियों में वृद्धि करती हैं।[2] हमें सम्पत्ति की गणना राशियों और आंकड़ों द्वारा करने की आदत छोड़नी होगी। जैसा कि मुल्लर ने विशिष्ट रोमांटिकवादी ध्वनि में कहा है : "जो कुछ भी आंकड़ों में प्रकट किया जा सकता है, वह कदापि स्पृहणीय नहीं हो सकता।"[3] उत्पादन एवं मितव्ययिता के सम्बन्ध में प्रचलित विचारों का खंडन करने के बारे में वह लाडर्डेल के साथ एकमत है और वह लाडर्डेल का उल्लेख समर्थनपूर्वक करता है। समाज की आर्थिक गतिविधि एक ही समय में, साथ-साथ अन्तहीन उपभोग भी है, और अन्तहीन उत्पादन भी, और उपभोग की अपेक्षा उत्पादन की अधिकता केवल दिखाई भर पड़ती है। राष्ट्रीय सम्पत्ति राष्ट्र द्वारा उत्पन्न किये गये माल में से राष्ट्र की आवश्यकताओं को घटा देने से बचे शेष द्वारा नहीं जानी जा सकती; उस प्रकार घटाने से जो शेष बचेगा, वह तो केवल "अधिकृत वस्तुओं (पजेशन्स) का निर्जीव (निक्षेप) (अवशेष डिपाजिट)" भर होगा। इसके विपरीत सच्चा उपभोग अपने आप में उस राष्ट्रीय सम्पत्ति का स्रोत है, जो चाहे उपभोग में आ रही हो, या किसी के अधिकार में पड़ी हुई हो।[4] उत्पादन और उपभोग के शाश्वत संघर्ष में से एक अन्य उच्चतर वस्तु उत्पन्न होती है, जिसे राष्ट्रीय साख (क्रेडिट), राष्ट्रीय शक्ति, राज्य में विश्वास या स्वयं राज्य कहा जा सकता है।[5] इस प्रकार राज्य केवल वह पालना नहीं है, जिसमें कि सारी

१. "Welche kraft oder Thatigkeit im staate ist erhaltend ?" अर्थात् "राज्य में कौनसी शक्ति या गतिविधि है, जो स्थायित्व बनाये रखती है ?" खंड १; पृष्ठ ३७५)

२. थियोरी डेस जैल्डेस ; पृष्ठ १४। ३. वही पृष्ठ; ४१।

४. देखो थियोरी डेस जैल्डेस ; पृष्ठ ६६। स्टाट्सकुन्स्त ; खंड १, पृष्ठ २४८-४७४।

५. थियोरी डेस जैल्डेस पृष्ठ ७०-७२। यह एक लगभग अर्थहीन भाषा का ही चमत्कार है, जो मुल्लर को बहुत पसन्द है कि ऋण या साख को "dieses Produkt aller Produkte" अर्थात् सब 'उत्पादों का उत्पाद' (सर्वोत्तम उपज) कहा जाय।

सम्पत्ति उत्पन्न होती है, और न केवल वह सारी सम्पत्ति की गारंटी देने वाला है, बल्कि इसके साथ ही वह सम्पूर्ण उत्पादन और उपभोग का अन्त (लक्ष्य) भी है।

इससे मिलती-जुलती स्थिति मुल्लर की उस विषय में भी है, जिसे उसने आध्यात्मिक पूंजी का नाम दिया है। यह उसके परम्परा और नैरन्तर्य (कंटिन्यूइटी) के प्रति आदर के अनुकूल ही है कि उसने लोक-प्रचलित "भूमि, श्रम और पूंजी"[1] की त्रयी के स्थान पर "प्रकृति, मानव और अतीत", की त्रयी प्रस्तुत की।[1] पूंजी प्रकृति के विरुद्ध मनुष्य के संघर्ष में वर्तमान पीढ़ी को बीती हुई पीढ़ियों से प्राप्त देन है; पर इस रूप में इस पर सम्पूर्ण मानव-जाति की सब पीढ़ियों का अधिकार है पर यह अधिकार केवल उपभोग (यूज़ूफक्ट) के अधिकार तक ही सीमित है।[2] परन्तु इस दृष्टिकोण से देखने पर अतीत की देन केवल भौतिक ही नहीं है; यह आध्यात्मिक ढंग की भी है। इसलिये पूंजी के, जैसा कि उसे स्मिथ ने प्रस्तुत किया है, साथ-साथ आध्यात्मिक पूंजी को स्थान दिया जाना चाहिये। इस विचार को मुल्लर कभी किसी और कभी किसी रूप में बारंबार प्रस्तुत करता है। इस अर्थ में राज्य की सम्पत्ति के अन्तर्गत अन्य अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट वस्तुओं के साथ प्रशासन की विद्या, संविधान, कानून तथा सब महान् राष्ट्रीय स्मृतियाँ भी आ जाती हैं।[3] कई जगह उसने विधान-निर्माण (लैजिस्लेशन) के तत्त्व पर विशेष बल दिया है, उदाहरण के लिये, जब वह कहता है कि किसी भी ईसाई राज्य का कानून ही उस राज्य की एकमात्र वास्तविक सम्पत्ति है। यह बात इंग्लैंड पर विशेष-रूप से लागू होती है, क्योंकि इंग्लैंड की शक्ति वहाँ की भूमि या श्रम पर निर्भर नहीं है, अपितु वहाँ की पूंजी पर निर्भर है—कानूनों, परम्पराओं, राष्ट्रीय प्रतिष्ठा और साख की दिव्य पूंजी पर।[4]

१. स्टाट्सकुंस्ट् खंड २, पृष्ठ ६।

२. वही; खंड १, पृष्ठ २६१।

३. थियोरी डेस जेल्डेस, पृष्ठ १२।

४. थियोरी डेस जेल्डेस; पृष्ठ १०७-१०८, स्टाट्स्कुंस्ट, खंड २, पृष्ठ १६। "फीजिस्कस" (physisches) भौतिक तथा "गीस्टिगस" (geistiges), आध्यात्मिक पूंजी के मध्य अन्तर का रोचक स्पष्टीकरण करते हुए मुल्लर उन्हें दो बड़ी-बड़ी सामान्य अधिकृत वस्तुओं (पजेशंस) 'पैसा' और 'भाषा' में बाँट देता है। इस प्रकार राष्ट्रीय सम्पत्ति में चार तत्त्व

एक और बात, जिसे लेकर मुल्लर ने ऐडम स्मिथ की कड़ी आलोचना की है, श्रम के विभाजन के बारे में है। वह कहता है, और ठीक ही कहता है, कि मनुष्य का पूर्ण नागरिक के रूप में अस्तित्व केवल इसीलिये समाप्त नहीं हो जाना चाहिये, क्योंकि वह अपने व्यवसाय की देख-रेख करता है। एक कल्पनाबहुल सन्दर्भ में वह मनुष्य का उस रूप में चित्रण करता है, जैसा कि वह समाज के प्रारम्भ में अपनी सर्वाङ्ग-सम्पूर्ण क्षमताओं के साथ प्रकट हुआ था। उस दशा में सम्पूर्ण राज्य केवल एक ही मनुष्य है; परन्तु उसी प्रकार व्यक्तिशः मनुष्य भी राज्य से किसी प्रकार कम नहीं है। वे सब लोग, जो इस मूल मनुष्य के बाद आये, मिलकर एक ऐसा पूर्ण मनुष्य बनते हैं, जिसमें जीवन के विविध व्यवसाय वैसे ही प्राकृतिक समतुलन में हैं, जैसे कि वे उस मूल मनुष्य में थे। इस प्रकार श्रम का (या समाज के विभिन्न कार्यों का) विभाजन सब सम्बद्ध व्यक्तियों के मध्य एक इस प्रकार के व्यक्तिगत सम्बन्ध द्वारा ही सम्भव है, जिससे अपने सम्मिलन द्वारा वे एक महान् और पूर्ण व्यक्ति का रूप धारण कर सकें।[1] परन्तु एक ओर जहाँ इस क्रमशः बढ़ते हुए श्रम के विभाजन के फलस्वरूप हम उस मूल मनुष्य से दूर और दूर हटते जाते हैं, जिसमें सारी गतिविधियाँ एक जगह मिली हुई थीं, वहाँ प्रत्येक व्यक्ति की अलग-अलग आवश्यकताएँ पहले जैसी ही बनी हुई हैं। इसलिये प्रत्येक व्यक्ति केवल इस शर्त पर श्रम कर सकता है कि दूसरे सब लोग उसके लिये श्रम करें। उसे दूसरों की सम्पूर्णता की (टोटेलिटी) आवश्यकता है, संक्षेप में समाज, जो सब आर्थिक कृत्यों का संयोग है, या राज्य "सब आवश्यकताओं की आवश्यकता" ठहरता है और ज्यों-ज्यों श्रम का विभाजन अधिक और अधिक होता जाय त्यों-त्यों समाज को मिलाकर एक रखने वाली यह शक्ति अधिक और अधिक मजबूत होती जानी चाहिये।[2]

होते हैं, भूमि, श्रम, भौतिक पूँजी (पैसा) और आध्यात्मिक पूँजी (बोली; पढ़ना और लिखना)। क्योंकि दार्शनिक के लिये भी ध्वनि-सौन्दर्य (जिंगल) के आकर्षण का संवरण कर पाना कठिन हो जाता है, इसलिये इन चार तत्त्वों के अनुसार ही समाज के चार वर्ग होते हैं: लेहर स्टैंड (Lehrstand), वेहरस्टैंड (Wehrstand), नाहरस्टैंड (Nahr stand) और वैर्केहरस्टैंड (Varkehrstand) (स्टाट्सकुन्स्ट भाग २ पृष्ठ २६, ३३)।

१. थियोरी डेस जैल्डेस; पृष्ठ १२३, १२४। २. वही; पृष्ठ १३८।

श्रम के विभाजन की इस व्यवस्था को, कि यह लोगों की "लेन-देन की प्रवृत्ति" का परिणाम है, मुल्लर ने बहुत नरम शब्दों में अपूर्ण कहा है। श्रम का विभाजन पूंजी से, या मुल्लर के अपने शब्दों में "अतीत" से उत्पन्न होता है, और उसी पर निर्भर रहता है। यह पूंजी या अतीत श्रमिक को उस समय गारंटी दिये रखती है, जब कि वह किसी भी अपने विशिष्ट कार्य में जुटा होता है। फिर भी श्रम का विभाजन (और इसका श्रेय मुल्लर को है कि उसने इस बात को अनुभव किया) स्वयं भी मनुष्य को दास या यंत्र के समान हीन बना दे सकता है, यदि इस प्रकार के खतरों को रोकथाम और इनसे बचाव के लिये कामगरों के मन में अतीत उत्तराधिकार में प्राप्त सच्ची राष्ट्रीय पूंजी सचेत न हो।[1]

ऐडम स्मिथ की आलोचना करते हुए मुल्लर स्मिथ के एकपक्षीय दृष्टिकोण को क्षम्य-सा बताने के लिए बार-बार एक बिन्दु पर लौट आता है। वह बिन्दु यह है कि स्मिथ के सिद्धान्त विशिष्ट रूप से ब्रिटेन की उपज थे और उनको पूरी तरह तभी हृदयंगम किया जा सकता है, जबकि पाठक इंग्लैण्ड में विद्यमान दशाओं को अपनी दृष्टि में रखें। इतना ही नहीं; जिन तत्त्वों की स्मिथ के सिद्धान्तों में उपेक्षा की गई थी, वे यूरोप महाद्वीप के देशों के लिये सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण थे, क्योंकि वहाँ की परिस्थितियाँ ब्रिटेन से भिन्न थीं। मुल्लर निरन्तर ब्रिटेन के सम्बन्ध में इतने ही प्रशंसापूर्ण ढंग से लिखता है, जिससे पाठक को कुछ परेशानी-सी होने लगती है। वह लिखता है कि स्मिथ आध्यात्मिक पूंजी के तत्त्व की इसलिये उपेक्षा कर सकता था, क्योंकि इंग्लैंड में हर कोई उसे पहले से ही स्वीकार-सा किये हुए है। वहाँ पर सम्पत्ति को बनाये रखने या बचाये रखने की प्रत्यक्षतः उपेक्षा करके भी उत्पादन पर जोर दिया जा सकता है क्योंकि वहाँ के संविधान एवं प्रथाओं के कारण जीवन-निर्वाह (एर्हाल्टुङ्ग) और राष्ट्रीय एकता का सिद्धान्त स्वतः ही उनके अन्दर तक रम गया है। इसलिये ब्रिटेन में श्रम के विभाजन के सिद्धान्त को लागू करने के वे दुष्परिणाम भी नहीं होंगे, जो अन्यत्र कहीं हो सकते हैं; क्योंकि वहाँ लोगों को पुनः संगठित करके एक बनानेवाली राष्ट्रीय आध्यात्मिक पूंजी विद्यमान है, जिसके कारण इस सौभाग्य-

१. स्टाट्सकुन्स्ट; खंड २, पृष्ठ १७, २३।

वाली द्वीप का प्रत्येक नागरिक सर्वत्र व्याप्त प्राचीन काल की भावना और अतीत की सांझी सफलताओं से उत्प्रेरित तथा श्रेष्ठ भावनाओं से युक्त बना रहता है। यह सारी स्तुति बहुत कुछ दूर से आती हुई "रूल ब्रिटेनिया" के किसी पद की प्रतिध्वनि-सी प्रतीत होने लगती है। मुल्लर का सिद्धान्त स्वीकार किया जाय या न किया जाय, किन्तु कम से कम वह समस्या पर प्रकाश अवश्य डालता है।

क्योंकि मुल्लर की एक प्रमुख रचना विशेष रूप से द्रव्य के सिद्धान्त पर ही लिखी गई है, इसलिए अर्थशास्त्रीय सिद्धान्त के इस पहलू पर उसके विचारों का मामूली-सा उल्लेख कर देना भी आवश्यक प्रतीत होता है। परन्तु इस क्षेत्र में मुल्लर अन्य किसी भी क्षेत्र की अपेक्षा कहीं अधिक रहस्यपूर्ण, धूमिल (नेबुलस) और प्रतीकमय ही उठा है; और वस्तुतः कई स्थानों पर तो, भय है कि, वह पूर्णतया अबोध हो गया है। यह पहले प्रदर्शित किया जा चुका है कि मनुष्य की आधारभूत आवश्यकता अपने साथियों के साथ पुनर्मिलन की आवश्यकता है। द्रव्य या पैसा प्राप्त करने की इच्छा इस मिलन की कामना का दूसरे शब्दों में कहें तो राज्य की कामना का ही प्रतिबिम्ब है। मनुष्य और वस्तुएँ एक दूसरे के साथ संयुक्त होने की अपेक्षा रखते हैं और इनका संयोग कराने वाली महान् शक्ति राज्य है। पैसा या द्रव्य इस सम्मिलन की आर्थिक अभिव्यक्ति है। ठीक वैसी ही जैसे कि कानून उसकी वैधानिक अभिव्यक्ति है। वस्तुतः यह राज्य का स्थानापन्न (सब्स्टीट्यूट) है और राज्य के ही समान, तथा वस्तुतः सम्पूर्ण सम्पत्ति के समान, इस पर भी सबका सांझा अधिकार होना चाहिये। पैसा केवल तभी तक पैसा है, जब तक कि वह चलन में रहता है, एक हाथ से दूसरे हाथ में जाता रहता है। परन्तु यदि वह किसी एक व्यक्ति की अधिकृत वस्तु बन जाय और "एक जगह पड़ा रहे" तो वह पैसा नहीं रहता। ऐसी दशा में, क्योंकि पैसे का सारभूत तत्त्व यह है कि यह वह सीमेंट है, जो सारे समाज को जोड़कर एक बनाये रखता है, अतः मुल्लर की दृष्टि में पैसा एक ऐसी वस्तु है, जो बाजार में पायी जाने वाली पैसे की साधारण धारणा से भिन्न और अधिक है। जिस सीमा तक कोई भी वस्तु दो व्यक्तियों की इच्छा का विषय बन जाती है, उस सीमा तक वह पैसा (द्रव्य) बन जाती है। इस प्रकार पैसा एक गुण है, जो नागरिक समाज में

विद्यमान सब व्यक्तियों और वस्तुओं में स्वभाव से विद्यमान है, और केवल उसी के द्वारा वे दूसरे व्यक्तियों के साथ सम्पर्क में आते हैं। स्वयं नागरिक भी, जिस सीमा तक वह दूसरों के लिये अपेक्षाकृत आवश्यक बन जाता है, पैसा (द्रव्य; मनी) बन जाता है। वह जितना ही अधिक उत्कृष्ट होगा, वह उतना ही अधिक पैसा समझा जायगा। इसी प्रकार दूसरी जगह राज्य पैसा है, इसी प्रकार कानून भी पैसे का विशुद्धतम रूप है। इस प्रकार पैसा, समाज की आवश्यकता के प्रतिनिधित्व की दृष्टि से, एक शाश्वत वस्तु है, एक प्राथमिक आवश्यकता, जो सब कालों में अपने दो रूपों में विद्यमान रहता है, जिनमें से एक तो है धात्वीय पैसा, (द्रव्य) और दूसरा है "वचन"।[1] यह ठीक है कि हर कोई लेखक या लेखिका इस विषय में स्वतन्त्र है कि वह जैसे भी चाहे पैसे की (या अन्य किसी भी वस्तु की) परिभाषा करे, परन्तु पैसे के इस प्रकार परिभाषा किये गये सिद्धान्त द्वारा राज्य के कोषागार या बैंक आफ इंग्लैंड में किसी भी प्रकार का ज्ञानवर्धन होने की सम्भावना कम ही है। यह बड़े सन्तोष की बात है कि यहाँ हमारे लिये उन दुराग्रहों और प्रतीकवादों का विवेचन करना बिलकुल अनावश्यक है, जिनसे मुल्लर के सिद्धान्तों को सजाया और अस्पष्ट कर दिया गया है, परन्तु यहाँ यह देख लेना रोचक होगा कि मुल्लर ने इस तथ्य की ओर ध्यान दिया है कि कागजी मुद्रा प्रचलन का एक सुपरिणाम यह होता है कि जिनके पास यह कागजी मुद्रा रहती है, उनका सम्बन्ध अपने राज्य से और अधिक घनिष्ठ हो जाता है। इसके विपरीत विश्व-द्रव्य (वर्ल्ड मनी) या धात्वीय द्रव्य यह भ्रम उत्पन्न कर देता है, कि उस द्रव्य के स्वामी के हित विश्व-व्यापार के प्रवाह पर निर्भर है और इस प्रकार इस तथ्य को आँखों से ओझल कर देता है कि वह व्यक्ति प्रत्यक्षतः अपने देश के आन्तरिक व्यापार पर और अपने देश के प्रभु (सावरेन) पर कहीं अधिक आश्रित है। सोना और चाँदी धनिक के इस विश्वास को प्रोत्साहन देते हैं कि जहाँ कहीं भी धात्वीय स्वर्ण की भाषा समझी जाती है, वही मनुष्य की मातृभूमि है, परन्तु कागजी मुद्रा मनुष्य का स्नेह अपनी मातृभूमि से कराती है।[2]

---

१. पैसे की विचित्र व्याख्याओं के लिये देखिये स्टाट्सकुंस्ट; भाग १, पृष्ठ ३५१, ३५४; भाग, २, पृष्ठ ७८, ९७-१०१; थियोरी डेस जेल्डेस; पृष्ठ १८०, २१२।

२. स्टाट्सकुंस्ट; भाग १, पृष्ठ ४५३।

लिस्ट

रोमांटिकवाद के उद्‌गम के सम्बन्ध में हाल में लोगों की रुचि जगा देने के अतिरिक्त मुल्लर का महत्त्व इस तथ्य पर भी आधारित है कि उसका दृष्टिकोण फ्रीड्रिक लिस्ट[1] की रचनाओं में भी बहुत अधिक प्रतिफलित हुआ दीख पड़ता है। लिस्ट कोई कल्पनाप्रिय स्वप्नदर्शी न था। उसने अपने समय के मामलों में बहुत क्रियात्मक रूप से भाग लिया, और भले ही संसार ने उसे कुचल दिया, फिर भी वह था सांसारिक व्यक्ति ही। परन्तु एक बड़ी सीमा तक उसकी विचारधारा मुल्लर की विचारधारा से मेल खाती है। मुल्लर ने जिन बातों को रहस्यवाद और प्रतीकवाद की धुंध में एक अस्पष्ट-से रूप में देखा था, और जिन्हें भारी-भरकम शब्द-जाल में अभिव्यक्त किया था, उन्हीं बातों को लिस्ट ने एक राजनीतिक प्रचारक के ढंग से लिखकर प्रस्तुत किया।

व्यावहारिक दृष्टि से अर्थशास्त्रीय सिद्धान्त को लिस्ट की लगभग सारी देन उसकी पुस्तक "दि नेशनल सिस्टम आफ पोलिटिकल इकोनोमी"[2] में प्राप्त होती है। इसमें काफी हद तक यह दोष है कि यह मुख्य रूप से अपने समय के जर्मनी को प्रोत्साहित करने के लिये लिखी गयी एक सामयिक रचना भर है। यह पुस्तक बहुत ही कठोर आक्षेपात्मक शैली में लिखी गयी है। इसमें जिस प्रतिद्वन्द्वी को पछाड़ डालने का यत्न किया गया है, वह है या तो ऐडम स्मिथ का कुछ विकृत रूप, अथवा ऐडम स्मिथ और उसके अपेक्षाकृत कम सावधान अनुयायियों का सम्मिलित रूप, जिनका उल्लेख लिस्ट ने अपनी सारी पुस्तक में "दि स्कूल" नाम से किया है। ऐडम स्मिथ पर किया गया आक्रमण बहुत ही सजीव और सप्राण है, भले ही पुस्तक में यह दोष है कि उसमें एक ही बात

---

१. रियूटलिंजन में १७८६ में जन्म हुआ। १८१७ में ट्यूबिंजन में अर्थशास्त्र का प्रोफेसर बना। १८१६ में पद-त्याग करने के लिये विवश हुआ; उसके बाद वर्टेम्बर्ग चेम्बर का सदस्य बना। अपने सुधार के लिये किये गये आन्दोलन के फलस्वरूप उसे चेम्बर की सदस्यता से हटा दिया गया। जेल से छूटने के बाद वह अमेरिका चला गया। वहाँ वह ७ वर्ष तक पत्रकारिता इत्यादि द्वारा अपना निर्वाह करता रहा। जर्मनी लौटने पर जौलवेरिन के मामलों का समर्थन शुरू किया। उसका स्वास्थ्य बिगड़ गया और आर्थिक स्थिति बहुत गिर गई। १८४६ में उसका दुःखद परिस्थितियों में अवसान हो गया।

२. ये सब उल्लेख ऐस० ऐस० लायडकृत अंग्रेजी अनुवाद के विषय में हैं।

अनेक बार दुहराई गयी है, जो कहीं-कहीं तो असह्य हो उठती है। लिस्ट की सर्वांग सम्पूर्ण समालोचना न करके उसके कुछ ऐसे विचारों को चुना जा सकता है, जो लिस्ट द्वारा की गई "दि स्कूल" की आलोचना के सार का प्रतिनिधित्व कर सकें।

उसकी आलोचना का मुख्य आधार उसका यह मन्तव्य है कि ऐडम स्मिथ ने केवल मूल्य का सिद्धान्त प्रस्तुत किया है, ऐडम स्मिथ का सिद्धान्त केवल एक दूकानदार का सिद्धान्त है, जो "विनिमय मूल्य" की धारणा के ऊपर टिका हुआ है।[1] "सम्पत्ति" और "सम्पत्ति के कारण" दो बिलकुल पृथक् धारणाएँ हैं और इनमें से पिछली धारणा पर विचार करना पहली की अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है।[2] यह सम्भव है कि एक व्यक्ति के पास सम्पत्ति हो; परन्तु यदि उसमें, जितना वह उपभोग करता है, उससे अधिक उत्पादन करने की क्षमता नहीं है, तो वह गरीब और गरीब होता जायगा। "इसलिये सम्पत्ति का उत्पादन करने की क्षमता स्वयं सम्पत्ति की अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है; यह क्षमता न केवल इस बात का आश्वासन है कि जो कुछ प्राप्त हो चुका है, वह अपने अधिकार में बना रहेगा और बढ़ता रहेगा, बल्कि इस बात का भी, कि जो सम्पत्ति गंवा दी गयी है, उसके स्थान पर भी कोई नयी सम्पत्ति आ जायगी।"[3] इस विचारधारा पर चलते हुए लिस्ट सारे समय उन दो वस्तुओं के मध्य पारस्परिक वैषम्य (कंट्रास्ट) पर बल देता है, जिन्हें वह 'मूल्य का सिद्धान्त' और 'उत्पादन-क्षमताओं का सिद्धान्त' कहता है; और इस अंतर को स्पष्ट करने के लिये वह उन दो पिताओं का उदाहरण प्रस्तुत करता है, जिनमें से प्रत्येक के पाँच लड़के हैं, और दोनों की ही वार्षिक बचत एक हजार रुपये (मूल में थेलर शब्द है) है। उनमें से एक अपनी बचत को ब्याज पर

१. उदाहरण के लिये देखिये "नेशनल सिस्टम आफ पोलिटिकल इकोनोमी"; पृष्ठ २७६।

२. इस बात का स्पष्टीकरण करते हुए मुल्लर की शब्दावली मनोरंजक है। वह "नेशनल रीकथम" (Nationalreichthum) और "नेशनलबेरीशेरुंग" (Nationalbereicherung) में विषमता प्रदर्शित करता है। (थियोरी डेस जेल्डस; पृष्ठ ४४)

३. नेशनल सिस्टम आफ पोलिटिकल इकोनोमी; पृष्ठ १०८ और वस्तुतः सारा बारहवाँ अध्याय।

उधार देता है, म र अपने पु से मामूली ढंग का कठोर परिश्रम करवाता है। दूसरा पिता अपनी बचत का उपयोग अपने पुत्रों को ऐसी शिक्षा दिलाने के लिये करता है; जिससे दो तो "दक्ष और बुद्धिमान्" भूस्वामी बन सकें और शेष तीन अन्य उपयोगी व्यवसायों को सीख सकें। इन दो पिताओं में से पहला तो 'मूल्यों के सिद्धान्त' पर चल रहा है, वह अपनी मृत्यु के समय अपेक्षाकृत अधिक धनी होगा। परन्तु 'उत्पादन-क्षमता के सिद्धान्त' की दृष्टि से दूसरा पिता अधिक प्रशंसनीय है।[1]

इसलिये "उत्पादन क्षमताओं का विकास" ही वह वस्तु है, जिस पर सारे समय दृष्टि रखी जानी चाहिये; और जिन कारणों का इस उत्पादन-क्षमता पर प्रभाव पड़ सकता है, वे अनगिनत हैं :

"ईसाई धर्म, एक विवाह-प्रथा, दास-प्रथा और सामन्त-प्रथा (वासालेज) की समाप्ति, राजसिंहासन का उत्तराधिकार से प्राप्त होना, मुद्रण, छापाखाने, डाक-प्रणाली, पैसे, बाटों और मापों, पंचांग, (केलेण्डर), घड़ियों और पुलिस का आविष्कार, सम्पत्ति पर स्वतन्त्र निजी अधिकार के सिद्धान्त की स्थापना, परिवहन के साधनों का प्रारम्भ, ये सब उत्पादन-क्षमता के समृद्ध स्रोत हैं।.... ऐसे किसी भी कानून या सार्वजनिक कानूनी निश्चय की कल्पना कर पाना कठिन है, जिनके फलस्वरूप राष्ट्र की उत्पादन-क्षमता को बढ़ाने या घटाने की दृष्टि से कुछ कम या अधिक प्रभाव न पड़ता हो।"[2]

यह बात ध्यान देने योग्य है कि यह सब हमारे राष्ट्रीय जीवन में समाये हुए मानवीय उत्तराधिकार के सर्वयोग से जरा भी कम नहीं है और वस्तुतः लिस्ट इसे इस रूप में प्रकट भी करता है :

"राष्ट्रों की वर्तमान अवस्था इससे पहले की सब पीढ़ियों द्वारा की गई खोजों, आविष्कारों, संशोधनों, पूर्णताओं और परिश्रम के संचय का परिणाम है; ये सब वर्तमान मानव-जाति की मानसिक पूँजी हैं; और प्रत्येक पृथक् राष्ट्र केवल उतने ही अनुपात में अधिक या कम उत्पादनशील होता है, जिस अनुपात में वह यह जानता होता है कि अपने से पहले की पीढ़ियों की इन सफलताओं का लाभ किस प्रकार उठाया जाय और अपने प्रयत्न द्वारा इनमें किस प्रकार

१. वही पृष्ठ ११२।
२. वही पृष्ठ ११३।

वृद्धि की जाय......."[1]

इस ओर चलते-चलते हम लिस्ट द्वारा "दि स्कूल" पर किये गये आक्रमण की दूसरी तथा और भी जोरदार-युक्ति परम्परा पर आ पहुँचते हैं, और वह है उनकी (स्कूल की) राष्ट्रीय तत्व की उपेक्षा। क्वेसने ने अपने अवेक्षण (इनवेस्टिगेशन) का क्षेत्र समस्त मानव-जाति तक विस्तृत रखा; और उसी का अनुकरण करते हुए ऐडम स्मिथ भी उसी की भाँति सच्चे राजनीतिक अर्थशास्त्र की उपेक्षा कर बैठा है। यदि शाब्दिक अर्थ लिया जाय, तो राजनीतिक अर्थशास्त्र का सम्बन्ध राष्ट्र के जीवन से होना चाहिये, परन्तु "स्कूल" ने उनके स्थान पर, "विश्वजनीन या संसारव्यापी अर्थशास्त्र"[2] को ला विठाया है। यदि यह मान लिया जाय कि सब राष्ट्रों का एक निखिल संगठन या संघ बन जायगा, तो स्वच्छन्द व्यापार की स्थिति न्यायोचित कही जा सकती है, परन्तु "लोकप्रिय 'स्कूल' ने उन परिस्थितियों को वस्तुतः विद्यमान मान लिया है, जिनका अस्तित्व में आना अभी शेष है।"[3] इस समय, जहाँ तक हमें मालूम है, स्थिति यह है कि प्रत्येक व्यक्ति और समस्त मानवता के बीच में राष्ट्र खड़ा है, जो उस परम्परा का साकार रूप है, जिसकी लिस्ट एसे शब्दों में प्रशंसा करता है कि अनायास ही बर्क और मुल्लर के शब्द याद आ जाते हैं।[4] पृथक्शः व्यक्ति केवलमात्र उत्पादक और उपभोक्ता ही नहीं हैं, अपितु वे राज्यों के नागरिक और राष्ट्रों के सदस्य भी हैं;[5] और इससे भी बढ़कर बात यह है कि व्यक्तियों की उत्पादन की क्षमता बहुत बड़ी सीमा तक किसी भी राष्ट्र की सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों द्वारा निर्धारित होती है।[6] ऐसी दशा में राजनीतिक अर्थशास्त्र का काम राष्ट्र के आर्थिक विकास को पूर्ण करना ही है।

इस प्रकार यह निष्कर्ष निकलता है कि अर्थशास्त्र को राजनीति से अलग रखने का प्रत्येक प्रयत्न गलत है, और यह कि स्वच्छाचारिता (लैस्से फेयर) का सिद्धान्त केवल एक भ्रम है। जैसा कि लिस्ट ने एक जगह कहा है और बाद की घटनाओं से उसका औचित्य प्रमाणित हुआ है—"किसी भी राष्ट्र की अर्थ-

---

१. वही; पृष्ठ ११३। २. वही; पृष्ठ ९८।
३. वही; पृष्ठ १०२। ४. वही; पृष्ठ १४१।
५. वही; पृष्ठ १४०। ६. वही; पृष्ठ ६५।

व्यवस्था जितनी ही अधिक विकसित हो, वहाँ सर्वत्र ही विधान निर्माण करने वाली सत्ता और प्रशासन के हस्तक्षेप की आवश्यकता उतनी ही अधिक स्पष्ट दिखाई पड़ने लगती है।[1] 'यथेच्छाचारिता' एक ऐसा सिद्धान्त है, जो डाकुओं, ठगों और चोरों को भी उतना ही प्रिय लगता है, जितना कि व्यापारियों को।[2] राजनीतिज्ञ का कार्य हाथ पर हाथ रख कर बैठे रहना नहीं है। "राजनीतिज्ञ को यह पता होगा, और उसे यह पता होना चाहिये कि...सम्पूर्ण राष्ट्र की उत्पादनशील शक्तियों को किस प्रकार जाग्रत किया जा सकता है, बढ़ाया जा सकता है और संरक्षण दिया जा सकता है, और इसके विपरीत उन्हें किस प्रकार दुर्बल, प्रस्तुत या पूर्णतया नष्ट किया जा सकता है।"[3]

तब राजनीतिज्ञ के इस कार्य को किस प्रकार पूरा किया जाय? इस प्रश्न का उत्तर हमें उस स्थान तक पहुँचा देता है, जो सम्भवतः लिस्ट के सिद्धांत का केन्द्रीय बिन्दु है। ऐडम स्मिथ ने श्रम के विभाजन से होने वाले लाभों पर उस रूप में जोर दिया था, जिसमें वे इसे (श्रम-विभाजन को) किसी भी एक व्यवसाय, उदाहरण के लिये पिनों के निर्माण पर लागू करने से प्राप्त होते हैं। उसे इस बात का "कुछ भी अन्दाज नहीं था कि श्रम के विभाजन का राष्ट्र पर क्या प्रभाव पड़ेगा",[4] और यदि सारे राष्ट्र पर लागू किया जाय तो श्रम के विभाजन का सिद्धान्त का अर्थ है कि उन सब शक्तियों का, जो राष्ट्र में विद्यमान हैं, उचित अनुपात में विकास किया जाय।

"लोकप्रिय 'स्कूल' जिस सीमा तक उत्पादन की शक्तियों की प्रकृति के सम्बन्ध में समुचित रूप से विचार नहीं करता, और राष्ट्रों की परिस्थितियों पर उनके समूचे (सार्वयौगिक) रूप पर ध्यान नहीं देता, उस सीमा तक वह कृषि, निर्माण-व्यवसाय और वाणिज्य, राजनीतिक शक्ति और आन्तरिक सम्पत्ति के समान अनुपात में विकास के महत्त्व की विशेष रूप से उपेक्षा करता है, और विशेष रूप से उस निर्माण-शक्ति के मूल्य की उपेक्षा करता है, जो विशेष रूप से राष्ट्र की है और जो अपनी सब शाखाओं में पूर्णतया विकसित हो चुकी है।"[5]

---

१. वही; पृष्ठ १३६। २. वही; पृष्ठ २०८।
३. वही; पृष्ठ २८४। ४. वही; पृष्ठ २८०।
५. वही; पृष्ठ ११४।

यह है वह सिद्धान्त, जिसके आधार पर लिस्ट ने अपने समय के जर्मनी में निर्माण-व्यवसायों को प्रोत्साहन देने की तीव्र आवश्यकता पर जोर दिया। उसके सिद्धांत में स्पष्टरूप से अपने युग की परिस्थितियों का उस रूप में उल्लेख दीख पड़ता है, जिस रूप में लिस्ट ने उन्हें देखा था। इंगलैण्ड सारे संसार का कारखाना बना हुआ था, और इस बात के लिए कटिबद्ध था कि यूरोप महाद्वीप के निर्माण-व्यवसायों को सिर उठाने से पूर्व ही कुचल दे। क्या अन्य राष्ट्रों के लिये यह बात भली थी कि वे इस प्रकार के "एक द्वीप के आधिपत्य" (इंसुलर सुप्रिमेसी) को स्वीकार करके आधीनता की स्थिति में रहकर संतोष कर लें? लिस्ट की युक्ति यह है कि केवल कृषिप्रधान राज्य सुनिश्चित रूप से उस राज्य की अपेक्षा घटिया है, जिसमें कृषि और निर्माण व्यवसाय दोनों मिले हुए हों; और इसी बात पर बल देते-देते वह कृषि की काफी कुछ निन्दा और समाज पर निर्माण-व्यवसायों के पड़ने वाले प्रभाव की अत्यधिक उत्साहपूर्ण प्रशंसा करने लगता है। इस प्रकार जहाँ यह कहना तो शायद उचित न हो कि वह फिर व्यापारवादियों के दृष्टिकोण की ओर वापस लौट चला है वहाँ यह निश्चित रूप से सत्य है कि वह एक ऐसी स्थिति तक जा पहुँचता है, जो प्रकृतिवादियों के पूर्णतया प्रतिकूल है। वह बार-बार इस युक्ति को प्रस्तुत करता है कि जलीय परिवहन (जहाजरानी), आन्तरिक और विदेशी व्यापार और स्वयं कृषि भी केवल उसी देश में फल-फूल सकती है, जहाँ निर्माण-व्यवसाय बहुत समृद्ध और उन्नत दशा तक पहुँच चुके हों।[1] जिस राष्ट्र के पास केवल कृषि ही कृषि है, उसके निवासियों में कार्य-पद्धतियों के सबसे अधिक आवश्यक विभाजन का अभाव है; ऐसा देश एक पूर्ण देश की अपेक्षा आधी तो दूर, दसवां भाग भी भौतिक सम्पत्ति प्राप्त नहीं कर सकेगा।[2] "अपंग कृषि-प्रधान राज्य" के विरोध में यह कहा गया है कि, उस राज्य में, जो उचित समय पर निर्माण-व्यवसायों को प्रारम्भ कर देगा, कृषि तथा उद्योग, दोनों की उत्पादक शक्तियों की एक दूसरे पर प्रतिक्रिया होगी, जिससे वे दोनों एक दूसरे की वृद्धि में सहायक होंगे—आशावादी लिस्ट का कथन है कि यह वृद्धि "वस्तुतः असीम" ही होगी।[3] जिस राष्ट्र में एक मात्र खेती पर ही सारा ध्यान

१. वही; पृष्ठ ८६। २. वही; पृष्ठ १२४।
३. वही; पृष्ठ १२६।

दिया जाता है, वह एक ऐसे व्यक्ति के समान है, जिसके केवल एक ही हाथ है;[1] और ऐसे देश की दशा (बैरो तथा प्रकृतिवादियों के प्रति पूर्ण आदर रखते हुए) कितनी दुःखद होगी; क्योंकि वहाँ (केवल एक उद्गार उद्धृत करना काफी होगा) "मस्तिष्क की कुंठितता, शरीर की अपरूपता, प्राचीन भावनाओं, प्रथाओं, पद्धतियों और प्रक्रियाओं से चिपटे रहने का दुराग्रह, संस्कृति, समृद्धि और स्वाधीनता का अभाव व्याप्त रहेगा।"[2] दूसरी ओर निर्माण-व्यवसाय "विज्ञान और कला की सन्तान हैं; और साथ ही साथ उनको सँभालने वाले और उनका पालन-पोषण करने वाले भी हैं।"[3] वस्तुतः केवल निर्माण-व्यवसायों के प्रभाव द्वारा ही कृषि भी एक दक्षतापूर्ण उद्योग, एक कला, एक विज्ञान के स्तर तक उठ जाती है। यहाँ निर्माण-व्यवसाय-प्रधान उस राज्य की गुणावलियों का विस्तृत वर्णन अनावश्यक है, जहाँ आविष्कारों को प्रोत्साहन मिलता है; जहाँ प्रतिभा का मूल्यांकन होता है और उसे उचित प्रतिफल प्राप्त होता है; और जहाँ समय के वरदान का ठीक-ठीक मूल्य आँका जाता है।"[4] यहाँ इतना कह देना काफी है कि "राज्य में निर्माण-व्यवसायों की शक्ति बढ़ाने से राष्ट्र की सम्पूर्ण भौतिक शक्तियाँ, उसका राज्यीय राजस्व, उसकी रक्षा के भौतिक और मानसिक साधन और उसकी राष्ट्रीय स्वाधीनता की सुरक्षा उसी अनुपात में बढ़ जाते हैं।"[5] इतना ही नहीं, जैसा कि इसमें पहले ही गर्भित है, निर्माण-व्यवसायों का यह विकास स्वयं कृषि के विकास के लिये भी आवश्यक है। किसान यह चाहता है कि तैयार माल उसे अपने घर के दरवाजे

१. वही; पृष्ठ ११०। २. वही; पृष्ठ १५६।

३. वही; पृष्ठ १६१।

४. "गड़रिया समय के मूल्य को कैसे आँक सकता है, जबकि समय उसके लिये एक भार मात्र है, जिसे केवल उसकी चरागाह की बाँसुरी या नींद कुछ-कुछ सह्य बनाती है ?" (पृष्ठ १६३) गड़रिये के जीवन की यह सुन्दर और गीतात्मक धारणा अठारहवीं शताब्दी के गोचारण काल से अब तक भी बची चली आ रही प्रतीत होती है। गड़रिये के श्रम सम्बन्ध में श्री इर्नेरा का वर्णन देखिये : "वह बैठा तारों को देखता रहता है। बाकी काम प्रकृति करती है और वह सम्पन्न हो जाता है।" (सर्वे आफ सोशलिज्म; पृष्ठ २५१) जैसा राबर्ट बर्न्स ने आसान समझी आने वाली एक अन्य किसी बात के बारे में कहा था : "ठीक है, उन्हें कोशिश करने दो।"

५. नेशनल सिस्टम आफ पोलिटिकल इकोनोमी; पृष्ठ ११८।

पर मिले, विदेश में नहीं; निर्माण-व्यवसायों के कारण भूमि का मूल्य दसियों गुना हो जाता है, जिससे कृषकों को बहुत स्पष्ट रूप से लाभ होता है, जो इस तथ्य से प्रमाणित है कि किसी भी उपयुक्त राष्ट्र में आन्तरिक निर्माण-व्यवसायों के उत्पादन के फलस्वरूप साधारण कृषिज पदार्थों की माँग उसकी अपेक्षा दस से बीस गुनी तक अधिक हो जायगी, जितनी कि उस कृषिज उपज के अधिकतम लाभदायक निर्यात द्वारा हो पाती।[1]

इन सब बातों से इसका संकेत मिल जाता है कि राज्य के कार्य क्या होने चाहियें, क्योंकि लिस्ट के यहाँ अर्थशास्त्र राजनीतिक और राष्ट्रीय ही बना रहा है। सामान्य रूप से राष्ट्र की उत्पादनशील शक्तियों को बढ़ावा देना अत्यधिक आवश्यक है; विशेषरूप से, यह आवश्यक है कि सही समय पर निम्नतर स्तर से उच्चतर स्तर की ओर विकास किया जाय और इस मामले में लिस्ट के मन में खास तौर से यह बात है कि विशुद्ध कृषिप्रधान राज्य से ऐसे राज्य की ओर प्रगति की जाय, जिसमें कृषि और निर्माण व्यवसाय दोनों मिले हुए हों। अपने पूर्ण वक्तव्य में उसने विकास की पाँच अवस्थाएँ बताई हैं, जिसमें से प्रत्येक राष्ट्र को गुजरना होता है और इन दशाओं का वर्णन उसने इन नामों से किया है : मूल वर्बर अवस्था, गोचारण की अवस्था, कृषि-प्रधानता की अवस्था, कृषि तथा निर्माण व्यवसाय की दशा, और कृषि, निर्माण-व्यवसाय एवं वाणिज्य की अवस्था। परन्तु वस्तुतः उसका सम्बन्ध यहाँ केवल पिछली तीन अवस्थाओं से ही है।[2] वह मुख्य साधन, जिसके द्वारा कोई राष्ट्र निम्नतर अवस्था से उन्नततर अवस्था तक पहुँच सकता है, किसी न किसी रूप में संरक्षण ही है। परन्तु यह सामान्यतर प्रचलित धारणा, कि लिस्ट संरक्षण का कट्टर एवं असहिष्णु समर्थक था, उतनी ही भ्रान्त है, जितना कि यह काफी लोकप्रिय विचार कि ऐडम स्मिथ अक्षरशः स्वच्छन्द व्यापार का पक्ष-पोषक था। यह ठीक है कि लिस्ट ने संरक्षण पर अत्यधिक बल दिया है, क्योंकि उसका सरोकार मुख्यतया विकास की उस दशा से था, जिसमें कि उसके विचार के अनुसार संरक्षण उचित था; परन्तु यदि लिस्ट का सिद्धान्त की दृष्टि से पूरा रूप प्रस्तुत किया जाय, तो कहना होगा कि वह न

१. वही; पृष्ठ १६४, २००।
२. वही; पृष्ठ १४१।

तो संरक्षणवादी था और न स्वच्छन्द व्यापारवादी। इन दोनों में से कोई सी भी नीति उसकी दृष्टि में अन्तिम लक्ष्य नहीं है। ये दोनों ही नीतियाँ उसके लिए साधन मात्र हैं, और प्रत्येक अलग मामले के लिए उचित नीति का निर्णय उस मामले की परिस्थितियों को देखते हुए किया जायगा, जैसा कि उसने कहा है। "इतिहास हमें यह बताता है कि राष्ट्र किस प्रकार इसके कारण अपने लक्ष्य का परित्याग किये बिना अपनी प्रगति की सीमा के अनुसार अपनी प्रणालियों में संशोधन कर सकते हैं और उन्हें इस प्रकार संशोधन करना चाहिये भी।"[1] अपेक्षाकृत प्रारम्भिक दशाओं में वे उन्नतर देशों के साथ स्वच्छन्द व्यापार की नीति अपनायेंगे, जिससे वे बर्बरता और असभ्यता की स्थिति से ऊपर उठ सकें और कृषि के क्षेत्र में प्रगति कर सकें। उससे आगे की दशा में वे वाणिज्य पर प्रतिबन्ध लगाकर अपने निर्माण-व्यवसायों, मछली पकड़ने के व्यवसाय, जलीय परिवहन तथा विदेशी व्यापार को उन्नत करेंगे। और अन्तिम दशा में, जब कि वे सम्पत्ति और शक्ति की उच्चतम स्थिति में पहुँच चुके होंगे, तब वे फिर स्वच्छन्द व्यापार की नीति पर वापस लौट आयेंगे, जिससे वे अपने कृषकों, निर्माण-व्यवसायियों तथा व्यापारियों को आलस्य से बचाये रख सकें। वह स्पेन, पुर्तगाल और नेपल्स को इनमें से सबसे प्रारम्भिक दशा के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत करता है, जहाँ कि स्वच्छन्द व्यापार की नीति उपयुक्त रहेगी। संयुक्त राज्य अमेरिका और जर्मनी दूसरी दशा के उदाहरण हैं, जहाँ संरक्षण की नीति बरती जाने की आवश्यकता है। फ्रांस सर्वोच्च दशा की सीमा के पास तक पहुँचा हुआ है और ब्रिटेन ही केवल एक ऐसा देश है, जो सर्वोच्च दशा का उदाहरण है, और जहाँ पर स्वच्छन्द व्यापार की नीति को अपनाया जाना उचित है।

लिस्ट की विचारधारा में संरक्षण का प्रयोजन और उसकी सीमा कहाँ तक है, इस विषय में और अधिक सूक्ष्मतापूर्वक विचार कर लेना उचित है। उसका अन्तिम ध्येय स्वच्छन्द व्यापार है। परन्तु स्वच्छन्द व्यापार समान स्तर के देशों में ही हो सकता है; "इसलिये यदि स्वच्छन्द व्यापार की स्वतन्त्रता देना अभीष्ट हो, तो उसके लिये पहले पिछड़े हुए राष्ट्रों को कृत्रिम उपायों द्वारा

---

१. वही; पृष्ठ ९३।

उन्नति के उसी स्तर तक ऊँचा उठाया जाना चाहिये, जिस स्तर तक इंग्लैण्ड कृत्रिम उपायों द्वारा उठ चुका है।"[1] इसमें सन्देह नहीं कि संरक्षण इन कृत्रिम उपायों का ही रूप है, क्योंकि केवल इसके द्वारा ही पिछड़े हुए राष्ट्रों के साथ समानता के स्तर पर आ सकते हैं।[2] परन्तु संरक्षण को अपनाने की बात कहते हुए लिस्ट के मन में केवल काफी बड़े राष्ट्रों का ही ध्यान रहा है; और छोटे राज्यों का उल्लेख तो वह बहुत अवज्ञा के साथ करता है। वह कहता है कि "छोटा राज्य अपनी सीमाओं के अन्दर उत्पादन की विभिन्न शाखाओं को चरम पूर्णता तक कभी नहीं पहुँचा सकता। ऐसे राज्य में संरक्षण निजी एकाधिकार मात्र बनकर रह जाता है।" इस प्रकार का छोटा राष्ट्र केवल अपेक्षाकृत शक्तिशाली राज्यों के साथ गठबन्धन करके और अत्यधिक बलिदान करके ही बड़ी कठिनाई से अपनी स्वाधीनता की रक्षा कर सकता है।[3] परन्तु जहाँ कहीं संरक्षण उचित भी है, वहाँ भी लिस्ट को इस विषय में कोई सन्देह नहीं है कि संरक्षण वर्तमान काल में त्याग या बलिदान ही है। यह वर्तमान लाभों का इस प्रयोजन से बलिदान है कि जिससे भविष्य में लाभ प्राप्त हो सके।[4] परन्तु उसका कथन है कि भविष्य में जाकर इन बलिदानों से सैकड़ों गुना लाभ होता है, इसलिये उन्हें सारे राष्ट्र की ओर से किया गया उत्पादनशील व्यय (रिप्रोडक्टिव आउटले) समझना उचित है।[5] हाल ही में राष्ट्रीय ऋण की तह में जो वैषम्य (कंट्रास्ट) प्रस्तुत किया गया है, लिस्ट अवश्य ही उसका समर्थन करता है। राष्ट्रीय ऋण के मामले में यह उचित समझा जाता है कि वर्तमान पीढ़ी के हित के लिये जो ऋण लिया गया है, उसके बोझ का कुछ अंश भविष्य में आने वाली पीढ़ी भी उठाये; इसके विपरीत संरक्षण प्रणाली में भविष्य की पीढ़ियों के लिये किये जा रहे व्यय का बोझ वर्तमान पीढ़ी को उठाना पड़ता है। दोनों में प्रत्येक मामले में बोझ का बँटवारा राज्य द्वारा किया जाता है, क्योंकि केवल राज्य ही समय के ऊपर पर्याप्त सतर्क दृष्टि रख सकता है। जब हम इस प्रश्न की ओर मुड़ते हैं कि संरक्षण किस सीमा तक दिया जाना चाहिये, तो वहाँ भी बहुत सी परिमितियाँ (लिमिटेशंस) हैं। सबसे पहली बात तो यह है कि पूर्ण-

१. वही; पृष्ठ १०७। २. वही; पृष्ठ १०३।
३. वही; पृष्ठ १४२ एवं पृष्ठ २४७ भी देखिये।
४. वही; पृष्ठ ११७। ५. वही; पृष्ठ १८३।

तथा पुरानी कट्टर विचारधारा के अनुसार और "दि स्कूल" के सिद्धान्तों के अनुकूल यह युक्ति प्रस्तुत की गई कि जहाँ तक कच्चे माल के विनिमय का प्रश्न है, "वाणिज्य की अधिकतम स्वतन्त्रता" सदा ही व्यक्ति और सम्पूर्ण राज्य दोनों के लिये लाभदायक होती है। परन्तु तैयार माल का मामला बिलकुल भिन्न है; क्योंकि इस क्षेत्र में आयात पर प्रतिबन्ध लगाने से अनेक "प्राकृतिक शक्तियों का समूह सजीव और सचेष्ट हो उठता है।"[1] फिर संरक्षण का मामला केवल उन राज्यों तक ही सीमित रखा गया है, जो, जहाँ तक तैयार माल का प्रश्न है, यों तो सभ्यता के उच्चतम स्तर तक पहुँचने में समर्थ हैं, किन्तु "विदेशी निर्माण-व्यवसायों की शक्ति से प्रतियोगिता करने के कारण जिनकी प्रगति में बाधा पड़ रही है;" और इस दशा में भी संरक्षण का उपाय केवल औद्योगिक विकास के प्रयोजन के लिये ही प्रयोग में लाये जाने के लिये है; और यह उपाय "केवल उसी समय तक न्यायोचित कहा जा सकता है, जब तक कि अपने देश की निर्माण-शक्ति इतनी प्रबल न हो जाय कि उस विदेशी प्रतियोगिता से किसी प्रकार का भय न रहे।"[2] इतना ही नहीं "इस संरक्षण में विदेशी प्रतियोगिता एकदम समाप्त नहीं कर दी जानी चाहिए; क्योंकि ऐसा करने से वह संरक्षित राष्ट्र संसार के अन्य राष्ट्रों से एकदम और बिलकुल अलग हो जायगा।" उद्योग की सब शाखाओं को एक ही मात्रा में संरक्षण देना भी ठीक नहीं; केवल सबसे महत्त्वपूर्ण उद्योगों को ही संरक्षण दिया जाना चाहिए।[3] जब तक देश स्वयं अपने लिये मशीनों का निर्माण कर पाने में समर्थ न हो, तब तक मशीनों का आयात भी निःशुल्क होना चाहिए। संरक्षणात्मक प्रतिबन्ध की मात्रा के विषय में एक स्थान पर लिस्ट ने कहा है कि जब कोई उद्योग प्रारम्भ में ४० से ६० प्रतिशत के संरक्षण द्वारा भी स्थापित न किया जा सके, और उसके बाद निरन्तर २० से ३० प्रतिशत के संरक्षण द्वारा जारी न रक्खा जा सके, तो समझना चाहिए कि वहाँ "निर्माण-शक्ति के लिये आधारभूत दशाओं का अभाव है।"[4] यह भी अत्यावश्यक है कि शुल्क पहले ही बता दिये जायँ और उनमें बिना कोई उलट-फेर किये उन्हें जारी रक्खा जायं; और इस बिन्दु पर वह ऐडम स्मिथ की इस आधार पर कठोर आलोचना करता

१. वही; पृष्ठ १७५। २. वही; पृष्ठ १४४।
३. वही; पृष्ठ १४४-१४५। ४. वही; पृष्ठ २५१।

है, जो अयुक्तियुक्त नहीं है, कि उसने (चाहे आधे मन से ही सही) बदले की कार्यवाही का समर्थन किया। बदले की कार्यवाही लिस्ट की दृष्टि में एक ऐसा सिद्धान्त है, जिसके कारण शुल्क लगाने और उसके बाद उन्हें तुरन्त हटा लेने के विक्षोभकारी प्रभाव के फलस्वरूप "अत्यन्त बेहूदे और विनाशकारी परिणाम" उत्पन्न होंगे।[1]

यह बात स्पष्ट हो जाती है कि लिस्ट के लिये संरक्षण निश्चित रूप से संक्रमण काल का दौर मात्र है; फिर भी उस लिस्ट में, जो परस्पर युद्धरत राष्ट्रों के सम्बन्ध में विचार करता है, उस लिस्ट में, जो लगभग "लीग आफ नेशन्स" का पैगम्बर-सा जान पड़ता है, परस्पर विचित्र विरोध है। एक रूप में तो वह इस सिद्धान्त की घोषणा करता है कि जर्मनी को जर्मनी की फिक्र करनी चाहिए, और रूस को रूस की" और वह कहता है कि "आशा और प्रतीक्षा करते रहने और यह उम्मीद लगाये रखने के बजाय कि कोई स्वतन्त्र व्यापार का समर्थक मसीहा उत्पन्न होगा, अच्छा यह है कि विश्व-भ्रातृत्व की भावना को आगमें झोंक दिया जाय।"[2] अपनी इस मनःस्थिति में भी बड़ी-बड़ी सेनाओं के प्रेम से प्रेरित लिस्ट अखिल जर्मनी की एकता का समर्थक (पान जर्मनिस्ट) है और वह इस बात को स्पष्ट कर देता है कि हालैण्ड और डेनमार्क को जर्मन-संघ (बंड) में आना ही चाहिए।[3] एक दूसरे स्थान पर वह कहता है कि जर्मनी को हालैंड, बेल्जियम और स्विटजरलैंड के साथ मिलकर "वाणिज्य और राजनीति की दृष्टि से एक पूर्ण इकाई" बन जाना चाहिए;[4] और वह उस दशा में युद्ध तक को लाभदायक समझता है, यदि उसका परिणाम संरक्षण और उसके द्वारा राज्य की विशुद्ध कृषि-प्रधान दशा से निर्माण व्यवसायों की दशा की ओर प्रगति होती हो।[5] फिर अन्य स्थानों पर वह, निःसंदेह ईमानदारी के साथ, इस बात की कल्पना करता है कि अदूर भविष्य में ही सब राष्ट्रों का एक संघ बन जायगा; और वह उन शक्तियों की ओर भी संकेत करता है, जो इस दिशा में प्रयत्नशील हैं। वस्तुतः संरक्षण ऐसे राष्ट्र-संघ के निर्माण में सबसे अधिक सहायक साधन है और इसीलिए यह व्यापार की सच्ची स्वतन्त्रता को बढ़ाने का भी

१. वही; पृष्ठ २५४-२५५। २. वही; पृष्ठ ७५।
३. वही; पृष्ठ १४३। ४. वही; पृष्ठ ११२।
५. वही; पृष्ठ १४८।

साधन है ।[1] इस सम्बन्ध में लिस्ट की स्थिति को स्पष्ट करने के लिये यह बात सबसे अधिक ध्यान देने योग्य है कि व्यापारवादी प्रणाली की आलोचना करते हुए उसने उसके विरुद्ध एक यह भी आक्षेप लगाया है (और फिर निस्संदेह ईमानदारी के साथ) कि "व्यापारवाद मुख्यतया विश्व-भ्रातृत्व के सिद्धान्त की पूर्ण उपेक्षा करने के कारण भविष्य में बनने वाले राष्ट्रों के संघ की स्थापना, स्थायी शान्ति की स्थापना और व्यापार की सार्वत्रिक स्वतन्त्रता को ऐसा लक्ष्य स्वीकार नहीं करता, जिस तक पहुँचने का सभी राष्ट्रों को अधिकाधिक प्रयत्न करना है ।[2]

वान थुनन

डाक्टर स्पान जैसे लोगों के प्रशंसनीय प्रयासों के बाद भी जोहन हीनरिख वान थुनन[3] का, जो इस वर्तमान वर्ग का तीसरा लेखक है, आध्यात्मिक या मानसिक दृष्टि से मुल्लर या लिस्ट से कोई घनिष्ट सम्बन्ध मान पाना सम्भव नहीं है । वान थुनन केवल संयोगवश ही अर्थशास्त्री बन गया, क्योंकि उसकी रुचि एक ऐसी समस्या में थी, जो एक व्यावहारिक कृषक के रूप में प्रतिदिन उसकी आँखों के सम्मुख आती थी । साथ ही वह दयालुचित्त व्यक्ति था, जिसे अपने साथियों का बराबर ध्यान रहा था, और इसीलिये उसने अपने अपेक्षाकृत गरीब पड़ोसियों की सामाजिक दशा के सम्बन्ध में अपने विचारों को लेखबद्ध कर डाला । पर यह कहने में कोई खतरा नहीं है कि मुल्लर के विचार यदि उसने पढ़े होते, तो वह उनसे ऊब उठा होता; और उसकी दिलचस्पी उन विषयों में भी बहुत कम थी, जिनके बारे में लिस्ट को बड़ा उत्साह था । राष्ट्रीयता के दावों के उलझे हुए प्रश्न पर वह केवल इतना कहकर शान्त हो जाता है कि राष्ट्रों को यह समझना छोड़ देना चाहिये कि वे स्वयं ही "पृथ्वी के केन्द्र-बिन्दु हैं; और वह यह सिफारिश करता है उन्हें मानवता के कल्याण को अपना ध्येय बनाना चाहिये । उसने इंगलैंड की प्रशंसा में भी कुछ शब्द कहे हैं, क्योंकि इंगलैंड ने हाल ही में इस आत्म-बलिदान के पथ पर चलने की ओर

१, वही; पृष्ठ १०१,१०२ । २. वही; पृष्ठ २७२ ।

३. जन्म १७८३ में हुआ । यह ओल्डनबर्ग के एक जमींदार का पुत्र था । कुछ समय तक वह गोटिंजन में विद्यार्थी रहा । १८१० में उसने में टैलो एक बड़ी जमींदारी खरीद ली और वहीं रहता रहा । १८५० में उसका देहान्त हुआ ।

झुकाव प्रदर्शित किया है।[1] पढ़ने वाले पर यह प्रभाव पड़ता है कि अर्थशास्त्र के राजनीतिक पहलू (जो मुल्लर और लिस्ट की दृष्टि में आधारभूत वस्तु थी) का आकर्षण वान थुनन के लिये नहीं के बराबर था। वह एक भूस्वामी (लैंडलॉर्ड) था, जिसकी दिलचस्पी अपनी जमीनों में और उस जमीन पर काम करने वाले मजदूरों में थी। उसे शाम के समय दिन भर का हिसाब-किताब लिखने का भी अत्यधिक चाव था।

अर्थशास्त्र-सिद्धान्त के विकास में वान थुनन का महत्त्व उसकी उस पुस्तक के कारण है, जिसका नाम उसने असंपृक्त राज्य (Der Isolierte Staat) रखा। एक दृष्टि से उसका सारा जीवन ही इस पुस्तक की पृष्ठभूमि कहा जा सकता है। वह अपने आपको ऐडम स्मिथ का शिष्य मानता है; परन्तु उसका कथन है, और यह कथन सत्य है, कि स्मिथ ने कई बातों में घपला कर दिया है। उसने लाभ और ब्याज को मिलाकर गड़बड़झाला कर दिया है; उसने ब्याज की समुचित ढंग से व्याख्या नहीं की; अन्य अनेक विन्दुओं पर उसके विचार "अपूर्ण" थे।[2] अपने गुरु के प्रति श्रद्धा के कारण उसे यह प्रेरणा मिली कि वह उसके सिद्धान्तों को पूर्णता तक पहुँचा दे। इसके परिणामस्वरूप "असंपृक्त राज्य" पुस्तक लिखी गई, जो अपने लेखक के जीवन-काल में तैयार होती रही।

"असंपृक्त राज्य" अर्थशास्त्रीय साहित्य में रूप, पद्धति और विषय-प्रतिपादन की दृष्टि से सब से अधिक उल्लेखनीय पुस्तकों में से एक (और यह कहने का मन होता है कि सब से अद्भुत पुस्तक) है। अपने अंतिम रूप में पहुँचकर तो यह लगभग रूपहीन हो गई है; देखते ही मालूम होता है कि यह टिप्पणियों, आलोचनाओं तथा अंकगणितीय उदाहरणों का एक ऐसा संग्रह है, जिसमें असंपृक्त राज्य की अव्यक्तताओं तथा सामाजिक समस्याओं पर विचार के मध्य विषय की एकता का लगभग अभाव है, और जिस पर मानवोचित महत्त्वाकांक्षाओं तथा बीजगणितीय गुरों ने सम्मिलित रूप से धावा बोल दिया है।

पद्धति की दृष्टि से "असंपृक्त राज्य" की मौलिकता अधिकतम स्पष्ट है।

---

१. डेर इसोलियरटे स्टाट; पृष्ठ ५१४। सब निर्देश और उल्लेख Sammlung Sozialwissenschaftlicher Meister वाले संस्करण के सम्बन्ध में हैं।

२. वही; पृष्ठ ४०२।

वान थुनन का मस्तिष्क बिलकुल ताज़ा था; उस पर अन्य लेखकों की रचनाओं के अध्ययन का अत्यधिक भार लदा हुआ नहीं था। असमय में ही वाग्दान हो जाने के कारण वह अत्यधिक अध्ययन तथा गोटिंजन विश्वविद्यालय की मुसीबतों से छुटकारा पा गया था। असंपृक्त राज्य की सम्पूर्ण धारणा, जो उसके मन में छोटी आयु से ही पलती रही थी, बहुत ही अव्यक्त प्रकार की है, और एक दृष्टि से वान थुनन की रचना के मूल तत्त्व का सम्बन्ध अवास्तविकताओं से ही है। वान थुनन में गणितज्ञ का अंश सब से अधिक प्रमुख है। अपनी पुस्तक के पहले पृष्ठ पर ही यह बहुत सावधानी के साथ अपनी "आधारभूत स्थापनाओं" (Voraussetzungen) को प्रस्तुत करता है और उसके तुरन्त बाद "आफ़गोब" (Aufgabe), वह समस्या जिसका समाधान किया जाना है का उल्लेख किया गया है। यूक्लिड (एक प्रसिद्ध रेखागणितज्ञ), जैसा हम उसे अपने बाल्य-काल में समझा करते थे, शायद मुस्कराकर इन आधारभूत स्थापनाओं से अपनी सहमति प्रकट करता। ये स्थापनाएँ, संक्षेप में, उन अवास्तविकताओं की, जो असम्पृक्त राज्य में पाई जाती हैं, परिभाषाएँ हैं। एक उपजाऊ मैदान के बीचोंबीच एक शहर की कल्पना कीजिये। इस मैदान में से न कोई नदी बहती है, न कोई नहर। इस सारे मैदान की मिट्टी समान रूप से खेती के योग्य है, और यह मैदान बहुत दूर जाकर कृषिहीन बियाबान में समाप्त हो जाता है। इस सारे मैदान में और कोई शहर नहीं है; इसलिये यही एक शहर सारे मैदान को तैयार माल उपलब्ध कराता है और उसके बदले में अपने आस-पास के देहाती प्रदेश से अपने निर्वाह के लिये सामग्री प्राप्त करता है, इन परिस्थितियों को मान लेने के बाद यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि भूमि पर कृषि किस ढंग से की जायगी और खेती पर शहर के कम या अधिक दूरी का क्या प्रभाव पड़ेगा?

यह स्पष्ट है कि यह एक अव्यक्त और अवास्तविक समस्या है, फिर भी मजेदार बात यह है कि वान थुनन अपने विचार-विमर्श को वास्तविकता से भरपूर बनाने का उपाय ढूंढ निकालता है। वस्तुतः यह कहा जा सकता है कि वान थुनन और रिकार्डो, अव्यक्त पद्धति के दो महान् आचार्य, अन्य किसी भी अर्थशास्त्री की अपेक्षा इस बात को कहीं अधिक अच्छी प्रकार समझते थे कि वे किस विषय की चर्चा कर रहे हैं। वान थुनन को टैलो में स्थित अपनी जमीनों

पर खेती-बाड़ी के प्रबन्ध का व्यावहारिक अनुभव था। भगवान ही जाने कि वह अपना हिसाब-किताब किस तरह रखता था। क्योंकि उसकी एकमात्र समस्या बाजार से दूरी की समस्या ही थी, इसलिये अन्ततोगत्वा वह "परिवहन की लागत" की समस्या बन गई थी। जितनी भली प्रकार वान थुनन को यह मालूम था कि उसके खेत पर आई हुई किस-किस चीज पर कितना व्यय हुआ है, उतनी भली प्रकार कभी किसी अन्य व्यक्ति को नहीं रहा। सच तो यह है कि असंयुक्त राज्य की रचना ही टैलो में प्राप्त अनुभव के आधार पर हुई है, और वर्षों तक सावधानी के साथ अध्ययन करके रखे लेखे (एकाउन्ट) ही वह ठोस आधार हैं, जिससे उस पुस्तक में निष्कर्ष निकाले गये हैं।

यह सिद्ध करने के लिये किसी बड़े प्रमाण की आवश्यकता नहीं है कि इस प्रकार मान ली गई अवास्तविक दशाओं में (जिनमें यह भी मान लिया गया प्रतीत होता है कि बड़ी सड़कों का भी बिलकुल अभाव है) भूमि का संस्कार (कल्टिवेशन) स्वभावतः शहर के चारों ओर क्रमशः उस भूमि में उत्पन्न होने वाले पदार्थों के परिवहन के व्यय के अनुसार तथा उस पदार्थ के परिमाण और भार का उसके मूल्य के साथ जो अनुपात है, उसके अनुसार सकेन्द्रीय वृत्तों की परम्परा के रूप में किया जायगा। परन्तु वान थुनन का यश उसकी इस स्पष्ट बात का उद्घाटन करने की सफलता के कारण नहीं है। उसने अपने छः वृत्तों का जो क्रम नियत किया है, वह अंशतः तो पहले से प्रत्याशित है, परन्तु अंशतः कुछ चौंकाने वाला भी है।[1] परन्तु दोनों ही दशाओं में इस सम्बन्ध में निकाले गये परिणाम महत्त्वहीन हैं। इस सब में महत्त्वपूर्ण है उस प्रविधि (टैकनीक) का उपयोग, जिससे बहुत बाद में प्रयोग की गई विषय का स्पष्टीकरण करने की पद्धति का सुझाव-सा मिलता है, और वस्तुतः कुछ जगह तो उसकी प्रविधि

१. बाजार में बिकने वाली चीजों की बागवानी, वन-आरोपण, (फसलों को बदल-बदल कर बोना) Fruchtwechselwirthschaft, (फसलों को बाँट कर बोना), Koppelwirthschaft Dreifelderwirthschaft (तीन खेती की प्रणाली); पशु। (कुछ शब्दों का अनुवाद जान-बूझ कर नहीं किया गया, क्योंकि यदि उनका अनुवाद करने का प्रयत्न किया जाय तो वह अनुवाद गलत ही होगा।) इस क्रम में वन आरोपण को जो इतना अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है, उसके सम्बन्ध में स्पेन टिप्पणी करता है कि व्यवहार में वनों को दूरस्थ प्रदेशों में लगाने का कारण मुख्यरूप से यह तथ्य है कि वन उन्हीं स्थानों में लगाये जाते हैं, जो अन्य प्रकार की खेती के लिये उपयुक्त नहीं होते।

परवर्ती पद्धतियों का पूर्वाभास ही बन गई है। इस प्रकार वह कहता है कि अन्दर वाले वृत्त में, जिसमें कि बगीचों में होने वाली वस्तुएँ उत्पन्न की जायँगी, दूध को भी सम्मिलित किया जाना चाहिये; परिवहन के व्यय के कारण भी और शीघ्र विकृतिशील होने के कारण। उसके बाद वह इस बात को स्पष्ट करता है कि इसी कारण दूध की कीमत इतनी बढ़नी चाहिये कि जिस भूमि का उपयोग दूध के उत्पादन के लिये किया जा रहा है, उसका उपयोग किसी भी अन्य कार्य के लिये करने से दूध की अपेक्षा अधिक लाभ प्राप्त न किया जा सके।[1] परिवहन-व्यय का सावधानी के साथ विश्लेषण करके (जिसमें यात्रा-काल में घोड़ों के निर्वाह का भी उचित व्यय सम्मिलित कर लिया गया है) वह बताता है कि शहर से दूर और दूर होते जाने के साथ-साथ अन्न का मूल्य कम और कम होता जाता है; और यहाँ तक कि ४६·६५ मील की दूरी पर पहुँचकर अन्न का कोई मूल्य ही नहीं रहता; और यदि अन्न बिलकुल बिना किसी लागत के भी उगाया जा सके, तो भी इस दूरी से आगे के प्रदेश में खेती कर पाना असम्भव हो जाता है।[2] वान थुनन की भाटक की धारणा तक पहुंचने के लिये इसी बिन्दु के थोड़े से और विशदीकरण ही की आवश्यकता होती है और यह प्रश्न उन बातों में से एक है, जिनके बारे में जान-बूझ कर ऐडम स्मिथ के सिद्धान्त में संशोधन करने का प्रयत्न किया है। फार्म या जमीन (ऐहन गुट; ein Gut) पर सदा कुछ न कुछ इमारतें तथा उपकरण अवश्य रहते हैं, जिन्हें भूमि से पृथक् किया जा सकता है। इसलिये खेत या जमीन से जो आय होती है, वह सब की सब भूमि से ही नहीं होती, बल्कि उसमें से कुछ अंश उस पूंजी के ब्याज का भी होता है, जो इन बहुमूल्य उपकरणों में लगी होती है। कुल आय में से केवल उस भाग को भूमि का भाटक[3] कहा जायगा, जो उस कुल आय में से उस ब्याज की राशि को, जो भूमि से पृथक् किये जा सकने वाले उपकरणों में लगी पूंजी पर मिलना चाहिये, घटा

---

१. वही; पृष्ठ १३। २. वही; पृष्ठ १४।

३. वही; पृष्ठ २३। "भूमि से पृथक्करणीयता (die vom Boden getrennt werden konnen) की पहचान बड़ी अस्पष्ट-सी है। भूमि के सुधार पर आई लागत का ब्याज, जो पृथक्करणीय नहीं है, वान थुनन की भाटक की धारणा के अन्तर्गत आता है या बाहर ?

देने के बाद शेष बचेगा (और इस प्रकार यह केवल भूमि का भाटक होगा), और इसी परिभाषा के अनुसार विचार की दृष्टि से भाटक की ऋणात्मक (नैगेटिव) राशि की भी कल्पना कर पाना सम्भव है। अन्न की कीमतों का निर्धारण करने वाले कारणों पर विचार करते हुए स्वभावतः भाटक के मूल स्रोत की भी व्यवस्था करना आवश्यक हो जाता है। अपनी आवश्यकता को पूरा करने के लिये अन्न प्राप्त करने के वास्ते शहर को उतनी कीमत देने के लिए तैयार रहना चाहिये, जो इतनी काफी हो कि उससे उस अधिक से अधिक दूर रहने वाले किसान की भी उत्पादन की लागत और परिवहन का व्यय निकल सके, जिसके अन्न की शहर को आवश्यकता है। इस आधार पर वान थुनन एक सामान्य नियम बनाता है (असंपृक्त राज्य और वास्तविकता दोनों के लिए) कि "अन्न की कीमत इतनी ऊँची होनी चाहिये कि उस खेत का भाटक, जिसकी उत्पादन और प्रापण (डिलीवरी) का व्यय सबसे अधिक है और साथ ही जिस पर खेती करना अन्न की माँग को पूरा करने के लिए आवश्यक है, शून्य से नीचा न पहुँच जाय।"[1] परन्तु ग्राहक की दृष्टि में शहर के निकट उत्पन्न हुए अन्न का मूल्य भी उतना ही है, जितना शहर से बहुत दूर उगाये गये अन्न का; और उसे इससे कोई मतलब नहीं कि बाजार में लाने पर इन दोनों में से किस पर अधिक लागत आई है। "शहर के निकट अन्न उगाने वाले व्यक्ति को अपनी लागत से ऊपर जो कुछ अधिक मिलता है, वह उसके लिए विशुद्ध लाभ है।" इतना ही नहीं, यह ऐसा लाभ है, जो सदा होते रहने वाला है और प्रतिवर्ष आवर्ती (रिकरेंट) है; इसलिए उसके खेत की भूमि उसे वार्षिक भाटक प्रदान करती है। इस प्रकार भाटक की यह व्याख्या हमारे सामने आती है: "किसी भी खेत का भाटक उन सुविधाओं के कारण उत्पन्न होता है, जो उस खेत को चाहे स्थिति या चाहे मिट्टी की किस्म के कारण, उस निकृष्टतम खेत की तुलना में प्राप्त रहती हैं, जिस पर अन्न की माँग को पूरा करने के लिए खेती किया जाना आवश्यक है।"[2]

यह स्पष्ट है कि वान थुनन किस बिन्दु तक आ पहुँचा है। उसने भाटक का रिकार्डो वाला सिद्धान्त विकसित कर डाला है, हालाँकि उसका मुख्यतय

१. वही; पृष्ठ २२४।

२. वही; पृष्ठ २२६-२३०।

बल खेत की स्थिति और बाजार की दूरी पर है, और भूमि की क़िस्म पर नहीं, जैसा कि रिकार्डो का था।[1] जब वह भाटक पर होने वाले करारोपण के सम्बन्ध में विचार करने लगता है, तो यह बिलकुल स्पष्ट हो जाता है कि उसे इस बात का ठीक-ठीक ज्ञान है कि इस धारणा की उलझनें क्या-क्या होंगी। वह कहता है कि यदि "भूमि के भाटक" का कुछ भाग राज्य को देना पड़े, तो इससे कृषि के रूप या विस्तार में किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं होगा। जिन खेतों का भाटक शून्य के निकट है, वे इस प्रकार के कर के रूप में बहुत ही थोड़ी राशि दे रहे होंगे और दूरतम स्थित तथा निकृष्टतम खेतों पर उसका बिलकुल ही प्रभाव न होगा। इसलिए इस प्रकार के करारोपण से कृषि के विस्तार, जनसंख्या, पूंजी के प्रयोग या उपज की मात्रा पर कोई भी प्रतिकूल प्रभाव न पड़ेगा; बल्कि सच तो यह है कि यदि करारोपण द्वारा सारे के सारे भाटक को भी ले लिया जाय, तो भी भूमि पर खेती ठीक उसी प्रकार होती रहेगी, जैसी करारोपण से पहले थी।[2]

अपने भाटक सिद्धान्त के विशदीकरण में वान थुनन ने वस्तुतः सीमान्त (मार्जिन) की धारणा का प्रयोग किया है; और यह बात अत्यन्त विस्मयजनक है कि अपने सारे विचार में उसने परवर्ती सीमान्तवादी विचारक वर्ग की प्रविधि (टैकनीक) का पूर्वाभास दिया। इस प्रकार वेतन के सम्बन्ध में वह सिद्धान्त प्रस्तुत करता है कि किसी भी खेत पर एक खास बिन्दु से आगे बढ़ने पर प्रत्येक अतिरिक्त मजदूर उपज में अपेक्षाकृत अल्पतर हिस्सा बढ़ाता है; बाईसवाँ इक्कीसवें की अपेक्षा कम, तेईसवाँ बाईसवें की अपेक्षा कम और इसी प्रकार आगे भी; और इसीलिए मजदूरों की संख्या में तब तक वृद्धि जारी रखी जा सकती है, जब तक अन्तिम मजदूर द्वारा प्राप्त होने वाला अतिरिक्त मूल्य (ऐडिशनल वैल्यू) उसे दिये जाने वाले वेतन के बराबर न रह जाय।[3] और इसके साथ ही जो वेतन अन्तिम मजदूर को मिल रहा होगा, वह

---

१. असम्पृक्त राज्य की सारी युक्ति इस मान्यता पर आधारित है कि भूमि सब जगह एक ही समान है, जिसके फलस्वरूप केवल भूमि की स्थिति एक जैसी है, जो परिवर्तनशील है। फिर भी वान थुनन ने जहाँ-तहाँ "Lage und Boden" (स्थिति और भूमि) के सम्बन्ध में उत्कृष्टता का उल्लेख करने की प्रवृत्ति दीख पड़ती है।

२. वही; पृष्ठ १४६। ३. वही; पृष्ठ ४१५-४१६।

सब मजदूरों के लिये आदर्श समझा जायगा, क्योंकि एक ही काम के लिए मजदूरों को असमान पारिश्रमिक तो दिया नहीं जा सकता।[1] यहां बिलकुल अनावृत रूप में "श्रम की सीमान्त उत्पादनशीलता" का सिद्धान्त दृष्टिगोचर होता है। इसी तरह और भी व्याज और वेतनों के सम्बन्ध में विवेचन करते हुए वह "पूंजी की क्षीयमाण प्रभावशीलता" पर बिलकुल आधुनिक ढंग से बल देता है। बड़ी लम्बी सारिणी बनाकर, जैसा कि वान थुनन को बहुत शौक है, वह यह सिद्ध करता है कि पूंजी ज्यों-ज्यों मात्रा में बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों उसके प्रयोग के लिए अपेक्षाकृत कम लाभ वाले ही विनियोग-स्थल प्राप्त हो पाते हैं, और यह कि पूंजी की वृद्धि होने की हर दशा में प्रतियोगिता के फलस्वरूप व्याज की दर घटकर उतनी रह जायगी, जितनी कि पूंजी का सबसे कम लाभ वाले काम में विनियोग करके दी जा सकती है। परिणामतः व्याज (जो पूंजी का भाटक है) का निर्धारण प्रयुक्त हो रही पूंजी के अन्तिम अंश से होने वाली प्राप्ति (यील्ड) द्वारा होता है। और यह बात ध्यान देने योग्य है कि व्याज की दर का निर्धारण करने के विषय में वान थुनन पूंजी में क्रमशः एक के बाद एक होने वाली वृद्धियों को बहुत ही अल्प मानकर चला है।[2]

वान थुनन के सम्बन्ध में अत्यन्त संक्षिप्त विचार भी तब तक अपूर्ण समझा जायगा, जब तक उसकी लिखित रचनाओं के उस पहलू का उल्लेख न किया जाय, जो असंपृक्त राज्य से काफी दूर की चीज है। वह मजदूर की दशा और उसकी अल्पता से बहुत खिन्न था; और वह उसकी अपेक्षा कुछ अधिक सन्तोषजनक सिद्धान्त ढूंढने के लिए प्रयत्नशील था, जितने कि उसे रिकार्डो की रचनाओं में प्राप्त हुए थे। "असंपृक्त राज्य" के दूसरे भाग के

---

१. वही; पृष्ठ ५७७।

२. वही; पृष्ठ ४१६-४१८, ५५८। "Es folgt hieraus dass wir das zuletzt entstandene und angelegte Kapitalteilchen, durch dessen Nutzung der Zinsfuss bestimmt werden soll, sehr klein—genau genommen, unendlich klein—annehmen mussen." इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि हमें उस पूंजी के अन्तिम प्राप्त होने वाले और विनियोग किये जाने वाले अंशों को, जिनसे होने वाली प्राप्ति व्याज की दर का निर्धारण करती है, अल्प मान कर, ठीक-ठीक कहें तो बहुत ही अल्प मानकर चलना चाहिये।

साथ जुड़े हुए एक अनुभाग "मजदूरों की दशा के बारे में" में वह उस वस्तु को प्रकट करता है, जिसे उसने "एक गम्भीर बात का स्वप्न" कहा है।[1] उस का कथन है कि यह बहुत बुरी बात है कि सबसे बड़े बहुसंख्यक वर्ग का, अर्थात् सामान्य परिश्रमी मजदूर वर्ग का, राज्य में कोई प्रतिनिधित्व नहीं है। श्रमिकों को मिलने वाला प्रतिफल उन लोगों की तुलना में उचित अनुपात से बहुत कम है, जो उद्योगों के संचालक हैं; और किसी को एक वर्ग से दूसरे वर्ग में डाल देने से भी इस रोग का निवारण नहीं हो सकता, क्योंकि उन्हें "विद्यालय की शिक्षा" प्राप्त नहीं हुई होती। अपने बच्चों को विद्यालयों में पढ़ा पाना मजदूर के लिये अपने कम वेतन के कारण संभव नहीं होता। इसके साथ ही इस कम वेतन का कारण यह है कि मजदूरों के विवाह छोटी आयु में ही हो जाते हैं और उनकी उपलब्धि सदा माँग की अपेक्षा अधिक रहती है। इस दशा को सुधारने का इसके सिवाय और कोई उपाय नहीं है कि लोगों के चरित्र में परिवर्तन किया जाय और वान थुनन यह सुझाव प्रस्तुत करता है कि लोग अधिक दूरदर्शिता से काम लें, विवाह यथाशक्ति देर में ही करें; और अपेक्षाकृत अच्छी शिक्षा प्राप्त करें। इन सब बातों का परिणाम उसे इतना आश्चर्यजनक होने की आशा है कि इस संसार के लिए ही "स्वर्ग" शब्द का प्रयोग भी असंगत नहीं जान पड़ेगा।

इस स्वप्न के अतिरिक्त भी, यदि हम देखें तो, वान थुनन वेतन समस्या के दो और पहलुओं से उलझता दिखाई पड़ता है। पहला प्रश्न तो यह है कि वेतन इतने अधिक क्यों नहीं बढ़ाये जा सकते कि भाटक भी उन्हीं में सम्मिलित हो जाय, जिसे कि आजकल मालिक बिना कोई श्रम किये हथिया लेता है? दूसरा प्रश्न यह है कि क्या वेतन की नीची दर का मूल वस्तुओं की प्रकृति में ही है और इसीलिए भगवान् की इच्छा के अनुसार है, या आजकल की वर्तमान दशा बल-प्रयोग और अत्याचार का परिणाम है? पहले प्रश्न पर विचार करते हुए वान थुनन पूर्णतया सर्वसम्मत पद्धति से "कृषि के उस सीमान्त पर, जहाँ भूमि बिलकुल भाटक प्रदान नहीं करती"[2] वेतन-वृद्धि के प्रभावों की जाँच

१. वही; पृष्ठ ४४०।

२. शायद यह ध्यान देने योग्य बात है कि वान थुनन "Grenze" शब्द का प्रयोग करता है और अब इस शब्द का नामकरण ऐसा हो गया है कि इसको बदलना भी कठिन

प्रारम्भ करता है और अन्त में इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि इसके परिणाम-स्वरूप भूमि के संस्कार का सीमान्त शहर की ओर सरक आयेगा, जिसके कारण बहुत से श्रमिक स्थान-च्युत हो जायेंगे और उसके बाद वेतन फिर घट जायेंगे। वेतन की सच्ची दर के प्रश्न पर वान थुनन अर्थशास्त्रीय साहित्य में एक नयी और विचित्र वस्तु देता प्रतीत होता है। उसका कथन है कि वेतन दो भागों से मिलकर बना होना चाहिए—(१) एक तो वह भाग, जो सक्षम बने रहने के लिए मजदूर को अपने निर्वाह पर व्यय करना पड़ता है और (२) दूसरा भाग वह, जो उसे अपने श्रम के प्रतिफल के रूप में प्राप्त होता है।[1] इस बात को रोस्वर ने इतना महत्त्व दिया है कि उसने वान थुनन को उन सब से पहले अर्थशास्त्रियों में से एक गिना है, जिन्होंने वेतन को एक पदार्थ "श्रम" के मूल्य की अपेक्षा कुछ अधिक वस्तु माना था। परन्तु इससे आगे वेतन के सिद्धान्त में वान थुनन की देन बहुत कुछ सनक जैसी ही है। वेतन की स्वाभाविक और न्यायोचित दर की खोज करते हुए वह अंकगणितीय गुरों का विशाल प्रदर्शन करके और अनेक ढंग से यह सिद्ध करता है कि वेतन का सही गुर $\sqrt{}$ए. पी. है; और इसमें 'ए' जीवन-निर्वाह के साधनों का प्रतीक है और 'पी' श्रमिक की उत्पादनशीलता का प्रतीक। यह प्रमाण, जैसा कुछ भी यह है, ऐसी कल्पनाओं पर आधारित है, जो अवास्तविक हैं; और इसीलिए इस गुर को इस दृष्टिकोण के प्रतीक की अपेक्षा कुछ भी अधिक नहीं माना जा सकता है कि उस समृद्धि में से, जिसे कि श्रमिक उत्पन्न करता है, श्रमिक को भी कुछ हिस्सा मिलना चाहिये। व्यवहार में ऐसा प्रतीत होता है कि वान थुनन ने अपनी जमीन पर लाभ में हिस्सा बाँटने की एक ऐसी योजना प्रारम्भ की थी, जो निःसन्देह $\sqrt{}$ए. पी. को दूर से ही प्रणाम करने का प्रतीक थी। फिर भी वान थुनन स्वयं इस गुर को अपनी सबसे बड़ी सफलता समझता था; और उसकी अभिलाषा थी कि इस गुर को उसकी कब्र के पत्थर पर अंकित कर दिया जाय और यह प्रकाशन का एक ऐसा माध्यम है, जिसमें प्रमाण की सुदृढ़ता की शायद ही कभी आवश्यकता पड़ती हो।

है : "An der Grenze der kultivierten Ebene des isolierten staats, wo der Boden keine Rente gibt." अर्थात् "असंपृक्त राज्य की कृषि संस्कार-हीन भूमि के सीमान्त पर, जहाँ भूमि अनुत्पादनशील हो जाती है।" (वही; पृष्ठ ४६३)

१. वही; पृष्ठ ४६०।

आशावादी विचारक : केरी और बेस्तियात

यह हम देख चुके हैं कि प्राचीन राजनीतिक अर्थशास्त्र, जैसा कि उसका रूप माल्थस और रिकार्डो ने प्रस्तुत किया था, कुछ निराशावादी निष्कर्षों की ओर झुका हुआ था। यह निराशा सबसे अधिक स्पष्ट रूप में क्षीयमाण प्रतिप्राप्ति के नियम पर आधारित भाटक के नियम और तथाकथित जनसंख्या के सिद्धान्त से निकाले गये अनुमानों में दिखाई पड़ती है, और विशेष रूप से तब, जबकि इस जनसंख्या के सिद्धान्त को अपूर्ण रूप से समझा जाय। इसके अतिरिक्त भविष्य की एक चिन्ताजनक कल्पना के अतिरिक्त, जिसमें कि संसार की उपज का अधिकाधिक बढ़ता हुआ भाग एक निष्क्रिय बैठे रहने वाले वर्ग के हाथों में पहुँचता जायगा और जिसमें निरन्तर बढ़ती हुई जनसंख्या के लिए "प्रकृति की ओर से दिये जाने वाले सहभोज का कोई स्थान न होगा," यह बात ध्यान देने योग्य है कि प्राचीन विचारधारा एक वैषम्य और संघर्ष की व्यवस्था की ओर झुकी हुई थी। यदि बाहरी दिखावटी शान्ति को बनाये भी रखा जा सके, तो भी उस विचारधारा में वस्तुओं की गहराई में हितों की परस्पर विरोधिता विद्यमान थी।

केरी

एक अपेक्षाकृत अधिक आशावादी दृष्टिकोण के रूप में हुई प्रतिक्रिया मुख्य रूप में और सबसे सुविधाजनक रूप में हेनरी चार्ल्स केरी[1] (१७९३–१८७९)

---

१. १७९३ में फिलाडेल्फिया में जन्म हुआ। उसका पिता एक आयरिश प्रव्रजक (माइग्रेंट) का था, जो एक सफल प्रकाशक बन गया था। अपने पिता के पश्चात् केरी ने उत्तराधिकार में उसी व्यवसाय को चलाया, परन्तु अपनी युवावस्था में ही (१८३५ में) उसने व्यवसाय से अवकाश ग्रहण कर लिया; और अपने जीवन का शेष भाग अर्थशास्त्रीय साहित्य की रचना में लगाया। जितना केरी ने लिखा है, उतना लिखने की सामर्थ्य कम ही लेखकों में रहा होगा। उसकी बड़ी-बड़ी रचनाएँ लगभग १३ हैं; और उसके लिखे हुए पेम्फलेट गिनती में कम से कम ५७ हैं, जिनमें से सब सदय रूप से छोटे नहीं हैं। उसकी मुख्य

में दिखाई पड़ती है, जो वस्तुतः एक समय विशिष्ट अमेरिकन राजनीतिक अर्थशास्त्र का प्रतिनिधि माना जाता था। अपने समय में उसका प्रभाव बहुत अधिक था। यद्यपि अमेरिका और यूरोपीय महाद्वीप की अपेक्षा इंग्लैंड में उसका प्रभाव कम रहा। कम से कम इंग्लैंड के लोगों के लिये अब वह क्रमशः बहुत ही नगण्य हो गया है; क्योंकि एक तो उसकी रचनाएँ बहुत भारी-भरकम हैं, और उनमें एक ही बात को बार-बार दुहराया गया है; और इसके साथ यह भी जोड़ देना उचित होगा कि उसकी रचनाओं में एक प्रकार का भोलापन और मूर्खता भी दिखाई पड़ती है। परन्तु जो पाठक बहुत अध्यवसायी और उत्साही हो, उसके लिये उसकी रचनाओं में रुचिकर विषय भी कम नहीं हैं। केरी के बहुत से विचार ऐसे हैं, जो पूर्णतया अन्याय्य नहीं कहे जा सकते। सबसे बड़ी बात यह है कि वह इस सत्य का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है कि अर्थशास्त्री अपनी रचनाओं में अपने आस-पास की परिस्थितियों को ही प्रतिबिम्बित करता है। एक और बात यह भी है कि केरी जैसे, ऐसे लेखक के सम्बन्ध में विचार करना सदा लाभदायक रहता है, जिसे अन्य लोग उसकी अपेक्षा कहीं अधिक बड़ा समझते रहे हों, जितना कि हम समझते रहे हैं। जहाँ यह सम्भव है कि दूसरे लोग उसकी प्रशंसा में उदारता की सीमा को भी लाँघ गये हों, वहाँ यह भी सम्भव है कि उसके प्रति पूरा न्याय भी न कर सके हों।

केरी के सिद्धान्त-निरूपण का केन्द्रीय बिन्दु सम्भवतः सबसे अधिक सुविधाजनक रूप में उसके 'मूल्य के सिद्धान्त' में उपलब्ध होता है।[1] उसकी दृष्टि में मूल्य का एकमात्र कारण श्रम है; परन्तु केरी के मूल्य के श्रम-सिद्धान्त में कुछ ऐसी घटावढ़ियाँ हैं, जिनके कारण वह अपने एक विशिष्ट प्रकार के निष्कर्षों तक पहुँचता है। सबसे प्रारम्भिक दिनों में, जब कि अर्थ-व्यवस्था रोबिन्स क्रूसो वाली दशा में थी (केरी को इस दशा का वर्णन करने का बहुत शौक है)। वस्तुओं का माप और उनका विनिमय उनके ऊपर लगाये गये श्रम

रचनाएँ ये हैं: ऐस्से आन दी रेट आफ वेजिज; प्रिंसिपल्स आफ पोलीटिकल इकोनोमी (३ भाग); दी पास्ट, दी प्रेजेन्ट एण्ड दी फ्यूचर: हारमनी आफ दी इंटरेस्ट्स; तथा दी प्रिंसिपल्स आफ सोशल साइंस (तीन बहुत बड़े-बड़े भाग)।

१. प्रिंसिपल्स आफ पोलीटिकल इकोनोमी; भाग १, अध्याय २; विशेष रूप से पृष्ठ १६ और २०।

के अनुपात में ही हुआ करता था ; परन्तु जब रंगमंच पर पूंजी का प्रवेश हुआ, तब पहले से विद्यमान सब मूल्यों में परिवर्तन हो गया, और अब वस्तुओं का विनिमय उनके उत्पादन पर आने वाली लागत के अनुसार होने लगा : परन्तु मानवता की प्रगति के साथ-साथ वस्तुओं के उत्पादन की यह लागत निरन्तर गिरती जाती है; और इस प्रकार पहले से विद्यमान सारी पूंजी का मूल्य निरन्तर गिरता जा रहा है। केरी के एक अपने विशिष्ट वाक्यांश के अनुसार मूल्य "उस प्रतिरोध का आकलन (ऐस्टीमेट) है, जिसे हमें अभीष्ट वस्तु पर अधिकार करने से पहले विजय करना होता है।" इसका अभिप्राय यह है कि क्योंकि पूंजी द्वारा सहायता-प्राप्त श्रम उत्कृष्ट कोटि का होता है, इसलिये पदार्थों के रूप में अभिव्यक्त श्रम का विनिमय मूल्य निरन्तर बढ़ता ही जायगा; और इसके साथ ही दूसरी ओर पूंजी के मूल्य में, जो श्रम के रूप में अभिव्यक्त होगा, उतनी ही कमी होती जायगी, क्योंकि प्रत्येक दशा में पूंजी का मूल्य उसके उत्पादन की लागत द्वारा सीमित हुआ रहेगा, जो हमारी कल्पना (हाइपोथेसिस) के अनुसार निरन्तर गिरता जा रहा है। इसके अतिरिक्त, न केवल पहले से विद्यमान सब मशीनों का श्रम के रूप में मूल्य निरन्तर गिरता जा रहा है, बल्कि केरी अपने तर्क द्वारा, जो किसी प्रकार निर्दोष नहीं कहा जा सकता, यह भी सिद्ध करके दिखाता है कि श्रम की उपज के उस अनुपात में भी एक इसी प्रकार की कमी होती जा रही है, जो उसका उपयोग करने के लिये मांगा जा सकता है। इसका अर्थ यह है कि श्रमिक की स्थिति निरन्तर सुधर रही है; पूंजीपति का प्रतिफल सब कुछ मिलाकर वृद्धि की ही ओर है, परन्तु यह निरन्तर बढ़ती हुई उपज का एक कम और कम होता हुआ अनुपात ही है।[1]

केरी अपनी हितों की लयबद्धता (हारमोनी) के क्षेत्र को भूमि को पूंजी के अन्य रूपों के साथ एक करके और अधिक विस्तृत कर देता है, और इस प्रकार भाटक को एक पृथक् श्रेणी की वस्तु के रूप में रहने ही नहीं देता। उसकी मान्यता है कि "भूमि में लगी हुई पूंजी किसी भी दृष्टि से अन्य मशीनों में लगी हुई पूंजी से भिन्न नहीं है। भाटक केवल लगी हुई पूंजी का ब्याज मात्र है; और सब भूमि-सम्पत्ति का मूल्य, प्रकृति के असीम मात्रा

---

१. सोशल साइन्स ; भाग १, पृष्ठ १५८ ; भाग ३, पृष्ठ १३३।

में विद्यमान सब उपहारों की भांति, केवल उस श्रम के कारण ही है, जो उस भूमि को उपयोग के योग्य बनाने और उसके सुधारने पर व्यय किया गया है।"[१] पूंजी के अन्य रूपों के साथ भूमि की यह समानता इस दृष्टि से भी ठीक उतरती है कि समाज की प्रगति के साथ-साथ बाद में बनने वाले खेत कम लागत पर कृषि योग्य बनाये जा सकते हैं; और इस प्रकार उत्पादन की लागत यहां भी निरन्तर गिर रही है। यह बात तथ्यों द्वारा सिद्ध हो चुकी है कि भूमि का विक्रय सदा ही उससे कहीं कम मूल्य पर होता है, जितनी लागत उसे उपयोग योग्य बनाने में आती है। इससे रिकार्डो की इस मान्यता का पर्याप्त रूप से खंडन हो जाता है कि भूमि की "मूलभूत और अविनाश्य शक्तियों" के लिये भाटक का भुगतान किया जाता है। वस्तुतः इन अनश्वर शक्तियों का कोई अस्तित्व नहीं है।

यह बात देखने योग्य है कि केरी के विचार समाज की प्रगति में विश्वास को अभिव्यक्त करते हैं; और वस्तुतः यह प्रगति भी अनन्त प्रगति है। प्रत्येक जगह वह नये बसने वालों के उन प्रारम्भिक दिनों का चित्रण करता है, जब कि रहने के लिये स्थान खूब था और जब प्रत्येक नये मनुष्य की वृद्धि, उस आदिकालीन समाज की दृष्टि से, प्रकृति के विरुद्ध चल रहे संघर्ष में एक नये साथी की प्राप्ति के रूप में देखी जाती थी। यह केरी की अपनी विशेषता है कि मुल्लर की भांति, यद्यपि उसका जोर किसी दूसरे स्थान पर है, वह भी संगठन को मनुष्य की आधारभूत आवश्यकता मानता है—"मनुष्य की सबसे पहली और बड़ी इच्छा यह है कि वह अपने साथी मनुष्यों के साथ मिल कर रहे; और यह इच्छा इसलिये होती है क्योंकि वह यह अनुभव करता है कि उसकी शारीरिक, नैतिक, मानसिक और राजनीतिक दशा का सुधार दूसरों के साथ मिलकर रहने से ही हो सकता है।"[२] प्रारम्भिक समाज का, जिसमें "बढ़ई अपने श्रम का विनिमय भोज्य पदार्थों से करने के लिये आता है" या किसान लुहार के आगमन पर आनन्दित होता है, विकास और बढ़ती हुई शक्ति उसकी रचनाओं में बार-बार एक मनोहर चित्र के रूप में प्रस्तुत किये गये हैं।

इस प्रकार एक नये देश में बसने वाले व्यक्ति के दृष्टिकोण से जीवन को

१. पोलीटिकल इकोनामी; भाग १, पृष्ठ १२६-१३०।

२. हारमोनी आफ इन्टरेस्टस; पृष्ठ ५२।

देखते हुए केरी क्षीयमाण प्रतिप्राप्ति के नियम (और इसके साथ-साथ रिकार्डो के भाटक के नियम) और माल्थस के जनसंख्या सिद्धान्त का खंडन करने पर उतर आता है और यह खंडन भी वह काफी भर्त्सना के साथ और कटु शब्दों में करता है। उसका कथन है कि रिकार्डो—और यह एक महत्त्वपूर्ण वाक्य है—ने "कभी भी उस प्रकार एक नयी बस्ती की प्रगति नहीं देखी थी, जिस प्रकार हम इस खिड़की के पास बैठे देख रहे हैं, जिसके पास बैठे हम लिख रहे हैं।" उसने रिकार्डो के सिद्धान्त का जिस नये रूप में प्रतिपादन किया है, उसमें सारा सिद्धान्त इस स्थापना पर आधारित दिखाया गया है कि कृषि के प्रारम्भ में पहले-पहल सबसे अच्छी भूमियों पर खेती की जाती है। "या तो यह तथ्य सत्य है, और या नहीं। यदि इस तथ्य का कोई अस्तित्व ही नहीं है, तो रिकार्डो की सारी प्रणाली धराशायी हो जाती है।" इसी युक्ति-परम्परा पर चलते हुए केरी की रचना में एक बहुत बड़ा भाग एक विस्तृत अनुगमनात्मक परिमाप (इंडक्टिव सर्वे) पर व्यय किया गया है, जिसका लक्ष्य यह सिद्ध करना है, और जिसमें उसे सफलता भी मिली है, कि कृषि का अनुक्रम उससे ठीक उल्टा है, कि वह समझता है जैसा कि रिकार्डो के सिद्धान्त के मूल आधार में माना गया है। पहले-पहल घटिया किस्म की भूमि पर खेती की जाती है, क्योंकि इसमें वनस्पतियों का बाहुल्य अपेक्षाकृत कम रहता है और इसलिए उन प्रारम्भिक अवस्थाओं में इसका प्रबन्ध कर पाना अधिक सरल रहता है। जब शक्ति बढ़ जाती है और मनुष्यों का संगठन हो जाता है, तभी पहाड़ियों के ऊपर से लोग नीचे की समृद्ध और उर्वर घाटियों में उतरना प्रारम्भ करते हैं। "हमें इस नियम का कोई अपवाद मालूम नहीं है; और हमें विश्वास है कि इसका कोई अपवाद विद्यमान भी नहीं है, या विद्यमान हो भी नहीं सकता।"[1] केरी ने भूमि को पूंजी के अन्य रूपों के समान ही एक रूप समझा है, इसलिए इस दृष्टिकोण के अनुसार केरी की दृष्टि में "भूमि एक विशाल मशीन है, जो मनुष्य को इसलिये दी गई है कि उससे वह अपना काम चला सके।" परन्तु सारी प्रगति का सार यही है कि मनुष्य सब जगह निम्नतम से प्रारम्भ करता है और धीरे-धीरे सर्वोत्तम की ओर बढ़ता जाता है।

---

१. दी पास्ट, दी प्रेजेन्ट, एण्ड दी फ्यूचर; पृष्ठ २१-२६।

पहले पत्थर की कुल्हाड़ियाँ बनाई जाती हैं, उसके बाद लोहे की और सबसे अन्त में इस्पात की। यदि हम रिकार्डो के सिद्धान्त को मान लें तो भोजन प्राप्त करने के लिए बनाई गई मशीन (अर्थात् भूमि) ही एक ऐसी होगी; जिसके सम्बन्ध में मनुष्य सर्वोत्तम से प्रारम्भ करता है और निम्नतम की ओर बढ़ता जाता है।[1]

इतना अवश्य स्वीकार किया जा सकता है कि ऐतिहासिक अनुसंधान की दृष्टि से बसने के अनुक्रम की दृष्टि से केरी अपनी बात को पर्याप्त उचित ढंग से स्थापित कर सका है। फिर भी दो बड़ी स्पष्ट टिप्पणियाँ की जा सकती हैं। पहली बात तो यह है कि केरी की सैद्धान्तिक कट्टरता के बावजूद रिकार्डो के सिद्धान्त में यह बात कहीं स्थापित नहीं की गई कि ऐतिहासिक प्रगति की दृष्टि से खेती पहले सबसे अच्छी भूमि पर शुरू की गई और इसके बाद क्रमशः घटिया भूमियों पर खेती की जाने लगी। रिकार्डो के सिद्धान्त का सम्बन्ध किसी भी एक दिये हुए निश्चित समय में भूमियों की तुलनात्मक उर्वरता से था। यह बात सुनकर कि कुछ समय के लिए कृषि में भी वर्तमान प्राप्ति हो सकती है, और यह कि अपेक्षाकृत अधिक उर्वर भूमियाँ भी किसी दूसरे समय में उर्वर रह जा सकती हैं, रिकार्डो के हाथ-पाँव ठंडे हो जाते। अपनी रिकार्डो की भारी-भरकम आलोचनाओं द्वारा केरी ने मुख्य रूप से यह सिद्ध कर दिया है कि वह यह समझने में असफल रहा है कि रिकार्डो के कहने का अभिप्राय क्या था; और ठीक इसी प्रकार एक और जगह वह यह प्रकट करता है कि वह माल्थस की बातों को भी इसी भाँति पूरी तरह समझ नहीं पाया है। परन्तु केरी का कार्य निष्फल नहीं है। अपने अनुसंधानों में ऐतिहासिक रुचि उत्पन्न करने के अतिरिक्त उसने एक प्रकार से लोगों को विवश किया कि वे क्षीयमाण प्रतिप्राप्ति के नियम को दुबारा और अधिक सावधानी के साथ प्रस्तुत करें; और उसमें इन शुभ शब्दों पर जोर दिया जाय—"एक खास बिन्दु से आगे चलकर।" दूसरा पहलू, जिसके ऊपर टिप्पणी करने की आवश्यकता है, वह बहुत ही स्पष्ट हेत्वाभास है, जो केरी द्वारा लगातार बार-बार दुहराई जाने वाली पत्थर, लोहे और इस्पात की कुल्हाड़ियों की उपमा के रूप में प्रस्तुत

---

१. दी पोलीटिकल इकोनोमी; भाग १, पृष्ठ २५।

किया गया है, जो घटिया औज़ारों से बढ़िया औज़ारों की ओर प्रगति का प्रतीक हैं। पहली बात तो यह है कि जब मनुष्य पत्थर की कुल्हाड़ी की स्थिति को पार करके आगे बढ़ जाते हैं, तो पत्थर की कुल्हाड़ी त्याग दी जाती है। परन्तु उस घटिया भूमि के सम्बन्ध में यह बात नहीं है, जिस पर कि पहले खेती की जाती है। यदि अस्थायी रूप से उस पर खेती बन्द भी कर दी जाय, तो भी उसे संचिति (रिज़र्व) में रखा जाता है। दूसरी बात यह है कि जब, यदि किसी भी समय, मनुष्य जाति संगठन द्वारा बलवान होकर सब जगह नीचे की घाटियों में जा चुकेगी, तब और नीचे जाने के लिए घाटियाँ शेष न बचेंगी और ऐसी भूमियाँ शेष नहीं बचेंगी, जिनकी उर्वरता और भी अधिक हो, और जिन पर अभी कृषि की जानी शेष हो। उस दशा में केवल एक ही मार्ग होगा, और वह यह कि अस्थायी रूप में छोड़ दी गई भूमियों पर फिर खेती प्रारम्भ की जाय। संक्षेप में, जहाँ तक मशीनों का सम्बन्ध है, मनुष्य जाति किसी भी समय में केवल उन्हीं मशीनों का प्रयोग करती है, जो उस समय तक ज्ञात मशीनों में सर्वोत्तम हों; फलतः उपयोग में आने वाले औजार एक ही जैसी कार्य-क्षमता के औजार होते हैं; परन्तु भूमि के सम्बन्ध में यह बात इससे बिलकुल भिन्न है, क्योंकि यहाँ विभिन्न कार्यक्षमताओं के "औज़ार" (अर्थात् भूमियाँ) आवश्यक रूप से एक ही साथ प्रयोग में लाई जाती हैं; और इसी में रिकार्डो का सारा भाटक-सिद्धान्त निहित है।

परन्तु केरी इन सब बातों से बिलकुल चिन्तित नहीं होता, क्योंकि उसके लिये संसार असीम है; और न उसे कृषि में वर्धमान प्रतिप्राप्ति की क्रमशः उन्नतिशीलता में ही कोई बाधा दिखाई पड़ती है। और वस्तुतः इसे उसका दुस्साहस ही कहना चाहिये कि उसे इस बात को इतना जोर देकर कहने का साहस भी होता है। "इस समय ऐसी भूमि प्रभूत मात्रा में विद्यमान है, जिस पर किसी का अधिकार नहीं है, और ऐसी भूमि सदा से रही है।" "ऐसी भूमि का विस्तार लगभग अनन्त है, जो खाद्य-पदार्थ उत्पन्न कर सकती है" और फिर भी जो अब तक भी किसी के कब्जे में नहीं है और जिस पर उत्पादन नहीं किया जा रहा। भूमि श्रम की बचत करने वाला एक विशाल बैंक है; और केवल यही एक ऐसा बैंक है, "जिसके लाभांश (डिविडेंड) निरन्तर बढ़ते चले जाते हैं, जब कि इसकी पूँजी निरन्तर दुगनी होती जाती है;" और यह

प्रक्रिया इसी प्रकार सदा होती रहेगी, बशर्ते कि भूमि को उसकी उपज का अवशेष (कूड़ा-कचरा या मल इत्यादि) वापस प्राप्त होता रहे। यह बात केरी के संरक्षणवादी दृष्टिकोण के सम्बन्ध में विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है। संक्षेप में, कृषि ही एक ऐसा क्षेत्र है, "जिसमें श्रम और पूंजी की लगभग असीमित मात्रा का प्रयोग इस प्रकार किया जा सकता है कि उससे होने वाली प्रतिप्राप्ति लगातार क्रमशः बढ़ती ही जाय।"[१]

ये विचार अपने आप में अंशतः इस बात की ओर संकेत कर देते हैं कि केरी द्वारा माल्थस का खंडन किस ढंग का रहा होगा। उसके सिद्धान्त की यह आधारभूत धारणा है कि स्वाभाविक दशाओं में यदि कोई विघ्न डालने वाले कारण रुकावट न डालें, तो पूंजी का झुकाव जनसंख्या की अपेक्षा अधिक तेजी से बढ़ने की ओर रहता है।[२] यह केवल संगठन के गुणों और प्रकृति की शक्तियों के ऊपर विजय प्राप्त करती हुई मनुष्य की बढ़ती हुई संख्या की शक्तियों का प्रतिबिम्ब मात्र है, जब "जनसंख्या में होने वाली प्रत्येक वृद्धि एक उपभोक्ता और एक उत्पन्नता लाती है।"[१] और जब पहली प्रारम्भिक बस्ती, जो जनसंख्या की अल्पता के कारण दरिद्र होती है, क्रमशः संख्या में प्रत्येक नई वृद्धि के साथ-साथ कार्यक्षमता और शक्ति की दृष्टि से सम्पत्ति के उत्पादन की ओर अग्रसर होने लगती है। यह सब सत्य है। मनुष्य अकेले नहीं रह सकते; और जब जनसंख्या बहुत स्वल्प होती है, उस समय कल्याण की वृद्धि के लिये पहली शर्त यह होती है कि जनसंख्या में वृद्धि हो। परन्तु इस चेतावनी से आगे, जो उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक दिनों में अमेरिका की परिस्थितियों को देखते हुए पूरी तरह उचित कही जा सकती है, केरी माल्थस के विरुद्ध बड़ी विचित्र युक्तियों का झमेला-सा प्रस्तुत करता है। जो युक्ति उसे सब से अधिक महत्त्वपूर्ण प्रतीत हुई, वह मूलतः धार्मिक है। क्योंकि परमात्मा ने कहा था—"फलवान बनो और अपनी संख्या में वृद्धि करो," जब कि राजनीतिक अर्थशास्त्र का आधुनिक "स्कूल" यह कहता है—"फलवान मत बनो, और अपनी संख्या में वृद्धि मत करो।" "इस प्रकार यह परमात्मा के सब से

१. उदाहरण के लिये दी पास्ट, दी प्रेजेन्ट एण्ड, दी फ्यूचर; पृष्ठ ७७, ९९।

२. वेजिज; पृष्ठ ८१।

१. हारमोनी आफ इंटरेस्ट्स; पृष्ठ ८६।

आरम्भिक आदेशों का उल्लंघन करने को कहता है। यह दरिद्रता और दुर्दशा का कारण परमात्मा के दोषपूर्ण प्रबन्ध को बतलाता है।"[1] माल्थस की एक अजीब और उलझी हुई सी आलोचना करते हुए वह इस बात की ओर संकेत करता है कि माल्थस के सिद्धान्त में वस्तुओं के सच्चे अनुक्रम को बिलकुल ही उलट दिया गया है।[2] जब जनसंख्या बढ़ती है, तभी खाद्य-पदार्थ प्रभूत मात्रा में होते हैं। और फिर माल्थस के सिद्धान्त के अनुसार जिस समय माल्थस की बताई हुई रोकें अपना काम कर रही हों, उस समय तो भोजन सबसे अधिक होना चाहिये परन्तु युद्ध-काल में भोजन की बहुत ही कमी रहती है—"शान्ति आती है दवाई का प्रयोग बन्द किया जाता है और पूंजी फिर बढ़नी शुरू हो जाती है।"[3] और स्पष्ट शब्दों में कहा जाय तो—"युद्ध की आवश्यकता स्रष्टा की भूलों को सुधारने के लिये है, या स्वयं स्रष्टा ने मनुष्यों की गलतियों के प्रभावों को हटाने के लिए एक सुधारक वस्तु के रूप में युद्ध को उत्पन्न किया है?"[4] इन सब युक्तियों से केरी की एक भोली नासमझी प्रकट होती है; और स्पष्ट है कि वह माल्थस को पूरी तरह नहीं समझ पाया है। परन्तु माल्थस के विरुद्ध जिहाद करते हुए केरी मुख्य रूप से इस बात से प्रेरित है कि वह मनुष्य के प्रति होने वाले परमात्मा के व्यवहार को उचित सिद्ध करे; और इस लक्ष्य को पूर्ण करने के लिये उसके द्वारा प्रस्तुत युक्तियों में एक बालोचित सरलता दिखाई पड़ती है, जिसे कुछ-कुछ फूरियर की याद आ जाती है।

एक और युक्ति, जो अपने आप में तो बेहद मूर्खतापूर्ण है, पर फिर भी जिसने अपने समय में काफी उपयोगी सेवा की थी, अपने सर्वोत्तम रूप में केरी द्वारा प्रस्तुत की गई है; और सम्भवतः यह युक्ति भी फूरियर को बहुत पसन्द आती। यदि मनुष्यों की प्रवृत्ति रेखागणितीय अनुगुणन के हिसाब से बढ़ने की हो भी, तो क्या मनुष्य अपने निर्वाह के लिए निम्न कोटि के पशुओं और वनस्पतियों पर निर्भर नहीं है? और क्या उन पशुओं और वनस्पतियों में भी उसी प्रकार रेखागणितीय अनुपात में बढ़ने की प्रवृत्ति नहीं है? परन्तु

---

१. हारमोनी आफ इंटरेस्ट; पृष्ठ २०१; वेजिज; पृष्ठ २३२।

२. वेजिज, पृष्ठ २४४।

३. पोलीटिकल इकोनोमी; भाग १, पृष्ठ ५४।

४. सोशल साइंस; भाग १, पृष्ठ २७०।

केरी हमें यह विश्वास दिलाना चाहता है कि वस्तुतः स्थिति इसकी अपेक्षा भी कहीं अधिक सान्त्वनाप्रद है, जितनी कि इस सामान्य विचार से ध्वनित होती है। यह ठीक है कि भक्षक मनुष्य और भोज्य खरगोश दोनों की ही प्रवृत्ति रेखागणितीय अनुपात में बढ़ने की है; परन्तु खरगोश इस बात के लिये बदनाम हैं कि वे मनुष्यों की अपेक्षा कहीं अधिक बच्चे पैदा करते हैं। केरी का कथन है कि संख्याओं में होने वाली वृद्धि प्राणियों के विकास के विलोम अनुपात में होती है। जैसा कि एक पुरानी पहेली में कहा गया है कि "प्राणी जितने उच्चतर होते जाते हैं, उतने ही अल्पतर होते जाते हैं।" परन्तु माल्थस के सिद्धान्त के अनुसार जब हम मनुष्य तक पहुँचते हैं, तो "हमें एक नये और अपेक्षाकृत अधिक बड़े नियम के अस्तित्व का पता चलता है, जिसके फलस्वरूप मनुष्य तो रेखागणितीय अनुपात में बढ़ता है, जबकि हैरिंग मछलियों, खरगोशों, घोंघों, आलुओं, शलजमों तथा मनुष्य के उपयोग के लिये आवश्यक अन्य सब वस्तुओं की वृद्धि केवल अंकगणितीय अनुपात तक ही सीमित रहती है।"[1] एक और जगह वह हमें बताता है कि "अमेरिकन जनसंख्या की वृद्धि जितनी तेजी से हुई है, घोंघों की उपलब्धि उसकी अपेक्षा भी तेजी से बढ़ी है।"[2] केरी के तर्क के अनुसार बेकारी का बिलकुल स्पष्ट इलाज यह है कि बेकार लोग खरगोश पालना शुरू कर दें; और या इससे भी अच्छा यह होगा कि वे घोंघों को पालने का काम करने लगें।

इसी के समान ध्यान देने योग्य, हालाँकि यह केवल कुतूहल के लिये ही है, केरी की वह युक्ति है, जो कारबोनिक ऐसिड पर केन्द्रित है। ज्यों-ज्यों प्रगति हुई है और सभ्यता आगे बढ़ी है, त्यों-त्यों निम्न श्रेणी के अपेक्षाकृत बड़े-बड़े प्राणी मरकर समाप्त होते गये हैं, जिसका परिणाम यह हुआ है कि वानस्पतिक जीवन के निर्वाह के लिये आवश्यक कारबोनिक ऐसिड की उपलब्धि में बहुत अव्यवस्था हो गयी है। इसलिए और कुछ नहीं तो केवल कारबोनिक ऐसिड के उत्पादक के रूप में ही इस बात की आवश्यकता है कि मनुष्यों की संख्या बढ़ायी जाय, जिससे कि निम्न श्रेणी के बड़े-बड़े प्राणियों की समाप्ति से हुई कमी को पूरा किया जा सके। यदि शेर अब कम साँस लेते हैं, तो

१. सोशल साइंस; भाग १, पृष्ठ ९२।
२. सोशल साइंस; भाग ३, पृष्ठ १२२।

उचित है कि मनुष्य अधिक साँस लें। यह "सब प्राकृतिक व्यवस्थाओं के सौन्दर्य"[1] का एक और उदाहरण है।

परन्तु इस प्रकार की युक्तियाँ अपने आप में माल्थस द्वारा खड़े किये गये दैत्य को धराशायी करने के लिये पर्याप्त नहीं हैं, और केरी इस बात को अनुभव करता है। अपनी प्रारम्भिक रचनाओं में उसने इस बात को स्वीकार किया था कि एक ऐसा समय आ सकता है जब "पृथ्वी पर लोगों के खड़े रहने के लिये भी पर्याप्त स्थान न होगा;" परन्तु वह "उस सुदूर भविष्य की चिन्ता को कृपालु भगवान के सिर छोड़कर" ही सन्तुष्ट हो जाता है।[2] अभी तत्काल कोई ऐसी आवश्यकता नहीं है कि खाद्य-पदार्थों की उपलब्धि को बढ़ाने के उद्देश्य से निष्क्रिय, असंयत या दुर्व्यसनी हो जाना उचित समझा जाय। इस स्थान पर वह स्वीकार करता है कि यह सम्भव है, और यहाँ तक कि सम्भावित भी है, कि किसी दिन संसार की जनसंख्या उचित से बहुत अधिक हो जायगी, "परन्तु हमें इस बात की चिन्ता अपने उत्तराधिकारियों के लिये छोड़ देनी चाहिये कि जब उन्हें ऐसा लगे कि उन्हें किन्हीं उपायों का आलम्बन करने से अपनी दशा सुधारने में सहायता मिल सकती है, तो वे उन उपायों का अवलम्बन करें।"[3]

फिर भी सब वस्तुओं में लयबद्धता के सिद्धान्त की स्थापना करने वाले व्यक्ति के लिये भविष्य के संकट को, चाहे वह कितनी भी दूर का क्यों न हो, इस प्रकार टाल देना सन्तोषजनक नहीं हो सकता; और अपने अन्तिम वक्तव्य में वह स्वीकार करता है कि यदि, उसके ही शब्दों में, "प्रजनन की प्रवृत्ति एक सदा निश्चित परिमाण में रहती हो" तो मानव-जाति के एक बड़े भाग की अन्तिम दशा दासों जैसी हो जायगी और अन्ततोगत्वा मनुष्य को प्रवृत्ति से परास्त होना पड़ेगा।[4] इस कठिनाई को हल करने के लिए एक स्पष्ट तर्क-पद्धति है। यदि यह सिद्ध किया जा सके कि प्रजनन की शक्ति सदा एक जैसी नहीं रहती, बल्कि वस्तुतः वह घटती-बढ़ती रहती है, तो वस्तुओं में फिर उस

---

१. सोशल साइंस; भाग १, पृष्ठ ३१९-३२०।
२. दी पास्ट, दी प्रेजेन्ट, एण्ड दी फ्यूचर, पृष्ठ ७७।
३. पोलीटिकल इकोनोमी; भाग ३, पृष्ठ ६१।
४. सोशल साइंस; भाग १, पृष्ठ २६५।

लयबद्धता को स्थापित कर पाना सम्भव होगा, जो केरी को इतनी प्रिय है। वस्तुतः केरी की युक्ति-परम्परा इसी प्रकार की है। वह ऐसे अनेक उदाहरण प्रस्तुत करता है (यद्यपि उसकी युक्ति में अनजाने में अत्यधिक माल्थसवाद मिश्रित है), जिनसे यह प्रकट होता है कि प्रजनन की शक्ति घटती-बढ़ती रहती है; और वह यह सामान्य युक्ति प्रस्तुत करता है कि ज्ञान-वाहिनी सम्बन्धी (नर्वस) शक्तियों और प्रजनन शक्तियों में परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध है।[1] जब शक्ति मांसपेशियों की दिशा से हटकर ज्ञानवाहिनी प्रणाली की ओर मुड़ जाती है, तब प्रजनन का अनुपात घट जाता है। मानसिक उत्कर्ष के साथ बंध्यत्व का सम्बन्ध पाया जाता है; और ज्यों-ज्यों जाति प्रगति करती जायगी, त्यों-त्यों उसकी संख्या की वृद्धि की दर में स्वभावतः कमी होती जायगी। इस प्रकार फिर लयबद्धता स्थापित हो जाती है। माल्थस की बताई हुई रोकें बिलकुल व्यर्थ और अनावश्यक सिद्ध होती हैं, क्योंकि संसार में एक ऐसा दिव्य और स्वतः परिस्थितियों के अनुकूल अपने आपको ठीक कर लेने वाला यन्त्रजाल विद्यमान है, जो जनसंख्या के प्रवाह को नियमित रखता रहेगा।

आमतौर से केरी लिस्ट के साथ मिलाकर संरक्षणवाद के समर्थक-युगल में से एक माना जाता है; परन्तु वस्तुतः उसका संरक्षण एक बहुत ही अवैज्ञानिक ढंग का संरक्षण है, जिसका मूल स्रोत विवेक न होकर सहज प्रवृत्ति (इंस्टिक्ट) है। उसने आयात-शुल्कों के करापातों की सूक्ष्मताओं की खोज करने की चेष्टा नहीं की। उसका संरक्षणवाद, जब वह हमारे सामने आता है, फिर उस घने जंगलों में रहने वाले व्यक्ति का स्वाभाविक उद्गार-सा प्रतीत होता है, जो अपनी आदिकालीन परिस्थितियों में अपनी कमर कस रहा हो। प्रारम्भ में केरी एक कट्टर स्वच्छन्द व्यापारवादी था, और संरक्षण को एक ऐसा उपाय मानता था, "जो भगवान के लाभदायक प्रयत्नों को निष्फल करने के लिये बनाया गया है।"[2] परन्तु ज्यों-ज्यों उसे संगठन के लाभ अधिक और अधिक समझ में आते गये, त्यों-त्यों वह तेजी से, और कुछ मूर्खतापूर्वक, संरक्षणवादी होता गया। यहाँ पर केरी का मूलभूत विचार, जिससे कि अन्य सब विचार विकीर्ण होते हैं, उत्पादक और उपभोक्ता को निकट सम्पर्क में लाने का महत्त्व है। इस प्रकार संरक्षण उस संगठन के लिये सहज प्रवृत्ति द्वारा

१. सोशल साइंस; भाग ३, पृष्ठ २६६। २. बेजिज; पृष्ठ १४।

किये गये प्रयत्न का प्रतीक है, जिसकी कि वह अन्य स्थानों पर बड़े उत्साह के साथ प्रशंसा करता है। केरी मध्य के मार्ग पर चलने को तैयार नहीं है। "संरक्षण या तो ठीक है, या गलत! स्वच्छन्द व्यापार या ठीक है या गलत··· बीच के अधूरे उपाय सदा गलत ही होते हैं।"[1]

एक और विचार केरी की रचनाओं में लगातार बार-बार इतना अधिक दुहराया गया है कि वह उसका एक बहुत महत्त्वपूर्ण विचार-सा बन उठा है। यह है उसका अपने आप किया हुआ वाणिज्य और व्यापार में एक विशिष्ट अन्तर। वाणिज्य एक ही समाज के सदस्यों में होने वाला वस्तुओं का स्वाभाविक विनिमय है; और यह शुभ है। व्यापार वस्तुओं को दूर देशों में ले जाने का नाम है; और यह बुरा है। यदि संक्षेप में कहा जाय, तो वाणिज्य के करने वाले लोग अपने साथी मनुष्यों के साथ लेन-देन करते हैं; और जो लोग व्यापार में लगे हैं, वे अपने साथियों के लिये लेन-देन करना चाहते हैं।[2]

केरी के संरक्षणवाद का सारांश मुख्य रूप से उसकी इस स्थापना में है कि "भूमि और श्रम द्वारा चुकाया जाने वाला सबसे पहला और सबसे भारी कर परिवहन का व्यय है", और एक वाक्यांश में, जिसका प्रयोग करते हुए वह कभी नहीं थकता, वह इस कर को "करघे और लुहार के ऐहरन को उनके स्वाभाविक स्थानों, हल और मेड़े के निकट लाकर" समाप्त कर देना चाहता है। वस्तुतः उसकी अधिकांश युक्तियां इसी आधारभूत मान्यता का थोड़ा बहुत परिवर्तित रूप है कि "संरक्षण का उद्देश्य यह है कि उत्पादक और उपभोक्ता के मध्य की दूरी, और उनके मध्य होने वाले अपव्यय को कम और कम किया जाय," और यह कि यह संरक्षण आपसी संयोजन (कम्बीनेशन) को प्राप्त करने के लिये एक सहज प्रवृत्ति द्वारा किये गये प्रयत्न से अधिक कुछ नहीं है।[3] फिर भी इसी बात के कुछ परिवर्तित रूप काफी मनोरंजक हैं; और बाकी रूप भी एकदम अरोचक नहीं हैं। संरक्षण संकेन्द्रण (कन्सन्ट्रेशन) को बढ़ाता है, और स्वच्छन्द व्यापार विकेन्द्रण को। संरक्षण श्रम की खरीद के लिये प्रतियोगिता है, और स्वच्छन्द व्यापार श्रम की बिक्री के लिये क्योंकि जब मनुष्य सस्ते हो जाते हैं, तो युद्ध को प्रोत्साहन मिलता है, इसलिये

१. हारमोनी आफ इंटरेस्टस; पृष्ठ ६७। २. सोशल साइंस; भाग ३, पृष्ठ, ४४।
३. हारमोनी आफ इंटरेस्टस; पृष्ठ ५२, १०१ इत्यादि।

स्वच्छन्द व्यापार युद्ध को प्रोत्साहन देता है। फिर, स्वच्छन्द व्यापार दूर के बाजारों का समर्थक है और संरक्षण घरेलू बाजार का। परन्तु जो लोग दूर के बाजारों की खोज में जाते हैं, वे अपनी पत्नियों और बच्चों से बिछुड़े रहते हैं, और अपना अधिक समय सड़कों पर और सरायों में विताते हैं; और इस तरह पतन की ओर जा सकते हैं। इस प्रकार स्वच्छन्द व्यापार सराय के पतनपूर्ण जीवन का समर्थक है और संरक्षण घरेलू जीवन की पवित्रता का। परन्तु ये और इसी प्रकार की चौंकाने वाली बातें शायद केरी की युक्ति की केवल बाहरी सजावट भर हैं।[1]

परन्तु एक और सहायक युक्ति भी केरी ने प्रस्तुत की है, जो इनसे कुछ भिन्न ढंग की है। वह देश, जिसमें संरक्षण नहीं है और जो केवल कृषि-कार्य तक ही सीमित है, वस्तुतः अपनी मिट्टी को बेच रहा होता है। इस सिद्धान्त का, कि भूमि द्वारा अधिकाधिक उपज प्राप्त करने के लिये यह एक शर्त है कि भूमि की उपज का अवशेष रूप मल या कूड़ा-कचरा फिर उस भूमि को प्राप्त होते ही रहना चाहिये, केरी के मन पर एक विचित्र गहरा असर था; और परिणामतः इसमें यह अर्थ निहित है कि उपभोग का स्थान भूमि के इतने पर्याप्त निकट होना चाहिये जो कुछ उसने दिया है उसका अवशिष्ट मल इत्यादि उसे फिर प्राप्त हो सके।[2] इस प्रकार हम एक और अगले निष्कर्ष पर आ पहुँचते हैं, जो हमें लिस्ट की याद दिला देता है कि "निर्माण-व्यवसाय सदा वास्तविक कृषि से पहले विकसित होते हैं, और कभी उसके बाद विकसित नहीं होते। निर्माण-व्यवसायों की अनुपस्थिति में कृषि के सारे प्रयत्न केवल मिट्टी को तोड़ने-फोड़ने और उसे कच्ची उपज के रूप में देश से बाहर भेज देने के कार्य तक ही सीमित रहते हैं।[3] जो पाठक इस युक्ति के ऊपर अर्थशास्त्रीय दृष्टि से टिप्पणी देखना चाहते हैं, वे उसे उचित स्थान पर (खंड ५, अध्याय १० में) जॉन स्टुअर्ट मिल में पायेंगे, जिसने प्रकटतया इस युक्ति को अपने शस्त्रागार का सबसे बड़ा शस्त्र समझा था।

मूर्खता की एक विशेष ढंग की प्रवृत्ति[4] के बावजूद अर्थशास्त्रीय सिद्धान्त

१. हारमोनी आफ इंटरेस्ट्स ; पृष्ठ १९३, २०२, २०६ इत्यादि।

२. सोशल साइंस ; भाग १, पृष्ठ २७३। ३. सोशल साइंस ; भाग १; पृष्ठ ३३३।

४. "सत्य क्योंकि सरल होता है, इसलिये सरल विचार सामान्यतया सत्य होते हैं।"

के विकास में केरी का महत्त्वपूर्ण स्थान है। मुख्य रूप से वह प्राचीन विचारधारा के निराशावाद की प्रतिक्रिया का प्रतिनिधि है। उसका मूल्य का सिद्धान्त, जो इस विचार पर आधारित था कि प्रगति के साथ-साथ विद्यमान सम्पत्ति का निरन्तर मूल्य-ह्रास होता जायगा, यह सिद्ध करने के लिये प्रस्तुत किया गया था कि सब वस्तुओं के अन्दर अन्ततोगत्वा एक लयबद्धता विद्यमान है। "मनुष्य जाति के विभिन्न वर्गों में सच्चे और वास्तविक हितों की एक पूर्ण लयबद्धता विद्यमान है"[1] केरी का यह विचार बैस्तियात में जाकर फिर प्रकट हुआ। यह उसका केन्द्रीय सिद्धान्त है, परन्तु इसका समर्थन उसने स्वभावतः प्राचीन निराशावाद के दो मुख्य स्रोतों, क्षीयमाण प्रतिप्राप्ति के नियम और जनसंख्या के सिद्धान्त पर जोरदार आक्रमणों द्वारा किया। उसकी अधिकांश आलोचना का कम से कम यह गौण लाभ तो अवश्य हुआ कि इससे अन्य लोग और भी अधिक सूक्ष्म और व्यवस्थित वक्तव्य देने के लिये विवश हुए; भले ही उसका कारण यह रहा हो कि वे इस संसार के केरियों द्वारा गलत न समझे जायँ, और उन्हें गलत रूप में प्रस्तुत न किया जा सके। उसका सबसे अधिक दमकता हुआ और स्पष्ट दोष वह है, जिसके लिये उसने औरों की आलोचना की, अर्थात् यह कि वह अपनी परिस्थितियों द्वारा बहुत अधिक सीमित और बँधा हुआ रहा। वह बहुत ही दयनीय रूप से नयी बस्तियों के बसने की सबसे प्रारम्भिक दशा का अर्थशास्त्री है, जिसके मन में यह मार्मिक विश्वास भरा हुआ है कि संसार में सदा इतने जंगली खाली पड़े हुए स्थान विद्यमान रहेंगे कि लोगों के लिये सदा पर्याप्त जगह रहेगी; और लोगों को कभी भी भूमि की कृपणता अथवा स्त्रियों की परेशान करने वाली प्रजननशीलता से भयभीत होने की कभी कोई आवश्यकता न होगी।

बैस्तियात

सम्भवतः काल फ्रैड्रिक बैस्तियात[1] (१८०१–१८५०) पर बिलकुल दयालु

यह केरी के अत्यन्त प्रिय सिद्धान्तात्मक वाक्यों में से एक है। किसी भी विचारधारा की आधारशिला के रूप में इसे कठिनाई से ही आशाजनक समझा जा सकता है।

१. सोशल साइंस; भाग ३, पृष्ठ ११३।

१. बेयोन के निकट मुगरौन में १८०१ में जन्म हुआ। १८४४ तक वह अपने फार्म पर बिलकुल अप्रसिद्ध व्यक्ति की भाँति रहता रहा, हालाँकि वह अपने क्षेत्र के बुद्धिजीवियों

नहीं रहा। फिर भी उसका नाम अर्थशास्त्रीय सिद्धान्त के विकास में महत्त्वपूर्ण स्थान पाने योग्य है। उसका दुर्भाग्य यह था कि वह मुख्य रूप से फ्रांसीसी मुहावरे में "ऐस्प्रि वल्गेरिजैंतियर" (ज्ञान को लोकप्रिय बनाने वाला) था। बैस्तियात के जीवन-क्रम का एक और ध्यान देने योग्य पहलू यह तथ्य था कि उसने अपने जीवन में बहुत देर बाद लिखना प्रारम्भ किया; और क्योंकि उसका देहावसान तभी हो गया, जब कि वह काफी जवान था, इसलिये उसका सारा का सारा महत्त्वपूर्ण साहित्य लगभग पाँच वर्षों के अत्यधिक उत्साहपूर्ण परिश्रम का फल था। मुख्य रूप से बैस्तियात एक पत्रकार था। यहाँ हमने पत्रकार शब्द का प्रयोग किसी बहुत उच्च अर्थ में नहीं किया, अपितु इसके बिलकुल शाब्दिक अर्थ में किया है। अभिप्राय यह है कि वह एक ऐसा व्यक्ति था, जो नित्य प्रति की आवश्यकताओं को पूरा करता था, और पत्रकार के रूप में बैस्तियात का मुकाबला करने वाले शायद थोड़े लोग ही रहे हों। अपने विरोधी के पक्ष को बेहद मूर्खतापूर्ण-सा प्रदर्शित करने में जितनी कुशलता बैस्तियात को प्राप्त थी, उतनी शायद कभी किसी को भी नहीं रही। अब भी उसकी वे रचनाएँ, जो केवल एक दिन के लिये लिखी जाती थीं, पढ़ने में बहुत आनन्द की वस्तु है; क्योंकि एक तो उनमें सूझ-बूझ बहुत है, उनमें व्यंग बड़े तीव्र और निष्ठुर हैं और उसकी वह सफाई आश्चर्यजनक है, जिससे वह अपने विरोधियों को एक दूसरे ही रंग में रंग देता है।

परन्तु एक पत्रकार होने के कारण बैस्तियात अपने आपको कभी भी सामयिक विवादों से पृथक् नहीं कर सका; और उसकी दूसरों को परास्त कर देने की कुशलता के कारण ही उसकी मृत्यु के पश्चात् लोगों में यह सन्देह उत्पन्न हो गया है कि विज्ञान की कठोर दृष्टि में भले ही वह एक दम नीम-हकीम न कहा जा सके, पर फिर भी कम से कम उसका मन बहुत कुछ छिछला

और सार्वजनिक जीवन में काफी प्रभावशाली था। उसके बाद संयोगवश और स्वच्छन्द व्यापार के पक्ष-समर्थन के फलस्वरूप उसकी सर्वोत्तम पत्रकारिता की शक्तियाँ लोगों के सामने आयीं और उसने एक विशालतर जीवन में प्रवेश किया। १८४८ में वह असेम्बली कोन्स्तित्युआंत का और १८४६ में असेम्बली लाजिस्लातीव का सदस्य रहा। उसके अन्तिम ६ वर्ष घोर परिश्रम के वर्ष थे और ऐसा प्रतीत होता है कि वह १८५० में रोम में अत्यधिक कार्य-व्यस्त रहने के कारण मर गया।

था, भले ही वह कितना ही स्फूर्तियुक्त क्यों न रहा हो। बैस्तियात को लिखने की प्रेरणा दो सबसे अधिक आकर्षक (क्योंकि वे कभी समाप्त होने वाले न थे) और सबसे अधिक टिकाऊ पत्रकारिता के विषयों से प्राप्त हुई; और ये विषय थे—स्वच्छन्द व्यापार और संरक्षणवाद का पारस्परिक विवाद, तथा समाजवाद के सम्बन्ध में समाप्तिहीन वाद-विवाद। संरक्षण के विरुद्ध उसका ऐतराज मूलत: वही है, जो समाजवाद के विरुद्ध है। ये दोनों ही शोषण की पद्धतियाँ हैं। जो निर्माता लाभ नहीं कमा पाता, वह संरक्षण की दुहाई देने लगता है, जिससे राज्य अन्य लोगों के खर्च पर उसके लिए लाभ की गारन्टी कर दे। इसी प्रकार समाजवाद में भी व्यक्तिगत उत्तरदायित्व का निषेध दिखाई पड़ता है। इस प्रकार अपनी एक सबसे अधिक मजेदार चुटकी में[1] वह राज्य की परिभाषा इस प्रकार करता है कि "राज्य एक ऐसी विशाल मिथ्या वस्तु है, जिसके द्वारा प्रत्येक व्यक्ति अन्य प्रत्येक व्यक्ति के खर्च पर जुगत भिड़ाता रहता है।" यह सत्य है कि सम्भवत: वह अपरिष्कृत संरक्षण के विरुद्ध अपनी तलवार घुमाता है, ठीक उसी प्रकार जैसे जिस समाजवाद के विरुद्ध वह मोर्चा ठानता है, उसमें भी बहुत सूक्ष्मता नहीं है। परन्तु उसका व्यंग कितना प्रभावोत्पादक हो सकता है, यह उसके उस अमर आवेदन-पत्र से स्पष्ट है, जिसमें मोमबत्तियाँ बनाने वाले सूर्य की प्रतियोगिता के विरुद्ध आवेदन करते दिखाये गये हैं या उसके अपेक्षाकृत कम प्रसिद्ध इस प्रस्ताव में कि अधिक सम्पत्ति प्राप्त करने के लिए दायें हाथ का प्रयोग बन्द कर देना चाहिए; और इसके समर्थन में उसने यह युक्ति-परम्परा प्रस्तुत की है—"व्यक्ति जितना अधिक काम करता है, उतना ही अधिक धनी बन जाता है। काम में जितनी अधिक बाधाएँ होती हैं, मनुष्य को उतना ही अधिक काम करना पड़ता है; इसलिये मनुष्य के सम्मुख विजय प्राप्त करने के लिये जितनी अधिक बाधाएँ होंगी, वह उतना ही अधिक धनी बन जायगा।" शायद यह सब कुछ बच्चों की-सी बात मालूम होती है, और गम्भीर लेखक के रूप में निस्सन्देह उसकी ख्याति को इस बात से काफी धक्का पहुँचा है कि उसकी कहानियों और रूपकों में बहुत कुछ बचपन का-सा अंश रहता है। फिर भी वह पक्ष भाग्यशाली है, जिसे बैस्तियात की सेवाएँ प्राप्त हो जायँ।

१. लेतात (L'Etat)।

संरक्षणवाद और समाजवाद के विरुद्ध आक्रमण बैस्तियात के निषेधात्मक और विनाशात्मक पक्ष का प्रतिनिधि है, और उसका यह रूप "दी इकोनोमीक सोफ़िज़्म्स" में सर्वोत्तम रूप में दिखाई पड़ता है। अपनी मृत्यु से पहले उसने अपने सिद्धान्त का विधानात्मक पक्ष प्रस्तुत करने का एक और प्रयत्न प्रारम्भ किया था, परन्तु उसका केवल एक ही खंड प्रकाशित हो सका। इस पुस्तक का शीर्षक है "इकोनोमिक हारमनीज़" (आर्थिक लयबद्धताएँ)। इसमें बैस्तियात के सिद्धान्तों का सारांश संक्षेप में दिया गया है। बैस्तियात ने संरक्षण और समाजवाद पर आक्रमण इसलिये किया, क्योंकि वे समाज के एक अस्वाभाविक संगठन के प्रतिनिधि थे। उनमें प्रत्येक का लक्ष्य यह था कि उनके द्वारा कुछ लोग दूसरे व्यक्तियों का शोषण करते रह सकें। अपने आप वह कट्टर यथेच्छा-चारितावादी अर्थशास्त्री था; परन्तु वह स्मिथ, रिकार्डो और माल्थस की शिक्षाओं से निकाले गये परिणामों से बहुत अशान्त रहता था, जो अन्ततो-गत्वा हितों की परस्पर-विरोधिता की ओर संकेत करते थे। जैसा कि स्वा-धीनता के कट्टर पुजारी को शोभा देता है, वह फिर समाज की प्राकृतिक व्य-वस्था जैसी किसी वस्तु से गीत गाना शुरू करता है और बड़े आदर के साथ "भगवान महान् नियमों (ले ग्रांद ल्वा प्रोविदेंशियैल) का उल्लेख करता है। परन्तु यदि भगवान के ये नियम समाज को बुराइयों की ओर ले जा रहे हैं, जैसा कि रिकार्डो और माल्थस के सिद्धान्तों से ध्वनित होता प्रतीत होता है, तो हमारी स्थिति क्या है?[1] फिर भी बैस्तियात इस बात को स्वीकार नहीं कर सकता कि विभिन्न आर्थिक नियम (जैसे भाटक सिद्धान्त, जनसंख्या सिद्धान्त और मूल्य का सिद्धान्त) चुपचाप समाज को अन्याय और असमानता की ओर लिये जा रहे हैं। इस बात में बैस्तियात की विशेषता निहित है, जिसके कारण यह समझा जाता है कि वह इस विवाद में एक जिहाद करने वाले व्यक्ति की अपेक्षा कुछ अधिक था। रोम-रोम से अहस्तक्षेपवादी होने के नाते वह यह सिद्ध करने का प्रयत्न करता है कि स्वाधीनता के राज्य में सब वस्तुओं के केन्द्र में पारस्परिक विरोध तो होगा ही नहीं, अपितु सब वैध हितों में पूर्ण लयबद्धता विद्यमान रहेगी।

---

१. देखिये "हारमोनीज इकोनोमीक" के पहले जुड़ा हुआ उसका भाषण "आ ला ज्यूनेस फ़ांसेई"।

उसके सिद्धान्त का सार मूल्य के सम्बन्ध में उसके एक विशिष्ट दृष्टिकोण में, और मूल्य तथा उपयोगिता में किये गये सुकठोर अन्तर में दिखाई पड़ता है।[1] उपयोगिताएँ दो प्रकार की होती हैं। एक तो वे हैं, जो भगवान ने निःशुल्क प्रदान की हैं; और दूसरी वे, जो हमारे अपने परिश्रम द्वारा खरीदी जाती हैं। अब सारी प्रगति का सार इस बात में है कि इनमें से पहले प्रकार की उपयोगिताओं का अधिकाधिक अनुपात में उपयोग किया जाय, और पिछले प्रकार की उपयोगिताओं का कम और कम; जिससे एक इस प्रकार की अविराम प्रक्रिया चल रही है; जिसके द्वारा मूल्य वाली उपयोगिताओं का स्थान बिना मूल्य प्राप्त होने वाली उपयोगिताएँ ले रही हैं। जहाँ तक उपयोगिता की धारणा का प्रश्न है, बैस्तियात कठिनाइयों से बचने के लिये उपयोगिता की धारणा को सेवा की धारणा के साथ सम्बद्ध कर देना चाहता है। "ऐसा कार्य करने का प्रयत्न, जिससे कि दूसरे व्यक्ति की आवश्यकता पूरी हो, उसकी सेवा करना है।" सेवाओं का विनिमय सेवाओं के बदले ही होता है; और जब विनिमय स्वच्छन्द होता है, तब सेवाओं का विनिमय उनके समान मूल्य से होता है। इस प्रकार हम "मूल्य" तक आ पहुँचते हैं। मूल्य पारस्परिक सेवाओं के तुलनात्मक मूल्यांकन का नाम है; या और संक्षेप में कहा जाय, तो "यह दो विनिमय की गई सेवाओं के पारस्परिक सम्बन्ध का नाम है;" यह ऐसा वाक्यांश है, जिसमें उतनी ही दलदल भरी हुई है, जितनी कि अन्य किसी परिभाषा में हो सकती है। आशावादी रंग देने के लिये यह ध्यान रखना आवश्यक है कि इस व्याख्या के आधार पर प्रकृति के निःशुल्क उपहारों का कोई मूल्य नहीं है, क्योंकि मूल्य का सार मनुष्य द्वारा की गयी सेवा में निहित है। इसका मतलब यह है कि जहाँ कोई सेवा न की गई हो या न ली गई हो, वहाँ कोई मूल्य नहीं हो सकता। इस प्रकार उपयोगिता दो अभिकरणों (एजेन्सी) के सहयोग से उत्पन्न होती है;' और ये अभिकरण हैं प्रकृति तथा मनुष्य का श्रम। इन दोनों में से पहला बिना मूल्य प्राप्त होता है, और केवल पिछले का ही मूल्य है। परन्तु जैसा हम पहले देख चुके हैं, प्रगति और आविष्कार का अर्थ है कि प्रकृति से अधिकाधिक उपयोगी सहायता ली जाय। इस प्रकार उपयोगिता का

१. प्रारम्भिक अध्ययन के लिये "हारमोनीज इकोनोमीक" में सबसे महत्त्वपूर्ण अध्याय ये हैं : अध्याय २. "Besoins, Efforts, Satisfactions"; अध्याय ३, "Des Besoins de l'Homm'e"; अध्याय ५; De la Valeur.

झुकाव इस ओर है कि वह अधिक और अधिक निःशुल्क बनती जाय (क्योंकि प्रकृति के उपहार निःशुल्क हैं); जबकि मूल्य, जो इस सारी प्रक्रिया में मनुष्य के श्रम के समान रहता है, उपयोगिता के अनुपात में कम और कम होता जाता है। यह ठीक है कि मूल्य सेवा में निहित रहता है, और "भौतिकता" (मेटीरियलिटी) में नहीं; फिर भी इसे सेवा से तैयार माल में स्थानान्तरित किया जा सकता है, और एक अर्थ में इसे उस तैयार माल में स्थापित किया जा सकता है। परन्तु उस दशा में भी, जबकि यह मूल्य उस तैयार माल में स्थापित किया जा चुका हो, इसके ऊपर उन सब विघ्न-बाधाओं का प्रभाव पड़ता है, जो स्वयं सेवा के बारे में उपस्थित हो सकती हों। यदि सेवा का मूल्य भी गिर जायगा, तो वह मूल्य भी गिर जायगा, जो अस्थायी रूप से उस तैयार माल में स्थापित कर दिया गया है, जिसका उस सेवा से सम्बन्ध है।

परन्तु यह सब तो वह है, जो यह मान लेने पर कि प्रगति होती रहेगी, साधारणतया होना चाहिए। लगातार प्रकृति के निःशुल्क उपहारों का अधिकाधिक उपयोग करते रहने से प्रत्येक वस्तु के बनाने में भविष्य में उसकी अपेक्षा कम श्रम व्यय होना चाहिए, जितना कि आजकल होता है। उपयोगिता ज्यों की त्यों रह सकती है, परन्तु पूंजी की प्रवृत्ति मूल्यह्रासन की ओर है। वर्तमान के परिश्रम का जब अतीत के परिश्रम के साथ विनिमय किया जायगा, तो लाभ सदा वर्तमान के परिश्रम को ही रहेगा। इसलिये कामगर लोग वेतन के लौह-नियम की प्रेतलीला से छुटकारा पाकर एक सुनहले भविष्य की आशा कर सकते हैं।

इसी प्रकार बैस्तियात भूस्वामियों के हितों का भी पक्ष-पोषण करता है। धीरे-धीरे मूल्यह्रासन के सामान्य सिद्धान्त के प्रभाव से भूमि भी बची नहीं हुई। केरी के समान उसका भी यही मत है कि भूमि के लिये किया जाने वाला भुगतान प्रकृति के निःशुल्क उपहार के लिये नहीं किया जा रहा होता, बल्कि वह तो अतीत में की गई, नालियां बनाने, बाड़ लगाने तथा इस प्रकार की अन्य सब सेवाओं के लिये किया जा रहा होता है; और क्योंकि ये सब काम दिनोंदिन सरलतर होते जाते हैं, इसलिये भूमि का मूल्य ही अवश्य घटेगा। इस प्रकार भाटक अतीत में की गई सेवाओं के लिये किया जाने वाला उचित भुगतान मात्र है। बैस्तियात की कृपापूर्ण सहायता में पूंजी की भी उपेक्षा नहीं की गई

है। न केवल इतना कि उसने बड़े उत्साह के साथ ब्याज के औचित्य का समर्थन किया, बल्कि इससे आगे बढ़कर उसने यह भी सिद्ध किया (चाहे इससे केवल उसे ही सन्तोष हो सका हो) कि श्रमिकों की दशा को उन्नत करने की प्रगति किसी भी दशा में पूंजीपति को प्राप्त होने वाले प्रतिफल के व्यय पर नहीं खरीदी जानी चाहिए। पूंजीपति का भाग अनुपाततः कम हो सकता है, परन्तु अन्ततोगत्वा कुल मिलाकर यह बढ़ेगा ही। इस सब में बहुत कुछ तत्त्व दूसरे आशावादी केरी का है; और वस्तुतः बैस्तियात पर यह आरोप भी लगाया गया है कि वह केरी के विचारों की चोरी करता रहा है। अपनी अपेक्षाकृत गम्भीर रचनाओं में भी वह इस आक्षेप से नहीं बच सकता कि वह अपने पक्ष की जरूरत से ज्यादा वकालत कर रहा है, और जिस पक्ष का वह प्रतिपादन करना चाहता है उससे वह अनुचित रूप से अधिक प्रभावित है। वह पाठक को यह विश्वास दिलाना चाहता है कि वह इस संसार की अपूर्णताओं की ओर से आंखें नहीं मींचे हुए है, परन्तु "इकोनोमीक हारमोनीज" का अध्ययन करने के पश्चात् पाठक पर यह प्रभाव पड़ता है कि यदि केवल पर्याप्त स्वतन्त्रता दी जाय, तो आर्थिक उद्यान में प्रत्येक वस्तु निरन्तर अधिक और अधिक सुन्दर होती चली जायगी।

प्राचीन परम्परा : से, सोनियर, जेम्स स्टुअर्ट मिल और केर्नीज़

अर्थशास्त्रीय सिद्धान्त के विकास की जैसी मोटी रूपरेखा हम इस पुस्तक में प्रस्तुत कर रहे हैं, उसमें राजनीतिक अर्थशास्त्र की कट्टर विचारधारा के बाद में होने वाले विकास (अर्थात् वे लेखक जिन्होंने मुख्य रूप से उन सिद्धान्तों को स्वीकार कर लिया था, जिन्हें ऐडम स्मिथ, माल्थस और रिकार्डो ने प्रस्तुत किया था) का विस्तृत विवेचन आवश्यक नहीं। इन लोगों ने मुख्य रूप से जो काम किया, वह केवल स्पष्टीकरण और विषय को उचित प्रणालियों में बांधने भर का काम था। फिर भी उनमें से अनेक लोगों ने किसी एक खास बिन्दु पर विशेष रूप से जोर दिया, या कुछ लोगों ने बड़े परिश्रम के उपरान्त किसी ऐसे वाक्यांश या विचार को प्रस्तुत किया, जो उनके बाद भी काफी समय तक चलता रहा। इसलिये इसमें किसी को ऐतराज न होना चाहिये कि हम इस अध्याय में ऐसे कई लेखकों को इकट्ठा प्रस्तुत कर दें, जिसमें से यद्यपि कुछ लोग अपने आप में बहुत महत्त्वपूर्ण हैं, फिर भी हमारे प्रयोजन के लिये वे अवश्य ही उन लोगों की अपेक्षा कम महत्त्वपूर्ण हैं, जिन्होंने किसी एक नई परम्परा या नई विचारधारा को प्रारम्भ किया।

से

इन लोगों में सबसे अधिक सम्मान का स्थान, या कम से कम काल की प्राथमिकता जीन बैप्तिस्त से[१] (१७६७-१८३२) को प्रदान की जा सकती है।

१. १७६७ में लियोन्स में जन्म हुआ। पहले अपना व्यवसाय शुरू किया। बाद में कई उतार-चढ़ाव देखने के बाद और व्यवसाय का काफी अनुभव ले लेने के बाद उसने "कंजरवेत्वार दे आर्त्स ए मैतिये" में राजनीतिक अर्थशास्त्र के अध्यापक का आसन ग्रहण किया; और बाद में कुछ समय तक कालेज द फ्रांस में भी वह अध्यापक रहा। त्रेत देकोनोमी पोलोतीक (Traite d'Economie Politique) (१८०३) के अतिरिक्त उसने एक और पुस्तक कोर्स कम्पलीत देकोनोमी पोलीतीक प्रतीक (Cours Complet d'Economie Politique Pratique) (१८२८-१८२९) भी लिखी।

से की इन बाद के दिनों में बहुत कुछ उपेक्षा-सी होने लगी है, जो बहुत बार अपने समकालीन लोगों द्वारा किये गये अतिमूल्यांकन (ओवर-वैल्यूएशन) का न्यायोचित फल-सी प्रतीत होने लगती है। सम्भवतः यह सत्य है कि से की बड़ी और मुख्य सफलता यह थी कि उसने ऐडम स्मिथ की रचनाओं को फ्रांसीसी जनता और शेष संसार के सम्मुख व्याख्या सहित प्रस्तुत किया। अपने राजनीतिक अर्थशास्त्र के ग्रन्थ के प्रारम्भ में उसने जो एक अत्यन्त रोचक प्रारम्भिक विचार-विमर्श जोड़ा है, उसमें कहीं तो वह स्मिथ की रचना की अत्यधिक प्रशंसा करता है और कहीं-कहीं स्मिथ की अपनी युक्तियों को प्रस्तुत करने की पद्धति या पद्धति के बिलकुल अभाव पर कड़ी टीका-टिप्पणी करता है। उसने एक सन्दर्भ में, जो बहुत बार उद्धृत किया जाता है, कहा है "स्मिथ की रचना राजनीतिक अर्थशास्त्र के स्वस्थ और सुदृढ़ सिद्धान्तों का बहुत कुछ उलझा हुआ सा ढेर भर है। इन सिद्धान्तों के समर्थन के लिये उसने बड़े आकर्षक उदाहरण और संख्याशास्त्र के बड़े विचित्र रूप प्रस्तुत किये हैं और इनके साथ उसके अनेक शिक्षाप्रद विचार भी सम्मिलित हैं; परन्तु यह इन सब में से किसी भी एक का पूर्ण ग्रन्थ नहीं है। उसकी पुस्तक बिलकुल सही विचारों का एक विशाल अपमिश्रण (चपला) मात्र है, जिसमें स्थान-स्थान पर भावात्मक (पोजीटिव) ज्ञान उलझा दिखायी पड़ता है।"[1] इस आलोचना में कुछ सचाई है; और इसी प्रकार, जैसा हम पहले देख चुके हैं, रिकार्डो भी अत्यधिक अव्यवस्थित लेखक था। इस सारी विशाल अव्यवस्था को समाप्त करके उनके विचारों को व्यवस्थित रूप देना से का ध्येय था। उसने अर्थशास्त्रीय सिद्धान्तों को ठीक व्यवस्था और ठीक पद्धतिपूर्वक प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया। इसके साथ ही उसने अपना लक्ष्य यह भी रखा कि वह अर्थशास्त्रीय सिद्धान्त को लोकप्रिय भी बना सके; अर्थात् वह ऐसी पुस्तक लिखे, जिसे समझ पाना केवल विशेषज्ञों के बस का ही न हो, अपितु साधारण लोग भी उसे समझ सकें।

इन दोनों ही दृष्टियों से उसे आश्चर्यजनक सफलता मिली। उसके मन में यह बात बिलकुल स्पष्ट थी कि राजनीतिक अर्थशास्त्र का रूप क्या होना चाहिये। अन्य पूर्ण विज्ञानों की भाँति (क्योंकि उसका दावा था कि राज-

१. त्रेत दैकोनोमी पोलीतीक; खंड १, पृष्ठ १६-२७।

नीतिक अर्थशास्त्र भी पूर्ण विज्ञान है) इस शास्त्र में भी थोड़े से आधारभूत सिद्धान्त हैं; और उन सिद्धान्तों से निकलने वाले बहुत से अनुमान और उन सिद्धान्तों के परिणाम हैं।[1] ये सिद्धान्त वस्तुओं की प्रकृति को देखकर उतने ही निश्चित रूप में निकाले गये हैं, जितने निश्चित रूप में भौतिक जगत् के नियम खोज निकाले गये हैं। इस प्रकार अर्थशास्त्र को विज्ञान के रूप में समझने के लिये पीठिका तैयार कर दी गई है; और मुखपृष्ठ पर ही हमें सम्पत्ति का उत्पादन, वितरण और उपभोग के रूपों में तिहरा विभाजन दिखाई पड़ता है—उस समय तक विनिमय बड़े गम्भीर रूप में इस त्रयी के पहले शीर्षक के अन्तर्गत ही एक उप-शीर्षक मात्र समझा जाता था। इसी प्रकार भूमि, श्रम और पूंजी नवारम्भकर्त्ता (Entrepreneur) का अस्तित्व शीघ्र ही सामने आने वाला था), और इन उत्पादक अभिकरणों के कारण होने वाला आगम (revenue) से की व्याख्या का मुख्य ढांचा बन जाते हैं। वस्तुतः उन्नीसवीं शताब्दी (और सम्भवतः बीसवीं शताब्दी में भी) लिखी गई पाठ्य-पुस्तकों पर से की छाया बहुत गहरे रूप में पड़ी हुई है।

इसके साथ ही अपने दूसरे मुख्य उद्देश्य में, अर्थात् इस विषय को लोकप्रिय बनाने में भी उसे ऐसी ही सफलता मिली। से का मस्तिष्क अत्यन्त सुव्यवस्थित था और उसकी शैली बड़ी मधुर और प्रसादगुणयुक्त है। आज भी से की रचनाओं को आनन्द लेते हुए पढ़ा जा सकता है, जबकि रिकार्डो को पढ़ने के लिये पाठक में बड़ा धैर्य और साहस होना चाहिए। इसका परिणाम यह हुआ कि से की रचनाओं का अनुवाद अनेक भाषाओं में हुआ और उसकी पुस्तकें खूब धड़ल्ले से बिकीं; और फलस्वरूप यह कहा जा सकता है कि उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध को अर्थशास्त्र पढ़ाने का श्रेय अन्य किसी भी व्यक्ति की अपेक्षा से को ही अधिक है।

अर्थशास्त्र को इस प्रकार जनसाधारण के उपयोगी और लोकप्रिय बनाने के इस महान् और प्रशंसनीय कार्य के अतिरिक्त कुछ विचार भी ऐसे थे, जो से ने बिलकुल अपनी ओर से प्रस्तुत किये। इन विचारों में से एक था "बाजारों का सिद्धान्त" (la theorie des debouches)।[2] किसी समय यह सिद्धान्त

१. वही; पृष्ठ २७।

२. त्रेत दैकोनोमी पोलीतीक; भाग १, अध्याय १५; दे देबौशे; पृष्ठ १४८-१५५।

बहुत प्रसिद्ध था; और अपने समय में इस सिद्धान्त की बड़ी धूम रही; और बहुत समय तक यह समझा जाता रहा कि केवल इस सिद्धान्त के कारण ही से की गणना अमर लेखकों में की जानी चाहिए। उस सिद्धान्त का, शायद जिसका कोई विशेष महत्त्व नहीं है, अभिप्राय यह है कि वस्तुएँ और सेवाएँ पैसे के द्वारा तो केवल ऊपरी तौर पर खरीदी जाती हैं। वस्तुतः वे अन्य वस्तुओं द्वारा खरीदी जाती हैं। पैसा तो केवल वह "वाहन" (कैरेज) है, जो दो पदार्थों का विनिमय करा चुकने के बाद अन्य पदार्थों का विनिमय कराने के लिये तैयार हो जाता है परन्तु वस्तुतः उत्पन्न की गयी वस्तुएँ (प्रोडक्ट) दूसरी उत्पन्न की गयी वस्तुओं के विनिमय में ही ली और दी जाती हैं। से का कथन है कि इसलिये हमें यह नहीं कहना चाहिए : "बिक्री इसलिये नहीं होती, क्योंकि अन्य उत्पन्न की हुई वस्तुएँ स्वल्प हैं।" इसी प्रकार यह बात भी इस सिद्धान्त का ही एक अंश है कि प्रत्येक उत्पन्न की हुई वस्तु (प्रोडक्ट), ज्योंही वह बनकर तैयार होती है, अन्य वस्तुओं के लिये एक बाजार प्रस्तुत कर देती है। इस प्रकार सामान्य रूप से सब वस्तुओं का अति-उत्पादन असम्भव है। यदि कुछ वस्तुएँ आवश्यकता से अधिक मात्रा में विद्यमान हैं, तो उसका कारण केवल यह है कि कुछ अन्य वस्तुएँ आवश्यकता से कम मात्रा में विद्यमान हैं। और इसलिए किसी एक दिशा में हो रहे "अतिउत्पादन" का इलाज यह है कि किसी दूसरी दिशा में उत्पादन को बढ़ा दिया जाय, जिससे कि इस अधिक उत्पन्न हुए माल के लिये बाजार तैयार हो जाय।

इस बाजारों के सिद्धान्त से से तीन निष्कर्ष निकालता है। पहला तो यह, कि बाजारों की संख्या जितनी अधिक होगी और वे जितने अधिक विस्तृत होंगे वे उतने ही अधिक आकर्षक सिद्ध होंगे क्योंकि उनके कारण माँग बढ़ेगी, और उसका फल यह होगा कि कीमतों की प्रवृत्ति बढ़ने की ओर रहेगी। दूसरा निष्कर्ष यह है, और यह निष्कर्ष इतना समय बीतने के बाद भी ठीक समझा जाता है, कि प्रत्येक व्यक्ति हर दूसरे व्यक्ति की समृद्धि में दिलचस्पी रखता है। राष्ट्र को उत्पादकों और उपभोक्ताओं के रूप में विभक्त करके लोगों में अन्तर डालने का प्रयत्न मूर्खतापूर्ण है। प्रत्येक व्यक्ति उत्पादक भी है और उपभोक्ता भी। यदि 'क' समृद्ध हो, तो वह 'ख', 'ग' और 'घ' के लिये अच्छा ग्राहक बन सकता है। इसलिये वे तीनों मिलकर उसकी सफलता के लिये उसी तरह प्रार्थना

करेंगे, जैसे सहृदय ह्यू म ने फ्रांस की समृद्धि के लिए की थी। से राष्ट्रीय जीवन के क्षेत्र में यह निष्कर्ष निकालता है (जो लिस्ट और केरी की याद दिला देता है) कि कृषि, निर्माण-व्यवसाय और वाणिज्य की उन्नति साथ-साथ होनी चाहिए, और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में (ऐडम स्मिथ की भांति) उसका निष्कर्ष यह है कि प्रत्येक राष्ट्र की सीधी दिलचस्पी इस बात में है कि उसके चारों ओर के पड़ोसी खूब समृद्ध हों : "car on ne gagne rien avec un peuple qui n'a pas de quoi payer" अर्थात् "क्योंकि ऐसे लोगों से किसी को लाभ नहीं हो सकता, जिनके पास भुगतान करने के साधन न हों। बाजारों के सिद्धान्त से निकाला गया तीसरा निष्कर्ष यह है (और यह स्वच्छन्द व्यपार सिद्धान्त का सार है) कि आयात किसी भी दशा में घरेलू उत्पादन या उद्योग के लिये हानिकारक नहीं हो सकते; क्योंकि जो कुछ भी माल विदेशों से खरीदा जाता है, वह स्वदेश में उत्पन्न हुई वस्तुओं के बदले में ही लिया जाता है, और इस प्रकार स्वदेश में बनी वस्तुओं के लिए बाजार तैयार हो जाता है।

इस "थ्योरी दे दैबाश" में शायद कुछ भी वस्तु मौलिक नहीं। उदाहरण के लिये इस सिद्धान्त का सार क्वेसने के दाया लोग ड्यू कोमर्स (Dialogue du Commerce) में पाया जा सकता है, जहाँ पर कि वह बड़े सुस्पष्ट रूप में कहता है : "que tout achat est vente, et que toute vente est achat" अर्थात् "प्रत्येक खरीद बिक्री है और प्रत्येक बिक्री खरीद है", और जहाँ वह यह विचार प्रस्तुत करता है, जैसा कि हम एक पहले अध्याय में देख चुके हैं कि व्यापारवादियों का खरीद की अपेक्षा अधिक बिक्री करने के सिद्धांत का उद्देश्य केवल मात्र "कोमर्स कमॅन्स" है; अर्थात् वे लोग वस्तुओं के बदले पैसा खरीदना चाहते हैं। से द्वारा "ल्वा दे दैबाश" से निकाले गये निष्कर्ष भी क्वेसने या स्मिथ की रचनाओं में प्राप्त होने वाले निष्कर्षों से भिन्न नहीं हैं। उदाहरण के लिये विदेशी व्यापार के सम्बन्ध में उसका निष्कर्ष स्मिथ और ह्यू म के ही कुछ प्रसिद्ध विचारों की प्रतिध्वनि मात्र नहीं है, अपितु क्वेसने की भी प्रतिध्वनि है : "si ceux avec qui nous commerçons n'etaient pas riches, nous ferions un pauvre commerce" अर्थात् "यदि वे लोग, जिनसे हम व्यापार करते हैं, धनी न हों तो हमारा व्यापार बहुत मन्दा रहेगा।"

से के अभौतिक उत्पादित वस्तुओं के सिद्धान्त में स्मिथ के विचारों से मत-

भेद अधिक स्पष्ट दीख पड़ता है। इस पर संक्षेप से दृष्टि डाल लेना उचित होगा।[1] स्मिथ ने इस विचार के फेर में पड़कर, कि सम्पत्ति ऐसी होनी चाहिये, जिसे भविष्य के लिये सँभालकर रखा जा सके, सब प्रकार की सेवाओं का वर्गीकरण अनुत्पादनशील श्रम के उदाहरण के रूप में कर दिया है। परन्तु एक डाक्टर के मामले को लीजिये, जो एक रोगी को स्वस्थ कर देता है। कौन यह कह सकता है (कम से कम रोगी तो नहीं) कि डाक्टर का श्रम अनुत्पादनशील था? इसके अतिरिक्त, क्या डाक्टर द्वारा उत्पन्न की गई सेवा एक ऐसी वस्तु थी, जिसका विनिमय नहीं किया जा सकता? "यह बात किसी प्रकार नहीं कही जा सकती, क्योंकि डाक्टर के परामर्श का विनिमय उसके शुल्क के बदले किया गया है। परन्तु इस परामर्श की आवश्यकता उस क्षण के साथ ही समाप्त हो गई, जिस क्षण यह परामर्श दिया गया। इस परामर्श का उत्पादन केवल इसको कहने भर में था और इसका उपभोग इसको सुनने भर में था। यह एक ऐसी वस्तु थी, जिसका उपभोग उत्पादन के साथ ही साथ कर लिया गया।"[2] से की अभौतिक उत्पादित वस्तुएँ इसी प्रकार की हैं, जहाँ उपभोग—उदाहरण के लिये एक गीत का उपभोग—आवश्यक रूप से उत्पादन के साथ ही हो जाता है। यह ठीक है कि उनकी स्मृति मन में काफी देर तक बनी रह सकती है, परन्तु ज्योंही एक बार उनके उत्पादन का क्षण बीत जाता है, त्योंही फिर उनका कोई विनिमय-मूल्य नहीं रहता। और यह भी स्पष्ट है कि क्योंकि उनको संचय करके नहीं रखा जा सकता, इसलिये वे राष्ट्रीय पूँजी में वृद्धि नहीं करतीं; और इस कारण इस बात का संकट है (यह बात उसे लगभग फिर वापस स्मिथ के दृष्टिकोण तक ले आती है) कि इस प्रकार की अभौतिक उत्पादित वस्तुएँ देश में बहुत अधिक मात्रा में न हो जायँ; क्योंकि इस प्रकार के उत्पादनशील श्रम को बढ़ाने से उसका उपभोग भी अनिवार्य रूप से उसके साथ ही साथ बढ़ जाता है, और भविष्य के लिये कुछ बचा नहीं रहता। यदि उपभोग आनन्ददायक हो तब तो बहुत अच्छा, परन्तु यदि कानून की पेचीदगियों के कारण वकीलों को काम मिलना शुरू हो जाय, और उनकी फीसें खूब बढ़ जायँ, तो इससे किसे लाभ होता है।[1] इस सबकी पृष्ठभूमि में

१. वही; भाग १, अध्याय १३, पृष्ठ २१।

२. वही; भाग १, पृष्ठ १२४-१२५। यहाँ यह देखना मनोरंजक होगा कि इस

हमें ऐडम स्मिथ सहमतिपूर्वक मुस्कराता दिखाई पड़ता है।

एक और बात के बारे में भी से ने कम से कम नयी दिशा दिखाने की चेष्टा की, यद्यपि वह उस दिशा में इतनी दूर तक नहीं बढ़ा कि अपने लक्ष्य तक पहुँच सके। से ने रिकार्डो के बीसवें अध्याय के सम्बन्ध में विचार करते हुए मूल्य के सम्बन्ध में उसके उलझे हुए वक्तव्यों की आलोचना की है। उसने इस अध्याय में से चौदह उद्धरण प्रस्तुत किये हैं, और बड़ी निराशा के साथ हाथ मलते हुए उन असंगतियों का उल्लेख किया है, जो इन उद्धरणों में विद्यमान हैं। वस्तुतः मूल्य के सम्बन्ध में से के विचारों का संक्षिप्त और स्पष्ट रूप में वर्णन कर पाना बहुत कठिन है, और न शायद उनका बहुत अधिक महत्त्व ही है। असंगति विचारों की अस्पष्टता के कारण उत्पन्न हो सकती है; या इस कारण भी कि किसी ऐसे सिद्धान्त को टटोलकर पकड़ने की प्रशंसनीय चेष्टा की जाय, जो सिद्धान्त वस्तुतः टिक न सकता हो, भले ही उस सिद्धान्त को तैयार कर पाने का काम कभी पूरा न हो सके। संक्षेप में कहा जाय, तो से अपने अंग्रेज समकालीन लेखकों की अपेक्षा "उपयोगिता" के विचार को कहीं अधिक महत्त्व देने को तैयार था। साथ ही यह भी ठीक है कि उसमें से कुछ ऐसे संदर्भ चुनकर निकाले जा सकते हैं, जिनके द्वारा ऐसा प्रतीत हो कि से एक ऐसे मूल्य-सिद्धान्त का प्रवर्तक था, जो पूर्णतया मनोवैज्ञानिक है और जिस सिद्धान्त में उत्पादन की लागत का विचार बहुत कुछ हटा दिया गया है। इसमें भी सन्देह नहीं कि इस प्रकार की धारणा का खंडन से की रचनाओं में से ही चुने गये अन्य सन्दर्भों द्वारा किया जा सकता है; और इन संदर्भों के संग्रह में रिकार्डो से भी सहायता ली जा सकती है। एक जगह से कहता है कि "उत्पादित वस्तुओं का मूल्य उत्पादनशील सेवाओं के मूल्य द्वारा निर्धारित

बिन्दु पर आकर यथेच्छाचारिता का सिद्धान्त सामने आ जाता है। "Administrer ce qui devrait etre abandonne a soi-meme, c'est faire du mal aux administres, et leur faire payer le mal qu'on leur fait comme si c'etait un bien." (अर्थात् "उन चीजों का प्रशासन करने लगना, जिन्हें स्वयं उनके ही भरोसे छोड़ देना चाहिये, उनको जिनका प्रशासन किया जा रहा है, हानि पहुँचाना और हानि पहुँचाने के लिए इस प्रकार फीस लेना है, मानों उनका कोई भला किया गया है।)

नहीं होता।" इसके विपरीत एक और जगह वह कहता है "उत्पादित वस्तु की उपयोगिता के कारण ही उस वस्तु को ढूंढने और प्राप्त करने की चेष्टा की जाती है; और इसी कारण उस वस्तु का मूल्य होता है। इस उपयोगिता को उत्पन्न कर सकने का गुण ही वह चीज है, जिसके कारण उत्पादनशील सेवाओं को ढूंढने और प्राप्त करने की कोशिश की जाती है, और इसी के कारण उनका मूल्य हो जाता है।"[1] इसी प्रकार वह यह भी कह सकता है कि किसी पदार्थ की उपयोगिता के कारण ही उसकी कीमत उसकी उत्पादन की लागत के बराबर होने तक बढ़ती जाती है। यदि ऐसा न हो तो यह निश्चित है कि किसी भी वस्तु का उत्पादन नहीं किया जायगा।[2] और भी अधिक जोर देते हुए वह कहता है कि "उत्पादन के उपकरणों का मूल्य उस उत्पादित वस्तु के मूल्य के कारण होता है, जो उन उपकरणों द्वारा उत्पन्न हो सकती हैं; और इस उत्पादित वस्तु के मूल्य का आधार वह उपयोग होता है, जिसमें उस उत्पादित वस्तु को लाया जा सकता है, या वह तृप्ति होती हैं, जो उस उत्पादित वस्तु से प्राप्त की जा सकती है।"[3] मूल्य के सिद्धान्त के इतिहास में ये उक्तियाँ बहुत मनोरंजक समझी जा सकती हैं, भले ही इनके द्वारा किसी भी निष्कर्ष तक न पहुँचा जा सके। रिकार्डो अपने मूल्य के सिद्धान्त से मन ही मन असन्तुष्ट था; से अपने सन्देहों को व्यक्त करने में अपेक्षाकृत अधिक वाचाल रहा है।

अन्तिम बात यह है कि से नवारम्भकर्त्ता की खूब स्तुति करता है। वह कठोरतया अहस्तक्षेपवादी है; और औद्योगिक युग की महत्वाकांक्षाओं का प्रतिनिधि है।

---

१. वही; भाग २, अध्याय १, पृष्ठ ६। २. वही; भाग २, पृष्ठ १७।

३. "Un champ ou une usine ne procurent directement aucune satisfaction appreciable a leur possesseur; leur valeur vient donc de la valeur du produit qui peut en sortir, laquelle est fondee sur l'usage qu' on peut faire de ce produit, sur la satisfaction qu'on en peut tirer." अर्थात् "कोई भी खेत या कारखाना अपने मालिकों को प्रत्यक्ष रूप से कोई बड़ी तृप्ति प्रदान नहीं करता, उसका मूल्य उससे उत्पन्न होने वाली वस्तुओं के मूल्य के कारण होता है; और उन वस्तुओं का मूल्य उनके उपयोग तथा उनसे प्राप्त होने वाली तृप्ति पर आधारित होता है।"

सीनियर

अपने इस परिचयात्मक विवरण में, जिसमें कि द्वितीय कोटि के सारे तो छिप जाने को विवश हैं ही, कुछ प्रथम कोटि के लेखकों पर भी उसकी अपेक्षा कहीं अधिक संक्षेप में विचार किया गया है, जितना कि उनके वास्तविक गौरव के उपयुक्त होता। रिकार्डो के आध्यात्मिक पुत्रों के काफी विशाल दल में से नासो विलियम सीनियर[1] (१७९०-१८६४) एक ऐसा लेखक है, जिसकी ओर अगली पीढ़ी के लेखकों में सबसे अधिक ध्यान जाता है। इसका पहला कारण तो यह है कि उसका अपना व्यक्तित्व बहुत रोचक था; और दूसरा कारण यह है कि उसने एक ऐसे वाक्यांश को जन्म दिया, जो वर्षों तक अर्थशास्त्रीय वाद-विवाद की तरंगों पर तैरता रहा। सम्भवतः सीनियर की दो बातें यहाँ पर उल्लेखनीय हैं। पहली बात तो राजनीतिक अर्थशास्त्र के "क्षेत्र और पद्धति" के सम्बन्ध में उसके दृष्टिकोण से सम्बद्ध है; और दूसरी बात उत्पादन में पूंजी के कार्य-कलाप (फंक्शन) के सम्बन्ध में किये गये उसके विश्लेषण से सम्बद्ध है।

पहली बात के सम्बन्ध में सीनियर अर्थशास्त्र के क्षेत्र को सुनिश्चित रूप से संकुचित करते जाने का प्रतिनिधि है; और उसमें एक खास तरह की पृथक् रहने और कठोरता की बढ़ती हुई प्रवृत्ति पायी जाती है। सिद्धान्त की दृष्टि से वह वस्तुतः उस दृष्टिकोण का सबसे बड़ा समर्थक है, जो अर्थशास्त्र को एक अव्यक्त और निगमनात्मक विज्ञान मानता है, और जिसके अनुसार अर्थशास्त्र का अध्ययन सर्दियों में अँगीठी के पास आरामकुर्सी पर लेटकर सिगरेट के धुएँ के बादल उड़ाते हुए किया जा सकता है (हालांकि व्यवहार में वह ऐसा कम है)। सीनियर के लिये राजनीतिक अर्थशास्त्र बहुत पक्के अर्थ में एक ऐसा विज्ञान है, जिसका सम्बन्ध सम्पत्ति के प्रकृति उत्पादन और उपभोग से है, और जिस अर्थशास्त्री को अपने कर्तव्य का ज्ञान है, उसे उस सीमा पर आकर रुक जाना चाहिये, जिससे आगे बढ़ने पर अर्थशास्त्र को कला कहा जा सके। व्यावहारिक प्रश्न, चाहे वे किसी भी ढँग के क्यों न हों, "अर्थशास्त्र विज्ञान के उसकी अपेक्षा अधिक अंग नहीं हैं, जितना कि नौ-संचालन ज्योतिष विज्ञान

---

१. जन्म १७९० में हुआ। वकालत की; ओक्सफोर्ड में प्रोफेसर रहा। १८३२ में दरिद्रता-कानूनों के सम्बन्ध में बिठाये गये राजकीय आयोग का सदस्य रहा।

का अंग हो सकता है।" इसके अतिरिक्त अर्थशास्त्री जिन भी निष्कर्षों पर पहुँचता है, "वे चाहे कितने ही सर्व-सामान्य और सत्य क्यों न हों, किन्तु उनके कारण अर्थशास्त्री को यह अधिकार नहीं मिल जाता कि वह अपनी ओर से सलाह का एक अक्षर भी उनमें जोड़ सके।" अर्थशास्त्री का काम न तो किसी काम की सिफारिश करना है और न किसी बात का निषेध करना। उसका काम तो केवल मात्र सामान्य सिद्धान्तों को बतला देना भर है।[1]

यह विचारधारा एक प्रशंसा योग्य पृथक् रहने की भावना का प्रतिनिधित्व करती है, हालांकि अर्थशास्त्री से यह कहना कि वह शुद्ध तर्क की प्रक्रिया द्वारा किन्हीं निष्कर्षों पर पहुँचे, और इसके बाद उन निष्कर्षों का उपयोग किसी और को करने दे, उससे बहुत अधिक आशा करना है। फिर भी, बहुत सम्भवतः इस विषय में सीनियर का उद्देश्य केवल इस सत्य को बहुत जोर देकर कहना है कि, जो इस रूप में कहीं अधिक सुग्राह्य प्रतीत होता है, जब कि सीनियर यह कहता है कि इस संसार की उलझी हुई समस्याओं में "सम्भवतः न तो यह वांछनीय है और न व्यवहार्य है" कि आर्थिक पहलुओं को ही एक मात्र या शायद मुख्य पथ-प्रदर्शक भी माना जा सके। यह बात ध्यान देने योग्य है कि सीनियर ने अर्थशास्त्र को जिस तरह के अव्यक्त विज्ञान के रूप में देखने की कोशिश की है, उसमें पर्यवेक्षण (ऑब्जरवेशन) की अपेक्षा तर्क का महत्त्व कहीं अधिक है।[2] केवल इतना ही नहीं, बल्कि उसके हाथों में जाकर तो अर्थ-शास्त्र बहुत बड़ी सीमा तक पारिभाषिक शब्दों का सुस्पष्ट और संक्षिप्त अर्थ मात्र रह जाता है। इस प्रकार वह अपने पाठकों को शुरू में ही सावधान कर देता है कि उसके ग्रन्थ में बहुत बड़ी सीमा तक "थोड़े से परिचित शब्दों के सर्वाधिक सुविधाजनक उपयोग के सम्बन्ध में विचार-विमर्श किया जायगा।"[3] यदि सीनियर अपनी इन उक्तियों पर स्वयं दृढ़ रहता, तो जिस रूप में उसने राज-नीतिक अर्थशास्त्र का प्रयोग किया, वह सुकरात द्वारा की गई कला की परिभाषा का उपयोगी उदाहरण बन सकता था।

परन्तु यदि यह मान लिया जाय कि अर्थशास्त्र पर्यवेक्षण की अपेक्षा तर्क की वस्तु अधिक है, तो इस तर्क का आधार क्या होना चाहिये? इस प्रश्न का

१. पोलीटिकल इकोनोमी; पृष्ठ २-३।
२. वही; पृष्ठ ५। ३. वही; पृष्ठ ५।

उत्तर इतना शान्त साहस से भरा हुआ है कि पाठक मुँह बाये रह जाता है। सम्पूर्ण राजनीतिक अर्थशास्त्र कुछ थोड़ी सी सामान्य स्थापनाओं से निकाले गये निष्कर्षों से बना हुआ है; और ये स्थापनाएँ "पर्यवेक्षण और चेतना का परिणाम हैं"। और भी संक्षिप्त और सुनिश्चित होने के लिये कहा जा सकता है कि ये स्थापनाएँ संख्या में चार हैं। क्योंकि ये स्थापनाएँ अर्थशास्त्रीय सिद्धान्त के एक खास दौर में बड़ी महत्त्वपूर्ण रही हैं, इसलिये इन्हें संक्षिप्त रूप में यहाँ दे देना उचित होता। पहली स्थापना यह है, कि "प्रत्येक व्यक्ति यथा-सम्भव न्यूनतम बलिदान करके अतिरिक्त सम्पत्ति प्राप्त करना चाहता है।" यहाँ पर अर्थशास्त्रीय व्यक्ति एक मुख्य स्थापना के रूप में हमें दिखायी पड़ता है, जिसके ऊपर अर्थशास्त्रीय विज्ञान बना हुआ है। दूसरी स्थापना माल्थस के सिद्धान्त के वक्तव्य के रूप में है, जिसका अर्थ यह है कि संसार की जनसंख्या "या तो शारीरिक और या नैतिक बुराइयों द्वारा ही सीमित हुई रहती है।" तीसरी स्थापना एक और वक्तव्य के रूप में है, जो या तो पूंजी के कार्य-कलाप के विषय में संकेत करता है, और या उद्योग में वर्धमान प्रतिप्राप्ति के नियम की ओर संकेत करता है। इन दोनों में से इस वक्तव्य का क्या अर्थ निकले, यह पाठक के दृष्टिकोण पर निर्भर है। इस वक्तव्य में कहा गया है कि "श्रम की और सम्पत्ति को उत्पन्न करने वाले अन्य उपकरणों की शक्तियाँ उनके द्वारा उत्पन्न की गई वस्तुओं का उपयोग पुनः उत्पादन के लिये करने के द्वारा अनन्त मात्रा तक बढ़ायी जा सकती है।" इन चार आधारभूत स्थापनाओं में से अन्तिम स्थापना में कृषि पर लागू करते हुए क्षीयमाण प्रतिप्राप्ति के नियम का वर्णन किया गया है। सीनियर कृपा सी करते हुए हमें बताता है कि इनमें से पहली स्थापना तो चेतना का विषय है, और शेष तीन पर्यवेक्षण का परिणाम हैं। सीनियर की इन चार आधारभूत स्थापनाओं या मूल सिद्धान्तों का खंडन करना बहुत ही सरल है। पहली स्थापना सत्य सी प्रतीत होती है; परन्तु अधिकांश सत्याभासों की तरह सम्भवतः यह भी मूलतः असत्य है। माल्थसीय सामान्यीकरण निश्चित रूप से सब कालों और सब स्थानों के लिये सत्य नहीं हो सकता (जब कि माल्थस ने इसे सत्य समझा था) और बहुत से लोगों के लिये यह कभी पर्यवेक्षण का विषय नहीं रहा। वर्धमान और क्षीय-माण प्रतिप्राप्तियों के नियमों का वर्णन करने के लिये बहुत सूक्ष्मता की

आवश्यकता है, जिससे सीनियर पूर्णतया अनभिज्ञ था। यदि हम सीनियर के शब्दों में यह कहें "कि जब अतिरिक्त श्रम को निर्माण-व्यवसायों में लगाया जाता है, तब तो वह अनुपाततः अपेक्षाकृत अधिक कार्यक्षम होता है, और जब उसे कृषि में लगाया जाय, तो वह अनुपाततः कम कार्यक्षम होता है" तो यह निश्चित रूप से एक बहुत ही अपरिष्कृत सामान्यीकरण होगा।[1] यह बात पर्यवेक्षण का परिणाम हो सकती है, परन्तु यदि पर्यवेक्षण बिलकुल ठीक-ठीक न हो, तो उसका विशेष लाभ नहीं। उसका पहला सिद्धान्त, जिसमें एक प्रकार का अपक्व आनन्दवाद-सा निहित है, बहुत से लोगों द्वारा अस्वीकृत कर दिया जा सकता है। शेष तीन स्थापनाएँ और चाहे जो कुछ हों, किन्तु ऐसे पर्यवेक्षण नहीं हैं, जिन्हें देखते ही स्वीकार किया जा सके। वे अर्थशास्त्रीय तर्क और पर्यवेक्षण की एक लम्बी प्रक्रिया का अन्तिम छोर अधिक प्रतीत होती हैं, और ऐसी मूल सिद्धान्तात्मक स्थापनाएं कम, जिनके आधार पर तर्क प्रारम्भ किया जा सके। परन्तु हमारे वर्तमान प्रयोजन के लिए इसका महत्त्व अपेक्षाकृत कम है। जो चीज यहाँ विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है, वह है राजनीतिक अर्थशास्त्र का एक अव्यक्त स्वरूप, जो ज्ञान की एक ऐसी शाखा है, जो पूरी तरह चार ऐसी स्थापनाओं में लिपटी हुई है, जो एक पर्याप्त तेजस्वी मस्तिष्क के आदेश पर अपनी गुप्त अर्थशास्त्रीय विशेषताओं को प्रकट करने के लिये प्रस्तुत की जा सकती है।

यदि इस कार्यक्रम पर कठोरता से अमल किया जाता, तो यह आशा की जा सकती थी कि एक ऐसा पूर्ण दार्शनिक विज्ञान तैयार हो जायेगा, जो केवल शुष्क शब्द-विचार विज्ञान पर आधारित होता। परन्तु सौभाग्य से सीनियर ने अर्थशास्त्र को तर्कशास्त्र की एक ऐसी उदाहरणमाला नहीं बना डाला जिसमें सारे निष्कर्ष उन्हीं चार मूल सिद्धान्तों से निकाले गये हों। उसका मस्तिष्क बड़ा सूक्ष्म, गहराई तक पहुँचने वाला और तार्किक था। और क्योंकि उसे पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग में सूक्ष्मता और शुद्ध प्रयोग का ध्यान रहता था, और परिभाषाएँ करते हुए भी उसने सूक्ष्मता का ध्यान रखा, इसलिये कई दृष्टियों से वह अपने से पहले लेखकों की उपयोगी आलोचना कर सका। एक

१. वही ; पृष्ठ ८१।

खास बिन्दु पर उसने एक विशिष्ट वाक्यांश को प्रचलित किया, जिसमें विचारों की एक लम्बी परम्परा का सुझाव निहित है; हालांकि इस वाक्यांश की भी कुछ क्षेत्रों में खिल्ली उड़ाई गई। उत्पादन के अभिकरणों (एजेन्टों) के विश्लेषण में उसने जान-बूझ कर पूंजी 'शब्द' का प्रयोग नहीं किया; और उसका कारण यह बताया कि पूंजी की "इतने विभिन्न आकारों से इतनी विभिन्न परिभाषाएँ की गई हैं, कि यह बहुत संदिग्ध है कि 'पूंजी' शब्द से कोई भी एक सर्वमान्य अर्थ ध्वनित होता भी है कि नहीं।"[1] (सीनियर नये शब्द गढ़ने के विषय में अत्यन्त सावधान रहता है। इसी प्रकार वह विध्यर्थक क्रियाओं के प्रयोग में भी सतर्क रहता है। इसीलिये उसके उत्पादन के साधन हैं श्रम, प्राकृतिक अभिकरण, जो 'भूमि' शब्द के मूर्खतापूर्ण प्रयोग की अपेक्षा निश्चित रूप से अधिक ग्राह्य है—और संयम। उसने 'पूंजी' शब्द को इसलिये अस्वीकृत कर दिया है, क्योंकि सामान्य रूप में इस पारिभाषिक शब्द से जो अर्थ लिया जाता है, वह यह है कि "सम्पत्ति का ऐसा रूप, जो मानवीय श्रम के फलस्वरूप उत्पन्न हुआ हो, और जिसका उपयोग सम्पत्ति के उत्पादन या वितरण में किया जा रहा हो।"[2] परन्तु इस रूप में परिभाषा की गई 'पूंजी' एक सरल उत्पादनशील उपकरण नहीं है। यह अपने आप में श्रम, प्राकृतिक अभिकरणों और एक और वस्तु, जिसे सीनियर ने 'संयम' कहा है, के सहयोग का परिणाम है। 'संयम' शब्द से सीनियर का अभिप्राय है "वह उपकरण, जो श्रम और प्राकृतिक अभिकरणों से पृथक् है, और जिसका सहयोग पूंजी के अस्तित्व के लिये आवश्यक है; और जिसका लाभ के साथ ठीक वही सम्बन्ध है, जो श्रम के साथ वेतन का है।"[3] अब यह स्पष्ट हो जाता है कि सीनियर ने क्या किया है। उसने पूंजी को, जो कि सामान्यतया एक निर्जीव और वस्तुरूपात्मक वस्तु समझी जाती है, हटाकर उसके स्थान पर मानवीय बलिदान को ला रखा है, जो स्पष्ट रूप से प्रतिफल पाने का हकदार है। इस विषय में, कि इसमें कुछ मानवीय बलिदान अवश्य विद्यमान है, सीनियर को कोई सन्देह नहीं है: "उस आनन्द के उपभोग से अपने आपको वंचित रखना, जो कि हमारी शक्ति में है, और तात्कालिक परिणाम की

१. वही; पृष्ठ ५६। २. वही; पृष्ठ ५६।
३. वही; पृष्ठ ५६।

अपेक्षा दूर भविष्य के परिणाम की इच्छा करना मानवीय संकल्प के अत्यन्त कष्टदायक प्रयासों में से एक है।" परिणामतः जब हम उत्पादन की लागत का विश्लेषण करने बैठते हैं, तो जिन तत्त्वों में यह उत्पादन की लागत विभक्त हो जाती है, वे सब के सब पूर्णतया कर्त्राश्रित (सब्जैक्टिव) तत्त्व हैं। उत्पादन की लागत का अर्थ है "उत्पादन के लिये आवश्यक श्रम और संयम का सर्वयोग।"[1] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि पूंजीपति को मिलने वाला प्रतिफल संयम के कारण मिलने वाला प्रतिफल है। यह वह कीमत है, जो लोगों को इस बात के लिये प्रेरित करने के वास्ते दी जाती है कि वे अपने उन अधिकारों का प्रयोग वर्तमान में करने का दावा न करें, जो उन्हें प्राप्त हो चुके हैं। 'संयम' शब्द शायद कुछ दुर्भाग्यपूर्ण हो, क्योंकि इसके साथ एक गलत मनोवैज्ञानिक भावना जुड़ी हुई है, जिसके कारण इसका अर्थ प्रायः 'पूर्ण संयम' लिया जाता है; लेकिन, क्योंकि 'संयम' शब्द का प्रयोग एक सीमित अर्थ में कुछ धार्मिक तपस्या की-सी ध्वनि देता है, इसलिये यह विचार बड़ा मनोरंजक प्रतीत होगा कि राथ्सचाइल्ड को जो प्रतिफल प्राप्त हो रहा है, वह संयम का प्रतिफल है।

जौन स्टूअर्ट मिल

जौन स्टुअर्ट मिल[2] (१८०६-१८७३) को एक अलग अध्याय का श्रेय न देकर उसे, सीनियर और केर्नीज के साथ एक दूसरे दर्जे के डब्बे में डाल देना एक महान् अपराध-सा प्रतीत होगा। परन्तु स्वर्गवासी लोगों में महानतम् लोगों को छोड़कर शेष सब के लिये जीवन एक निरन्तर अवनति का जीवन है। यहां तक कि अन्त में एक ऐसा समय भी आता है, जब कि लोगों के नाम केवल फुटनोटों में ही देकर काम चला लिया जाता है। फिर भी, इस छोटी सी परिचयात्मक पुस्तक में मिल के सम्बन्ध में विस्तार से विचार न करने के कुछ

---

१. वही; पृष्ठ २०१।

२. जन्म १८०६ में हुआ। यह जेम्स मिल का पुत्र था। यह बेचारा एक ऐसे असाधारण शिक्षणात्मक परीक्षण का शिकार रहा, जिससे यह आशा की जा सकती थी कि उसका परिणाम उससे भी अधिक बुरा रहेगा, जितना कि वह वस्तुतः रहा। ३५ साल तक मिल ने इण्डिया आफिस में काम किया। बहुत थोड़े समय के लिये वह पार्लियामेंट का सदस्य भी रहा।

और भी महत्वपूर्ण कारण हैं। राजनीतिक अर्थशास्त्र के विकास में मिल के स्थान के सम्बन्ध में आलोचकों में आश्चर्यजनक एकमति है। एक आलोचक की दृष्टि में मिल केवल पुराने सिद्धान्तों को नये ढंग से कहने भर का प्रतिनिधित्व करता है। एक दूसरे की दृष्टि में वह "पहली पीढ़ी द्वारा निकाले गये मुख्य-मुख्य परिणामों को बड़े कुशलतापूर्ण ढंग से नये सिरे से प्रस्तुत कर देता है।" एक तीसरे आलोचक का विचार है कि मिल ने प्राचीन सिद्धान्तों को उनके अन्तिम और स्फटिक जैसे विशुद्ध रूप में प्रस्तुत किया है। एक चौथा आलोचक उसकी पुस्तक 'प्रिंसिपल्स' को एक संग्रह-कार्य मात्र (Cevre d'assemblage) मानता है। जिस बिन्दु पर इतने सारे लोग एकमत हैं, और मिल स्वयं भी असहमत न हो, तो यह समझा जा सकता है कि सत्य कहीं उसी दिशा में है, जिस ओर ये सब लोग संकेत कर रहे हैं। रिकार्डो और माल्थस ने अर्थशास्त्रीय संगीत की नई-नई रागिनियों का सूत्रपात किया था। सम्भवतः वे रागिनयाँ बहुत लयबद्ध नहीं थीं। मध्यकाल में रे और लाडर्डेल जैसे आलोचकों ने इन रागि-नियों को बहुत कुछ तोड़ा-मरोड़ा भी; और सेन्ट साइमन के अनुयायियों और फूरियर के अनुयायियों जैसे प्रारम्भिक समाजवादियों ने कुछ बिलकुल दूसरे ही ढंग के मेल न खाने वाले स्वर इसमें मिला दिये। श्रोता लोग चकराकर इस सन्देह में पड़े हुए थे कि आखिर यह सब गुलगपाड़ा क्या है। यह समय था, जब मुख्य स्वर के फिर दुहराये जाने की आवश्यकता थी; और यह आवृत्ति इतने आत्म-विश्वास और भरोसे के साथ होनी चाहिये थी, जैसी संगीत में पीतल के बाजों द्वारा मूल स्वर को दुहराने से होती है। इस आवृत्ति में मेल खाने वाले स्वरों का ऐसा मिश्रण किया जाना उचित था, जिससे श्रोताओं को सुरुचिपूर्ण सन्तोष हो सके। यह काम मिल ने अपने हाथ में लिया। उसका काम रिकार्डो और माल्थस के मुख्य सिद्धान्तों को नये सिरे से प्रस्तुत करना था; और उसके साथ ही पिछले तीस या चालीस वर्षों में उन सिद्धान्तों की आलोचना को भी दृष्टि में रखते हुए चलना था।

मिल का असाधारण महत्व उसके उस असाधारण कौशल पर निर्भर है, जिसके द्वारा उसने अपने इस कार्य को पूरा किया। मिल की पुस्तक 'प्रिंसिपल्स' में आदि से अन्त तक एक नैतिकता की ध्वनि विद्यमान है; और उसी के कारण उसकी पुस्तक उस युग को स्वीकार्य हो सकी, जो मुख्यतया तपस्या और

संयम का युग था। इस पुस्तक का साहित्यिक उत्कर्ष भी एक ऐसी विशेषता थी, जो मिल से पहले के लेखकों में बहुत कम पाई जाती थी। इसका परिणाम यह हुआ, शायद यह कहना सत्य है, कि दो पीढ़ियों की अवधि तक इंग्लैंड को मिल ने ही अर्थशास्त्र पढ़ाया। या तो अपनी पुस्तक 'प्रिंसिपल्स' के द्वारा, या अन्य दूसरी पुस्तकों द्वारा, जिन पर 'प्रिंसिपल्स' का गहरा प्रभाव होने से इनकार नहीं किया जा सकता। राजनीतिक अर्थशास्त्र के अध्यापन-कक्ष में मिल की प्रतिमा खड़ी करने के लिये यह एक अच्छा कारण समझा जा सकता है; परन्तु साथ ही इस बात का भी पर्याप्त और उचित कारण है, कि उसे अर्थशास्त्र सिद्धान्त के परिचयात्मक इतिहास में अनुपाततः बहुत थोड़ा ही स्थान दिया जाना चाहिये। हमारे वर्तमान प्रयोजन के लिये सब से अधिक महत्त्वपूर्ण लोग वे हैं, जिन्होंने चाहे कितने ही अस्पष्ट रूप में पहले-पहल किसी नये उपयोगी विचार को प्रस्तुत किया; वे लोग नहीं, जिन्होंने एक पीढ़ी तक विचार-विमर्श होते रहने के बाद उन सिद्धान्तों को संक्षेप में और नये रूप में संसार के सामने रख दिया। विदेशी व्यापार के सिद्धान्त में थोड़े से स्पष्टीकरण के अतिरिक्त यह संदिग्ध है कि मिल ने अर्थशास्त्र सिद्धान्त के ढेर में कोई बड़ी वृद्धि अथवा कुछ भी वृद्धि की। एक हाल के कठोर आलोचक ने तो यहाँ तक कह दिया है कि वस्तुरूपात्मक दृष्टि से मिल ने हमें कोई नई चीज नहीं सिखाई। उसने इतना और जोड़ दिया है कि सिद्धान्त के विकास में मिल की देन बता पाने की अपेक्षा यह बता पाना अधिक आसान है कि मिल ने सिद्धान्त विवेचन में क्या गलतियाँ की [1]।"

परन्तु अवश्य ही इसका यह अर्थ नहीं है कि मिल ने सिद्धान्तों को जिस रूप में प्रस्तुत किया है, वह इन सिद्धान्तों का नीरंग रूप है; या यह कि उसने सिद्धान्तों पर कहीं कम और कहीं अधिक जोर नहीं दिया है; या यह कि उसने परम्परागत प्राचीन सिद्धान्तों में सुधार नहीं किये हैं। प्रत्येक लेखक की भाँति मिल की भी अपनी कुछ सनकें थीं; हालांकि उसकी ये सनकें उसके प्रारम्भ में बिलकुल दिखाई नहीं पड़तीं। यहाँ पर हम उसके मुख्य विचारों को जो मुख्य रूप से माल्थस, रिकार्डो और मिल के पिता के विचार थे, क्रमशः प्रस्तुत करने

---

१. बोस्के (Bousquet)। ऐसे स्युर लैवोल्यूशियों द ला पैन्सी ऐकोनोमीक (Essai sur l'Evolution de la Pensee Economique); पृष्ठ ६१।

का प्रयत्न नहीं करेंगे; परन्तु यह शायद उचित होगा कि यहाँ कुछ ऐसी बातों का संकेत कर दिया जाय, जिन पर मिल ने विशेष रूप से बल दिया और इसी कारण वे लेखक के मस्तिष्क का उद्घाटन करने में अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हो सकती हैं।

पहली रोचक बात तो भूमिका और मुखपृष्ठ पर ही दिखाई पड़ जाती है। मिल ने यह मानकर लिखना शुरू किया कि उसे ऐडम स्मिथ के विचार पूर्णतया आधुनिक रूप में प्रस्तुत करने हैं। यह बात कि वस्तुत: उसने रिकार्डो के विचार सुपाठ्य रूप में प्रस्तुत कर दिये, उतनी महत्त्वपूर्ण नहीं; महत्त्वपूर्ण है वह कारण, जिससे मिल को यह प्रेरणा मिली कि वह स्मिथ को अपना आदर्श माने। वह कारण यह है कि स्मिथ "अनिवार्य रूप से अपने सिद्धान्तों का सम्बन्ध उनके व्यावहारिक रूप से जोड़ता है" और "विशुद्ध राजनीतिक अर्थशास्त्र द्वारा प्रस्तुत किये गये विचारणीय पहलुओं की अपेक्षा दूसरे और प्राय: अत्यधिक विस्तृत पहलुओं का भी निरन्तर ध्यान रखता है।" इस दृष्टिकोण का असर मुखपृष्ठ पर भी पड़ा है, जहाँ कि परम्परागत शीर्षक "प्रिंसिपल्स आफ पोलीटिकल इकोनोमी" के बाद ये शब्द लिखे हैं: "विद सम आफ देयर ऐप्लीकेशन्स टू सोशल फिलोसफी" (अर्थात् "तथा सामाजिक दर्शन में उनका व्यवहार)। संक्षेप में मिल की दृष्टि में राजनीतिक अर्थशास्त्र एक और विशालतर वस्तु का अंग था; और अपने मन से वह केवल एक सिद्धान्त शास्त्री भर बनकर सन्तुष्ट नहीं था। अपने गुरु बैन्थम की भाँति वह किसी सीमा तक समाज-सुधारक भी था। सीनियर भले ही यह घोषणा कर सकता था कि अर्थशास्त्री को, विशुद्ध अर्थशास्त्री को, यह अधिकार नहीं कि वह अपनी ओर से सलाह का एक शब्द भी जोड़ सके; परन्तु मिल के लिये सलाह देना ही जैसे जीवन का सार था। उसके सिद्धान्त काफी हद तक पुराने ही सिद्धान्तों का परिष्कृत रूप में पुन: प्रतिपादन कहे जा सकते हैं, परन्तु मिल का वास्तविक रूप उसके सुधार सम्बन्धी प्रस्तावों में अधिक सही दिखाई पड़ता है। चाहे उसके ये सुधार किसान-मालिकों की वकालत, या सहयोग की वकालत या भाटक पर करारोपण की वकालत, या उत्तराधिकार पर प्रतिबन्ध की वकालत के सम्बन्ध में पाये जायं।

अर्थशास्त्र के अध्ययन के सम्बन्ध में इस सामान्य दृष्टिकोण के साथ-साथ,

जिसके अनुसार अर्थशास्त्र उसके व्यावहारिक उपयोग का सेवक मात्र बन जाता है, यहाँ एक और सिद्धान्त को देख लेना भी आवश्यक है, जो विशेष रूप से मिल का अपना है और जिसे मिल स्वयं अर्थशास्त्रीय सिद्धान्तों के प्रतिपादन के सम्बन्ध में अपना मुख्य गुण समझता था। यह है—उसका उत्पादन और वितरण के नियमों की प्रकृति में किया गया प्रसिद्ध अन्तर। मिल का विचार था कि सम्पत्ति के उत्पादन के नियम "बहुत कुछ भौतिक सत्यों जैसे हैं। उनके सम्बन्ध में विकल्प अथवा मनमानी कर पाने का कोई अवसर नहीं।" भले ही हमारी रुचि या अरुचि कुछ भी क्यों न हो, परन्तु क्षीयमाण प्रतिप्राप्ति के नियम जैसे सिद्धान्त अर्थशास्त्र में विद्यमान हैं। स्वयं वस्तुओं के ऊपर हमारी सम्मतियों या इच्छाओं का कोई प्रभाव नहीं होता। परन्तु (मिल का विचार था कि) जब हम सम्पत्ति के वितरण की ओर मुड़ते हैं, तो वहाँ स्थिति बिलकुल भिन्न है। वहाँ हम "पूर्णतया मानवीय संस्था" के राज्य में हैं। "जब एक बार वस्तुएँ हाथ में आ जायँ" तो मनुष्य उनका जैसा चाहें प्रयोग कर सकते हैं, और इससे यह परिणाम निकलता है कि "सम्पत्ति का वितरण समाज के नियमों और प्रथाओं पर अवलम्बित है।"[1] ऐसा है मिल द्वारा किया गया स्पष्ट अन्तर। एक ओर तो उत्पादन का क्षेत्र है, जहाँ अटल नियम लागू होते हैं, जिन पर मनुष्य का कोई नियन्त्रण नहीं; और दूसरी ओर वितरण का क्षेत्र है। निस्सन्देह इस वितरण के क्षेत्र में भी नियम लागू होते हैं, परन्तु वे नियम मनुष्य के अपने बनाये हुए हैं, और मनुष्य स्वयं ही उनमें संशोधन भी कर सकता है। यहाँ यह कहना लगभग अनावश्यक ही है कि मिल ने इन दोनों क्षेत्रों में अन्तर किया है, तर्क द्वारा उसका बचाव कर पाना कठिन है। इसमें सन्देह नहीं कि "जब वस्तुएँ एक बार हाथ में आ जायँ," तब एक सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, और सर्व-समर्थ पालियामेंट वितरण की जो चाहे व्यवस्था कर सकती है; भले ही अपने अज्ञान के कारण वह व्यवस्था पालियामेंट को भली मालूम हुई हो। परन्तु यदि इन मामलों में वह पालियामेंट ऐसी गलती कर बैठे, जो जनता की भावना के प्रतिकूल हो, तो बहुत शीघ्र ही ऐसा समय आ जायगा, जबकि वस्तुएं वहाँ बाकी नहीं रहेंगी। वितरण का नियन्त्रण करने

---

१. प्रिंसिपल्स; भाग २, अध्याय १।

वाली एक बेरोक-टोक शक्ति की कल्पना कुछ भी सान्त्वना नहीं दे सकती, यदि उस शक्ति का प्रयोग करने पर उत्पादन की धारा ही सूख जाय, और इस प्रकार वितरण के लिए कुछ शेष ही न बचे। यहाँ पुराने प्राचीन अर्थशास्त्रियों से अन्तर बिलकुल स्पष्ट है। प्राचीन अर्थशास्त्रियों की दृष्टि में वितरण के नियम भी उतने ही अटल थे, जितने कि अन्य कोई अर्थशास्त्रीय नियम। इन सब वितरण के नियमों को मानवीय संकल्प द्वारा नियन्त्रित क्षेत्र में मिल ने इसलिये इकट्ठा कर दिया, जिससे कि वह समाज-सुधारक का रूप ले सके, और शान्तिपूर्वक साम्यवादी राज्य के आगमन की कल्पना करता रह सके।

ज्यों-ज्यों मिल की आयु बढ़ती गई, त्यों-त्यों उसका सुधार का उत्साह उसे समाजवाद के प्रति संयत और भावुकतापूर्ण छेड़खानी करने के लिये प्रेरित करने लगा, हालाँकि ऐसा अवसर कभी नहीं आया जबकि वह समाजवाद के सम्बन्ध में अपने मन्तव्यों को गम्भीरतापूर्वक प्रस्तुत कर सकता। यदि चुनाव समाजवाद और निजी सम्पत्ति (वैसी नहीं, जैसी कि वह होनी चाहिए; बल्कि वैसी, जैसी वह अब है) के बीच हो, तो उसका कथन है "कि साम्यवाद की सब कठिनाइयाँ, चाहे वह बड़ी हों, चाहे छोटी, सन्तुलन में धूल के बराबर होंगी।"[1] मिल का समाजवाद एक मनोरंजक अध्ययन है, परन्तु यहाँ केवल इतना कह देना ही काफी है। मिल नये सुझावों या नये विचारों का प्रतिरोध कर पाने में असमर्थ था; फिर वे सुझाव या विचार चाहे किसी भी स्रोत से क्यों न आये हों। इसी प्रकार वह संरचनात्मक दृष्टि से (कांस्टीट्यूशनली) वह इन विचारों को अपने में उन विश्वासों के साथ रमाकर एक कर पाने में असमर्थ था, जिन विश्वासों में उसका पालन-पोषण हुआ था, और जो उसके कहीं अधिक अपने थे। इसका परिणाम यह हुआ है कि कहीं-कहीं उसकी रचनाओं में उन विचारों में पर्याप्त असम्बद्धता, असंगति का तो कहना ही क्या, पायी जाती है, जिन्हें वह साथ ही साथ प्रस्तुत कर रहा होता है। उसका समाजवाद एक ऐसे काल का जमा हुआ तलछट है, जो उसके मुख्य विचारों के बाद का है; और जब कुछ समाजवादी उभार दिखाई पड़ते हैं, तो यह स्पष्ट हो

१. वही; भाग २, अध्याय १, अनुभाग ३।

जाता है कि पुरानी चट्टानी तहों पर वे बहुत बेमेल रूप में खड़े हुए हैं। वस्तुतः अपने मन में मिल अंत तक अविकृत व्यक्तिवादी बना रहा है; और यहाँ तक कि उसका समाजवाद भी व्यक्तिवादी विचारों पर आधारित है। जब वह एक ऐसा कानून बनाने की बात कहता है, जिसके अनुसार सब लोगों के पास समान धन हो, तो उसके अन्दर विद्यमान असंशोध्य व्यक्तिवादी इतना और जोड़ देता है : "जहाँ तक यह व्यक्ति के अपने श्रम के प्रतिफल के बारे में, चाहे वह थोड़ा हो या अधिक, न्यायोचित दावों के साथ संगत हो।"[1] वह क्रमशः बढ़ते हुए करारोपण जैसे प्रारम्भिक समाजवादी प्रस्ताव पर भी इस आधार पर झल्ला उठता है कि "बड़ी आमदनियों पर छोटी आमदनियों की अपेक्षा अधिक प्रतिशतता के अनुपात में कर लगाने का अर्थ होगा उद्योग एवं मितव्ययिता पर कर लगाना, उन लोगों का अर्थदंड थोपना, जिन्होंने अपने पड़ोसियों की अपेक्षा अधिक कठोर श्रम किया है और अधिक बचत की है।"[2] दान और उत्तराधिकार वाले अध्याय में वह अपने आपको गाँठों में बाँधता सा चला जाता है, क्योंकि सुधार के प्रति अपने उत्साह के आवेश में भी वह इस व्यक्तिवादी विचार से आक्रान्त है कि दान में, जो कि सम्पत्ति के पवित्र अधिकारों में से एक है, हस्तक्षेप नहीं किया जाना चाहिये और उसने यह संकेत किया है कि एक ऐसी प्रणाली वांछनीय है, जिसमें "इस बात पर प्रतिबन्ध न हो, कि कोई व्यक्ति कितना दान दे सकता है; बल्कि इस बात पर प्रतिबन्ध हो, कि कोई व्यक्ति दान या उत्तराधिकार में कितनी सम्पत्ति प्राप्त कर सकता है।"[3] जो सुधार उसे सबसे अधिक प्रिय थे, अर्थात् कृषक स्वामित्व का विस्तार और साझेदारी की प्रणाली में श्रम और पूंजी का सम्मिलन, वे व्यक्तिवाद का सार हैं, और मिल द्वारा प्रतियोगिता[4] के समर्थन के लिए और प्रशंसा में कही गई बातें समाजवाद के साथ मेल नहीं खातीं, क्योंकि यदि समाजवाद का कोई भी अर्थ है, तो वह है प्रतियोगिता को जड़ से समाप्त कर देना। मिल का समाजवाद जो कुछ था, उसे शायद मुश्किल से एक "भावभंगी" मात्र कहा जा

१. वही; भाग ४, अध्याय १, अनुभाग २।
२. वही; भाग ५, अध्याय २, अनुभाग ३।
३. वही; भाग २, अध्याय २, अनुभाग ४।
४. वही; भाग ४, अध्याय ७, अनुभाग ७।

सकता है, जैसा कि आजकल के मुहावरे में कहा भी जाने लगा है। परन्तु यह एक भावुकतापूर्ण आवेग था, जिसका मेल मिल की शेष विचारधारा के साथ कभी भी नहीं बैठ पाया, हालांकि मजे की बात यह है कि इस तथ्य का ज्ञान मिल को स्वयं कभी नहीं हो पाया।

मिल की अर्थशास्त्र में सामान्य स्थिति के प्रश्न के अतिरिक्त कुछ उन बातों के सम्बन्ध में भी संकेत कर देना उचित होगा, जिन पर अपने पुनः प्रतिपादन में मिल ने अधिक बल दिया है, या ऐसा समझा जाता है कि उसने उन पर बल दिया है। मिल की रचनाओं पर दृष्टि डालते ही सबसे पहला प्रभाव पाठक पर यह पड़ता है कि मिल माल्थस के सामान्यीकरण (जनरलाइजेशन) से बहुत अधिक प्रभावित हुआ था; और क्योंकि जनसंख्या की वृद्धि केवल इसलिए भयावह है, "क्योंकि उसके पीछे भोजन का आधारभूत प्रश्न विद्यमान है, इसलिए मिल ने क्षीयमाण प्रतिप्राप्ति के नियम को बहुत अधिक आदर व अनादर का स्थान दिया है। उसने कहा कि "राजनीतिक अर्थशास्त्र में यह सबसे महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है।"[1] जनसंख्या के प्रश्न पर बोलते हुए उसकी आवाज एक ऐसे सात्त्विक क्रोध से कांपने लगती है कि उसकी भाषा में इतनी उग्रता आ जाती है कि वैसी माल्थस में भी कहीं दिखाई नहीं पड़ती। अत्यधिक संतानोत्पादन मिल की दृष्टि में वैसी ही बुराई है, जैसा कि अत्यधिक मदिरा-पान, या कोई अन्य शारीरिक अतिरेक; और जो लोग इसके अपराधी हैं, उन की इसी रूप में भर्त्सना की जानी चाहिए और वे इसी प्रकार घृणा के पात्र हैं।[2] इस लक्ष्य के प्रति उसके इस जिहाद भरे हुए रोष को ठीक तरह से समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम वेतनों के सम्बन्ध में उसके विचारों पर दृष्टिपात करें। वेतन-कोष का प्रसिद्ध सिद्धान्त विशेष रूप से मिल की देन समझा जाने लगा है, हालांकि यह पूर्णतया न्यायोचित नहीं है। शायद ऐसा समझा जाने का कारण यह है कि जब यह मालूम हो गया कि यह सिद्धान्त तो हेत्वाभासों पर आधारित है, तब मिल ने सार्वजनिक रूप से इस सिद्धान्त का परित्याग कर दिया; और उस परित्याग का ही परिणाम यह हुआ है कि लोगों ने उस विश्वास को मिल के मत्थे मढ़ दिया, जिसके सम्बन्ध में उसने परित्याग की

१. वही; भाग १, अध्याय १२, अनुभाग २।

२. वही; भाग २, अध्याय १३, अनुभाग १।

घोषणा की थी। परन्तु वस्तुतः वेतन-कोष-सिद्धान्त बहुत कुछ साझी सम्पत्ति था। माल्थस की रचना में से इस सिद्धान्त को निष्कर्ष रूप में निकाला जा सकता है। अन्य अनेक स्थानों में से बड़े स्पष्ट रूप में यह सीनियर की पुस्तक में भी प्राप्त हो सकता है, जहाँ उसने यह बताया है कि वेतन "श्रमिकों के निर्वाह के लिये नियत कोष की सीमा, और उसकी तुलना में उन श्रमिकों की संख्या पर निर्भर रहते हैं, जिनका निर्वाह उस वेतन कोष से होना है।"[1] मिल को इस भाव के लिए कि "सारे देश का जो कुछ वेतन-कोष कहा जा सकता है, उसका सर्वयोग" कोई एक सरल वाक्यांश ढूंढ पाने में कठिनाई अनुभव हुई। परन्तु उसका सिद्धान्त मूलतः यह है कि वेतनों के लिये एक पहले से निर्धारित कोष अलग रख दिया जाता है, और कुछ थोड़े से मजदूर होते हैं, जिनमें वह वेतन कोष बांटा ही जाना चाहिये; और यह परिणाम निकालता है कि "वेतन तब तक नहीं बढ़ सकते, जब तक या तो मजदूरों को वेतन देने के लिये नियत कोष के सर्वयोग में वृद्धि न हो, या मजदूरी पाने के लिये प्रतियोगिता करने वाले मजदूरों की संख्या में कमी न हो।" वेतन कोष, इस अर्थ में कि देश में पूंजी का कोई ऐसा भाग होता है, जो अनिवार्य रूप से वेतन चुकाने के लिये अलग रख दिया जाता है, एक विशुद्ध मिथ्या कल्पना है। परन्तु इस कल्पना के फलस्वरूप मिल ने जो वेतन बढ़ने का एक मात्र उपाय खोज निकाला, उसे व्यर्थ होने का दोष नहीं दिया जा सकता। वह उपाय है जनसंख्या की वृद्धि पर समुचित प्रतिबन्ध।

मूल्य के सम्बन्ध में मिल का विवेचन उसमें विद्यमान तत्त्व या उसमें निकाले गये निष्कर्षों के कारण उतना स्मरणीय नहीं है, जितना कि इस अभागे आश्वासन के कारण कि कम से कम इस एक क्षेत्र में तो सब भूत भगा दिये गये हैं, अर्थात् सब समस्याएँ हल कर दी गयी हैं। वह लिखता है कि "यह खुशी की बात है कि मूल्य के सिद्धान्तों में अब कोई ऐसी बात शेष नहीं है, जिसका किसी वर्तमान या भविष्य के लेखक को स्पष्टीकरण करने की आवश्यकता हो। इस विषय में सिद्धान्त बिलकुल पूर्ण हो चुका है।"[2] एक विचित्र प्रतिशोधात्मक न्याय (Nemesis) के रूप में, अब ऐसा प्रतीत होता है कि मिल

---

१. सीनियर : पोलीटिकल इकोनोमी; पृष्ठ १५४।

२. प्रिंसिपल्स; भाग ३, अध्याय १, अनुभाग १।

की सब उक्तियों से अधिक उसी उक्ति को उद्धृत किया जाने लगा है, और इस प्रकार यह युवकों के लिये एक उपयोगी चेतावनी है कि वे इस बात को भली भाँति समझ लें कि किसी भी वस्तु के विषय में पूरी तरह निश्चित हो जाना खतरे से खाली नहीं होता।

मिल में अन्तिम और रोचक बात है उसकी स्थितिशील राज्य की कल्पना,[1] जो अर्थशास्त्र, दर्शन और काव्य का एक विचित्र मिश्रण है। सिसमोन्दी की भाँति मिल के मन में भी यह प्रश्न उठा था कि औद्योगिक प्रगति द्वारा समाज "किस लक्ष्य की ओर" बढ़ रहा है? और "जब प्रगति बन्द हो जायगी, तब मनुष्य जाति के किस दशा में रहने की आशा की जा सकती है?" ध्यान देने से यह पता चलता है कि मिल ने यह मान लिया था कि प्रगति एक न एक समय अवश्य बन्द हो जायगी। यह ठीक वैसी ही बात हुई, जैसे कि एक बार यही मिल यह सोचकर बहुत खिन्न हो गया था कि क्योंकि संगीत के स्वर और अर्ध-स्वर संख्या में सीमित हैं और वे विधियाँ भी सीमित हैं, जिनमें इन स्वरों और अर्ध-स्वरों का विभिन्न प्रकार से संयोग किया जा सकता है, इस लिये बहुत शीघ्र ही एक ऐसा दिन आ जायगा, जिसके बाद संसार में कोई नया राग नहीं निकाला जा सकेगा।[2] परन्तु मैसर्स फ्रांसिस डे एण्ड हंटर के वार्षिक प्रकाशनों से इस बात का कोई संकेत नहीं मिलता कि ऐसा दिन शीघ्र ही आने वाला हो। परन्तु मिल की दृष्टि में यह बात स्वयंसिद्ध है कि क्योंकि सम्पत्ति की वृद्धि असीम नहीं हो सकती, इसलिये प्रगतिशील राज्य के पश्चात् एक स्थितिशील राज्य की दशा होनी चाहिये, जबकि मानवीय उद्योग की धारा "अन्त में जाकर एक स्थिर दीखने वाले समुद्र में जा मिलेगी।" कुछ लोगों को स्थितिशील राज्य की यह कल्पना निरुत्साहजनक प्रतीत हो सकती है, जिसका अन्त उदासी और कष्टों में है। परन्तु मिल को यह कल्पना ऐसी बुरी नहीं लगी। उसने इस प्रकार के राज्य का एक बड़ा आनन्दजनक रंगीन चित्र प्रस्तुत किया है, जिसमें जनसंख्या और उद्योग दोनों समान रूप से समतुलन

१. वही; भाग ४, अध्याय ६।

२. "मैं सचमुच ही इस विचार से बहुत दुखी हो उठा था कि संगीत के स्वर-संयोग एक दिन समाप्त हो जायेंगे। मुझे ऐसा लगता था कि इन स्वरों में से अधिकांश तो अब तक ढूँढे जा चुके होंगे।" (आटोबायोग्राफी: अध्याय ५)

में रहेंगे। उस राज्य में न तो सम्पत्ति ही चरम सीमा पर होगी और न दरिद्रता। उस राज्य में अनावश्यक भाग-दौड़ भी नहीं होगी; और इस सबके ऊपर एक हल्का-सा सुझाव कमल-भोजियों (लोटस ईटर्स) के द्वीप के आलस्यमय आनन्द का भी है। किन्तु यह राज्य भले ही स्थितिशील हो, फिर भी जहाँ तक पूंजी और उद्योग का प्रश्न है, इसमें मानवीय सुधार की दशा का स्थितिशील होना आवश्यक नहीं। इस राज्य में ऐंगस के पोते और परपोते दार्शनिक उन्नति के लिये पुस्तकें लिखते रह सकेंगे। उस प्राचीन राजनीतिक अर्थशास्त्र का यह बड़ा ही विचित्र उपसंहार है, जिसने अपने प्रारम्भ में—या कम से कम आलोचकों का ऐसा कथन था कि—प्रगति करने वालों और उन्नति करने वालों की प्रशंसा की थी।

केर्नीज

प्राचीन कट्टर विचारधारा पर दृष्टिपात करते हुए, जो कि रिकार्डो के आध्यात्मिक उत्तराधिकारियों की विचारधारा थी, अन्त में जार्ज इलियट केर्नीज[1] (१८२४-१८७५) का भी संक्षेप में उल्लेख किया जा सकता है, जो कई दृष्टियों से इस विचारधारा का अन्तिम लेखक है। जब मिल ने वेतन कोष सिद्धान्त का परित्याग भी कर दिया, तब भी केर्नीज यह बताने का प्रयत्न करता रहा कि मास्टर अर्थात रिकार्डो लौंज और थोर्नटन के आक्रमणों से परास्त क्यों नहीं हुआ। अविश्वासियों के दल में केवल एक वही दृढ़ विश्वासी था—या हम कह सकते हैं कि लगभग एक वही, क्योंकि हमें प्रोफेसर फोसैट को भी नहीं भूलना चाहिये। केर्नीज की रचनाओं का अध्ययन करने से मालूम होता है कि उसका मस्तिष्क अत्यन्त सूक्ष्म, सशक्त और निपुण था। जो मिल की सफलताओं को और सुधारने तथा परिष्कृत करने में संलग्न था। फिर भी यह एक ऐसा मस्तिष्क था, जिस पर नये विचारों का कोई असर नहीं होता था। यहाँ पर हमें केवल दो बातों पर विचार करना है : पहली बात तो यह है कि राजनीतिक अर्थशास्त्र के क्षेत्र में कार्य-कलाप के सम्बन्ध में उसके विचार;

---

१. जन्म आयरलैंड में सन् १८२३ में हुआ। शिक्षा डबलिन ट्रिनिटी कालेज में हुई। कानून पढ़ा। डबलिन और गालवे और बाद में लन्दन में भी प्रोफेसर रहा। उसकी मुख्य रचनायें ये हैं—"दी कैरेक्टर एण्ड लौजिकल मैथड ऑफ पोलीटिकल इकोनोमी" तथा "सम लीडिंग प्रिंसिपल्स आफ पोलीटिकल इकोनोमी।"

और दूसरे, "अप्रतियोगितात्मक समूहों" के सम्बन्ध में उसका सिद्धान्त, जो केर्नीज का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण और चिरस्थायी विचार रहा है।

एक अध्ययन के रूप में राजनीतिक अर्थशास्त्र के उद्देश्य और प्रकृति के सामान्य प्रश्न पर केर्नीज ने अपनी एक मुख्य पुस्तक लिखी, जिसका नाम है "दि कैरेक्टर एण्ड लौजिक मैथड आफ पोलीटिकल इकोनोमी" (राजनीतिक अर्थशास्त्र की प्रकृति और तर्क-पद्धति)। उसकी मुख्य युक्ति बहुत कुछ सीनियर की युक्तियों की याद दिलाने वाली है। केर्नीज की दृष्टि में राजनीतिक अर्थशास्त्र में बहुत से बाहरी तत्त्व घुस आये हैं, जिन्हें "औचित्य और आवश्यकता का विचार" कहा जा सकता है।[1] परन्तु जब तक राजनीतिक अर्थशास्त्र के सिर किन्हीं सुनिश्चित व्यावहारिक उद्देश्यों को पूर्ण करने का काम मढ़ दिया गया है, तब तक इसमें विज्ञान की कोई भी विशेषता नहीं पाई जा सकती। ऐसी दशा में केर्नीज की दृष्टि में अर्थशास्त्र को पूर्णतया वैज्ञानिक बनाया जाना चाहिये; और इसे पूर्णतया वैज्ञानिक बनाने के लिये यह आवश्यक है कि सब व्यावहारिक विचारों से इसका सम्बन्ध बिलकुल काट दिया जाय, और अर्थशास्त्र की ओर तटस्थता की असीमित घोषणा की जाय, और यह अर्थशास्त्र "सामाजिक और औद्योगिक अस्तित्व की सब विशिष्ट प्रणालियों से बिलकुल अलग-थलग रहे।"[2] एक संदर्भ में, जिसे अनेक बार उद्धृत भी किया जाता है, उसने कहा है कि—

"अर्थशास्त्र को इस दृष्टि से देखा जाना चाहिये कि वह एक दूसरे से मुकाबला करने वाली सामाजिक योजनाओं के बीच में बिलकुल तटस्थ खड़ा है। वह उसी प्रकार तटस्थ है, जिस प्रकार यन्त्र विज्ञान (मैकेनिक्स) रेल निर्माण की दो प्रतियोगी योजनाओं के मध्य तटस्थ रहता है, जिसमें कि, उदाहरण के लिये, व्यय तथा यान्त्रिक कार्यक्षमता के सम्बन्ध में विचार किया जाना होता है। यह उसी प्रकार तटस्थ है, जिस प्रकार नागरिक स्वच्छता-सुधार की प्रतियोगी योजनाओं के मध्य रसायन-विज्ञान तटस्थ रहता है; जिस प्रकार चिकित्सा की दो विभिन्न प्रणालियों के मध्य शरीर-क्रिया विज्ञान तटस्थ रहता है। यह सब चीजों का आकलन करने के लिए साधन, या और

१. कैरेक्टर एण्ड लौजिकल मैथड; पृष्ठ १४-१६।
२. वही; पृष्ठ २०।

ठीक-ठीक कहा जाय, तो साधनों का एक अंश प्रस्तुत करता है। यह उनमें से किसी भी प्रणाली के साथ अपना गठबंधन करने को तैयार नहीं।"[1] संक्षेप में कहा जाय तो "अर्थशास्त्र का हमारी वर्तमान औद्योगिक प्रणाली से केवल उतना ही सम्बन्ध है, जितना कि यन्त्र-विज्ञान का हमारी वर्तमान रेल-प्रणाली से।"

यह बात अगर सत्य भी हो, तो भी यह सत्य का अतिरंजन है। यदि व्यवहार में इस कठोर सिद्धान्त का पालन किया जाय, तो इसका अर्थ यह होगा कि अर्थशास्त्र को उसकी सजीव प्रेरणाओं से पृथक् कर दिया जाय; और यदि केर्नीज द्वारा अन्य स्थानों पर प्रकट किये गये विचारों को ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया जाय, तो इसका परिणाम यह होगा कि अर्थशास्त्रीय अध्ययन की अव्यक्त, सबसे पृथक् और सिद्धान्तात्मक प्रकृति पर अधिक जोर दिया जाने लगा है। केर्नीज को सारी युक्ति का सुझाव अर्थशास्त्र को पूर्णतया निगमात्मक अध्ययन बनाने की ओर है।[2] अनुगमनात्मक पद्धति के लिये परीक्षण करना आवश्यक है; और केर्नीज की योजना में परीक्षण को अर्थशास्त्री के शस्त्रागार से बहिष्कृत कर दिया गया है। इतना ही नहीं, स्थिति और भी अधिक विस्मयजनक है:

"उसे (अर्थशास्त्री को) आर्थिक तत्त्वों को उसी रूप में ग्रहण करना चाहिये, जिस रूप में वे बाह्य संसार में अत्यन्त पेचीदगी और निरन्तर परिवर्तन-शील रूप में मिलते हैं। परन्तु यदि इस प्रकार प्रस्तुत किये गये तथ्यों से वह कठोर अनुगमन (induotion) के अतिरिक्त किसी अन्य मार्ग को स्वीकार करने से इनकार करता है, तो वह प्रलय काल तक तर्क-वितर्क करता रहेगा, और फिर भी किसी ऐसे निष्कर्ष पर नहीं पहुँच पायेगा, जिसका जरा भी मूल्य हो।"[3]

परन्तु जहाँ अर्थशास्त्री को भौतिकी शास्त्री की तुलना में यह एक असुविधा है, वहाँ उसे एक बड़ी सुविधा भी है। "मनुष्य जाति को अन्तिम भौतिक सिद्धान्तों का कोई प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं है" और "बहुत लम्बे समय तक परिश्रम-पूर्वक अनुगमनात्मक अनुसंधान के साथ" अँधेरे में टटोलते रहने के बाद भी

१. वही; पृष्ठ २१।   २. वही; पृष्ठ ६४।
३. वही; पृष्ठ ६५-६६।

विज्ञानवेत्ता उन सामान्यीकृत सिद्धान्तों पर पहुँच पाते हैं, जिनसे आगे वे अपना तर्क प्रारम्भ कर सकें।[1] परन्तु "अर्थशास्त्री अपने तर्क का प्रारम्भ ही अन्तिम कारणों के ज्ञान के साथ करता है,"[1]—कितना सुखी है वह। "वह अपना कार्य प्रारम्भ करते समय ही ऐसी स्थिति में होता है, जिस तक भौतिक विज्ञान-वेत्ता वर्षों तक परिश्रमपूर्वक अनुसंधान करते रहने के बाद पहुँच पाता है।" यह कहना अनावश्यक है कि ये अन्तिम कारण आर्थिक मनुष्य के व्यवहार के चारों ओर ही एकत्रित हैं; ये अन्तिम कारण "मनुष्यों में कुछ मानसिक अनुभूतियों और कुछ पाशविक प्रवृत्तियों" के रूप में विद्यमान हैं। ये अन्तिम कारण, जिनका हमें सीधा ज्ञान है, स्पष्ट रूप से सीनियर की चार आधारभूत स्थापनाओं से बहुत अधिक मिलते-जुलते हैं।

केर्नीज ने आर्थिक नियमों की प्रकृति के सम्बन्ध में विचार करते हुए सम्भवतः फिर शुष्क दार्शनिक सत्य पर आवश्यकता से अधिक बल दे दिया है। उसने इस बात की ओर उचित रूप से संकेत किया है कि राजनीतिक अर्थशास्त्र को किन अर्थों में कल्पनात्मक (हाइपोथेटिकल) विज्ञान माना जाना चाहिये।[2] अर्थशास्त्र के निकाले हुए निष्कर्ष उस समय तक सत्य रहते हैं, जब तक कि कोई बाधा देने वाला कारण बीच में न आ पड़े। यह एक ऐसी शर्त है, जैसा केर्नीज ने स्वयं भी लिखा है, जो शायद ही कभी पूरी हो सकती हो। संक्षेप में कहा जाय, तो कोई भी आर्थिक नियम किसी ध्रुव (पोजीटिव) सत्य को प्रकट नहीं करता, बल्कि एक कल्पनात्मक सत्य को प्रकट करता है; और इससे यह भी परिणाम निकलता है कि आर्थिक तत्त्वों से सम्बन्ध किसी भी नियम को "आर्थिक तत्त्वों के अभिलेखों के आधार पर न तो स्थापित किया जा सकता है, और न उसका खंडन किया जा सकता है।" इस सम्बन्ध में प्रमाण उस मानवीय प्रकृति के कुछ निश्चित सिद्धान्तों पर आधारित होना चाहिये, जो किन्हीं विशिष्ट भौतिक परिस्थितियों में काम कर रही होती हैं। इसी प्रकार किसी आर्थिक नियम का खंडन करने के लिये भी यह आवश्यक है कि यह सिद्ध किया जाय कि या तो उन सिद्धान्तों का (अर्थात् मानवीय क्रियाएँ इत्यादि) का अस्तित्व ही नहीं है; और या यह कि अर्थशास्त्री अपने निष्कर्ष

१. वही; पृष्ठ ७०-७१। २. वही; पृष्ठ ७५।
१. वही; पृष्ठ ५१।

निकालते हुए कहीं तर्क के शिकंजे में फंस गया है। संक्षेप में कहा जाय, तो आर्थिक नियम की प्रकृति ऐसी है कि तथ्यों की दुहाई देकर न तो उसे स्थापित किया जा सकता है, और न उसका खंडन किया जा सकता है।[1]

केवल ज्ञान के सिद्धान्त (Epistemology) की दृष्टि से देखा जाय, तो केर्नीज के विचार ऐसे हैं कि उनका समर्थन किया जा सकता है। यह न केवल वांछनीय है, अपितु आवश्यक भी है कि बीच-बीच में समय-समय पर हम अपने ज्ञान के आधारों और सीमाओं की जाँच कर लिया करें अर्थात् हम अपने आप से यह पूछ लिया करें कि हम किसी भी वस्तु को ठीक ढंग से किसी भी दशा में जान भी सकते हैं, या नहीं। इस उद्देश्य के लिये प्रत्येक बुद्धिमान समाज में दार्शनिकों और विचारकों का एक वर्ग रहा करता है; परन्तु सामान्य आदमी के मन पर यह प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता कि कार्य-क्षेत्र, पद्धति तथा इसी प्रकार के और न जाने कितने प्रश्नों की ओर आवश्यकता से अधिक ध्यान देना मन की अस्वास्थ्यकर अन्तर्निरीक्षण की प्रवृत्ति का द्योतक है। केर्नीज ने जो कुछ कहा है, उसका अधिकांश भाग ज्ञान की अन्य शाखाओं पर भी लागू होता है; और इस बात को केर्नीज स्वयं भी अनुभव करता था। परन्तु उसकी रचनाओं का जो कुछ अर्थ समझा गया (या गलत अर्थ समझा गया) उसके कारण उसका प्रभाव अर्थशास्त्र को एक अव्यक्त और नियमित अध्ययन बनाने की दिशा में अधिक रहा। यदि कोई केर्नीज की रचनाओं का यह अर्थ लगाना चाहे कि वह इस दृष्टिकोण का समर्थक था कि अर्थशास्त्र पूर्णतया एक ऐसा निगमनात्मक अध्ययन है, जो कुछ सामान्य सिद्धान्तों के आधार पर तर्क पर आश्रित है; और यह अर्थशास्त्र संसार के मामलों में पूर्णतया तटस्थ है और तटस्थ होने पर इसे गर्व है; और साथ ही इस अर्थशास्त्र के अध्ययन में हम ऐसे निष्कर्षों पर पहुँच जाते हैं, जिनका खंडन किसी भी दशा में वास्तविकता के कठोर सत्यों की दुहाई देकर नहीं किया जा सकता; और यदि संसार के तथ्य आर्थिक नियमों के प्रतिकूल दिखाई पड़े, तो वह तथ्यों का दोष है, तो इसके लिये केर्नीज के भावों में बहुत उलट-फेर या उन्हें गलत ढंग से देखने की आवश्यकता न होगी। और भले ही यह केर्नीज की रचनाओं का गलत अर्थ ही क्यों न हो,

---

१. वही; पृष्ठ ९९, १०७।

फिर भी यह तथ्य, कि प्राचीन राजनीतिक अर्थशास्त्र इस रूप में दिखाई पड़ने लगा, एक बड़ी सीमा तक प्राचीन राजनीतिक अर्थशास्त्र की हत्या ही था।

पद्धति-विज्ञान के प्रश्नों के अतिरिक्त केर्नीज़ का स्मरण मुख्य रूप से उसकी प्रतियोगिताहीन वर्गों की धारणा और उससे निकाले गये परिणामों के कारण किया जाता है। उसकी पुस्तक "सम लीडिंग प्रिंसिपल्स" का मूल्य के सम्बन्ध में पहला अध्याय मुख्य रूप से इस दृष्टि से रोचक है कि इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वह जेवन्स को समझ पाने में असफल रहा। मूल्य के सम्बन्ध में उसका अपना दृष्टिकोण पुरानी कट्टर विचारधारा के अनुसार ही है, परन्तु इसमें उसने कुछ अपवाद अवश्य बना रखे हैं। उसने मिल के "उत्पादन की लागत" के विश्लेषण की आलोचना ऐसी ही निपुणता से की है जैसी उसकी रचनाओं में सर्वत्र दिखाई देती है। उसका कथन है कि कोई भी दो अन्य विचार परस्पर इतने विरोधी नहीं हैं, जितने कि "लागत" और "लागत का प्रतिफल"।[1] लागत और उसका प्रतिफल "आर्थिक दृष्टि से एक दूसरे के विलोम हैं।" वेतन और पूंजी का लाभ, जिसमें कि मिल ने उत्पादन की लागत को मुख्य रूप से बाँटा है, लागत किसी प्रकार हैं ही नहीं। लागत उस वस्तु को कहा जायगा, जो बलिदान[2] के रूप में हो; और मिल के विश्लेषण में आये हुए ये तत्त्व बलिदान के प्रतिफल हैं, अपने आप में बलिदान नहीं हैं। इस प्रकार प्राचीन कट्टर सिद्धान्त में, जिसका कि केर्नीज़ खंडन करता है, उत्पादन की लागत एकमात्र पूंजीपति द्वारा किये गये व्यय के रूप में रह जाती है; और इससे यह अर्थ भी निकलता है कि यह सिद्धान्त, कि मूल्य का निर्धारण उत्पादन की लागत द्वारा होता है, उसी बात को दूसरे शब्दों में कह देना भर हो जाता है।[3] इस प्रकार पूंजीपति की वस्तुरूपात्मक लागत के स्थान पर केर्नीज़ एक ऐसे सिद्धान्त की रूपरेखा प्रस्तुत करता है, जो, सीनियर की याद दिला देती है, और जिसमें उत्पादन की लागत का आधार कर्ताश्रित बातों को बनाया गया है; और यह उत्पादन की लागत विभिन्न रूपों में किये गये बलिदानों के रूप में सामने आती है— श्रम, संयम, जोखम और इन विभिन्न

१. लीडिंग प्रिंसिपल्स; ५०।

२. वही; पृष्ठ ६०।

३. वही; पृष्ठ ५१।

तत्त्वों के लिये मिलने वाले द्रव्य-प्रतिफल के रूप में नहीं।[1]

इस प्रकार की कर्ताश्रित "उत्पादन की लागत" का निर्धारण कर पाना सम्भव है या नहीं, यह सोचने के लिये हमें यहाँ रुकने की आवश्यकता नहीं। हमारा सरोकार केवल प्रतियोगिताहीन वर्गों के विचार को सुलझाकर देख लेने भर से है। उत्पादन के लिये जो बलिदान किये जाते हैं, उनके अनुपात में प्रतिफल देने वाला अभिकरण हम प्रतियोगिता को ही समझ सकते हैं। इस प्रकार प्रतियोगिता के कारण ही "यह भरोसा रहता है कि पदार्थों के मूल्य उनकी उत्पादन की लागत के अनुसार ही होंगे।"[2] उत्पादन की लागत केवल उसी दशा में मूल्यों का नियमन कर सकती है, जब कि "प्रभावपूर्ण प्रतियोगिता" विद्यमान हो। इस प्रकार केर्नीज इस विचार तक पहुँचा कि इस प्रकार की प्रभावपूर्ण प्रतियोगिता किस सीमा तक विद्यमान है; क्योंकि यदि इस प्रतियोगिता में कोई बाधा हो, "चाहे वह बाधा कानूनी हो, या अज्ञान की हो, या दरिद्रता की हो," तो प्रतियोगिता का प्रभाव जाता रहेगा, और उसके परिणामस्वरूप यह निश्चय नहीं रहेगा कि पदार्थों का विनिमय उनकी उत्पादन की लागत, अर्थात् उनके निर्माण के लिये किये गये बलिदान की मात्रा के अनुसार होगा।[3] केर्नीज बड़ी आसानी से सन्तुष्ट होकर यह मान लेता है कि पूंजी को अपनी इच्छा के अनुसार दिशा का चुनाव करने की पूरी स्वतंत्रता है; क्योंकि जब तक पूंजी ऐसे रूप में रहती है कि उसका उपयोग किया जा सके, तब तक उसका प्रयोग किसी भी दिशा में किया जा सकता है।[4] परन्तु श्रम के साथ यह बात नहीं। वह श्रम, जिसका पेशा अभी अन्तिम रूप से तय नहीं हुआ है, सम्पूर्ण उद्योग की शृंखला में से किसी भी कार्य का चुनाव कर लेने के लिये स्वतन्त्र नहीं है :

"वस्तुतः हम यह देखते हैं कि सारी जनसंख्या बिना सोचे-विचारे सब पेशों के लिये प्रतियोगिता नहीं कर रही होती; बल्कि औद्योगिक तहों की एक शृंखला है, जो एक के ऊपर एक रखी हुई है; और इन तहों में से प्रत्येक में, काम पाने के लिये उस एक ही तह के विभिन्न उम्मीदवारों में चुनाव की वास्तविक और प्रभावपूर्ण शक्ति होती है, जब कि उनसे विभिन्न तहों के लोग

---

१. वही; पृष्ठ ८१। २. वही; पृष्ठ ६३।
३. वही; पृष्ठ ६४। ४. वही; पृष्ठ ७०।

प्रभावपूर्ण प्रतियोगिता की दृष्टि से व्यावहारिक रूप में उनसे पूर्णतया पृथक् होते हैं; और इस प्रकार अलग-अलग स्तरों के लोग प्रतियोगिता की दृष्टि से एक दूसरे से बिलकुल पृथक् होते हैं।"[१]

इस प्रकार हम "प्रतियोगिताहीन औद्योगिक वर्गों के अस्तित्व को स्वीकार करने के लिये विवश हो जाते हैं, जो हमारी सामाजिक अर्थ-व्यवस्था का एक अंग है।" यह बात, अपने आप में पर्याप्त स्पष्ट है, बहुत महत्वपूर्ण हो जाती है, क्योंकि केर्नीज ने इसका उपयोग मूल्य के सिद्धान्त में अनेक महत्त्वपूर्ण संशोधन करने के लिये किया है। क्योंकि केवल किसी एक वर्ग के अन्दर ही पदार्थों का विनिमय उनकी उत्पादन की लागत के अनुसार हो सकेगा, इसलिये जहाँ तक दो प्रतियोगिताहीन वर्गों का सम्बन्ध है, उनके मध्य होने वाला विनिमय किसी और सिद्धान्त पर ही होगा; और वह सिद्धान्त है पारस्परिक माँग, जो विदेशी व्यापार का सुपरिचित सिद्धान्त है। लागत के सिद्धान्त की प्रतियोगिताहीन वर्गों के मामले में लागू न होने की बात विभिन्न वस्तुओं के उत्पादकों के आपेक्षिक प्रतिफल के उदाहरण से स्पष्ट हो जाती है। जहाँ तक एक वर्ग के अन्दर रहते हुए मूल्य का प्रश्न है, वहाँ प्रतिफल उस वस्तु के लिये किये गये बलिदान के अनुपात में होता है; परन्तु जब यह तुलना दो अलग-अलग वर्गों के बीच होती है, तब यह बात नहीं होती। एक वर्ग की तुलना में दूसरा वर्ग लाभदायक स्थिति में है, या नहीं, यह बात जैसा कि विदेशी व्यापार में होता है एक वर्ग को दूसरे वर्ग द्वारा तैयार की गई वस्तुओं के लिये पारस्परिक माँग के ऊपर निर्भर रहेगी।"[२]

केर्नीज का प्रतियोगिताहीन वर्गों का सिद्धान्त मुख्य रूप से इसलिये ध्यान देने योग्य है, क्योंकि उसने इस सिद्धान्त का प्रयोग मूल्य के उत्पादन की लागत वाले प्राचीन सिद्धान्त का खंडन करने के लिये किया है; और इतना ही नहीं, वस्तु के उत्पादन के लिये किये गये बलिदान के सम्बन्ध में कर्ताश्रित (सब्जैक्टिव) विचार पर बहुत अधिक बल देने के कारण वह जेवन्स और आस्ट्रियन विचारकों की दिशा में उससे कहीं अधिक दूर तक चला गया, जहाँ तक वह समझता था। यदि कहीं वह थोड़ा सा और आगे बढ़ जाता, तो शायद वह

१. वही; पृष्ठ ७२।
२. वही; पृष्ठ ७५-७६।

बहुत ही आगे पहुँच जाता। इस प्रकार यह विचार करते हुए कि कुशल श्रमिक की अपेक्षा क्यों अधिक वेतन मिलता है, वह उचित रूप से यह स्पष्ट करता है कि वस्तुतः हमेशा ऐसा नहीं होता, और यह कि कुशलता अपने आप में लागत का कोई तत्त्व नहीं है, और यह कि "यह विचारणीय परिणाम (अर्थात् अपेक्षाकृत अधिक वेतन) केवल तभी होता है, जब कि कुशल श्रमिकों का एकाधिकार हो।" इस सम्बन्ध में निर्णायक तत्त्व "उन परिस्थितियों में खोजा जा सकता है, जिनके कारण इस कुशलता को केवल थोड़े से लोग प्राप्त कर पाते हैं, जबकि तुलना में उनकी सेवाओं की माँग बहुत अधिक होती है।"[1] एक पीढ़ी बाद का व्यक्ति शायद इस बात को इस तरह कहता कि जब कारीगर संख्या में सीमित होते हैं, तब श्रम की सीमान्त उत्पादनशीलता अधिक होती है। केर्नीज के मन में सीमान्त की धारणा नहीं थी, फिर भी है यह वही बात, जिसे वह कहने की चेष्टा कर रहा है।

१. वही; पृष्ठ ८५।

अध्याय ११

कार्ल मार्क्स

यदि इस पुस्तक की अपेक्षा कोई बड़ी पुस्तक लिखी जाती, तो उसमें समाजवाद के प्रारम्भिक इतिहास के विषय में एक अलग पूरा अध्याय लिखना उचित हो सकता था; हालांकि असंदिग्ध रूप से यह कहा जा सकता है कि ये प्रारम्भिक समाजवादी केवल स्वप्नदर्शी लोग थे, अर्थशास्त्री नहीं; परन्तु यहाँ उन्हें केवल उतने उल्लेख मात्र से सन्तोष कर लेना होगा, जितना मार्क्स की रचनाओं को पूरी तरह समझने के लिये अनिवार्य है। यह मानने की प्रथा चल पड़ी है, कि समाजवाद का प्रारम्भ प्लेटो से होता है, क्योंकि उसने साम्यवाद की वकालत की है; या फिर मोर के 'युटोपिया' से होता है, जिसमें निजी सम्पत्ति के दोषों की निन्दा की गयी है और शोषण के सिद्धान्त का विशदीकरण किया गया है; परन्तु मार्क्स के दृष्टिकोण से देखने पर वह समाजवाद, जो मार्क्स से ठीक पहले विद्यमान था और जिसके विषय में मार्क्स ने अपनी घृणा को छिपाने का कोई यत्न नहीं किया, उन तथाकथित यूटोपियन (कल्पनाप्रिय) समाजवादियों का समाजवाद था, जिनकी रचनाओं का प्रारम्भ उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध से होता है।

"समाजवाद के जन्मदाता" को ढूंढने के लिए हमें इन्हीं लेखकों में खोज करनी होगी, हालांकि समाजवाद के पितृत्व के दावेदारों की संख्या इतनी अधिक है कि खोजने वाला उलझन में पड़ जाय। सबसे पहले तो सेन्ट साइमन (१७६०-१८२५)—संस्मरणों का लेखक नहीं—का नाम आता है, जो एक सनकी आदमी था। उसने भविष्य में आने वाले एक ऐसे समय की कल्पना की थी, जो उद्योग-प्रधान होगा; और उसने अनेक पुस्तिकाओं और लेख इत्यादियों में बड़े परिश्रमपूर्वक यह विचार-विमर्श किया था कि उस नये और अज्ञात युग में आध्यात्मिक नेतृत्व कहाँ प्राप्त हो सकेगा। इस नये संसार का, जो सारे भूमंडल का सदुपयोग

करने के लिये कटिबद्ध होगा, ध्येय यह होगा कि विशेषाधिकारों को समाप्त कर दिया जाय। सेन्ट साइमन का समाजवाद यदि वस्तुतः उसका कोई अस्तित्व हो, तो दुर्बलतम ढंग का है। परन्तु उसके अनुयायियों ने, जिन्होंने एक नया विचित्र धर्म चलाने की कोशिश की थी, उसके सिद्धान्त का इतना विस्तार किया कि उसके अन्दर सबसे बड़े विशेषाधिकार अर्थात् उत्तराधिकार का उन्मूलन भी आ गया; और इस प्रकार उन्होंने राज्य को अवशिष्ट उत्तराधिकारी बनाकर राज्यीय समाजवाद के लिये छोटा रास्ता ढूंढ निकाला। उसके बाद फूरियर (१७७२-१८३७) का नाम आता है। फूरियर का मस्तिष्क कुछ अव्यवस्थित था। उसे कभी-कभी विचित्रातिविचित्र बातें सूझती रहती थीं, जैसी कि प्रायः विकृत मस्तिष्क वालों को सूझती रहती हैं। उसकी कल्पना 'फैलेंक्सों' (Phalanx) के आधार पर नये सिरे से संगठित संसार की कल्पना थी। 'फैलेंक्स' एक सहयोगी समूह था। इस प्रकार के कुल २९,८५,९८४ फैलेंक्स सारे संसार में बनाये जाने थे; और सारा संसार उन फैलेंक्सों के अन्तर्गत हो जाता। उसका समाजवाद सहकारिता का समाजवाद था, जिसका उद्देश्य यह था कि वह आजकल होने वाले अत्यधिक अपव्यय और अकार्यक्षमता का, और उस सभ्यता के विभाजित और परस्पर विरोधी हितों का स्थानापन्न बन सके, जिसमें कि सब लोग एक दूसरे की विपत्ति से लाभ उठाते हैं। इसके बाद इंगलैंड के राबर्ट ओवन (१७७१-१८५८) का नाम आता है। राबर्ट ओवन अपने प्रारम्भिक और व्यावहारिक जीवन के दिनों में, जबकि वह एक आदर्श मालिक (Employer) के रूप में सामने आया था, उसकी अपेक्षा कहीं अधिक महान् व्यक्ति था, जैसा कि वह अपने जीवन के पिछले हिस्से में अपने साहसिक अभियानों और कल्पनाओं के द्वारा जनता के सामने आया। उसकी दृष्टि में भी मुक्ति का उपाय सहयोग ही था; और वह ऐसी बस्तियाँ बसाना चाहता था, जो बहुत कुछ साम्यवादी ढंग की थीं, और जिनका नमूना हमें "न्यू हारमनी" में दिखाई पड़ता है। चौथा नाम (और यहाँ अन्तिम नाम) लुइ ब्लांक (१८१३-१८८२) का है। उसका मस्तिष्क एक संक्रमण की स्थिति में था। उसने बाद में आने वाले समाजवाद की ओर संकेत भी किया; इसलिये उसे युटोपियन (कल्पनाप्रिय) कहना कठिन है। किन्तु उपर्युक्त अन्य विचारकों की भाँति उसका विचार भी यह था कि संगठन करके प्रतियोगिता को समाप्त कर दिया

जाय। परन्तु लुइ ब्लांक के विचार में सुधार की इस महान् योजना का प्रारम्भ राज्य द्वारा, जो कि ग़रीबों का महाजन (बैंकर) है, किया जाना चाहिये। राज्य की ओर से सहकारी संस्थाएँ बनायी जानी चाहियें, जो आगे चलकर पूंजीपति को उद्योग के क्षेत्र से भगा देंगी।

इस प्रकार के थे ये आदर्श स्थिति की कल्पना करने वाले युटोपियन समाजवादी। इनमें से अधिकांश संगठनवादी थे। ये लोग इसलिये यूटोपियन कहे जाते थे, क्योंकि उनका विश्वास यह था कि समाजवाद को क्रियान्वित करने के लिये यह आवश्यक है कि कोई व्यक्ति इस सारे मामले को प्रारम्भ करे; और उसके बाद यह सारा काम अपने आप ही जायगा। वे संगठनवादी इसलिये कहे जाते थे, क्योंकि मुख्य रूप से उनकी कल्पना यह थी कि समाजवादी सिद्धान्तों के आधार पर रहने वाले व्यक्तियों के समूहों के निर्माण और विस्तार द्वारा ही आयेगा। फूरियर, जो अपने घर प्रतिदिन एक घंटे तक बैठकर यह इन्तजार किया करता था, कि कोई अज्ञात पूंजीपति आयेगा और आकर उसे इतनी बड़ी धन-राशि दे देगा, जिसके द्वारा वह अपना पहला 'फैलेंस' स्थापित कर सकेगा, प्रारम्भिक समाजवादियों की अक्षमता और भोलेपन का करुणाजनक प्रतीक है।

परन्तु कार्ल मार्क्स[1] (१८१८-१८८३) के आगमन के साथ यह स्थिति बदल गयी। इसके बाद समाजवाद निश्चित रूप से अर्थशास्त्र सिद्धान्त की मुख्य धारा में आ पहुँचा, क्योंकि मार्क्स ने समाजवाद को एक ऐसे सिद्धान्त का रूप दे दिया जो आर्थिक युक्तियों के समर्थन पर टिका हुआ था। इतना ही नहीं, कम से कम मार्क्स ने समाजवाद को एक ऐसी भविष्यवाणी का-सा रूप दे दिया, जिसका आधार कुछ ही समय पूर्व के तथा वर्तमान के आर्थिक तत्त्वों की व्याख्या थी। इसी में समाजवाद के पूर्व रूप से, जिसे कुछ अवज्ञापूर्वक यूटोपियन समाजवाद

१. १८१८ में ट्रियेर में जन्म हुआ। बोन और बर्लिन में अध्ययन किया। "रीनिश जीटुंग (Rheinische Zeitung) में (१८४२ में) पत्रकार के रूप में काम करता रहा। वह निरन्तर जर्मनी, फ्रांस, बेल्जियम और इंग्लैण्ड के मध्य अपना स्थान बदलते रहने को विवश रहा। १८४८ के बाद दो-एक बार को छोड़कर वह १८८३ में मृत्यु होने तक लन्दन में ही रहा। १८६४ में प्रथम इन्टरनेशनल के निर्माण में, और उसकी बाद की गतिविधि में उसने प्रमुख भाग लिया। परन्तु लन्दन में उसका जीवन मुख्य रूप से पढ़ने-लिखने में ही व्यस्त रहा। कैपिटल का पहला खंड १८६७ में प्रकाशित हुआ; दूसरे और तीसरे खंड उसकी मृत्यु के पश्चात् क्रमशः १८८५ और १८९४ में प्रकाशित हुए।

कहा जाता था, उस नये रूप में, जिसे कि बड़े गर्व के साथ वैज्ञानिक समाजवाद कहा जाता है, संक्रमण का महत्त्व है। इस नये युग के लोगों को यूटोपियन समाजवादी ऐसे स्वप्नदर्शी लोग प्रतीत होते थे, जिन्हें इस बात में गहरा विश्वास था कि संसद् (पार्लियामेंन्ट) द्वारा बनाया गया कोई कानून इतना शक्तिशाली हो सकता है, कि वह एक आदर्श राष्ट्रमण्डल की स्थापना का आधार बन सके; और जो लोग इतने भोले और सीधे थे, कि उन्हें इस बात पर भी विश्वास था कि न्याय, दया और औचित्य की दुहाई देने से मनुष्यों के मन परिवर्तित हो सकते हैं। यूटोपियन समाजवादियों ने समाजवाद की वांछनीयता और सुरुचिपूर्ण सौंदर्य को सिद्ध करने के लिए लोगों की भावनाओं को जगाने की भले ही कोशिश की हो किन्तु इस प्रकार की कार्यवाही से कुछ काम बनने वाला नहीं था। इसकी अपेक्षा यह कहीं अधिक अच्छी नीति थी कि आर्थिक युक्तियों द्वारा यह सिद्ध किया जाय कि समाजवाद का आगमन अनिवार्य है, आर्थिक युक्ति और इतिहास की व्याख्या को इस प्रकार मिला दिया जाय, कि उनसे यह प्रगट हो कि आजकल संसार की जो दशा है, उसका परिणाम आगे चलकर क्या होगा; और यह सिद्ध किया जाय कि इन परिस्थितियों का एकमात्र अनिवार्य और अपरिवर्तनीय परिणाम समाजवादी राज्य की स्थापना ही होकर रहेगा।

मार्क्सवादी साहित्य पुस्तकों का एक इतना विशाल मरुस्थल है, और इस सम्बन्ध में मार्क्सवाद का अर्थ है क्या, पक्के और विशेषज्ञ लोगों में भी विवाद इतना अधिक है, कि यहाँ अन्य स्थलों की अपेक्षा भी यह जरूरी है कि हम केवल उन्हीं बातों पर ध्यान दें, जो बहुत ही आवश्यक हैं, भले ही इसका परिणाम यह हो कि हम मार्क्सवाद के केवल सूखी हड्डियों के ढाँचे तक ही पहुँच जायें। और यहाँ प्रारम्भ में ही इसी नीति का पालन करते हुए वैज्ञानिक समाजवाद के सामान्यतया माने जाने वाले अन्य संस्थापकों को भी एक ओर छोड़ देना उचित होगा। राडबर्टस (१८०५-१८७५) मुख्य रूप से एक दार्शनिक था, जिसने समाजवादी सिद्धान्त को एक शानदार प्रत्यावर्तन (रिट्रीट) के रूप में विकसित किया था। वह बहुत कुछ फेबियन अर्थात् समाजवाद के शनैः शनैः विस्तार में विश्वास रखने वाला व्यक्ति था। बिलकुल तात्कालिक वर्तमान में वह काफी हद तक अनुदार और सम्भ्रान्त वर्ग का व्यक्ति था। यह कटु विवाद, कि मार्क्स ने राडबर्टस के विचारों का अपहरण किया है या नहीं, केवल एक हल्का सा

मनोरंजन मात्र है; अन्यथा यह सारा विषय मरुस्थल के समान अत्यन्त शुष्क ही है। इस त्रयी में से तीसरा व्यक्ति लासैल (१८२५-१८६४) मुख्य रूप से आन्दोलनकारी था। वह अत्यन्त कुशल वक्ता था। उसका अत्यन्त तूफानी जीवन अन्त में एक तूफानी मृत्यु में ही समाप्त हुआ; और बाद में वह किंवदन्तियों का विषय बन गया; और अंग्रेजी के पाठकों की दृष्टि से उसे यह सौभाग्य प्राप्त हुआ कि जार्ज मैरेडिथ ने उसे अपने एक उपन्यास का पात्र बनाया।

परन्तु मार्क्स अभी शेष है; और पुरातत्व के सम्बन्ध में मूल की खोज करने वाले अनुसंधानकर्त्ताओं को छोड़कर शेष लोग मार्क्स और वैज्ञानिक समाजवाद को लगभग एक ही वस्तु मान सकते हैं। ईर्ष्यापूर्ण देश-प्रेम के फलस्वरूप, यद्यपि यह देश-प्रेम का अनुचित प्रयोग है, कुछ लोग यह संकेत कर सकते हैं कि सम्भवतः मार्क्स ने अंग्रेज समाजवादियों के उस प्रारम्भिक उल्लेखनीय वर्ग से बड़ी सीमा तक प्रेरणा (और शायद इससे भी अधिक कुछ और भी) ग्रहण की, जिसमें होजस्किन, थामसन और ब्रे जैसे व्यक्ति मौजूद थे। राडबर्टस के शिष्य यह अनुभव कर सकते हैं कि उनके गुरु को उसका उचित यश प्रदान नहीं किया गया। ये बहुत छोटे प्रश्न हैं। इन मामलों में परमात्मा ही ठीक-ठीक विचार कर सकता है; और शायद वह भी न कर सके। परन्तु यह एक असंदिग्ध तथ्य है कि मार्क्स के बाद के सम्पूर्ण समाजवाद पर मार्क्स ही पूरी तरह छाया रहा; और यहाँ तक कि बाद में आने वाले जिन विचारक वर्गों ने उसका खंडन किया, उनका अपना अस्तित्व भी केवल मार्क्स की प्रतिक्रिया के रूप में ही विद्यमान रहा; अन्यथा उनका स्वतन्त्र अस्तित्व नगण्य था। इसलिए यह उचित होगा कि इस अध्याय को मार्क्स तक, और केवल मार्क्स तक, ही सीमित रखा जाय।

अन्य बहुत से लेखकों की अपेक्षा मार्क्स के बारे में यह बात अधिक लागू होती है कि उसकी रचनाओं को पढ़ने के साथ-साथ उसके जीवन और उसके चरित्र के बारे में भी ज्ञान प्राप्त किया जाय। अपना विद्यार्थी जीवन समाप्त करने के बाद ३० वर्ष की आयु तक उसने अपना जीवन एक ऐसे विद्रोही और षड्यंत्रकारी के रूप में बिताया, जो सब सरकारों के विरुद्ध लड़ रहा था। उसने अनेक पत्रों का सम्पादन किया, जो तुरन्त जब्त कर लिये जाते थे। वह

परिस्थितियों की विषमता के कारण कभी इस देश में और कभी उस देश में भागता फिरा। परन्तु ३० वर्ष की आयु होने के बाद, कहना चाहिए कि १८४८ की क्रान्ति के बाद, १८४९ में मार्क्स के जीवन का दूसरा भाग आरम्भ होता है। यह उसका लन्दन में निर्वासन का लम्बा काल था, जो १८८३ में उसकी मृत्यु तक चलता रहा। यद्यपि बीच-बीच में वह यूरोपीय महाद्वीप में जाता रहा, और भले ही वह अंशतः अनेक क्रान्तिकारी गतिविधियों में भाग लेता रहा, फिर भी इस लम्बी अवधि में मार्क्स का जीवन मुख्य रूप से एकान्त का जीवन था। उसके जागरण का अधिकांश समय ब्रिटिश म्यूजियम में पार्लियामेंट की रिपोर्टों की मोटी-मोटी पोथियों को पढ़ते हुए बीत जाता था। इस प्रकार के अस्वस्थ जीवन के साथ एक राजनीतिक निर्वासन में रहने वाले व्यक्ति के साथ अविच्छेद्य रूप से लगी हुई सब चिन्ताओं, आर्थिक कठिनाइयों, मुसीबतों, ईर्ष्याओं और सन्देहों को और जोड़ दीजिये; तब इतिहास की भौतिकवादी धारणा की पृष्ठभूमि में मार्क्स और उसकी रचनाओं को ठीक समझना कुछ अधिक सरल होगा।

जहाँ तक उसकी इन विविध रचनाओं का प्रश्न है, यह संदिग्ध है कि किसी भी जीवित मनुष्य ने उन्हें आद्योपान्त पढ़ा है, या कोई पढ़ सकता है। या किसी को उन्हें पढ़ना भी चाहिये। स्वाभावतः मार्क्स एक ऐसा पत्रकार था, जिसने बहुत बड़े परिमाण में लिखा और वह (यद्यपि यह एक भयंकर शब्द है) विज्ञापनकारी था। उसके "पीसिज द रजिस्तांस" (Pieces de resistance) के विशाल परिमाण के अतिरिक्त (और इनकी प्रतिरोध की शक्ति बहुत अधिक है) उसने छोटी-छोटी पुस्तिकाओं के रूप में भी बहुत सा साहित्य लिखा है; और उसके अतिरिक्त है उसका पत्र-व्यवहार। परन्तु सामान्य पुरुषों और बुद्धिमती स्त्रियों के लिये उसकी केवल तीन प्रकाशित रचनाएँ पर्याप्त हैं; और इन तीनों को आद्योपान्त पढ़ना शायद आवश्यक न हो। सब से पहले है उसकी पुस्तक "दी क्रिटिक आफ पोलीटिकल इकोनोमी"। यह पुस्तक १८५९ में प्रकाशित हुई। यह 'कैपिटल' की प्रारम्भिक रूपरेखा के तौर पर लिखी गयी थी। इसकी अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है "कम्यूनिस्ट मैनिफेस्टो"। यह पुस्तक १८४८ में विश्वासी सहायक एंजिल्स के साथ मिलकर लिखी गयी। यह पुस्तक इस दृष्टि से दिलचस्पी की वस्तु है, कि इससे यह

प्रकट हो जाता है कि आर्थिक प्रतीत होने वाले और वैज्ञानिक शृंगारों के अलावा मार्क्सवादी प्रणाली के मुख्य तत्त्व उस समय तक रूपरेखा के रूप में तैयार हो चुके थे। तीसरी पुस्तक है "कैपिटल", जो मार्क्सवादी प्रणाली का सम्पूर्ण और अत्यन्त विशाल वक्तव्य है। इसका पहला खंड १८६४ में प्रकाशित हुआ। दूसरे और तीसरे खंड मार्क्स के जीवन-काल में प्रकाशित नहीं हो सके; परन्तु उनका सम्पादन एँजिल्स ने किया, जिसका काम यह था कि मार्क्सवादी कारखाने के कल-पुर्जों को जोड़कर एक जगह खड़ा कर दे। प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह 'कैपिटल' के प्रथम खण्ड को पढ़ने में हार मानली पड़े, तो उसे शर्माने की कोई आवश्यकता नहीं है।

मार्क्स के मुख्य आधारभूत सिद्धान्तों को हृदयंगम करने में सहायता देने की दृष्टि से यह सुविधाजनक होगा (भले ही इसमें पुनरुक्ति होने का भय है) कि उसके सिद्धान्तों को संक्षिप्त करके थोड़ी सी स्थापनाओं के रूप में ले आया जाय। जिस देश की स्थिति जितनी अधिक पेचीदा हो, उसके नक्शे का प्रारम्भिक अध्ययन कर लेना उतना ही अधिक उचित होता है। आने वाली क्रान्ति के पश्चात् समाज का संगठन किस प्रकार का होगा, इस विषय में (और यह ऐसा विषय है, जिसके सम्बन्ध में मार्क्स ने बड़े संयम से काम लिया है) सूक्तियों को छोड़कर, क्योंकि उनका सम्बन्ध अर्थशास्त्र की अपेक्षा राजनीति से अधिक है, और इसीलिये हमारे विचार-क्षेत्र से बाहर है, मार्क्स के सिद्धान्तों का वर्णन मुख्य रूप से 'मूल्य के सिद्धान्त' और 'मुनाफाखोरी (शोषण) के सिद्धान्त' के रूप में किया जा सकता है, जिसका मूल इतिहास की प्रगति के सम्बन्ध में एक विशिष्ट दृष्टिकोण में विद्यमान है, और जिससे भविष्य के लिये यह संकेत मिलता है कि इस समय विद्यमान पूँजीवादी प्रणाली समाप्त हो जायगी। इसलिये सर्वहारा (प्रोलेटैरियट) की तानाशाही के सम्बन्ध में बताये गये सिद्धान्तों को छोड़कर, क्योंकि वे हमारे इस अध्याय के तात्कालिक प्रयोजन के क्षेत्र से बाहर हैं, मार्क्स के सिद्धान्तों का संकेत बिना किसी अन्याय के छह स्थापनाओं या क्योंकि इनको स्थापनाओं का रूप देना शायद आवश्यक नहीं है—छह मोटे सूत्रों में किया जा सकता है, जिनमें से दो का सम्बन्ध इतिहास की व्याख्या से है; दो की प्रकृति आर्थिक है, जिनका सम्बन्ध मूल्य और उससे निकाले गये निष्कर्षों से है; और दो बहुत कुछ भविष्यवाणी

के ढंग के हैं।

सबसे पहले तो इतिहास की तथाकथित भौतिकवादी धारणा है, जिसका अभिप्राय यह है कि सारे इतिहास में प्रमुख और निर्धारक तत्व आर्थिक ही रहा है।

दूसरी बात यह है, कि इतिहास की यह भौतिकवादी धारणा अविराम चल रहे वर्ग रूप में प्रकट होती है। इतिहास केवल वर्ग-संघर्षों का अभिलेख मात्र है। ज्योंही एक संघर्ष समाप्त होता है, त्योंही दूसरा शुरू हो जाता है। मार्क्सवादी सिद्धान्त के भवन के लिये इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या और वर्ग-संघर्ष समाज-शास्त्रीय आधार बने हुए हैं।

तीसरी बात यह है, कि अर्थशास्त्र के क्षेत्र में आकर मूल्य का मार्क्सवादी सिद्धान्त प्रस्तुत किया गया है। इस सिद्धान्त का अभिप्राय यह है कि किसी भी पदार्थ का मूल्य केवल उस पदार्थ के लिये किये गये श्रम की मात्रा जितना होता है, अर्थात् सामाजिक दृष्टि से श्रम की वह आवश्यक मात्रा, जितनी उस पदार्थ में लगी हुई है।

चौथी बात यह है, कि इस मूल्य के सिद्धान्त को लागू करते हुए हम अति-रिक्त मूल्य (सरप्लस वेल्यू) की धारणा तक पहुँच जाते हैं। कारीगर अपनी श्रम-शक्ति को बेचता है। इस श्रम-शक्ति द्वारा उससे कहीं अधिक माल तैयार होता है, जितना कि कारीगर को वेतन के रूप में प्रतिफल देना आवश्यक होता है। कारीगर द्वारा उत्पन्न किये गये मूल्य और उसे मिलने वाले वेतन का अन्तर अतिरिक्त मूल्य है, जिसे पूँजीपति हड़प लेता है, और इस प्रकार श्रम का शोषण करता है। यही पूँजीपति और श्रमिक वर्ग के बीच वर्ग-संघर्ष का प्रेरक कारण है। ये तीसरी और चौथी स्थापनाएँ मिलकर मार्क्सवाद की आर्थिक गिरी (सार) बनी हुई हैं।

पाँचवीं बात यह है, और यह बहुत-कुछ भविष्यवाणी जैसी है, कि पूँजी की प्रत्येक सम्भव उपाय द्वारा अतिरिक्त मूल्य को अधिकाधिक बढ़ाने की अदम्य तृष्णा कामगर वर्ग के अधिकाधिक कष्ट और पतन का कारण बनती है, और भविष्य में भी बनती रहेगी; और इसका फल यह होगा कि अकार्यरत या अल्पकार्यरत लोगों की विशाल औद्योगिक संचिति सेना (इंडस्ट्रियल रिजर्व आर्मी) दिनोंदिन बड़ी और बड़ी होती जायगी।

छठी और अन्तिम बात यह है, कि एक पूंजीवादी संचय का नियम बताया गया है। वह नियम यह है कि बड़ा पूंजीपति छोटे पूंजीपति को निगल जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि उत्पादन के साधन कुछ थोड़े लोगों के हाथों में केन्द्रित होते जाते हैं। समाज में अधिकाधिक वाणिज्य-सम्बन्धी संकट उपस्थित होता जाता है; यहाँ तक कि अन्त में वह शुभ क्षण आ जायगा, जब दूसरों का अधिकार छीननेवालों से अधिकार छीन लिये जायेंगे, और सर्वहारा को उसका उत्तराधिकार प्राप्त होगा।

जहाँ मार्क्स के सम्बन्ध में प्रारम्भिक विचार-विमर्श करते हुए हमें इन छह स्थापनाओं के स्पष्टीकरण तक ही अपने आपको सीमित रखना चाहिये, वहाँ साथ ही शायद यह भी उचित हो कि कुछ और विस्तृत विचार-विमर्श के लिये अपेक्षाकृत अधिक सामान्य रुचि की तीन और बातों का उल्लेख करके एक भूमिका-सी प्रस्तुत कर दी जाय। पहली बात तो मार्क्स की सर्वोत्तम रचना "कैपिटल" के सम्बन्ध में है। "कैपिटल" को यदि केवल एक पुस्तक के रूप में देखा जाय, तो यह अवश्य ही सबसे अधिक विस्मयकारी मानवीय कृतियों में से एक है। यह बेखटके कहा जा सकता है, वस्तुतः यह बात कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो से स्पष्ट है कि "कैपिटल" में मार्क्स ने जो निष्कर्ष निकाले हैं, वे निष्कर्ष उसके मन में पहले से विद्यमान थे; और उसके बाद उसने उनके समर्थन के लिए युक्तियाँ ढूंढनी आरम्भ कीं। यह बात भी बिल्कुल उचित समझी जा सकती थी, बशर्ते कि अपनी सारी पुस्तक में मार्क्स ने अपना मस्तिष्क खुला रखा होता। परन्तु मार्क्स को पढ़ते हुए ऐसा अनुभव होता है कि उसे अपने निष्कर्षों की सचाई के सम्बन्ध में इतना अधिक विश्वास था कि वह अपनी युक्तियों के प्रति लापरवाह हो गया; और कुछ युक्तियों के संदर्भों में तो पाठक पर यह प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता कि लेखक पाठक को प्रकाश दिखाने के बजाय उसे कुछ धुंध-सी पैदा करके भटकाने पर तुला हुआ है। विद्या का स्कूल के मास्टरों जैसा प्रदर्शन, विशुद्ध गणित के गुरों का दिखावा, पतली बर्फ पर कुशलता के साथ स्केटिंग, और ऐसी सूक्ष्मता, जो कई बार हेत्वाभास के आस-पास तक पहुँच जाती है, इन सब से सीधे-साधे पाठक पर यह असर पड़ता है कि वह किसी ऐसे जादूगर या मदारी के सामने खड़ा हुआ है, जो बिना किसी कठिनाई के भद्दे से टोप में से ढेर के ढेर खरगोश निकालकर लोगों को चकित कर सकता

है। ऐसी पुस्तक में, जो आखिरकार लगभग २,५०० पृष्ठ की पर्याप्त विशाल पुस्तक है, लेखक के पास इतना स्थान अवश्य होना चाहिए था कि वह वापस मुड़कर देख सके, और अपने अर्थ को स्पष्ट कर सके। परन्तु इसके बावजूद इस पुस्तक में ऐसे कई अध्याय हैं, और ये सबसे महत्त्वपूर्ण अध्यायों में से हैं, जिनमें संक्षेप इतना अधिक किया गया है कि वह दुर्बोधता की चरम सीमा तक पहुँच गया है। आर्थिक युक्ति की दृष्टि से इन तीनों भागों की सारी सज्जा मूल्य के श्रम-सिद्धान्त को सिद्ध करने पर आधारित है, जो पहले भाग के पहले पन्द्रह-सोलह पृष्ठों में आ गया है। फिर भी मुद्रित रूप में घपले का ऐसा चमत्कार अन्यत्र कहीं नहीं है; और न इस बात का सर्वोत्तम उदाहरण, कि तर्क करने से कैसे बचा जाय, ही और कहीं मिलेगा। यदि इन पहले पन्द्रह पृष्ठों के अन्त में मार्क्स को अपने पाठकों की सहमति प्राप्त हो जाती है, तो यह भरोसा रखा जा सकता है कि यह सहमति निराशा और थकान से भरी सहमति है, आलोक प्राप्त करने की सहमति नहीं।

दूसरी बात हेगल के प्रभाव के सम्बन्ध में है। हेगल मार्क्स की जवानी के दिनों में युवक लोगों का अत्यन्त प्रिय लेखक था। इसमें सन्देह नहीं कि मार्क्स हेगल के युग की अपेक्षा आगे बढ़ गया था; और यहाँ तक, कि उसने यह भी दावा किया है कि उसकी तर्क-प्रणाली हेगल की तर्क-पद्धति से ठीक उल्टी है और उसने जिस वस्तु को "सिर के बल उल्टा खड़े पाया था"[1]; उसे उलट कर ठीक ढंग से सीधा खड़ा कर दिया है। इन सब क्षेत्रों में हमें प्रवेश नहीं करना है। यहाँ इतना देख लेना पर्याप्त होगा कि वह कभी भी हेगल की शब्दावली और उससे सम्बद्ध अर्थों से निकलकर बाहर नहीं जा सका। हेगल का आधारभूत विचार उसका विकास का विचार है। प्रत्येक विधानात्मक वस्तु निषेध को जन्म देती है, जो फिर निषेध का निषेध उत्पन्न करता है। परन्तु यह निषेध का निषेध मूल विधानात्मक वस्तु नहीं होती; बल्कि कोई ऐसी वस्तु होती है, जिसमें मूल विधानात्मक वस्तु और उसका निषेध दोनों सम्मिलित रूप में विद्यमान होते हैं। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो पहले तो एक स्थिति होती है, जो प्रतिस्थिति को जन्म देती है; और वह प्रतिस्थिति में स्थिति और

---

१. कैपिटल; भूमिका, भाग १, पृष्ठ २५ (केर)।

प्रतिस्थिति दोनों का मिश्रण होता है। दार्शनिक शब्दावली के अवशेष किसी भी रचना में पाये जाने में कोई हानि नहीं है, परन्तु "कैपिटल" के महत्त्वपूर्ण भागों पर ध्यान से दृष्टिपात करने पर यह बात अनुभव होती है कि मार्क्स के सामने दार्शनिक गुर पहले आया, और उसके बाद संसार की व्याख्या उस गुर के रूप में ही कर दी गयी। वर्ग-संघर्ष और कुछ नहीं; बल्कि ऐसी स्थिति है, जो प्रतिस्थिति से संघर्ष करती है, और उसे जन्म देती है। जब शासक वर्ग परास्त हो जाता है, तब हम समवस्थिति की दिशा में पहुँच जाते हैं, जो विकास में एक नया प्रारम्भ बिन्दु होता है। यद्यपि मार्क्स ने यह दिखाने की कोशिश की है कि वह सर्वज्ञ था, परन्तु उसकी पुस्तक "कैपिटल" को पढ़ने से यह प्रकट होता है कि उसे संसार का वास्तविक ज्ञान बहुत कम था। वस्तुतः मार्क्स अपने सारे जीवन में अपने साथी मनुष्यों की अनुभूतियों और भावनाओं के सम्बन्ध में अत्यधिक असहृदय रहा। वह ब्रिटिश म्यूजियम में आवश्यकता से कहीं अधिक रहता था और डर्बी के दिन इप्सम डाउन्स के घुड़दौड़ के मैदान में शायद ही कभी गया हो; और पाठक "कैपिटल" को जितना अधिक पढ़ता है, उतना ही अधिक उसे यह अनुभव होता है कि जिन वस्तुओं को मार्क्स पूँजीपति और श्रमिक वर्ग कहता है, वे वस्तुतः अत्यन्त दुर्बल अव्यक्त वस्तुएँ हैं, और जो बड़ी ही अशक्तता के साथ 'ट्वीडिलम' और ट्वीडिलडी जैसी कठपुतलियों की भाँति इस ढंग से लड़ते हैं, कि उसका वही परिणाम हो, जो पहले से निश्चित है; और पूँजीपति और श्रमवर्ग की यह लड़ाई इसलिये करायी गयी है, जिससे एक दार्शनिक गुर को सत्य सिद्ध किया जा सके।

तीसरी बात है मार्क्स का प्राचीन अर्थशास्त्रियों, और विशेष रूप से ऐडम स्मिथ और रिकार्डो के साथ सम्बन्ध। मार्क्स की अवज्ञा सबसे अधिक उस वस्तु के प्रति है, जिसे वह "गँवारू अर्थशास्त्र" कहता है। फिर भी इस मजाक में शायद कुछ सचाई है कि मार्क्स को प्राचीन अर्थशास्त्रियों में से अन्तिम अर्थशास्त्री माना जाता है। स्मिथ और रिकार्डो ने बड़े संकोच और परिमितियों (लिमिटेशन) में रहते हुए मूल्य के श्रम सिद्धान्त को टटोलकर ढूँढने की कोशिश की थी। परन्तु मार्क्स ने उस सिद्धान्त को बिना किसी संकोच के स्वीकार कर लिया, और बड़े साहस के साथ अपनी ओर से भी उसमें प्रमाण जोड़ दिये। अन्य दूसरे मामलों में भी, उदाहरण के लिये वेतन

सिद्धान्त के मामले में, हम पहिले ही देख चुके हैं कि वैज्ञानिक समाजवाद के महल के निर्माण के लिये रिकार्डो ने कितनी उदारतापूर्वक ईंटें जुटा दी थीं। यह भी मार्क्सवादी महान् पहेली का कम मनोरंजक रूप नहीं है कि मार्क्स उन गँवार अर्थशास्त्रियों का मजाक उड़ाता दिखाई पड़ता है, जब कि दूसरी ओर वह बड़ी शान के साथ उनके फेंके हुए चीथड़ों और छोटे पड़ गये कपड़ों को पहनकर शेखी बघारता है।

"मैनीफैस्टो आफ दी कम्युनिस्ट पार्टी" मार्क्स की रचनाओं में अन्य रचनाओं की अपेक्षा इतनी अधिक प्रभावशाली रही है कि इस छोटी सी पुस्तिका के सम्बन्ध में यहाँ थोड़ा सा विचार कर लेना उचित होगा, भले ही यह विचार केवल सूचित करने के लिये हो कि १८४८ तक मार्क्स की विचारधारा की मुख्य स्थिति किस सीमा तक पहुँच चुकी थी। 'कम्युनिस्ट मैनीफैस्टो" स्पष्टता और संक्षेप की दृष्टि से "कैपिटल" से बहुत भिन्न है। इसके आग से भरे हुए २२ पृष्ठ अपने बड़े भाई अर्थात् "कैपिटल" की समाप्ति-हीन शुष्कता की तुलना में बहुत सरस जान पड़ते हैं। इसके चार अनुभागों[1] में से पहले अनुभाग में बुर्जुआ वर्ग और श्रमिक वर्ग के सम्बन्ध में विचार किया गया है, जो मार्क्स के सिद्धान्त के प्रश्न से सबसे अधिक घनिष्ट रूप से सम्बन्धित है। यह अनुभाग एक विशिष्टतासूचक महत्त्वपूर्ण टिप्पणी से प्रारम्भ होता है: "अब तक के समस्त विद्यमान समाज का इतिहास वर्ग-संघर्षों का इतिहास है।" और फिर इसके स्पष्टीकरण में:

"स्वतन्त्र मनुष्य और दास, सम्भ्रान्त मनुष्य और साधारण मनुष्य, सामन्त और सेवक, श्रेणीपति और श्रमिक, एक शब्द में उत्पीड़क और उत्पीड़ित, निरन्तर एक दूसरे के विरोध में खड़े रहकर, कभी खुल्लमखुल्ला और कभी

---

१. अनुभाग १, "बुर्जुआ एण्ड प्रोलेटैरियन्स", इसमें मार्क्सवाद का अधिकांश सार विद्यमान है। अनुभाग २, "प्रोलेटैरियन्स एण्ड कम्युनिस्ट्स"; इसमें कम्युनिस्टों के कार्यक्रम का वर्णन है। अनुभाग ३, "सोशलिस्ट एण्ड कम्युनिस्ट लिट्रेचर", इसमें अपने से पहले के समाजवादी साहित्य पर अत्यन्त अन्यायपूर्ण आक्षेप किये गये हैं। अनुभाग ४ में पिछले अनुभागों का निष्कर्ष मात्र निकाला गया है। "श्रमिक वर्ग के पास गँवाने के लिये अपनी हथकड़ियों और बेड़ियों के सिवाय कुछ नहीं है, जबकि जीतने के लिये उनके पास सारा संसार पड़ा है।"

गुप्त रूप से एक दूसरे के विरुद्ध अविराम युद्ध करते हैं; और इस युद्ध का अन्त सदैव या तो सम्पूर्ण समाज के क्रान्तिकारी रूपान्तरण में हुआ है, या फिर परस्पर प्रतिद्वन्द्वी वर्गों के साझे सर्वनाश में।" इसके बाद, इस समय विद्यमान दशा का और उस प्रक्रिया का विश्लेषण किया गया है, जिसके फलस्वरूप यह दशा उत्पन्न हुई है। और सबसे बढ़कर, इस बात का विवेचन किया गया है कि मध्यम नागरिक वर्ग (Bourgeoisie) ने क्या कुछ किया है। इसमें सन्देह नहीं कि बुर्जुआ (मध्यम नागरिक वर्ग) वर्ग अत्यन्त पाशविक और हृदयहीन रहा है, फिर भी यह व्यर्थ नहीं रहा; क्योंकि इसने सामन्तवाद का विनाश करके इतिहास में अपने लिये निर्धारित कार्य को पूरा किया है। बुर्जुआ वर्ग ने सब देशों के उत्पादन और उपभोग को एक विश्वजनीन रूप दे दिया है। 'मैनीफैस्टो' में लिखा है कि "प्रतिगामियों की आशा के प्रतिकूल" बुर्जुआ वर्ग ने उद्योगों का राष्ट्रीय आधार समाप्त कर दिया है, जिसके फलस्वरूप अब राष्ट्रीय संकीर्णता और सबसे पृथक् रहने की प्रवृत्ति दिनोंदिन अधिकाधिक असम्भव होती जा रही है। इसके अतिरिक्त (यह एक ध्यान देने योग्य बात है) इसने जनसंख्या के एक बहुत बड़े भाग को ग्रामीण जीवन के मूढ़पन से बचाया है। परन्तु जिस प्रकार सामन्तवादी सम्बन्ध उत्पादन के लिये बाँधने वाली जंजीरें बन गये थे, और यह आवश्यक था कि उनको तोड़ डाला जाय, इसी प्रकार बुर्जुआ प्रणाली के दिन भी लद चुके हैं:

"जिन शस्त्रों से बुर्जुआ प्रणाली ने सामन्तवाद को परास्त किया था, वही शस्त्र अब स्वयं बुर्जुआ प्रणाली के विरुद्ध प्रयुक्त होने को हैं। परन्तु बुर्जुआ प्रणाली ने न केवल उन शस्त्रों का निर्माण किया है, जिनके द्वारा उसकी मृत्यु होगी, अपितु उसने वे मनुष्य भी तैयार कर दिये हैं, जो इन शस्त्रों को धारण करेंगे—ये लोग हैं आजकल के कारीगर श्रमिक वर्ग।"

इससे अगले संदर्भ में 'मैनीफैस्टो' में शोषण का प्रश्न उठाया गया है, परन्तु यह श्रम-शक्ति, मूल्य और अतिरिक्त मूल्य के सम्बन्ध में बाद में किये गये परिष्कार दृष्टिगोचर नहीं होते। "ये कारीगर, जो अपने आपको अलग-अलग बेचने के लिये विवश हैं, वाणिज्य की अन्य किसी भी वस्तु की भाँति एक पदार्थ मात्र हैं...परिणामस्वरूप कारीगर के उत्पादन की लागत घटकर लगभग पूर्णतया जीवन-निर्वाह के उन साधनों तक गिर जाती है, जो उसके

अपने निर्वाह और अपनी जाति को बनाये रखने के लिये आवश्यक है।" इस स्थान पर पदार्थ की कीमत और इसीलिये श्रम की कीमत को उसके उत्पादन की लागत से बराबर बतलाया गया है। शोषण इस रूप में होता है कि कारीगर को तो केवल "उसका पैसे के रूप में वेतन" मिलता है, और श्रम का बोझ (जैसा कि बाद में जाकर 'कैपिटल' में शोषण की मात्रा को बढ़ता हुआ बताया गया है) काम के घंटों को अधिकाधिक लम्बा करते जाने, मशीन की चाल को बढ़ाते जाने, और स्त्रियों और बच्चों को भी काम पर लगाने के फलस्वरूप बढ़ता जाता है।

समाज का दो परस्पर-विरोधी शिविरों में अधिकाधिक बँटते जाना मैनीफैस्टो' में एक महत्त्वपूर्ण विन्दु है :

"निम्न मध्यम वर्ग, छोटे-छोटे दूकानदार, व्यापारी, किसान-भूस्वामी, हाथ से काम करने वाले कारीगर, और किसान ये सब श्रमिक वर्ग में आ पड़ते हैं; अंशतः तो इसलिये, क्योंकि उनकी छोटी पूँजी आधुनिक उद्योग के लिये पर्याप्त नहीं होती और इसलिये वह बड़े पूंजीपतियों की प्रतियोगिता में पिसकर खत्म हो जाती है; और अंशतः इसलिए, कि उनकी उस कुशलता का, जिसमें उन्होंने विशेषता प्राप्त की है, मूल्य उत्पादन की नई पद्धतियों के कारण घट जाता है। इस प्रकार श्रमिक वर्ग में जनसंख्या के सब वर्गों के लोग आ सम्मिलित होते हैं।"

इसी प्रकार 'मैनीफैस्टो' में कामगर वर्ग की निरन्तर बढ़ती हुई दुर्दशा भी 'कैपिटल' की अपेक्षा अधिक स्पष्ट दिखायी पड़ती है :

"इसके विपरीत आधुनिक कामगर का स्तर उद्योग की उन्नति के साथ-साथ बढ़ने के बजाय निरन्तर अपने वर्ग की सामाजिक दशाओं से नीचे और नीचे गिरता जाता है। मजदूर कंगाल हो जाता है और यह कंगाली जनसंख्या और सम्पत्ति की अपेक्षा भी कहीं अधिक तेजी से बढ़ती है।"

इसका अर्थ है कि बुर्जुआ प्रणाली अब और अधिक देर तक स्वयं अपने दासों को दासता में जीवित रहने का भी आश्वासन नहीं दे सकती; और इसलिये यह भी स्पष्ट है कि इसके शासन में अब समाज का अस्तित्व टिक नहीं सकता। अत्यन्त प्रसिद्ध वाक्यांश के अनुसार : "यह स्वयं अपनी कब्र खोजने वाले लोग तैयार कर रही है।"

'कम्युनिस्ट मैनीफैस्टो' के सम्बन्ध में काफी, और शायद आवश्यकता से अधिक कह दिया गया है। इसका महत्त्व इस तथ्य में निहित है कि थोड़े से पृष्ठों में संक्षेप से यह मार्क्स के मुख्य विचारों को पाठक के सम्मुख रख देता है और पाठक उन्हें आसानी से समझ सकता है। इस पुस्तक में वैसी अंकगणितीय और अर्थशास्त्रीय अस्पष्टता नहीं है, जैसी 'कैपिटल' में बहुत अधिक पायी जाती है और जिसके कारण 'कैपिटल' दुर्बोध बनी हुई है। यहाँ, १८४८ में, सबसे अधिक जोर वर्ग-संघर्ष की अविरामता पर दिया गया है। दो वर्गों में बड़ा सुस्पष्ट अन्तर किया गया है, जिनमें से कुछ थोड़े से लोगों को छोड़कर अधिकांश लोग निचले वर्ग में अनिवार्य रूप से धकेल दिये जाते हैं। यहाँ पर कामगर के शोषण का विचार भी प्रस्तुत किया गया है, हालाँकि शोषण की धारणा की स्पष्ट व्याख्या का अभाव है। और अन्तिम बात यह है कि यहाँ इतिहास की अनिवार्य गति की ओर संकेत किया गया है, जिसके कारण पूँजीवादी प्रणाली अपने अंदर ही अपने विनाश के बीजों को उत्पन्न करती है। ये सब चीजें विशुद्ध मार्क्सवाद हैं; और कुछ थोड़े से वैज्ञानिक से प्रतीत होने वाले स्पष्टीकरण और विस्तार (विशेष रूप से मूल्य और अतिरिक्त मूल्य के सम्बन्ध में) के अतिरिक्त मार्क्स-वाद इसके सिवाय और कुछ नहीं है।

यह देख लेने के बाद कि मुख्य-मुख्य मार्क्सवादी सिद्धान्त किस सीमा तक 'कम्युनिस्ट मैनीफैस्टो' में ही स्थापित किये जा चुके थे, अब यह सुविधाजनक होगा कि पृष्ठ २५३ (अंग्रेजी पुस्तक के २२९) पर दी गयी उन स्थापनाओं पर थोड़ा सा और विस्तार से विचार कर लिया जाय, जिनमें हमने मार्क्स के सिद्धान्तों का निचोड़ प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया था। पहली दो स्थापनाओं कोइतिहास की भौतिकवादी व्याख्या और वर्ग-संघर्ष को इकट्ठा लिया जा सकता है; और क्योंकि यदि ये दोनों बातें अर्थशास्त्र से सम्बद्ध हों भी, तो भी अर्थशास्त्र सिद्धान्त से इनका सम्बन्ध इतना कम है कि इन पर बहुत संक्षेप में विचार कर लेना पर्याप्त होगा। हालाँकि यह मानने की प्रथा चल पड़ी है कि इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या मार्क्स के सिद्धान्त का सार है, फिर भी अध्ययन प्रारम्भ करने वाले विद्यार्थी को मार्क्स के अपेक्षाकृत अधिक प्रसिद्ध ग्रन्थों में परिश्रमपूर्वक खोज करने पर भी इस बात का कोई स्पष्ट अर्थ पता नहीं चल सकेगा कि यह महान् सिद्धान्त आखिर कहना क्या चाहता है। जहाँ-

तहाँ आये हुए थोड़े से संदर्भों के अतिरिक्त यह बात बहुत कुछ यों ही मान ली गयी है; और इसके अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट वक्तव्य के लिये हमें मार्क्स की रचनाओं की अपेक्षा एंजिल्स की रचनाओं से अधिक सहायता मिल सकती है। सम्भवतः मार्क्स की अपनी रचनाओं से अधिक सुनिश्चित उल्लेख "क्रिटिक आफ पोलीटिकल इकोनोमी" की भूमिका में प्राप्त होता है, जहाँ सबसे अधिक महत्वपूर्ण वाक्य ये हैं :

"भौतिक जीवन में उत्पादन की विधियाँ (Mode) जीवन की सामाजिक, राजनीतिक और आध्यात्मिक प्रक्रियाओं के सामान्य स्वरूप का निर्धारण करती हैं। मनुष्यों की चेतना द्वारा उनके अस्तित्व का निर्धारण नहीं होता, अपितु उसके विपरीत उनका समाजिक अस्तित्व ही उनकी चेतना का निर्धारण करता है।"[1]

अपने मूल में इस बात का अर्थ यह था—यदि हम ऐंजिल्स से एक वाक्यांश उद्धृत कर सके, तो कि "सब सामाजिक और राजनीतिक क्रान्तियों के मूल कारण मनुष्यों के मस्तिष्क में या मनुष्यों की शाश्वत सत्य और न्याय के सम्बन्ध में उत्कृष्टतर अन्तर्दृष्टि में नहीं ढूंढे जा सकते, अपितु वे उत्पादन और विनिमय की विधियों में हुए परिवर्तनों में ढूंढे जा सकते हैं।"[2] प्रत्येक युग में हुए परिवर्तनों का मूल कारण उस युग का दर्शन नहीं, अपितु उस युग का अर्थशास्त्र है। परिणामस्वरूप कला, धर्म, कानून और इसी प्रकार की अन्य सब वस्तुएँ आर्थिक परिस्थितियों का रूप निर्धारण नहीं करतीं, बल्कि इसके विपरीत वे इन आर्थिक परिस्थितियों का परिणाम होती हैं। इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या के दूर से खींचकर लाये गये उन उदाहरणों के सम्बन्ध में, जो किसी जनता के सामने प्रस्तुत किये गये थे, विचार करने के लिये हमें रुकने की आवश्यकता नहीं

---

१. पृष्ठ ११; इससे भी अधिक प्रसिद्ध संदर्भ वह है जो 'कम्युनिस्ट मैनीफैस्टो' की भूमिका में एंजिल्स ने मार्क्स की मृत्यु के उपरान्त लिखा था, और जो लोकस क्लासिक्स (locus classicus) के नाम से प्रसिद्ध है। "मैनीफैस्टो का आदि से अन्त तक व्याप्त और आधारभूत विचार यह है : कि प्रत्येक ऐतिहासिक युग में, उस युग में विद्यमान आर्थिक उत्पादन और विनिमय की विधि और उससे अनिवार्य रूप से प्रभावित सामाजिक संगठन ही वे आधार हैं, जिनके ऊपर उस युग का राजनीतिक और बौद्धिक इतिहास निर्मित होता है, और उसकी व्याख्या केवल इन्हीं आधारों के द्वारा की जा सकती है, और यह कि इसके परिणामस्वरूप मनुष्य जाति का सम्पूर्ण इतिहास"'वर्ग-संघर्षों का इतिहास रहा है।"

२. सोशलिज्म, यूटोपियन एण्ड साइंटिफिक; पृष्ठ ४५।

है। यह कहना पर्याप्त होगा कि अपने मूल रूप में यह सिद्धान्त ऐसा था जिसका समर्थन कर पाना असम्भव था; और वस्तुतः ऐंजिल्स ने भी इसको उसी रूप में स्वीकार किया, जिसमें कि इतने अधिक संशोधन कर दिये गये थे कि इसका मूल रूप बहुत-कुछ बदल गया। यह बात, कि इतिहास को हृदयंगम करने के लिए उसके आर्थिक पहलू पर भी ध्यान दिया जाना चाहिये, एक ऐसा सत्य है, जिससे कम ही लोग इनकार कर सकेंगे; परन्तु साथ ही यह बात भी उतनी सत्य है कि इतिहास में आर्थिक तत्त्व के अतिरिक्त भी और बहुत-कुछ है। मनुष्य पूरी तरह या एक मात्र पेट के लिये ही नहीं जीता। और भी अनेक प्रकार के उत्साह, निष्ठाएँ और प्रेरणाएं हैं, जिनसे प्रेरित होकर मनुष्य काम करता है, और जो अपने आप में पूर्णतया अन-आर्थिक होती हुई भी ऐसी हैं, जिनकी प्रतिक्रिया आर्थिक दशाओं पर हो सकती है और सबसे बढ़कर मन की मन पर होने वाली क्रिया तथा उसके दूरगामी परिणाम इस विश्व की सबसे बड़ी प्रभाव-शक्तियों में से एक हैं, और इस शक्ति की आर्थिक व्याख्या कुछ भी नहीं की जा सकती। यदि हम यह मान भी लें कि इस बात की व्याख्या कर पाना संभव होगा कि दांते, मुहम्मद, कैल्विन, मार्क्स, लायड जार्ज, और जार्ज रोवे क्यों उसी समय हो सके, जब कि वे हुए, फिर भी उससे कहीं अधिक कठिन यह प्रश्न व्याख्या करने को शेष ही रह जाता है कि वे कैसे पैदा हो गये, और पैदा हुए ही क्यों? इस बात क व्याख्या कर पाना और भी अधिक कठिन है कि कैसे किसी महापुरुष को उसका 'ध्वनि-विस्तारक' प्राप्त हो जाता है, जो उसके प्रभाव को विचित्र रूप से संसार के विभिन्न भागों तक पहुँचा देता है। यह सम्भव है कि कैल्विन को उसका नोक्स न मिला होता, या मार्क्स को कोई लेनिन प्राप्त न हुआ होता। इतिहास की व्याख्या करते हुए विनम्र, बल्कि शायद अज्ञानतावादी रहना ही अच्छा है। हमें यह अनुभव करना चाहिए कि मनुष्य के इतिहास की दिशा को मोड़ने-घुमाने में कई तत्त्वों का योग रहता है; और आर्थिक तत्त्व उन में से केवल एक है, और शायद यह आर्थिक तत्त्व उनमें सबसे महत्त्वपूर्ण भी नहीं है।

इसी प्रकार वर्ग-संघर्ष भी एक आंशिक सत्य का ऐसा सामान्यीकरण है, जिसका औचित्य सिद्ध नहीं किया जा सकता। ठीक-ठीक मार्क्सवादी वक्तव्य में वर्ग-संघर्ष के अस्तित्व की कड़ी एक निष्कर्ष द्वारा इतिहास की भौतिकवादी

व्याख्या के साथ जुड़ी हुई है (एंजिल्स की ही भाँति)। परन्तु सुनिश्चित रूप से यह निष्कर्ष अत्यधिक असंगत निष्कर्ष है। आर्थिक तत्त्व (और इसके महत्त्व को कम नहीं समझना चाहिए) अपने आपको वर्ग-संघर्ष के अतिरिक्त इससे भिन्न रूपों में भी प्रकट कर सकता है। इतना ही नहीं, वर्ग-संघर्ष के सर्वव्यापी अस्तित्व की स्थापना केवल तभी की जा सकती है, जब मनुष्य सब जगह, यदि एकमात्र नहीं, तो भी मुख्य रूप से आर्थिक उद्देश्यों से प्रेरित होकर काम करते हों, और इसके साथ ही उन्हें इस बात का भी ज्ञान हो कि उनका आर्थिक हित किस बात में है। कुछ और अधिक कट्टर और प्रचलित वाक्यांश में हम कह सकते हैं कि वे ज्ञानयुक्त आत्म-हित द्वारा प्रेरित होने चाहियें। परन्तु इसके विपरीत मनुष्य सब प्रकार के विचारों से प्रेरित होकर काम करते हैं। देश-भक्ति, धर्म, कट्टरता और स्वतन्त्रता के प्रति प्रेम, जिनमें से कुछ बातें उनके हितों के विरोध में भी जाती हैं, या उनके वर्ग के हितों के विरुद्ध जाती हैं; भले ही वे लोग किसी भी वर्ग के क्यों न हों। परन्तु वस्तुतः यदि हम विस्तृत बात को एक ओर छोड़ भी दें, तो भी वर्ग-संघर्ष का सारा का सारा विचार शायद एक वृत्ताकार युक्ति-परम्परा (पंतितियो प्रिंसिपाइ-Petitio principii) है, जो घूम-फिरकर वहीं लौट आती है। समाज को विभक्त करने वाली रेखाएँ अनेक हैं; परन्तु मनुष्य तब तक अपने आपको एक वर्ग या श्रेणी के रूप में अनुभव नहीं करते, जब तक कि वे एक वर्ग या श्रेणी के रूप में मिलकर काम न कर चुके हों। संगठित एकता की चेतना सामूहिक कार्य का कारण नहीं है, अपितु इस प्रकार के सामूहिक कार्य का परिणाम है। जब भी मनुष्य आपस में मिलकर निरन्तर किसी अवधि तक काम करते रहते हैं, तब उनमें संगठित एकता की भावना उत्पन्न हो जाती है; और यह भावना तब तक बनी रहती है, जब तक कि वे वस्तुतः मिलकर काम करते रहते हैं। यह भी आवश्यक नहीं कि उनको इस प्रकार आपस में बाँधने वाला संबंध आर्थिक ढंग का ही हो। परन्तु श्रमिक वर्ग की अनिवार्य विश्वजनीन और सर्वव्यापी संगठित एकता का विचार तो केवल भ्रममात्र है। एक ही उद्योग के विभिन्न स्तरों के हितों में, या एक ही देश के विभिन्न उद्योगों में, या विभिन्न देशों के कारीगरों के हितों में परस्पर विरोध हो सकता है।

वर्ग-संघर्ष का जो रूप मार्क्स ने प्रस्तुत किया है, उसमें मूलभूत गलती

के दो पहलू हैं। पहली बात तो यह है, कि मार्क्स ने 'सर्वहारा' (प्रोलेटेरियट) की कल्पना एक आदर्श कामगर के रूप में की, और इसीलिये वह सर्वहारा में एक ऐसी एकता की कल्पना कर सका, जो कि वस्तुतः सर्वहारा में विद्यमान नहीं है। दूसरी बात यह है, कि उसने इस संगठित और एक सर्वहारा को "आर्थिक मनुष्य" के विशेष गुणों से युक्त मान लिया। यह बात बड़ी मनोरंजक जान पड़ती है कि उस जमाने में, जब "आर्थिक मनुष्य" का निर्जीव प्रेत निरन्तर तिरस्कृत होता जा रहा था, मार्क्स ने प्राचीन विचारक वर्ग के अवशेषों को चुन लिया, और उनसे न केवल एक आर्थिक मनुष्य, अपितु आर्थिक मनुष्यों की एक पूरी की पूरी जाति रचकर खड़ी कर दी। "कम्युनिस्ट मैनीफैस्टो" का अन्तिम भेरी-नाद इतिहास की इस व्याख्या पर एक विचित्र टिप्पणी जैसा प्रतीत होता है। क्योंकि यदि वस्तुतः श्रमिक लोग पहले से असंगठित न हों, तो उन्हें संसार की बड़ी-बड़ी पूंजियों की सहायता से संगठित हो जाने के लिये प्रेरणा देने की कोई आवश्यकता नहीं होनी चाहिये। परन्तु यदि श्रमिक लोग पहले से असंगठित हों, तो यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि उनकी यह असंगठित दशा किसी संयोगवश परस्पर-विरोधी हितों के कारण उत्पन्न हुई है, या देश-भक्ति और धर्म जैसे किन्हीं आदर्शपूर्ण कारणों के फलस्वरूप उत्पन्न हुई है।

आर्थिक आधारभूत सिद्धान्तों की ओर मुड़ने पर हमें मूल्य का मार्क्सवादी सिद्धान्त दिखायी पड़ता है, जिसके अनुसार मूल्य केवल उस श्रम की मात्रा की अभिव्यक्ति मात्र है, जो उस पदार्थ को तैयार करने में लगा है। एक सीमा तक यह केवल रिकार्डो की ही बात को दूसरे रूप में प्रस्तुत करना है; परन्तु जहां रिकार्डो ने अपने सिद्धान्त में संशोधन और सुधार की गुंजाइश रखी थी, और यह स्पष्ट है कि उसके मन में अधिकाधिक सन्देह उत्पन्न होते जा रहे थे, वहां मार्क्स ने अपने इस कठोर और विश्वजनीन चरम सिद्धान्त को, कि सारा का सारा मूल्य श्रम से उत्पन्न होता है और यह मूल्य श्रम ही है, अन्तिम सीमा तक पहुंचा दिया। इसमें सन्देह नहीं कि ऐसा करने में मार्क्स का उद्देश्य अपने शोषण के केन्द्रीय सिद्धान्त को सिद्ध करना रहा था। इतना ही नहीं, जहां रिकार्डो ने वस्तुतः अपनी इस स्थापना को सिद्ध करने का कोई वास्तविक प्रयत्न नहीं किया, वहां मार्क्स ने, जो रिकार्डो की अपेक्षा अधिक दुःसाहसी

था, इस स्थापना को कठोर तथा सुनिश्चित प्रमाणन (डिमांस्ट्रेशन) द्वारा सिद्ध करने का प्रयत्न किया; और वस्तुतः 'कैपिटल' के तीन खंडों का समूचा विशाल भार प्रमाणन पर ही आधारित हैं।

यह प्रमाणन जैसा कुछ भी है, पाठक को कैपिटल के पहले अध्याय के पहले अनुभाग में दिखायी पड़ जाता है, और अनेक पाठकों के लिये यह इस विषय में एक सहायक कारण रहा होगा कि वे पुस्तक को इससे आगे पढ़ना बन्द कर दें। संक्षेप में—बहुत संक्षेप में—युक्ति यह है कि सम्पत्ति पदार्थों का एक अत्यन्त विशाल संचय है; और पदार्थ का अभिप्राय है ऐसी वस्तु, जो मनुष्य की आवश्यकताओं को पूर्ण करती हो। प्रत्येक उपयोगी वस्तु में अनेक गुण विद्यमान रहते हैं, और इसलिये उस वस्तु का उपयोग विभिन्न प्रकार से किया जा सकता है। यदि किसी वस्तु का उपयोग किया जा सकता है, तो वह उसका उपयोग-मूल्य है; परन्तु पदार्थों में विनिमय-मूल्य भी संगृहीत रहता है। अब विनिमय-मूल्य के प्रश्न पर आइये, जो पहले-पहल एक परिमाणात्मक (क्वांटिटेटिव) सम्बन्ध प्रतीत होता है। यदि कई वस्तुओं का —क चमड़े की पालिश, ख रेशम और ग सोना—एक दूसरे के साथ परस्पर विनिमय किया जाय, तब विनिमय-मूल्य के रूप में उनमें से प्रत्येक को किसी भी दूसरी का स्थान ले सकना चाहिये। तब यदि हम एक ऐसा समीकरण बनायें, जो विनिमय की समानता का सूचक हो (उदाहरण के लिये पाँच सेर अनाज=चार सेर लोहा) तो हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि पाँच सेर अनाज और चार सेर लोहे में कोई ऐसी वस्तु अवश्य है, जो दोनों में समान मात्रा में विद्यमान है; और इस तीसरी वस्तु में, जो इन दोनों से भिन्न है, इन दोनों वस्तुओं को परिवर्तित किया जा सकता है।

फिर यह रहस्यपूर्ण विशेषता क्या है, जो एक रुपये के ताजे मक्खन और एक रुपये की टीन की पतरियों में समान मात्रा में गुप्त रूप से विद्यमान रहती है। पहली बात तो स्पष्ट रूप से यह है कि यह विशेषता कोई रेखागणितीय, या रासायनिक, या भौतिक विशेषता नहीं है। इस प्रकार की विशेषताओं की ओर हमारा ध्यान केवल उसी सीमा तक जाता है, जहाँ तक कि वे पदार्थों की उपयोगिताओं पर प्रभाव डालती हैं। साथ ही यह अज्ञात सामान्य गुण ऐसा है, जिसका वस्तुओं की उपयोगिता से कोई सम्बन्ध नहीं है। जैसा कि मार्क्स ने

बहुत कुछ फतवे के से रूप में इस बात को प्रकट किया है, "पदार्थों का विनिमय स्पष्टतया एक ऐसा कार्य है, जिसकी विशेषता यह है कि इसमें उपयोग-मूल्य का पूर्णतया अव्यक्तीकरण (ऐब्स्ट्रैक्शन) हो जाता है।" वस्तुओं का विनिमय वस्तुतः केवल इसलिये किया जाता है कि उनमें विभिन्न प्रकार का उपयोग-मूल्य विद्यमान रहता है; और यह बात निश्चित रूप से सत्य है कि कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति मक्खन और टीन की पतरियों के उपयोग को समझने में भूल नहीं करेगा। इसके बाद मार्क्स एक लम्बी छलांग लेकर कहता है कि अपने समीकरण में हमने जिन पदार्थों को लिया था, उनमें "केवल एक ही सामान्य गुण शेष बचता है; और वह यह है कि वे दोनों ही वस्तुएँ श्रम की उपज है।" यदि किन्हीं दो वस्तुओं का विनिमय-मूल्य बराबर है, तो इसका अर्थ केवल इतना है कि उनमें से प्रत्येक वस्तु में मानवीय श्रम की लगी हुई समान मात्रा विद्यमान है।[1]

यदि बहुत से अनावश्यक रहस्यीकरण (मीस्टिफिकेशन) को एक ओर छोड़ दिया जाय, तो मूल्य के श्रम सिद्धान्त के लिये मार्क्स द्वारा प्रस्तुत प्रमाणों का सार यही है। अधिकतम उलझे हुए पाठक को भी कुछ खास बातें एक दम गलत प्रतीत होने लगती हैं। पहली बात तो यह है, कि मार्क्स यह मानकर चलता है कि जिस भी किसी वस्तु का मूल्य होता है, वह मानवीय श्रम की ही उपज होती है; और युक्ति के अत्यन्त महत्वपूर्ण बिन्दु पर पहुँचकर यह पता चलता है कि समान विनिमय-मूल्य वाली दो वस्तुओं में यह मानवीय श्रम ही एक ऐसी विशेषता है, जो समान रूप से पायी जाती है। "असंस्कृत भूमि और प्राकृतिक चरागाह" इनमें मार्क्स उपयोग-मूल्य तो स्वीकार करता है, परन्तु उनके मूल्य को स्वीकार नहीं करता।[2] परन्तु यह स्पष्ट है कि यह समस्या के आधे भाग की ओर से जान-बूझकर आँखें मींच लेना है। चाहे हम पसन्द करें, या न करें, परन्तु यह सत्य है कि ऐसी अनेक वस्तुओं का भी, जो मानव-श्रम की उपज नहीं हैं, विनिमय-मूल्य हो सकता है, और वस्तुतः होता भी है। परन्तु इस प्रकार की सब बातों को मूल्य के अर्थ और कारण के अनुसंधान की प्रक्रिया को प्रारम्भ

१. कैपिटल : खंड १, अध्याय १, अनुभाग १, पृष्ठ ४१-४४। (शिकागो में कैर द्वारा प्रकाशित संस्करण; पर सब संस्करणों में पृष्ठ संख्या एक जैसी नहीं है।)

२. वही; खंड १, पृष्ठ ४७।

करने से पहले ही मार्क्स हटाकर एक ओर कर देता है। बोहम बावर्क के प्रसिद्ध वाक्यांश के अनुसार वह एक ऐसे व्यक्ति के समान आचरण करता है, जिसकी यह तीव्र इच्छा हो कि वह अपनी कुशलता से डब्बे में से सफेद गोली ही निकालकर दिखाये, और इसके लिये वह यह उपाय करे कि डब्बे में पहले से ही केवल सफेद ही सफेद गोलियाँ डाले, अन्य रंग की नहीं।

मार्क्स के द्वारा प्रस्तुत किये गये प्रमाण की दूसरी ध्यान देने योग्य विशेषता यह है कि यह यद्यपि पूर्णतया वैद्य, किन्तु अत्यधिक खतरनाक निरसन (ऐक्सक्लूजन) की पद्धति पर आधारित है। इस बात का कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है कि मूल्य किसी पदार्थ में लगे हुए श्रम की मात्रा को व्यक्त करता हो। यह निष्कर्ष अधिक से अधिक केवल इस ढंग से निकाला गया है कि अन्य प्रत्येक तथाकथित सम्भावित समाधान को निरस्त कर दिया गया है। परन्तु इस पीढ़ी में, जब कि लोग जासूसी उपन्यास साहित्य से पर्याप्त परिचित हो गये हैं, यह जान लेना उचित होगा कि यह इस प्रकार का प्रमाण है, जिसके आधार पर कोई भी बुद्धिमान न्यायाधीशमंडल (जूरी) अपराधी को दंड देने में अत्यधिक आनाकानी करेगा। नायिका को केवल इसलिए फांसी नहीं दी जा सकती, क्योंकि अपराध की रात्रि में उस मकान में विद्यमान अन्य सब लोग अपने आपको निरपराध सिद्ध कर सकते हैं। हो सकता है कि आप सही कारण कभी न ढूंढ पाएं; और संभव है कि सूक्ष्मता से जाँच करने पर पता चले कि पर्दे के पीछे कोई रसोइया मौजूद था, या सोफे के नीचे कोई घरेलू नौकर छिपा हुआ था। इस वर्तमान मामले में मार्क्स ने तो ऐसे घर के नौकरों की पूरी पल्टन की पल्टन की ओर से भी अपनी आँखें मींच लीं, जो छिपे होने के बजाय बड़े घमंड के साथ बिलकुल सामने की कुर्सियों पर बैठे हुए थे। खास तौर से कहा जा सकता है कि वस्तुओं के मूल्य का एक बड़ा कारण यह महत्वपूर्ण तत्त्व है कि वे वस्तुएं मनुष्य की आकांक्षा की तुलना में स्वल्प हैं; और उन वस्तुओं का मूल्य उसी अनुपात में होता है, जिस अनुपात में मनुष्य उन्हें प्राप्त करने की इच्छा करते हैं। दूसरे शब्दों में कहा जाय, तो अन्य स्थानों की भाँति यहाँ भी मार्क्स मानवीय माँग के समूचे पक्ष की उपेक्षा कर बैठता है। वह मूल्य के प्रश्न पर एकमात्र उपलब्धि की दिशा से ही विचार करता है। उसका प्रमाण हेत्वाभास है, क्योंकि यह निरसन पर आधारित है,

जब कि यह स्पष्ट है कि यह निरसन पूर्ण नहीं हुआ।

तीसरी बात यह है, कि प्रारम्भ में ही उपयोगिता के तत्त्व को एक ओर छोड़ जाने का मार्क्स का प्रयत्न रहस्यीकरण की अपेक्षा और कुछ नहीं। यह बात सत्य हो सकती है कि चमड़े की पालिश का उपयोग-मूल्य रेशम के उपयोग-मूल्य से भिन्न हो; और यह भी कि विनिमय केवल तभी होता है, जब कि ये पदार्थ विभिन्न उद्देश्यों को पूर्ण करते हों; परन्तु विनिमय की प्रक्रिया में अवश्य ही इस बात की उपेक्षा नहीं कर दी जाती कि इनमें से प्रत्येक पदार्थ में कोई न कोई उपयोगिता होती है, और न स्वयं मार्क्स ही वस्तुतः देर तक इस बात का विरोध कर सकता है। जिस समय वह अपने मुख्य सिद्धान्त की स्थापना कर रहा होता है, उस समय उपयोगिता का विचार उसे बहुत खटकता है। इसलिये वह इसे एक पोटली में बांधकर दरवाजे के बाहर पटक देता है; परन्तु जब उसका 'मूल्य का श्रम-सिद्धान्त' सिद्ध हो जाता है, तो वह धीरे से पिछवाड़े का दरवाजा खोलकर फिर उपयोगिता के विचार को अपने घर के अन्दर ले आता है। इस अनुभाग के अन्त में वह कहता है कि तब तक किसी भी वस्तु का मूल्य नहीं हो सकता, जब तक कि वह उपयोगिता की वस्तु न हो।"[1] तब कहा जा सकता है कि सारा खेल समाप्त हो जाने के बाद यहाँ एक और ऐसा उपेक्षित सामान्य तत्त्व दिखाई पड़ता है, जो उन सब वस्तुओं में समान रूप से पाया जाता है, जिनका कि मूल्य होता है।

इस आक्षेप का, कि यह सम्भव है कि बिलकुल एक ही प्रकार के दो पदार्थों में श्रम की अलग-अलग मात्रा लगी हो, मार्क्स बड़े उचित रूप से यह उत्तर देता है कि मूल्य का निर्धारण करने वाला श्रम किसी एक या दूसरे विशिष्ट कामगर का श्रम नहीं होता (जो उस कामगर के साधनों और उद्योग के कारण कम या ज्यादा हो सकता है)। निश्चायक तत्त्व श्रम का वह समय है, जो सामाजिक दृष्टि से किसी पदार्थ को उत्पन्न करने के लिये आवश्यक है; और इसमें यह भी गर्भित है कि उस समय में विद्यमान उत्पादन की सामान्य दशाएँ, और साथ ही दक्षता की औसत मात्रा, और श्रम की औसत तीव्रता भी उसमें होनी चाहिये।[2] यदि वस्तुओं का उत्पादन पुराने ढंग के तरीकों से किया

१. वही; खंड १, पृष्ठ ४८।
२. वही; खंड १, पृष्ठ ४९।

जाता रहे, तो उसमें लगे हुए श्रम की मात्रा मूल्य का निर्धारण नहीं कर सकेगी; क्योंकि ऐसे मामले में उसकी अपेक्षा कहीं अधिक श्रम की मात्रा व्यय की गई होगी, जितनी कि सामाजिक दृष्टि से आवश्यक है। इस सिद्धान्त को तथ्यों के अनुकूल बनाने की दृष्टि से जो और सूक्ष्म संशोधन किये गये हैं, वे और भी अधिक आक्षेप योग्य हैं। यह पहले दिखाया जा चुका है कि बड़ी अनिच्छापूर्वक मार्क्स ने यह स्वीकार किया कि मूल्य होने के लिये उस पदार्थ में उपयोगिता का होना आवश्यक है। यदि कोई वस्तु उपयोगहीन निकलती है, तो उसमें लगा हुआ श्रम भी उपयोगहीन होगा।[1] जैसा कि मार्क्स ने बड़े अविचलित भाव से कहा है "उस श्रम को श्रम नहीं माना जा सकता" यद्यपि वेतन के दिन कामगर से इस दृष्टिकोण के परिणाम को मनवा पाना काफी कठिन होगा। इसी प्रकार वस्तुओं का अत्यधिक उत्पादन भी इस बात को सिद्ध करता है कि उनके ऊपर उससे अधिक समय का व्यय किया गया है, जितना कि सामाजिक दृष्टि से आवश्यक था। मोटे तौर पर कहा जाय, तो किसी भी वस्तु पर व्यय किये गये समय को "केवल उसी सीमा तक प्रभावपूर्ण गिना जा सकता है, जहाँ तक कि वह ऐसे रूप में व्यय किया गया हो, जो दूसरों के लिये उपयोगी हो।"[2] मार्क्स ने कुशल और अकुशल श्रम के मध्य जो अन्तर किया है, या विभिन्न प्रकार के श्रमों में जो अन्तर किया है, वह भी बहुत कुछ इससे मिलता-जुलता है। मार्क्स की दृष्टि में सब प्रकार के श्रमों को, जिन्हें वह "अव्यक्त मानवीय श्रम" या "सीधा-सादा औसत श्रम" कहता है, में परिवर्तित किया जा सकता है—यह एक विचित्र प्रकार की कल्पना है, जिसका अभिप्राय यह है कि एक प्रकार का श्रम ऐसा होता है, जो न तो दर्जी का, न जुलाहे का, और न किसी अन्य विशिष्ट प्रकार के कारीगर का श्रम होता है। परन्तु यदि श्रम अनेक विभिन्न प्रकारों का होता है, जैसा कि वह निश्चित रूप से होता है, तो श्रम के उन विभिन्न प्रकारों को उसकी तह में विद्यमान श्रम के रूप में किस प्रकार अभिव्यक्त किया जाय, जिसमें कि अन्ततोगत्वा सब प्रकार के श्रमों को घटाकर परिवर्तित किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में मार्क्स का स्पष्टीकरण प्रकाश डालने वाला है :

१. वही; खंड १, पृष्ठ ४८।

२. वही; खंड १, पृष्ठ ९७-९८।

"कुशल श्रम केवल तीव्रतर रूप में किया जा रहा साधारण श्रम जितना ही होता है; या कह सकते हैं कि वह साधारण श्रम का कुछ गुना अधिक रूप होता है। कुशल श्रम की एक दी हुई निश्चित मात्रा सामान्य श्रम की अपेक्षाकृत अधिक मात्रा के बराबर समझी जाती है। अनुभव से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस प्रकार का परिवर्तन निरन्तर होता रहता है...वे विभिन्न अनुपात, जिसमें कि विभिन्न प्रकार के श्रम को घटाकर अकुशल श्रम के रूप में परिवर्तित किया जाता है, प्रमाप के रूप में एक सामाजिक प्रक्रिया द्वारा स्थापित होते हैं, जो उत्पादकों की पीठ पीछे अपना काम करती रहती है; और परिणामतः ऐसा प्रतीत होता है कि वे प्रमाप प्रथाओं द्वारा नियत कर दिये गये हैं।"[१]

स्पष्ट है कि इस प्रकार की युक्ति अत्यन्त आक्षेप-योग्य है; क्योंकि यह रहस्यपूर्ण सामाजिक प्रक्रिया, जो उत्पादकों की पीठ पीछे होती रहती है बाजार के अपरिष्कृत निर्धारण के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। संसार का सख्त अँगूठा और अँगुली ही यह निर्णय करती है कि 'क' और 'ख' की उपजों का विनिमय ५ : ४ के अनुपात में होगा; और इस प्रकार मार्क्स कहता है कि 'ख' का श्रम 'क' के श्रम की अपेक्षा १$\frac{1}{4}$ गुना गिना जायगा। जब बाजार में इस प्रकार निर्धारित हुआ अनुपात बदलकर १० : ६ हो जायगा, तो उसके फलस्वरूप उस अनुपात में भी परिवर्तन हो जायगा, जिसके अनुसार कामगरों के श्रम को "मापा जाना है"। परन्तु जिस सिद्धान्त का उद्देश्य इस बात की व्याख्या करना है, कि बाजार में क्या होता है, वह ऐसा गुर ढूंढने के लिये बाजार की ही शरण नहीं ले सकता, जिसे लागू करने पर सिद्धान्त का बाजार के तथ्यों के साथ मेल ठीक-ठीक बैठ जाय। परन्तु मार्क्स ने इस सारे प्रसंग में यही किया है। श्रम मूल्य का निर्धारण करता है; परन्तु जिस सीमा तक श्रम का प्रयोग गलत किया गया है, या आवश्यकता से अधिक किया गया है, वह "श्रम नहीं गिना जायगा" या उसे घटाकर गिना जायगा। विभिन्न प्रकार के श्रमों को सामान्य श्रम का ही कई गुना रूप समझा जायगा। यदि आप यह जानना चाहें कि सही-सही उत्तर प्राप्त करने के लिये किसी विशिष्ट प्रकार के श्रम को कितना गुना किया जाय, तो इसके लिये केवल इतना आवश्यक है कि आप बाजार

---

१. वही; खंड १, पृष्ठ ५१-५२।

द्वारा बताये गये सही उत्तर पर दृष्टिपात करें; और उससे निष्कर्ष निकाल कर ठीक-ठीक गुणक को निकाल लें। इस प्रकार जहाँ आवश्यकता हो, वहाँ श्रम की उपेक्षा करके और परिस्थिति के अनुसार श्रम के स्तर को घटा या बढ़ा कर यह सम्भव हो सकना चाहिये कि तथ्यों और सिद्धान्त दोनों में सुखद मेल बिठा दिया जाय।

अतिरिक्त मूल्य का विश्लेषण भी दार्शनिक सूक्ष्मताओं के ढेर में दबा हुआ है; परन्तु इस सारे विचार का सारांश अस्पष्ट नहीं है। लोकप्रिय ढंग से कहा जाय, तो समस्या यह निश्चय करने की है कि पूंजी की वृद्धि का गुप्त स्रोत आखिर है कहाँ ? मार्क्स पदार्थों के प्रचलन के प्रतीक दो गुरों को लेकर काफी खेल करता है। एक गुर है प-द्र-प (जहाँ पदार्थ का विनिमय द्रव्य अर्थात् पैसे के बदले किया जाता है, और उसके पश्चात् उसे फिर पदार्थ के रूप में परिवर्तित कर दिया जाता है) और दूसरा वैकल्पिक चक्कर, द्र-प-द्र (जिसमें द्रव्य अर्थात् पैसा किसी पदार्थ को खरीदता है, और उस पदार्थ को फिर द्रव्य में परिवर्तित कर लिया जाता है।), या क्योंकि पूंजीवादी का धन का लोभ असीम होता है, इसलिये यह गुर उचित रूप से होना चाहिये द्र-प-द्र' (जहाँ द्र' = द्र + δद्र)। बुद्धिमान पाठक उन तीन बिन्दुओं को, जिनकी दृष्टि से ये गुर परस्पर समान हैं, और दूसरे उन नो बिन्दुओं को, जिनकी दृष्टि से ये एक दूसरे से भिन्न हैं, आसानी से खोज निकाल सकता है। पहले गुर (प-द्र-प) में कोई वृद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि समान वस्तुओं का विनिमय समान वस्तुओं से किया गया है। एक वाक्य में जिसमें मूल्य के मार्क्सवादी सिद्धान्त के दुराग्रह का संक्षेप, कम से कम जैसा वह खंड १ में प्रस्तुत किया गया है, विद्यमान है, कहा जाय, तो "किसी पदार्थ का मूल्य उसकी कीमत में उसके प्रचलन में जाने से पहले ही अभिव्यक्त हो जाता है; और इसलिये यह मूल्य प्रचलन से पहले की स्थिति है, प्रचलन का परिणाम नहीं।"[1] और अतिरिक्त मूल्य केवल पदार्थों के प्रचलन से ही सिर्फ इसलिये नहीं उत्पन्न हो सकता, क्योंकि उन्हें उनके मूल्य से अधिक पर बेचा जा रहा है; क्योंकि उस दशा में एक व्यक्ति को जो लाभ होता है, वह वस्तुतः दूसरे का नुकसान होता है। कुछ और सूक्ष्म

१. वही; खंड १, पृष्ठ १७५-७६।

संशोधनों के बाद मार्क्स यह निष्कर्ष निकालता है कि संपत्ति की वृद्धि का स्रोत द्र-प-द्र के पहले भाग में ढूंढा जाना चाहिये, हालांकि खरीदे हुए पदार्थ के मूल्य में नहीं, क्योंकि वह तो वस्तुतः उसके पूरे मूल्य पर ही खरीदा गया है।[1] यह स्रोत अवश्य ही उपयोग-मूल्य में होना चाहिये। बाजार में कहीं न कहीं अवश्य ही एक ऐसा रहस्यपूर्ण पदार्थ होना चाहिये, "जिसके उपयोग मूल्य में यह एक विशिष्ट गुण विद्यमान हो कि वह मूल्य का स्रोत भी हो, और इसीलिये जिसका वास्तविक उपभोग अपने आप में श्रम का साकार रूप और, परिणामतः मूल्य का सृजन हो।[2] यह रहस्यपूर्ण पदार्थ श्रम-शक्ति है, जो, जैसा कि वह एक अन्य स्थान पर कहता है, "न केवल मूल्य का स्रोत है, अपितु अपने मूल्य से भी अधिक मूल्य का स्रोत है।"[3]

यदि इस सिद्धान्त के ऊपर से अनावश्यक आवरण उतार दिये जायें, तो अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त स्पष्ट हो जाता है। अन्य किसी भी वस्तु की भांति श्रम-शक्ति का भी मूल्य होता है; और यह मूल्य (यहां हम फिर रिकार्डो के अपरिष्कृत सिद्धान्त तक आ पहुंचते हैं) "जीवन-निर्वाह के उन साधनों का मूल्य होता है, जो श्रमिक के निर्वाह के लिये आवश्यक हैं।"[4] परन्तु जब श्रम-शक्ति को काम पर लगाया जाता है, तो वह इस मूल्य की अपेक्षा कहीं अधिक उत्पादन करती है। यदि पांच घंटे का श्रम उतनी वस्तु उत्पन्न करने के लिये काफी है, जितने से मजदूर का निर्वाह हो सके, और यदि कारीगर से दिन में १० घंटे काम कराया जाता है, क्योंकि उसने उस दिन के लिये अपनी श्रम-शक्ति बेच दी है, तो ये अतिरिक्त पांच घंटे, जो अतिरिक्त श्रम के रूप में हैं, अतिरिक्त मूल्य दे रहे होंगे। इस विषय में मार्क्स के सिद्धान्त का सारांश दो मान्यताओं के रूप में निकाला जा सकता है। इनमें से पहली तो यह है, कि सारा का सारा मूल्य श्रम से उत्पन्न होता है; और दूसरी बात यह है, कि श्रम को प्रतिफल के रूप में केवल उतना प्राप्त होता है, जो उसके जीवन-निर्वाह के लिये काफी हो। श्रमिक के उत्पादन और उसको मिलने वाले वेतन का अन्तर ही यह शोषण है, जो पूंजी द्वारा किया जाता है।

सारा मूल्य श्रम से ही उत्पन्न होता है; इस बात को मार्क्स ने एक और

१. वही; खंड १, पृष्ठ १८५। २. वही; खंड १, पृष्ठ १८६।
३. वही; खंड १, पृष्ठ २१६। ४. वही; खंड १, पृष्ठ १९०।

तर्क द्वारा, जिस पर मार्क्स बहुत बल देता है, पुष्ट किया है; और यह तर्क अन्ततोगत्वा मार्क्सवादी प्रासाद की नीवें ही खोखली कर देता है। यह तर्क है यथापूर्व (constant) पूंजी और परिवर्तनशील (variable) पूंजी के मध्य किया गया महत्त्वपूर्ण अन्तर।[1] यथापूर्व पूंजी का अभिप्राय है—उत्पादन के साधन, मजदूरों के औजार इत्यादि। मोटे तौर पर हम कह सकते हैं कि यथापूर्व पूंजी हैं मशीनें। परिवर्तनशील पूंजी का अभिप्राय पूंजी का वह भाग है, जिसका प्रतिनिधित्व श्रम-शक्ति करती है—परिणामतः वेतन। इसलिये पूंजी की आन्तरिक रचना विभिन्न प्रकार की (उच्च या निम्न प्रकार की) हो सकती है; और यह बात इस पर निर्भर है कि यथापूर्व पूंजी का परिवर्तनशील पूंजी के साथ अनुपात क्या है। अब, मार्क्सवादी सिद्धान्त का सार यह है कि सारा अतिरिक्त मूल्य परिवर्तनशील पूंजी से उत्पन्न होता है। मशीन का आयुष्यकाल कितना ही लम्बा क्यों न हो, फिर भी उसका कुल मूल्य शनैः शनैः उन वस्तुओं में पहुँचता जायगा, जिन्हें कि वह अपनी कार्य करने की अवधि के वर्षों में तैयार करती है।[2] "तैयार माल के मूल्य में उत्पादन के साधनों का मूल्य दुबारा प्रकट होता है",[3] और इससे अधिक कुछ नहीं। यदि और भी अधिक सुस्पष्ट शब्दों में कहा जाय तो "मशीन भी यथापूर्व पूंजी के अन्य किसी भी अंग की भाँति नए मूल्य का सृजन नहीं करती, अपितु अपना ही मूल्य उस तैयार वस्तु में डालती जाती है, जिसे बनाने के लिये उस मशीन का प्रयोग किया जा रहा होता है।"[4] इस सिद्धान्त के परिणामों पर, कि सारा अतिरिक्त मूल्य (अर्थात् सारा लाभ) परिवर्तनशील पूंजी से, और केवल परिवर्तनशील पूंजी से ही उत्पन्न होता है, आगे चलकर विचार करने की आवश्यकता होगी।

तब इस प्रकार का है अतिरिक्त मूल्य। परन्तु क्योंकि "पूंजी के सामने जीवन का केवल एक ही लक्ष्य है, और वह यह कि मूल्य और अतिरिक्त मूल्य को उत्पन्न किया जाय"[5], इसलिये पूंजीवादी मशीन जब एक बार चलनी शुरू हो जाती है, तो वह अतिरिक्त मूल्य को अधिक से अधिक करने की चेष्टा करती है। इसके लिये सीधी-सादी पद्धति यह है कि श्रम के घंटों को अधिक

---

१. वही; खंड १, अध्याय ८, विशेषतया पृष्ठ २३२-२३३।
२. वही; खंड १, पृष्ठ २२६-२२७। ३. वही; खंड १, पृ २३१७।
४. वही; खंड १, पृष्ठ ४११। ५. वही; खंड १, पृष्ठ २५७।

और अधिक बढ़ाया जाय।

क ख' ख ग ग'

यदि क ख "आवश्यक श्रम-समय" है तो कार्य के घंटों को क ग से बढ़ा कर क ग' तक कर देने से अतिरिक्त मूल्य (सरप्लस वैल्यू; लाभ) बढ़ जायगा। इसी प्रकार आवश्यक श्रम-समय को क ख से क ख' तक घटा देने से भी यही परिणाम होगा अर्थात् लाभ बढ़ जायगा। पूंजी में सर्वत्र पाई जाने वाली इस प्रवृत्ति का "कि श्रम की उत्पादनशीलता को बढ़ाया जाय, जिससे पदार्थ सस्ते हों; और इस प्रकार पदार्थों के सस्ता होने के फलस्वरूप मजदूर स्वयं ही सस्ता हो जाय"[1] कारण इस पिछली बात को समझा जा सकता है। अतिरिक्त मूल्य इस ढंग से भी बढ़ाया जा सकता है कि "खाने के समय को धीरे-धीरे कम किया जाय", रात और दिन दोनों में काम किया जाय, बारियों की प्रणाली जारी की जाय; और स्त्रियों और बच्चों को भी काम पर लगाया जाय। ये सब बातें "श्रम के जीवित खून के लिये दानवी प्यास" की प्रतीक हैं।[2]

---

१. वही; खंड १, पृष्ठ ३५१।

२. वही; खंड १, पृष्ठ २८२। यहाँ सम्भवतः उन उग्र संदर्भों में से; जिनसे कि मार्क्स का ग्रंथ भरा हुआ है, एक को उद्धृत कर देना उचित होगा: "परन्तु अपनी अन्धी असंयत लालसा और अतिरिक्त श्रम के लिये भेड़िये जैसी भूख से प्रेरित होकर पूंजी कार्य के दिन की न केवल नैतिक सीमाओं को लाँघ जाती है, अपितु पूर्णतया भौतिक अधिकतम सीमाओं को भी पार कर जाती है। यह उस समय को भी हथिया लेती है, जो शरीर की वृद्धि; विकास और स्वस्थ निर्वाह के लिये आवश्यक होता है। यह दुबका-चोरी उस समय को भी ले लेती है, जो स्वच्छ वायु तथा सूर्य का प्रकाश प्राप्त करने के लिये आवश्यक होता है। यह भोजन करने के समय के बारे में भी बड़ी हील-हुज्जत करती है, और जहाँ भी सम्भव होता है; वहाँ भोजन का समय उत्पादन की प्रक्रियाओं के साथ ही मिला दिया जाता है; और इस प्रकार श्रमिक को ऐसे ढँग से भोजन दिया जाता है, जैसे वह भी उत्पादन का एक साधन हो;: जैसे इंजिन के बायलर में कोयला झोंका जाता है, या मशीन में तेल और चिकनाई डाली जाती है। यह उस गहरी नींद को, जो शरीर की शक्तियों को विश्राम देने; उन्हें सुधारने और ताजगी देने के लिये आवश्यक है, घटाकर केवल उतने घंटे की अधकच्ची-सी नींद तक सीमित कर देती है, जितनी कि पूर्णतया थकी हुई शरीर-रचना को फिर काम करने में समर्थ होने के लिये बिलकुल अनिवार्य है, कार्य के दिवस की सीमाओं का निर्धारण श्रम-शक्ति के सामान्य निर्वाह के स्तर द्वारा नहीं होता; अपितु श्रमिक के विश्राम की अवधि की सीमाओं का निर्धारण दिन में श्रम-शक्ति के यथासम्भव

इस ऊपर दिए गए विश्लेषण के दोष पर्याप्त स्पष्ट हैं। पहली बात तो यह है, कि यह आमतौर से कहा जाता है कि मार्क्स ने समय के तत्त्व को बिलकुल ही छोड़ दिया है; और यह कि इसलिए उसके सिद्धान्तों में ब्याज की अवैधता गर्भित है। ब्याज के सम्बन्ध में उसका विवेचन जब सामने आता है, (खंड ३ में) तो वहाँ वह बिलकुल ही अपर्याप्त है। जहाँ विशद विवेचन करना उचित होता है, वहाँ वह हमें केवल इतना बतला देता है कि "ब्याज अतिरिक्त मूल्य का केवल एक अंश मात्र है।"[1] मार्क्स की दृष्टि में पैसा अब भी अनुर्वर है, और सार्वजनिक ऋण के सम्बन्ध में उसका आक्षेप यह है कि "यह सार्वजनिक ऋण अनुर्वर पैसे में पैसा पैदा करने की शक्ति भर देता है; और इस प्रकार पैसे को पूँजी बना देता है।"[2] इसी प्रकार निर्देशन तथा प्रबन्ध-सम्बन्धी कार्य-कलापों का उल्लेख भी लगभग नहीं ही किया गया।[3] फिर भी यह एक सर्वविदित तथ्य है कि ऐसे दो व्यवसायों में से, जिन्हें देखने में समान सुविधाएँ प्राप्त हैं, एक तो पनप सकता है, जबकि सम्भव है कि दूसरा अत्यन्त स्थिरतापूर्वक दिवालियेपन की ओर बढ़ता चला जाय; भले ही इन दोनों मामलों में प्रयोग की गई श्रम-शक्ति बिलकुल एक ही जैसी हो।

अधिकतम व्यय के द्वारा होता है, फिर भले ही वह व्यय कितना ही रुग्ण, बाध्यतामूलक और कष्टदायक क्यों न हो। पूँजी श्रम-शक्ति के आयुष्य की दीर्घता की बिलकुल परवाह नहीं करती। वह तो स्पष्ट रूप से, और एकमात्र इस बात का ध्यान रखती है कि एक कार्य के दिन में अधिक से अधिक कितनी श्रम-शक्ति से काम लिया जा सकता है। अपने इस लक्ष्य को वह मजदूर के जीवन-काल को कम करके उसी प्रकार पूरा करती है; जैसे कोई लालची किसान अपनी जमीन की उर्वरता को समाप्त करके उस जमीन से अधिक से अधिक फसल लेने की कोशिश करे।" (खंड १; पृष्ठ २९१-२९२)

१. वही; खंड १, पृष्ठ ६४४।

२. वही; खंड १, पृष्ठ ८२७।

३. सम्भवतः इसका एकमात्र उल्लेख सहकारिता वाले अध्याय में किया गया है, जहाँ वह युक्ति प्रस्तुत की गयी है कि वेतनभोगी मजदूर तब तक परस्पर सहयोग से काम नहीं कर सकते, जब तक कि उन सब को एक साथ एक ही पूंजीपति ने काम पर न लगाया हो। इसलिए "यह बात कि उत्पादन के क्षेत्र पर पूंजीपति का अधिकार हो, उतनी ही अनिवार्य है, जितनी यह कि युद्ध के क्षेत्र पर सेनापति का अधिकार हो।" (खंड १: पृष्ठ ३६२-३६३) इस सबका अर्थ कुछ भी नहीं है; और जो कुछ कहा गया है, उससे ऐसा ध्वनित होता है, कि मार्क्स की जीभ उसके गालों में ही थी।

किन्तु इन कठिनाइयों के अतिरिक्त मार्क्स की व्याख्या में दो और आन्तरिक आत्मविरोध विद्यमान हैं (या कहा जा सकता है कि वे एक ही आत्मविरोध के दो पहलू हैं), जिनसे मार्क्स की व्याख्या कभी भी नहीं बच सकी; और अन्त में तीसरे खंड में जाकर इस व्याख्या का जहाज इसी आत्मविरोध की चट्टान से टकराकर चकनाचूर हो गया। पहली बात तो यह है कि यदि सारा लाभ परिवर्तनशील पूंजी से उत्पन्न होता है, और मशीनों से कोई लाभ नहीं होता, तो किसी भी दशा में मशीनों का प्रयोग करना मूर्खता की चरम सीमा है; और इसकी यह व्याख्या सन्तोषजनक नहीं कही जा सकती कि पूंजीपति को इस बात का पता ही नहीं होता कि वह क्या कर रहा है। मार्क्स "इस आत्मविरोध की, जो मशीनों के उपयोग में सर्वत्र दिखाई पड़ता है।"[1] कठिनाइयों को भली भांति अनुभव करता है, परन्तु इस सम्बन्ध में उसने जो कुछ कहा है उसके बाद भी पाठकों के मस्तिष्क में समस्या के समाधान के लिए तीव्र आकांक्षा बनी रह जाती है। मार्क्स के सिद्धान्त के अनुसार पूंजी में यथापूर्व पूंजी का अनुपात ज्यों-ज्यों बढ़ता जाये, त्यों-त्यों लाभ में कमी होती जानी चाहिये; क्योंकि लाभ तो केवल श्रम से ही उत्पन्न होता है; और जबकि यह मान लिया गया है कि यथापूर्व पूंजी के अनुपात में वृद्धि होने के साथ-साथ श्रम के अनुपात में कमी होती जायगी। इसका अर्थ यह है कि पूंजीपति ज्यों-ज्यों मशीनों में वृद्धि करके कदम आगे बढ़ाता है, त्यों-त्यों वह अपने गले पर गहरे और अधिक गहरे घाव करता जाता है। अतिरिक्त लाभ के लिए यह आवश्यक है कि मजदूरों की विशाल संख्या विद्यमान हो; और लाभ केवल उन मजदूरों के अस्तित्व से ही उत्पन्न हो सकता है। मार्क्स के विश्लेषण में यह दिखाया गया है कि बेकार लोगों की सेना निरन्तर बढ़ती जाती है, और उसका स्थान वे मशीनें लेती जाती हैं जिनसे सिद्धान्ततः कोई लाभ नहीं हो सकता।

दूसरा दोष भी इसी दोष का रूपान्तर है, और एक दृष्टि से यह कहीं अधिक सांघातिक है। यदि लाभ केवल कार्य में लगाये गये श्रम से ही उत्पन्न होता हो, और किसी भी रूप में यथापूर्व पूंजी से उत्पन्न न होता हो, तो

---

१. वही; खंड १, पृष्ठ ४४५।

विभिन्न उपयोगों में लाभ की दर इस बात के अनुसार कम या अधिक होनी चाहिए कि उनमें परिवर्तनशील पूंजी का अनुपात कम है या अधिक। जहां परिवर्तनशील पूंजी अधिक हो (अर्थात् प्रारम्भिक दशा वाले और अविकसित उद्योगों में) वहां लाभ की दर ऊँची होनी चाहिये। उन उद्योगों में, जिनमें मशीनों का प्रयोग बहुत अधिक किया गया हो, लाभ की दर नीची होनी चाहिये। उन उद्योगों में जिनमें मशीनों का प्रयोग बहुत अधिक किया गया हो, लाभ की दर नीची होनी चाहिए। मार्क्स ने प्रशंसनीय स्पष्टवादिता के साथ यह स्वीकार किया कि देखने में आने वाले तथ्य स्पष्ट रूप से इस प्रकार निश्चित किये गये नियम के स्पष्टतया प्रतिकूल हैं :

"यह स्पष्ट है कि यह नियम प्रतीति पर आधारित सब अनुभवों के प्रतिकूल जाता है। प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि सूत कातनेवाला, जो अपनी कुल लगाई हुई पूंजी की प्रतिशतकता की दृष्टि से कहीं अधिक यथापूर्व पूंजी और बहुत-थोड़ी परिवर्तनशील पूंजी लगाता है, इसके फलस्वरूप रोटी बनानेवाले की अपेक्षा कम लाभ या अतिरिक्त मूल्य प्राप्त नहीं करता, जबकि रोटी बनानेवाला तुलना में कहीं अधिक परिवर्तनशील पूंजी और बहुत थोड़ी यथापूर्व पूंजी का प्रयोग करता है। इस ऊपर से प्रतीत होने वाले विरोध के समाधान के लिये अनेक मध्यवर्ती स्थितियों को अभी जानना उसी प्रकार शेष है, जैसे प्रारम्भिक बीजगणित की दृष्टि से इस बात को समझने के लिये कि किसी वास्तविक मात्रा को भी सूचित कर सकते हैं, बीच की अनेक स्थितियों को जान लेना आवश्यक होता है।"[1]

इस पहेली का इसके बाद का इतिहास अर्थशास्त्रीय साहित्य की कुछ थोड़ी सी मनोरंजक घटनाओं में से एक है। जिस समाधान को प्रस्तुत करने का वायदा किया गया था, वह दूसरे खंड में सामने नहीं आया; परन्तु दूसरे खंड की एंजिल्स द्वारा लिखी गई भूमिका में काफी था; और सबसे बड़ी बात यह थी कि यह उल्लेख राडबर्टस के अनुयायियों को दी गई एक चुनौती के रूप में था। क्योंकि यदि मार्क्स ने राडबर्टस विचारों को चुराया हो, जैसा कि राडबर्टस के अनुयायियों का दावा था, तो अब (अर्थात् तीसरे खंड के प्रकाशन से ठीक-

१. वही; खंड १; पृष्ठ ३३५।

पहले) राडबर्टस के अनुयायियों के लिए उचित समय था कि वे इस पहेली ‹ सही समाधान प्रस्तुत करके अपने दावों का औचित्य सिद्ध करें, और मजेद बात यह है कि अनेक समाजवादियों और अर्थशास्त्रियों ने वस्तुतः इस दिः में प्रयत्न भी किया और यह सोचने की प्रतियोगिता में, ठीक-ठीक मार्क्सवाः समाधान क्या होगा, हिस्सा भी लिया। परन्तु वस्तुतः यह बात पूर्णतया स्प तर्क द्वारा समझ ली जानी चाहिये थी कि इसका कोई समाधान हो ही नहीं सकत क्योंकि दो विषम वस्तुओं में समता स्थापित नहीं की जा सकती, और ‹ परस्पर-विरोधी सिद्धान्तों में तब तक मेल नहीं बिठाया जा सकता, जब त कि उनमें से एक को सीधे-सादे तौर पर धक्का देकर परे न फेंक दिया जाय ऐंजिल्स द्वारा संगठित "रूसी विपत्ति के आन्दोलन" के सम्बन्ध में विचा करते हुए मार्क्स के एक उत्साही प्रशंसक लोरिया ने तो यहाँ तक कहा है ि मार्क्स ने, जो इस समाधान को दूसरे या तीसरे खंडों के लिए टाला था, उसक कारण केवल यह था कि वह यह अनुभव करता था कि इस प्रकार का समाधा प्रस्तुत करने से उसके सारे जीवन के किये-कराये पर पानी फिर जायगा "क्या इस बात पर आश्चर्य करने का कोई कारण हो सकता है कि मार्क्स अपने इस तथाकथित बचाव को प्रकाशित नहीं करना चाहा ? इस बात . कोई सन्देह नहीं कि इस सुनिश्चित विनाश के कार्य को करते हुए उसका हा काँप उठा था और उसकी आत्मा विचलित हो उठी थी।"[१]

तीसरे खण्ड में सूक्ष्म दृष्टि से विचार न करने वाले लोगों के सम्मुख ला की एक समान दर के अस्तित्व के सम्बन्ध में जो स्पष्टीकरण प्रस्तुत कि गया, वह अंकगणितीय उदाहरणों के काफी बड़े ढेर में दबा हुआ-सा है संक्षेप में उसका मतलब यह है : मालिकों को अलग-अलग करके पृथक् रूप नहीं देखना है। नवारम्भों (ऐंटरप्राइज़ेज) के एक समूह के, जिसमें परिवर्त शील और यथापूर्व पूंजी विभिन्न अनुपातों में लगी हुई है, स्थान पर ए काल्पनिक नवारम्भ रखना होगा, जिसमें उतनी पूंजी लगी हो, जितनी इ समूह के सदस्यों की पूंजी का सर्वयोग है। क्योंकि इस औसत करने की प्रक्रि को सीमित नहीं रखा जा सकता, इसलिए इसका अर्थ यह है कि सब मालि

१. लोरिया; मार्क्स; पृष्ठ ७८।

को एक ऐसे समूह के रूप में समझा जाय, जिसमें वे लोग प्राप्त होने वाले कुल अतिरिक्त मूल्य अर्थात् लाभ को आपस में बाँट लेते हैं। इस प्रकार लाभ की एक समान दर सम्भव हो सकती है। परन्तु इसके साथ यह भी शर्त लगी हुई है कि कुछ वस्तुएँ अपने मूल्य से अधिक कीमत पर और कुछ अपने मूल्य से कम कीमत पर बिकती रहें।[1] लाभ की यह एक समान दर प्रतियोगता के कारण तैयार होती है और पूंजी सब जगह औसत लाभ प्राप्त करने की चेष्टा करती है। इस प्रकार मूल्य और कीमत में अन्तर पड़ जाता है। इसलिये ऐसा बहुत कम अवसरों पर, और वस्तुतः कभी केवल संयोगवश ही होता है कि किसी भी उद्योग की किसी विशिष्ट शाखा में प्राप्त होने वाला अतिरिक्त मूल्य वस्तुतः उस लाभ के बराबर हो, जो कि उस पदार्थ की विक्रय कीमत में विद्यमान है; और यह संयोगवश कभी-कभी पाया जाने वाला मामला उस समय होता है, जब कि पूंजी की रचना (अर्थात् यथापूर्व और परिवर्तनशील पूंजी का अनुपात) सब पूंजियों के सर्वयोग का बिलकुल ठीक-ठीक औसत हो।[2] इसके अतिरिक्त अन्य मामलों में उन उद्योगों की उपज, जिनमें यथापूर्व पूँजी का अनुपात औसत से अधिक है, अपने मूल्य की अपेक्षा ऊँची कीमत पर बिकेगी; जबकि इससे विपरीत मामले में उपज अपने मूल्य से कम कीमत पर बिकेगी। इस प्रकार अभीष्ट लाभ की एक समान दर स्थापित कर दी गई है; परन्तु इसके लिये "कैपिटल" के सम्पूर्ण प्रथम खण्ड का बलिदान कर दिया गया है; क्योंकि पहले खण्ड का प्रेरणाभूत सिद्धान्त यह है कि वस्तुओं का विनिमय उस अनुपात में होता है, जिस अनुपात में उनमें लगी हुई श्रम की मात्रा विद्यमान रहती है; और इस सिद्धान्त को यहाँ बिलकुल धता बता दी गई है। यही है वह "पवित्र रहस्यीकरण", जिसका उल्लेख लोरिया ने किया है। वस्तुतः मार्क्स ने प्रथम खण्ड के स्थान पर केवल एक उत्पादन की लागत का एक ऐसा सिद्धान्त प्रस्तुत किया है, जैसा कि ऐडम स्मिथ जैसा असंस्कृत अर्थशास्त्री भी अपने अधिकतम असंस्कृत और न्यूनतम सचेत क्षणों में आविष्कृत कर सकता था। वस्तुओं का विनिमय उनकी उत्पादन की लागत (जिसमें लाभ की सामान्य दर भी सम्मिलित है) के अनुसार

---

१. कैपिटल: खण्ड ३, पृष्ठ १८६।

२. वही; खण्ड ३, पृष्ठ १६८।

होता है।[1] यह सत्य है कि उसके बाद भी उनका एक 'मूल्य' भी होता है, जो साधारणतया कीमत से भिन्न होता है। परन्तु इस 'मूल्य' के सम्बन्ध में, जो एक अव्यक्त और विचारात्मक धारणा है, और जिसकी बाजार में सर्वत्र एक जैसी उपेक्षा की जाती है, हम में से शायद ही किसी को बड़ी दिलचस्पी हो।

मार्क्स का शेष भाग जो औद्योगिक संचिति सेना और पूंजी के केन्द्रीभूत होते जाने से सम्बद्ध है भविष्यवाणी के ढंग का अधिक है और अर्थशास्त्रीय विश्लेषण के ढंग का कम, इसलिये उसके बारे में और भी अधिक संक्षेप से विचार कर लेना पर्याप्त होगा। सबसे बड़ी बात यह है कि औद्योगिक संचिति सेना के अस्तित्व का कारण मशीनों का अधिकाधिक बढ़ता प्रयोग है; और इस सम्बन्ध में मार्क्स जो कुछ भी कहता है, उसका खण्डन इस बहुत ही स्पष्ट दोष के कारण हो जाता है, जिसे कि वह खुले तौर पर स्वीकार करता है, कि मशीनों के प्रयोग से लाभ उत्पन्न नहीं हो सकता। इसलिये मशीनों के निरन्तर बढ़ते हुए प्रयोग का परिणाम यह होना चाहिये कि अतिरिक्त मूल्य अर्थात् लाभ कम हो जाय। यदि यह भी मान लिया जाय कि पूंजी को लाभ कमाने का अपार लोभ रहता है, तो भी यह स्पष्ट है कि अतिरिक्त मूल्य अर्थात् लाभ को या तो किये जा रहे श्रम की मात्रा को बढ़ाकर अधिक किया जा सकता है, या उन घंटों की संख्या को कम करके, जिनमें श्रमिक को अपने जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक श्रम करना ही होगा।[2] (निरपेक्ष और सापेक्ष अतिरिक्त मूल्य में यहाँ यह अन्तर किया गया है।) जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है, पूंजी का हित इसी बात में है कि वह श्रम की उत्पादनशीलता को बढ़ाये; ऐसा करने से श्रमिक अपेक्षाकृत सस्ता हो जाता है। इसीलिये श्रम के विभाजन का भी महत्त्व है, क्योंकि उसके लिये यह आवश्यक होता है कि उत्पादन काफी बड़े पैमाने पर किया जाय; और इसीलिये उसके लिये यह भी आवश्यक होता है कि पूंजी की न्यूनतम मात्रा निरन्तर बढ़ती ही रहे।[3] परन्तु जब एक बार मशीनों का प्रयोग किया जाने लगता है, तो मशीन की प्रवृत्ति

१. "किसी भी पदार्थ की वह कीमत, जो उसकी उत्पादन की कीमत योग (जमा) उत्पादन में लगाई गई कुल पूंजी पर हुए औसत लाभ का वह भाग, जो उस वस्तु के जिम्मे आता है, उस वस्तु की उत्पादन-कीमत कहलाती है।" (खण्ड ३, पृष्ठ १८६)

२. वही; खण्ड १, पृष्ठ ३५१।   ३. वही; खण्ड १, पृष्ठ ३१५।

यह रहती है कि उसका अधिक और अधिक उपयोग किया जाय। मालिक का हित इस बात में होता है कि मशीन को प्रतिदिन अधिक से अधिक देर तक काम में लाया जाय।[१] काम के घंटों को बढ़ाने के अतिरिक्त इसी प्रकार की काम की तीव्रता को बढ़ाने की एक और प्रवृत्ति यह होती है कि मशीनों की चाल को तेज किया जाय और मजदूर से ज्यादा और ज्यादा मशीनों को सँभालने को विवश किया जाय। परन्तु इस सब का अर्थ है कि मजदूर अपने स्थान से च्युत हो जाय : "इस सब से कामगर उसी प्रकार विक्रय के अयोग्य हो जाता है, जिस प्रकार कागजी मुद्रा कानून बनाकर प्रचलन से बाहर कर देने पर विक्रय के अयोग्य हो जाती है।"[२]

इसी बात को यदि मार्क्सवादी प्राविधिक शब्दावली में कहा जाय तो पूँजी की तुलना में यथापूर्व पूँजी का अनुपात बढ़ता जा रहा है। दूसरे शब्दों में श्रम की माँग क्रमशः कम और कम ही होती चली जायगी।[३] इस प्रकार एक अपेक्षाकृत अतिरिक्त फालतू जनसंख्या उत्पन्न हो जाती है, जो "निस्तारण योग्य औद्योगिक संचिति सेना" (डिस्पोजेबल इंडस्ट्रियल रिजर्व आर्मी) बन जाती है। यह औद्योगिक संचिति सेना अब भी पूंजी के आधीन ही होती है, और इस सेना को इसलिये बनाये रखा जाता है, जिससे "आवश्यकता पड़ने पर एकाएक मनुष्यों की विशाल संख्या को निर्णायक कामों पर इस प्रकार लगाया जा सके, कि उससे अन्य क्षेत्रों में उत्पादन के मान (स्केल) पर कोई हानिकारक प्रभाव न पड़े।"[४] मार्क्सवादी सिद्धान्त में औद्योगिक संचिति सेना का बहुत विशिष्ट और महत्वपूर्ण स्थान है। "संक्रान्ति" (क्राइसिस) की व्याख्या में इस सेना के विस्तार और संकोच का प्रभाव स्पष्ट दीख पड़ता है। वेतनों में सामान्य घट-बढ़ की व्याख्या औद्योगिक संचिति सेना की दशाओं द्वारा की जाती है। जब यह सेना निष्क्रिय पड़ी होती है, तो यह सक्रिय श्रम सेना पर दबाव डालती है; किन्तु जब यह सक्रिय रहती है, तो यह अपने दावों को काफी कुछ संयत रखती है।[५]

चित्र को पूर्ण रूप में देखने के लिये यह आवश्यक है कि हम अपने मन में

---

१. वही; खण्ड १, पृष्ठ ४४१। २. वही; खण्ड १, पृष्ठ ४७०।
३. वही; खण्ड १, पृष्ठ ६९०। ४. वही; खण्ड १, पृष्ठ ६९४।
५. वही; खण्ड १, पृष्ठ ६९९-७०१।

उस सब का भी ध्यान रखें, जो दूसरे छोर पर पूंजीवादी संचय के निय॰ हो रहा है। "एक पूंजीपति सदा अनेक पूंजीपतियों को मारता है।"[1] मार्क्स को बड़ी-बड़ी सेनाओं में गहरा विश्वास दिखायी पड़ता है। प्र॰ योगिता की लड़ाई सस्तेपन के द्वारा लड़ी जाती है; और सस्तापन उत्पा॰ शीलता पर निर्भर है; और उत्पादनशीलता उत्पादन के पैमाने पर निर्भर। "इसलिये अपेक्षाकृत बड़ी पूंजियाँ छोटी पूंजियों को परास्त कर देती हैं.... प्रतियोगिता......का अन्त हमेशा अनेक छोटे पूंजीपतियों के विनाश में हो॰ है; और उनकी पूंजियाँ अंशतः तो उनके विजेताओं के हाथों में चली जाती और अंशतः लुप्त हो जाती हैं।"[2] घटनाओं के प्राकृतिक रुझान का मार्क्स॰ इस प्रकार का विश्लेपण किया है। एक छोर पर तो बड़े-बड़े पूंजीपति ए॰ दूसरे को निगलते हैं, और जिस तरह तालाब में विशालकाय मछलियाँ ए॰ दूसरे को खाकर आकार में बड़ी और बड़ी तथा संख्या में कम और कम हो॰ जाती हैं, उसी प्रकार ये पूंजीपति भी बड़े और बड़े तथा संख्या में कम औ॰ कम होते जाते हैं। दूसरे छोर पर विशाल औद्योगिक संचिति सेना है, जिस॰ सदस्य बेकार होते हैं, या उन्हें बीच-बीच में कुछ समय के लिये काम मिलत॰ रहता है। इन लोगों का कष्ट निरन्तर बढ़ता जाता है। एक सिरे पर तो संपत्ति॰ का संचय होता जाता है और दूसरे सिरे पर कष्ट, श्रम की यन्त्रणा, दासता, अज्ञान, पाशविकता और मानसिक अधःपतन का संचय होता जाता है। यह॰ स्थिति बढ़ते-बढ़ते इस सीमा तक पहुँच जाती है कि अन्त में एक दिन महा-विनाश का क्षण आ जाता है, जिसका उचित वर्णन केवल मार्क्स के अपने शब्दों में ही किया जा सकता है।

"पूंजीपतियों की, जो इस रूपान्तरण की प्रक्रिया से लाभ उठाते हैं और उस पर एकाधिकार कर लेते हैं, निरन्तर कम होती हुई संख्या के साथ-साथ कष्ट, अत्याचार, दासता, अधःपतन और शोषण का पुंज भी बढ़ता जाता है। परन्तु इसके साथ ही साथ श्रमिक वर्ग में विद्रोह की भावना भी बढ़ती जाती है। श्रमिक वर्ग की संख्या दिनोंदिन बढ़ती जाती है, और उसका अनुशासन, एकीकरण और संगठन स्वयं पूंजीवादी उत्पादन की प्रक्रिया की यन्त्रविधि द्वारा

---

१. वही; खण्ड १, पृष्ठ ८३६।

२. वही; खण्ड १, पृष्ठ ६८६-६८७।

ही होता रहता है। पूंजी का एकाधिकार उत्पादन की उस विधि के लिये बेड़ियों का काम करने लगता है, जो स्वयं पूंजीवाद से ही उत्पन्न हुई है, और पूंजीवाद के साथ-साथ पूंजीवाद की छत्रछाया में ही फली-फूली है। उत्पादन के साधनों का केन्द्रीकरण और श्रम का सामाजिकीकरण अन्त में एक ऐसे बिन्दु पर पहुँच जाते हैं, जहाँ वे अपने पूंजीवादी बन्धन के साथ किसी तरह मेल नहीं खा सकते। तब यह बन्धन तोड़कर छिन्न-विछिन्न कर दिया जाता है। पूंजीवादी निजी सम्पत्ति के मृत्यु शंख बज उठते हैं। लुटेरे लूट लिये जाते हैं।"[1]

यहाँ यह विचार करना अनावश्यक है कि इन सब मामलों में मार्क्स कहाँ तक एक सम्मानित भविष्यवक्ता सिद्ध हुआ है; या किस प्रकार का रंग देकर उसे इस प्रकार का भविष्यवक्ता सिद्ध कर पाना सम्भव है। औद्योगिक संचिति सेना के सिद्धान्त का (जिस अर्थ में मार्क्स ने इस शब्द का प्रयोग किया है, उस अर्थ में) उसके बाद के इतिहास ने कोई समर्थन नहीं किया। श्रमिक वर्ग की दशा के निरन्तर गिरते जाने के सम्बन्ध में भी वह सत्य से दूर ही है। मार्क्स के प्रति न्याय करने की दृष्टि से यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि मार्क्स के सब विचार १८४८ से पहले बन चुके थे, और उसका इसके पश्चात् का पठन मुख्य रूप से औद्योगिक क्रान्ति के उन अपेक्षाकृत उद्वेगजनक पहलुओं के अध्ययन की ओर रहा, जो अबाधित यथेच्छाचारिता की नीति के शान्ति और आनन्दपूर्ण दिनों में पाये जाते थे। ट्रेड यूनियनों के कार्य-कलाप और राज्य की सम्भावित परोपकारी गतिविधि मार्क्स की दृष्टि के क्षेत्र से परे की वस्तुएं थीं। पूंजीवादी केन्द्रीकरण के नियम के लिये अवश्य कुछ अच्छे प्रमाण जुटाये जा सकते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि केन्द्रीकरण अवश्य हुआ है। किन्तु यह केन्द्रीकरण नियन्त्रण का है, स्वामित्व का नहीं; जबकि सम्पूर्ण मार्क्सवादी सिद्धान्त के सारांश के अनुसार केन्द्रीकरण स्वामित्व का होना चाहिये। इसी तरह दो चरम सीमाओं के बीच में मार्क्सवादी भविष्यवाणी कहीं भी पूर्ण हुई दिखायी नहीं देती। जनसंख्या कठोरतापूर्वक दो विरोधी शिविरों में विभक्त नहीं हो गयी है। अब भी एक ऐसा मध्यवर्ती वर्ग है, जो किसी न किसी तरह

१. वही; खंड १, पृष्ठ ८३७।

अपने कर (टैक्स) चुकाता है, और फिर भी जीवित है।

परन्तु मार्क्स की भविष्यवाणी के औचित्य के गौण प्रश्न के अतिरिक्त मार्क्स ने समाज की जिस दशा का चित्रण किया है, वह इतना विचित्र है कि आश्चर्य हुए बिना नहीं रहता। एक ऐसा समाज, जिसका बड़ा भाग बेकार लोगों की (और वह भी बेकारी-बीमा-कानून से पहले के दिनों में) सेना से बना हुआ हो, और जिसमें थोड़े से ऐसे पूंजीपति खमीर का काम कर रहे हों, जो मशीनों के अधिकाधिक प्रयोग पर अधिक भरोसा रखते हों (जो मशीनें मार्क्सवादी सिद्धान्त के अनुसार बिलकुल ही मुनाफा नहीं देतीं) अपने आप में अत्यन्त दमकते हुए परस्पर-विरोधों का ढेर है। आखिर इन दशाओं में वे शैतानी काली मिलें किसके लिये माल तैयार करती हुई समझी जा सकती हैं? यह स्पष्ट है कि वे औद्योगिक संचिति सेना के लिये माल तयार करती हुई नहीं समझी जा सकतीं, क्योंकि उस औद्योगिक संचिति सेना का तो घर कारखाना ही है; और उसके पास क्रय-शक्ति बिलकुल नहीं है। पहले की ही भांति यह भी मार्क्स मांग के पक्ष को भूल जाता है। उत्पादन तब तक जारी नहीं रह सकता, जब तक कि वस्तुओं के लिये बाजार न हो; और मार्क्स को पढ़ते हुए और यह विचार करते हुए कि सारी जनता धीरे-धीरे औद्योगिक संचिति सेना के रूप में बदली जा रही है और अधिकाधिक कष्टों में डूबती जा रही है, पाठक को यह आश्चर्य होना अनिवार्य है कि आखिर फिर वस्तुओं के लिये बाजार कहां प्राप्त हो सकेगा?

मार्क्स उन्नीसवीं शताब्दी की एक विचित्र पहेली ही बना हुआ है और सम्भवतः वह सदा इसी प्रकार पहेली ही बना रहेगा। वह "विज्ञानसम्मत" बनने का दावा करके चला था; कुछ ऐसी वस्तु लिखने का दावा करके, जिसे आलोचक लोग तर्कशास्त्र की एक सुसंगत रचना कह सकें; और असंदिग्ध रूप से उसकी सारी की सारी प्रणाली असाधारण कुशलता के साथ परस्पर गठित है। बहुत सी बातों को उसने प्रशंसनीय ढंग से सजाकर भी प्रस्तुत किया है; फिर भी विचार की किसी भी प्रणाली में ऐसा पूर्ण

१. श्री हर्नशो की पुस्तक 'सर्वे आफ सोशलिज्म' में भी मार्क्स के सम्बन्ध में इन्हीं अर्थों को व्यक्त करने वाली समाजवादी उक्तियों की बड़ी मनोरंजक माला विद्यमान है।

दिवालियापन नहीं दिखायी पड़ेगा, जैसा कि मार्क्सवादी विचारधारा में है। इतिहास के सम्बन्ध में उसके दर्शन को ऐंजिल्स ने लगभग पूर्णतया ही अस्वीकृत कर दिया। उसके अर्थशास्त्रीय सिद्धान्त के हेत्वाभासों का इतनी कठोरतापूर्वक और इतनी अधिक बार भंडाफोड़ किया जा चुका है कि अब वे परीक्षाओं में पूछे जाने योग्य सन्तोषजनक प्रश्न तक नहीं समझे जाते। उसकी भविष्यवाणियों ने हठपूर्वक पूर्ण होने से इनकार कर दिया। इतना ही नहीं, इस सब को उन लोगों ने भी स्वीकार किया है, जो उसका सबसे अधिक सम्मान करते हैं। उदाहरण के लिये श्री बीयर को लीजिये। उसका यह कथन है कि मार्क्स के, मूल्य और अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्तों का राजनीतिक और सामाजिक नारों के रूप में महत्त्व अधिक है, और आर्थिक सत्य के रूप में कम[1]; या फिर श्री लास्की को लीजिये, जो मूल्य के सिद्धान्त के सम्बन्ध में इतना कहकर उसे तिरस्कृत कर देता है कि यह सिद्धान्त तथ्यों और लयबद्धता के प्रतिकूल होने के कारण, और असंगत होने के कारण आलोचना की कसौटी पर खरा नहीं उतरा है।[2] फिर भी विचारों के इतने दिवालियेपन के बावजूद मार्क्स जिन्दा है; और अब भी वह एक बड़ी प्रेरक शक्ति है। वस्तुतः मार्क्स उस प्रकार के लेखकों में से है, जिनके विचारों का खंडन कर देना एक बिलकुल व्यर्थ का प्रयास होता है। यह एक गाथा बन गया है। वह कुछ तीव्र शब्दों में कहा जाय, तो वह "मिथ्या वादों" (myths) का जन्मदाता है और इन मिथ्या वादों के सम्मुख तब तक सत्य का विचार एक बिलकुल गौण वस्तु रहती है, जब तक कि मिथ्यावाद उस विषय में होता है, जिस पर कि व्यक्ति विश्वास करना चाहता है, और जब तक विश्वास में क्रिया को जन्म देने की शक्ति रहती है। इस दृष्टिकोण को काफी कुछ प्रशंसनीय रूप में, भले ही थोड़ी सी निर्लज्जता के साथ, श्री बीयर ने प्रस्तुत किया है, जिसने मार्क्सवादी अर्थशास्त्र को "राजनीतिक नारा" कहकर तिरस्कृत कर दिया है; और उसके साथ ही यह भी कहा है कि "इस प्रकार की शक्तिशाली दार्शनिक विचारधाराओं के लिये यह आवश्यक नहीं कि वे अपने आप में सत्य हों; अपितु केवल इतना आवश्यक है कि वे संघर्ष करती हुई जनता की भावनाओं के साथ मेल खाती हों"; और

२. बीयर; दि लाइफ एण्ड टीचिंग आफ कार्ल मार्क्स; पृष्ठ १२६।

(एक पृष्ठ आगे) मार्क्स के सिद्धान्त "चिरकाल तक जनता के लिये सत्य के समान ही शक्तिपूर्ण रहेंगे और उसे प्रेरणा देते रहेंगे।"[1] यह बहुत कुछ मार्क्स को घटाकर एक पवित्र असत्य के रूप में प्रस्तुत कर देना है, जिसकी असत्यता कुछ थोड़े से समझदार लोगों को तो मालूम है, फिर भी जो असत्य तब तक अपने प्रयोजन को पूर्ण करता रहता है, जब तक कि वह दूसरों को भ्रम में डालने में समर्थ है।

परन्तु मार्क्स के बचाव के लिये एक और बिलकुल नई दिशा भी ढूंढ़ी जा सकती है। उनके बचाव में यह युक्ति दी जा सकती है कि मार्क्स को बिलकुल ही गलत समझा गया है। वह वस्तुत: इस संसार के बाजारों, मालिकों और मजदूरों का विवेचन नहीं कर रहा था, जो हमें यहाँ प्रत्यक्ष रूप में दिखाई पड़ते हैं; अपितु वह अपने विचार और अपनी कल्पना की एक अव्यक्त दुनिया का विवेचन कर रहा था। इस सम्बन्ध में उदाहरण के लिये क्रोचे को उद्धृत किया जा सकता है :

"मार्क्स ने जिस पूंजीवादी समाज का विवेचन किया है, वह यहाँ का या वहाँ का समाज नहीं है, जो ऐतिहासिक दृष्टि से फ्रांस में या इंग्लैंड में कभी रहा हो, और न वह आधुनिक समाज के अधिकतम सभ्य राष्ट्रों, पश्चिमी यूरोप और अमेरिका का ही समाज है। यह तो एक आदर्श और काल्पनिक समाज है, जिसका निर्माण कुछ ऐसी कल्पनाओं के आधार पर हुआ है, जो इतिहास के क्रम के वास्तविक तथ्यों में कभी भी उपस्थित न हुई हों।[2]

यह ध्यान देना मनोरंजक होगा कि क्रोचे अपनी इस टिप्पणी की भूमिका के तौर पर यह लिखता है कि ऐसा प्रतीत नहीं होता कि मार्क्स सदा अपने अनुसंधान के विशिष्ट स्वरूप को पूरी तरह हृदयंगम कर पाया हो। पहले और तीसरे खंड के मध्य विरोध के कारण कितनी ही तोड़-मरोड़ क्यों न की गयी हो, किन्तु यह बात बिलकुल स्पष्ट है कि यदि मार्क्स को यह बतलाया जाता कि वह समाज की एक ऐसी दशा के सम्बन्ध में विचार-विमर्श करता रहा है, जिसका इतिहास के क्रम में कभी अस्तित्व नहीं रहा, तो वह सचमुच ही बहुत अधिक चकित हो उठता।[3] और यह भी स्पष्ट है कि जिन लोगों पर मार्क्स का

१. बीयर; पूर्व उद्धृत पुस्तक १३०-१३१।
२. क्रोचे; हिस्टोरिकल मैटीरियलिज्म; पृष्ठ ५०।
३. इसी प्रकार मास्टर आफ बैलियोल द्वारा लिखी हुई एक छोटी सी पुस्तक को पढ़कर

प्रभाव सबसे अधिक पड़ा है; वे भी मार्क्स के अनुसंधानों के विशिष्ट स्वरूप को हृदयंगम करने में मार्क्स की ही भांति असफल रहे हैं।

मार्क्स की पहेली के सम्बन्ध में चाहे कुछ भी क्यों न समझा जाय, किन्तु यह बात असंदिग्ध रूप से सत्य है कि समाजवाद के समूचे परवर्ती विकास में मार्क्स एक प्रमुख शक्ति बनकर रहा है। उसका यह प्रभाव लाभदायक रहा या नहीं, इस सम्बन्ध में शायद सन्देह भी किया जा सकता है; और कम से कम इस तथ्य को विलंब से अनुभव करने के कुछ संकेत अवश्य मिलते हैं कि मार्क्स ने समाजवादी गाड़ी को गलत लीक पर चलाकर सारे समाजवादी आन्दोलन को कुछ न कुछ पतन की ओर ही बढ़ाया।

"दैलिओं नू दु मार्क्सीज्म"[1] (हमें मार्क्सवाद से मुक्ति दिलाओ) एक महत्त्वपूर्ण हाल में प्रकाशित हुई फ्रांसीसी पुस्तक है, और इस रचना में श्री द मान ने अत्यन्त विचारपूर्वक और युक्तिपूर्वक समाजवादी दृष्टि से मार्क्सवाद मान्यताओं का खंडन किया है। जो कुछ मार्क्स ने समाजवाद के लिये किया, उसे मार्क्स की भावना और मार्क्स द्वारा निन्दित मार्क्स से पूर्व के समाजवादियों की भावना की तुलना करके देखा जा सकता है; और मार्क्स के विरुद्ध समाजवादी दोषारोपण सम्भवतः इन तीन बातों पर केन्द्रित किया जा सकता है। पहली बात तो यह है, कि उसने समाजवाद के पहले "विज्ञानसम्मत" शब्द लगाकर जान-बूझकर और दृढ़तापूर्वक समाजवाद के नैतिक आधार को और न्याय की दुहाई के आधार को परे कर दिया। मार्क्स को इन चीजों की बिलकुल परवाह नहीं थी। समाजवाद के आगमन की वैज्ञानिक ढंग से व्याख्या करना उसका उद्देश्य था। परन्तु जब नैतिक दुहाई को क्षुद्र भावुकता कहकर एक ओर पटक दिया गया, तो वह वैज्ञानिक प्रमाण भी लड़खड़ाकर गिर पड़ा, जिसने उस नैतिक अनुरोध का स्थान लेना था। समाजवाद को उसका नैतिक आधार केवल तभी फिर प्राप्त हो सकता है, जबकि समाजवाद को मार्क्सवाद से छुटकारा मिल जाय। दूसरी मुख्य आलोचना बहुत समय पहले मेजिनी ने की थी; और उसका

भी शायद मार्क्स की भृकुटियाँ तन जातीं। अन्य किसी भी मनुष्य की अपेक्षा मार्क्स ने इस बात पर अधिक ऐतराज किया होता, कि उसकी रचनाओं की व्याख्या करके उन्हें स्पष्ट कर दिया जाय।

१. इस पुस्तक का अनुवाद "दि साइकोलौजी आफ सोशलिज्म" नाम से हुआ है।

यह वाक्य बहुत बार उद्धृत किया जाता रहा है। उसने मार्क्स के बारे में कहा था कि "उसके हृदय में प्रेम की अपेक्षा द्वेष कहीं अधिक भरा है।" प्रारम्भिक समाजवादियों को विशालहृदयतायुक्त प्रेम से प्रेरणा प्राप्त हुई थी; किन्तु मार्क्स का सिद्धान्त द्वेष, ईर्ष्या और दूसरों की विपत्ति पर प्रसन्न होने का सिद्धान्त है। उसने सब वस्तुओं का केन्द्र वर्ग-संघर्ष को बताया है, और मनुष्यों की हीनतर भावनाओं को जाग्रत करने की चेष्टा की है। इसीलिये उसकी दृष्टि सदा नीचे की ओर रहती है, ऊपर की ओर नहीं। आलोचना का तीसरा बिन्दु भी इससे मिलता-जुलता है कि मार्क्स के हाथों में आकर समाजवाद सुनिश्चित रूप से एकवर्गीय बन गया। प्रारम्भिक समाजवादियों ने जो कल्पनाएँ की थीं, उसमें एक विशाल उदारता पायी जाती है। उन्होंने ऐसे स्वर्ग की कल्पना की थी, जिसमें सब लोग प्रवेश पा सकते हैं। परन्तु मार्क्सवादियों का स्वर्ग कुछ थोड़े से लोगों के लिये ही सीमित है; और कुछ लोगों को अलग करके सदा के लिये स्वर्ग-प्रवेश निषिद्ध कर दिया गया है। समाजवादी आन्दोलन को मार्क्स से उत्तराधिकार में यही कुछ प्राप्त हुआ है। उसने समाजवाद से उसका आदर्शवाद छीन लिया; और जहाँ तक भी उसके प्रभाव के फलस्वरूप सम्भव था उसने समाजवाद को निकृष्ट और गन्दा बनाने की कोशिश की। उसने समाजवाद में विद्वेष और असहिष्णुता का खमीर डाल दिया। उसने समाजवाद को उसकी विश्वजनीनता से वंचित कर दिया। भक्त समाजवादी के लिये यह प्रार्थना करने का पर्याप्त कारण है कि किसी प्रकार समाजवाद मार्क्सवाद से मुक्ति पा सके। ये हीनतर तत्त्व किस सीमा तक मार्क्स के अपने विकृत और सड़े हुए व्यक्तिगत चरित्र के प्रतिबिम्ब थे, यह बात एक और मनोरंजक, किन्तु सम्भवतः यहाँ अप्रासंगिक, अध्ययन का विषय हो सकती है। जो लोग इस विषय में और कुछ जानकारी प्राप्त करना चाहते हैं, उन्हें एक उत्साही मार्क्सवादी श्री डब्ल्यू रूहल द्वारा हाल ही में लिखे गये मार्क्स के जीवन-चरित्र से पर्याप्त सहायता मिल सकती है।

अध्याय १२

आस्ट्रियन विचारक वर्ग : सीमान्त का सिद्धान्त

इस अध्याय में उस आस्ट्रियन विचारक वर्ग के कुछ प्रमुख सदस्यों का वर्णन करना अभीष्ट है, जिसे सामान्यतया "सीमान्त" का एक ऐसे अर्थशास्त्रीय उपकरण के रूप में विकास करने का श्रेय दिया जाता है, जिसकी शाखाएँ बहुत दूर-दूर तक फैली हुई हैं। परन्तु आस्ट्रियन विचारकों के विकास को तब तक हृदयंगम कर पाना कठिन है, जब तक उनसे पूर्व के कुछ विचारकों का उल्लेख न कर दिया जाय। इससे पूर्व के अध्यायों में हमने स्पष्टीकरण के लिए यथासम्भव केवल प्रमुख विचारकों को ही चुना है; और उनके अतिरिक्त शेष सब को छोड़ दिया है। परन्तु इस अध्याय में हमें अपनी उस प्रणाली को कुछ सीमा तक छोड़ देना होगा। आस्ट्रियन विचारकों ने विचार की एक सुनिश्चित धारा को उसकी चरम सीमा तक पहुँचाया था; और यद्यपि आस्ट्रियन शब्द एक प्रकार से रूढ़ हो गया है, फिर भी यह बात ध्यान देने योग्य है कि प्रमुख आस्ट्रियन लेखकों के प्रभाव से बिलकुल स्वतन्त्र रहते हुए आस्ट्रियन दृष्टिकोण को प्रस्तुत करने वाले मुख्य-मुख्य तत्वों का विवेचन लगभग उनके साथ ही साथ इंग्लैण्ड में जैवन्स ने और लोसेन में कनिष्ठ वालरास ने किया। इसलिए इस अध्याय में हमें पहले अध्यायों की अपेक्षा कुछ अधिक लम्बा जाल फैलाना पड़ेगा, भले ही उसकी जालियाँ इतनी बड़ी हों कि उनमें से बड़ी मछलियाँ भी खिसककर निकल जा सकें।

यदि मोटे शब्दों में कहा जाय तो, और हम इसमें आगे चलकर परिष्कार करने की गुंजाइश रख लेते हैं; आस्ट्रियन विचारक वर्ग के सारभूत तत्वों को तीन आधारभूत बातों में संक्षिप्त किया जा सकता है। पहली बात तो यह है कि उन्होंने मूल्य के उत्पादन की लागत वाले सब सिद्धान्तों के विरोध में यही स्थापना की कि मूल्य का जन्म अनिवार्य रूप से उपयोगिता के कारण होता है, और यह मूल्य उस व्यक्ति के मस्तिष्क को प्रतिबिम्बित करता है, जो किसी

खास वस्तु को उपयोगी समझता है। दूसरी बात यह है, कि इस मूल्य का निर्धारण "सीमान्त" पर होता है; अर्थात् क्योंकि किसी भी वस्तु के बाद में प्राप्त होने वाले अंशों की उपयोगिता क्रमशः कम होती जाती है, इसलिये वस्तु का वह निर्णायक उपयोग, जिसके द्वारा मूल्य का निर्धारण होता है, वह न्यूनतम महत्त्वपूर्ण उपयोग होता है, जिसके लिये, वस्तु की उपलब्ध मात्रा को ध्यान में रखते हुए, उसे प्रयुक्त किया जा सकता है। और तीसरी बात यह है कि मूल्य उपभोग में आये हुए पदार्थों से उनका उत्पादन करने वाले अभिकरणों (एजेंट्स) में प्रतिफल होता है, इसका अर्थ यह है कि मूल्य में लागत की गुंजाइश तो अवश्य रहती है, किन्तु लागत मूल्य का कारण नहीं होती।

पहले के पूर्वाभास

आस्ट्रियन विचारक वर्ग के सामने आने से पहले भी ये आधारभूत बातें अनेक बार अभिव्यक्त की जा चुकी थीं, यह बात दूसरी है कि बहुत बार ये बातें यों ही प्रासंगिक रूप से, बिना इनके महत्त्व को पूरी तरह समझे-बूझे, ही कह दी गई थीं। १०वें अध्याय में इस सम्बन्ध में 'से' की रचनाओं में से उद्धृत सन्दर्भों का उल्लेख किया जा चुका है। जब आर्कबिशप ह्वेटले ने अपनी यह सम्मति प्रकट की थी कि मोती इसलिये बहुमूल्य नहीं होते, क्योंकि लोगों को उनके लिये गोता लगाना पड़ता है, बल्कि सच यह है कि लोग उनके लिये गोता ही इसलिये लगाते हैं, क्योंकि वे बहुमूल्य होते हैं, तो वह आस्ट्रियन सिद्धान्त के ही एक पहलू को अपरिष्कृत रूप में प्रस्तुत कर रहा था। उन लेखकों की काफी बड़ी संख्या में से, जिन्हें किसी न किसी रूप में आस्ट्रियन विचारधारा का पूर्वाभास देने वाला माना जा सकता है, और वस्तुतः माना भी जाता है, सबसे अधिक रोचक संभवतः कौंडिलाक (१७१४-१७८०) है, जिसने अपनी १७७६ में प्रकाशित पुस्तक "ल कामर्स ए ला गुवर्नमांत" (Le Commerce et le Gouvernement) में यह विचार प्रस्तुत किया था कि वस्तुओं का मूल्य "उनकी उपयोगिता पर आधारित होता है; या उसी बात को दूसरे शब्दों में कहें, तो उस आवश्यकता पर आधारित रहता है, जो हम उनके लिये अनुभव करते हैं; या उसी बात को कुछ और अन्य शब्दों में कहें, तो उस उपयोग पर आधारित रहता है, जो हम उन वस्तुओं का करते हैं।" न केवल इतना, बल्कि

उसका यह भी मन्तव्य था कि वस्तुओं का मूल्य उनके स्वल्प होने की दशा में बढ़ जाता है, और उनके प्रभूत होने की दशा में कम हो जाता है; और यह स्थिति यहाँ तक है, कि यदि यह प्रभूतता पर्याप्त हो, तो मूल्य गिरकर शून्य तक भी रह जा सकता है। इस प्रकार उसके कथनानुसार, जैसा कि बाद में जाकर आगस्टस वालरास ने भी कहा, मूल्य 'रेरेते' (Rarete; स्वल्पता) पर निर्भर रहता है, बशर्ते कि इसमें 'रेरेते' का ठीक-ठीक आकलन किया जा सके। "यदि वस्तु की उपयोगिता ज्यों की त्यों रहे, तो उसके मूल्य की कमी या अधिकता एकमात्र 'रेरेते' की इस मात्रा को ठीक-ठीक तौर पर जाना जा सके।" परन्तु क्योंकि इस 'रेरेते' की मात्रा को ठीक-ठीक तौर पर जाना नहीं जा सकता, इसलिये मानवीय आकलन का एक और तत्त्व बीच में आ जाता है, जिसके कारण, उदाहरण के रूप में महँगाई के दिनों में, वस्तुओं की स्वल्पता बहुत बढ़ी-चढ़ी दीखने लगती है। इस प्रकार 'सच्चा मूल्य' अज्ञात ही रहता है; और यदि यह मान लिया जाय कि वस्तु की उपयोगिता एक जैसी ही बनी रहती है, तो वस्तु का मूल्य उसकी 'रेरेते' (स्वल्पता) या प्रभूतता पर उतना आधारित नहीं रहता, जितना कि हमारी उस धारणा पर, जो हम उस वस्तु की स्वल्पता या प्रभूतता के विषय में बना लेते हैं। इस प्रकार विचार करते हुए कौंडिलाक मूल्य के एक पूर्णतया कर्ताश्रित (सब्जैक्टिव) सिद्धान्त का पूर्वाभास-सा प्रस्तुत करता है। यहाँ केवल उसके इस मूलतः आस्ट्रियन गुर का उल्लेख कर देने भर की आवश्यकता और रह जाती है "Une chose n'a pas une valeur parce qu'elle coute, comme on le suppose; mais elle coute, parce quelle a une valeur." "अर्थात् किसी वस्तु का मूल्य इसलिये नहीं होता, जैसा कि आम तौर पर समझा जाता है, कि उस पर पैसे की लागत आई होती है (उस पर पैसा खर्च किया गया होता है) बल्कि उस पर पैसा इसीलिये खर्च किया गया होता है, क्योंकि उसका मूल्य होता है।"

जब हम इंगलैंड में सीमान्त सिद्धान्त के अग्रदूतों की ओर दृष्टि डालते हैं, तो उनमें डबल्यू. एफ. लायड (१७६४-१८५२) का स्थान विशेष रूप से आकर्षक दिखायी पड़ता है। श्री लायड आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में (१८३२-१८३७) प्रोफेसर था और उसके सिर यह दायित्व था कि वह

प्रतिवर्ष एक भाषण प्रकाशित कराया करे। १८३३ में उसने "मूल्य धारणा"[1] के सम्बन्ध में जो भाषण प्रकाशित कराया, उसमें आस्ट्रि विचारकों की सामान्य विचारधारा का उल्लेखनीय पूर्वाभास दिखायी पड़ता और वस्तुतः इस भाषण में रौबिन्सन क्रूसो की घरेलू चिन्ताओं के सम्बन्ध उदाहरण प्रभूत मात्रा में दिये गये हैं। एक ऐसे व्यक्ति के उदाहरण को ले जो कि बहुत भूखा है और जिसके पास एक, दो या तीन छटाँक भोजन के लिये है, लायड निष्कर्ष रूप में यह सामान्य सिद्धान्त निकालकर प्र करता है कि "जब उस व्यक्ति के पास भोजन की उपलब्धि थोड़ी होगी, वह भोजन के किसी भी एक निश्चित अंश को बहुत अधिक महत्त्व समझेगा। दूसरे शब्दों में वह इस वस्तु का मूल्य अधिक आँक रहा हो जब उसकी उपलब्धि बढ़ जायगी, तो उस निश्चित मात्रा का महत्त्व उसके लि कम हो जायगा, या दूसरे शब्दों में वह उसका मूल्य कम आँकने लगेगा।"

इससे भी ज्यादा रोचक है उसका "उपयोगिता और मूल्य के बं अन्तर को पहचानने का बढ़िया नियम।" "किसी वस्तु की उपयोगिता ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त करने के लिये यह कल्पना कीजिये कि उस दशा में होगा, उस दशा में कितनी असुविधा होगी, जब कि न केवल वह एक वस्तु हाथ से जाती रहे, बल्कि उस वस्तु की समूची जाति की जाति ही समा हो जाय।" उदाहरण के लिये पानी के मामले में हमें यह कल्पना कर होगी कि उस दशा में हमारी हालत क्या होगी, जब कि हमारे हाथ से केवल पानी की एक बाल्टी जाती रहे, अपितु सारा का सारा पानी का तत्त्व ही नष्ट हो जाय। किन्तु मूल्य का विचार इससे भिन्न प्रकार का विचार है मूल्य किसी एक ऐसी वस्तु का होता है, जो किसी के अधिकार में हो। इस लिये मूल्य की कमी भी असीमित नहीं हो सकता। बिखरे गये एक बाल्ट पानी के मामले में हमारे लिये मूल्य का निर्धारण तत्काल या तो इस बा द्वारा निर्धारित होता है कि वह पानी जिस उद्देश्य के लिये लाया गया था उसके पूरा होने के कारण हमें कितनी असुविधा होती है, या इस बात द्वार कि और पानी लाने के लिये फिर कुएँ तक जाने में हमें कितनी तकलीफ

1. इकोनोमिक जर्नल, मई १९२७ के "इकोनौमिक हिस्ट्री" सप्लीमेंट नं० २ पुनर्मुद्रित।

होगी। यहाँ पर कुल उपयोगिता तथा सीमान्त उपयोगिता (जो मूल्य की निर्धारक होती है) का विचार बड़े स्पष्ट रूप में पूर्वाभासित सा दिखायी पड़ता है; क्योंकि यहाँ यह विचार किया गया है कि कुल भंडार की अन्तिम इकाई के विनाश से कितनी असुविधा हुई है।

आगस्टे वालरास

लगभग उसी समय फ्रांस में भी एक महत्त्वपूर्ण लेखक दिखायी पड़ता है, जिसने सीमान्तवादियों के सारभूत विचारों का पूर्वाभास अपनी रचनाओं में दिया। यह लेखक है आगस्टे वालरास[1] (१८०१-१८८६) जिसने १८३१ में अपनी एक पुस्तक प्रकाशित करायी, जिसका नाम था "द ला नात्यूर द ला रिशेस ए द लोरीजीन द ला वेल्यू" (*De la Nature de la Richesse et de l'Origine de la Valeur*) यह एक ऐसी पुस्तक है, जो युक्ति-परम्परा के महत्त्वपूर्ण हिस्सों की दृष्टि से अत्यन्त सुस्पष्ट है; यह स्पष्टता फ्रांसीसियों की विशेषता है; और इस पुस्तक में शुरू से आखीर तक एक ही बात को बार-बार दुहराने की प्रवृत्ति दिखायी पड़ती है, जो लेखक की अपनी विशेषता है। पहली बात तो यह है कि आर्थिक क्षेत्र में उसका प्रवेश दूसरे विषयों के अध्ययन का एक गौण फल मात्र था। उसकी दिलचस्पी मुख्य रूप से प्राकृतिक नियमों और सम्पत्ति के सिद्धान्त के विषय में थी। सम्पत्ति के अर्थ के सम्बन्ध में ज्ञान पाने के लिये उसने अर्थशास्त्र के लेखकों की रचनाओं को पढ़ा; और उसे ऐसा अनुभव हुआ कि वह उनके वाग्जाल में फँस गया है; और एक तरह से वह खाली हाथ ही वापस लौटा। उसने यह युक्ति प्रस्तुत की है कि सम्पत्ति और जायदाद, इन दोनों का ही एक साँझा स्रोत है; और वह यह कि कुछ निश्चित वस्तुएँ बहुत सीमित मात्रा में प्राप्त होती हैं; "la rarete de certains objets utiles." (अर्थात् कुछ उपयोगी पदार्थों की स्वल्पता)। यह सीमित मात्रा में होना अथवा "रेरेते" ही वह वस्तु है, जो वस्तुओं को मूल्यवान बनाती है। यह सीमितता या "रेरेते" उन वस्तुओं को

१. १८०१ में मोपेलिये में जन्म हुआ। १८३१ में ऐवरैक्स में अलंकारशास्त्र का प्रोफेसर रहा। १८३५ में पैरिस में ऐथीनी में राजनीतिक अर्थशास्त्र का प्रोफेसर रहा। बाद में केन में दर्शनशास्त्र का प्रोफेसर बना। उसके पुत्र लियोन वालरास ने; जो सम्भवतः अपने पिता की अपेक्षा अधिक महान् व्यक्ति हुआ, उसकी परम्पराओं को जारी रखा।

इस योग्य बनाती है कि उन्हें अपने अधिकार में किया जा सके। इस प्र मूल्य का विचार जायदाद के विचार से पहले उपस्थित होता है। इस प्र से मूल्य एक पेचीदा और उलझी हुई धारणा है, जिसमें एक वस्तु की दूर वस्तुओं के साथ तुलना और अन्ततोगत्वा उनके परस्पर विनिमय का विच निहित रहता है। विनिमय में जायदाद निहित रहती है, और जायदाद सीमितता निहित रहती है; क्योंकि यदि सब अभीष्ट वस्तुएँ असीमित हो तो संसार में कोई जायदाद या सम्पत्ति न होती, क्योंकि उस समय क विनिमय ही न होता।[1]

इसके बाद वालरास बड़े तीखेपन के साथ मूल्य के स्रोत और उद्गम सम्बन्ध में प्रचलित दृष्टिकोणों का विश्लेषण प्रारम्भ करता है। मोटे तौ पर उसका कथन है कि ये प्रचलित दृष्टिकोण दो विभिन्न विचारक वर्गों बाँटे जा सकते हैं। एक तो वे लोग, जो मूल्य को उपयोगिता पर आधारि मानते हैं, और जिनका प्रतिनिधित्व फ्रांसीसी लेखक करते हैं; और दूसरे लो वे जो अँग्रेज अर्थशास्त्रियों की भाँति मूल्य के श्रम सिद्धान्त या उत्पादन क लागत के सिद्धान्त की ओर झुके हुए हैं।[2] यदि इनमें से पहली व्याख्या क स्वीकार कर लिया जाय और उपयोगिता को मूल्य की व्याख्या मान लिय जाय, तो जहाँ कहीं भी उपयोगिता हो, वहाँ मूल्य भी अवश्य होना चाहिये परन्तु सूर्य की धूप और वर्षा इसके विरुद्ध पक्के प्रमाण हैं। वे इतनी प्रचुर मात्रा में विद्यमान हैं कि हर कोई मनुष्य धूप और वर्षा का उपयोग पर्याप्त मात्रा में कर सकता है; और उसके कारण किसी को इनसे वंचित नहीं होना पड़ता। अन्य वस्तुओं के सम्बन्ध में उपयोगिता की स्थिति अलग-अलग है। कुछ वस्तुएँ ऐसी हैं, जिनमें उपयोगिता होती है; और कुछ ऐसी हैं जिनमें उपयोगिता नहीं होती।[3] संक्षेप में सम्पूर्ण सम्पत्ति की, उन सब वस्तुओं की, जिनका कि मूल्य होता है, एक विशेषता यह है कि वे सीमित मात्रा में होनी चाहियें; और उनकी यह सीमितता ही उन वस्तुओं की कुल मात्रा के साथ उन आवश्यकताओं की कुल मात्रा का स्वाभाविक विपरीत अनुपात स्थापित करती है, जिनकी पूर्ति के लिये इन वस्तुओं को अपने अधिकार में करना

---

१. द ला नात्यूर द ला रिशैस; पृष्ठ १८-१९।

२. वही; पृष्ठ २१। ३. वही; पृष्ठ २७-२८।

आवश्यक होता है।[1] यही वस्तु है, जो "रेरेते" कहलाती है; और यह "रेरेते" शब्द अँग्रेजी के प्रचलित शब्द "रेयरिटी" (दुर्लभता) से भिन्न है; और इसका अर्थ केवल इतना है कि उस वस्तु की उपलब्ध मात्रा सब दावेदारों की माँग को पूरा करने के लिये अपर्याप्त है। मूल्य का सारा श्रेय इस "रेरेते" को ही दिया जा सकता है। जिस भी किसी वस्तु का मूल्य होता है, उसके मूल्य का एकमात्र कारण यह सीमित मात्रा में उपलब्ध होने का सिद्धान्त ही होता है। उपयोगिता मूल्य का कारण नहीं है, भले ही यह मूल्य के लिये एक आवश्यक दशा कही जा सकती है।[2] इस "रेरेते" सिद्धान्त को दृष्टि में रखते हुए, जो सम्पूर्ण मूल्य की तह में विद्यमान है। वालरास एक संक्षिप्त वाक्यांश में यह सुझाव प्रस्तुत करता है कि राजनीतिक अर्थशास्त्र को सम्पत्ति का विज्ञान कहने की अपेक्षा दरिद्रता का विज्ञान कहना शायद अधिक उचित हो।[3]

दूसरी व्याख्या, अर्थात् उत्पादन की लागत के सिद्धान्तों के सम्बन्ध में विचार करते हुए वालरास का कथन है कि यहाँ पर अन्तर्निहित मान्यता यह है कि सब मूल्य उत्पादित वस्तु (प्रोडक्ट) होते हैं; और किसी भी वस्तु का मूल्य उस समय और श्रम का प्रतिनिधि होता है, जो उस पदार्थ को प्राप्त करने में व्यय किया गया है; और यह मान लिया गया है जैसा कि कभी-कभी होता भी है कि सब प्रकार की अन्य उत्पादनशील सेवाओं को श्रम के रूप में परिवर्तित करके आँका जा सकता है। परन्तु इस सब से विश्लेषण में हम काफी दूर तक आगे नहीं बढ़ पाते। "इस दृष्टिकोण के अनुसार उत्पादित वस्तुओं का मूल्य उत्पादनशील सेवाओं के मूल्य का प्रतिनिधि होता है; और क्योंकि उत्पादनशील सेवाओं का मूल्य होता है, केवल इसी कारण उनके द्वारा उत्पन्न की गई वस्तुओं का मूल्य हो पाता है। परन्तु हम यह जानना चाहते हैं, कि उत्पादनशील सेवाओं का मूल्य किस लिये होता है; और यदि उत्पादनशील सेवाएँ केवल श्रम मात्र हैं, तो श्रम का मूल्य क्यों होता है"[4] और यह पिछला प्रश्न ऐसा है, जिसे वालरास के कथनानुसार ऐडम स्मिथ ने कभी नहीं उठाया।

इस स्थापना को कि श्रम का मूल्य उसकी 'रेरेते' (स्वल्पता) के कारण होता है, आजकल के युग में, जबकि बेकारी की समस्या हमारे सामने विद्यमान

१. वही; पृष्ठ ४१। २. वही; पृष्ठ ४४।
३. वही; पृष्ठ ८२। ४. वही; पृष्ठ १८६।

है, और जो इसी रूप में वालरास के जमाने में भी विद्यमान थी, प्रस्तुत कर पाना कठिन ही है। परन्तु बड़ी कुशलता के साथ वह इस स्पष्ट दीख पड़ने वाले आक्षेप से अपने को बचा जाता है और युक्ति का सारा ज़ोर समय के तत्त्व पर डाल देता है :

"ऐसा कोई भी काम नहीं है, जो बिना समय के, और बिना किन्हीं खास शर्तों के किया जा सके। परन्तु हम में से किसी के लिये भी समय असीमित वस्तु नहीं है···हमारा जीवन बहुत अल्प है और हमारे दिन गिने हुए हैं। हम में से प्रत्येक के लिये समय एक बहुमूल्य वस्तु है, क्योंकि यह स्वल्प है। और क्योंकि श्रम केवल समय के अन्दर ही किया जा सकता है, और कुछ कम या अधिक बोझल शर्तों के अनुसार अर्थ यही निकलता है कि श्रम का भी मूल्य होता है।"[१]

यही हाल उत्पादन के अन्य अभिकरणों (एजेन्ट्स) का भी है। भूमि और पूँजी दोनों ही सीमित हैं; और इसलिये दोनों का ही मूल्य है। उनकी सेवाओं की कीमत देनी पड़ती है; और स्पष्टतया ही यह कीमत एकमात्र उनकी सीमितता या 'रेरैते' का स्वाभाविक परिणाम होती है।[२] यहाँ वालरास के विचारों की कैसल के "स्वल्पता सिद्धान्त" (प्रिंसिपल आफ स्केयरसिटी) के साथ बहुत स्पष्ट समानता दिखाई पड़ती है। इस प्रकार माँग और उपलब्धि के सिद्धान्त को ढूंढ निकालने का श्रेय वालरास को है; और इस सिद्धान्त को उसने एक और नाम देकर विकसित किया है, क्योंकि उपलब्धि केवलमात्र उपज की मात्रा या राशि का नाम है, जब कि दूसरी ओर माँग उन आवश्यकताओं के समूह का नाम है, जिनको पूरा करना आवश्यक है। 'रेरैते' केवल वह सम्बन्ध है, जो माँग और उपलब्धि, इन दोनों के बीच विद्यमान रहता है। परन्तु इससे भी अधिक आधारभूत बात यह है कि किसी वस्तु की माँग होने के लिये यह आवश्यक है कि वह सीमित मात्रा में हो। इसी प्रकार किसी वस्तु की उपलब्धि (सप्लाई; संभरण) कराने के लिये भी यह आवश्यक है कि वह भी सीमित मात्रा में हो। बाजार में होने वाली सारी गतिविधि की व्याख्या केवल 'रेरैते' की मान्यता पर ही की जा सकती है।

---

१. वही; पृष्ठ १८७।
२. वही; पृष्ठ १७७।

वालरास को इस बात का भारी श्रेय दिया जा सकता है कि उसने मूल्य की समस्या के एक पहलू का स्पष्टीकरण किया, जो बाद में जाकर आस्ट्रियन विचारधारा का एक मुख्य अंग बन गया। इसी प्रकार उसकी दुर्बलता भी स्पष्ट है। उसने 'रेरेते' के विचार को काफी कुछ अस्पष्ट ही छोड़ दिया और मूल्य का सम्बन्ध 'रेरेते' की बढ़ती हुई मात्राओं के साथ निश्चित करने का कोई प्रयत्न नहीं किया। अधिक से अधिक दूर वह इस बिन्दु तक पहुँचा, कि उसने 'रेरेते' की परिभाषा इस प्रकार की, कि यह वस्तुओं और उन वस्तुओं की आवश्यकता के बीच विद्यमान एक निश्चित विषम अनुपात (डिस्प्रपोरशन) है। इस 'रेरेते' की कमी या अधिकता की विभिन्न स्थितियों की मूल्य पर क्या प्रतिक्रिया होगी, इस बात को वह बिना विवेचन किये छोड़ देता है।

गोसैन

यह बात अब आमतौर से स्वीकार की जाती है कि उपरिलिखित आकस्मिक पूर्वाभासों को छोड़कर सीमान्तवादी सिद्धान्त का युक्तिसंगत और पूर्ण वक्तव्य हरमैन हीनरिख गोसैन[1] (१८१०-१८५८) ने अपनी एक असाधारण पुस्तक में प्रस्तुत किया, जो १८५४ में प्रकाशित हुई थी।[2] इस पुस्तक का इतिहास भी अर्थशास्त्रीय साहित्य की रोचक विचित्रताओं में से एक है। प्रकाश होने के पश्चात् यह पुस्तक बिलकुल उपेक्षित रही; और इसकी बिना बिकी प्रतियाँ (जो लगभग कुल की कुल प्रकाशित प्रतियाँ ही थीं) निराश लेखक ने १८५८ में अपनी मृत्यु से कुछ पहले दूकानदारों से वापस मँगवा ली थीं। इस पुस्तक का जीवन काट्ज़ द्वारा अपनी पुस्तक में दिये गये एक फुटनोट पर ही अवलम्बित रह गया था; और वह फुटनोट एक पीढ़ी बाद जाकर इतना समर्थ सिद्ध हुआ कि उसके कारण अर्थशास्त्रीय खोज करने वाले लोगों की रुचि इस पुस्तक

१. १८१० में ड्यूरैन में जन्म हुआ। पहले सरकारी नौकरी में रहा, जिसमें कोई विशेष सफलता प्राप्त न हुई; १८४७ में रिटायर हो गया और अपनी पुस्तक लिखने में जुट गया।

२. "Entwicklung der Gesetze des menschlichen Verkehrs und der daraus fliessenden Regeln fur menschliches Handeln." अर्थात् "मानवीय पारस्परिक सम्पर्क के विधानों तथा उनसे निसृत होने वाले मानवीय आचरण के नियमों का विकास।" यहाँ पर दिये गये उद्धरण बर्लिन के प्रेगर (Prager) द्वारा प्रकाशित हाल के संस्करण से लिये गये हैं।

के विषय में जाग उठी; और वे इसकी खोज में लग गये। यह ठीक है कि उसके बाद इसके और भी संस्करण हुए; किन्तु इस विषय में काफी सन्देह है कि उन लोगों की संख्या में, जिन्होंने ईमानदारी के साथ इस पुस्तक के २२७ पृष्ठों को पढ़ा हो, कोई उल्लेखनीय वृद्धि हुई हो।

वस्तुतः गोसैन की पुस्तक उन पुस्तकों में से एक है, जो पढ़ने के लिये नहीं लिखी जातीं। यह पुस्तक गणित से इतनी अधिक भरी हुई है कि पाठक का धैर्य छूट जाय। पृष्ठ के पृष्ठ गणित के प्रतीकों और संख्याओं की सूचियों से भरे हैं। इससे भी बुरी बात यह है कि यह अत्यधिक अव्यवस्थित है। उस पर भी मुसीबत यह है कि पाठक पर यह प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता कि लेखक ने अपनी टोपी में एक या बहुत सी मधुमक्खियाँ रखी हुई थीं। यदि १८५४ में आलोचकों ने गोसैन की को केवल "प्राप्ति-स्वीकार" की सूची में डाल कर छोड़ दिया, तो इसके लिये उन्हें दोष दे पाना कठिन है।

फिर भी आजकल के समय उस सब को ध्यान में रखते हुए, जो कि गोसैन के बाद एक सामान्यतया स्वीकृत सिद्धान्त बन गया है, गोसैन की पुस्तक "लाज आफ ह्यूमैन इंटरकोर्स" का अध्ययन करने पर वह पुस्तक पर्याप्त रूप से उल्लेखनीय पुस्तक जान पड़ती है। उसका रुख कठोर रूप से उपयोगितावादी है। इस कथन में वह बेन्थम से भी आगे बढ़ जाता है कि प्रत्येक मनुष्य का लक्ष्य अपने जीवन के आनन्द को बढ़ाकर अधिकतम सीमा तक ले जाना है। परन्तु गोसैन यह भी संकेत करता है कि हम आनन्दोपभोग की ओर आँखें मींचकर दौड़ते नहीं रह सकते। आनन्दोपभोग के पश्चात् भावी परिणाम होते हैं; और अनेक निराशाएँ भी होती हैं। आनन्दोपभोग के पश्चात् उसके फलस्वरूप उससे विपरीत प्रकार की अनुभूति भी उत्पन्न हो सकती है; इसलिये आधारभूत सिद्धान्त यह है कि मनुष्य को अपनी गतिविधि का संचालन इस ढंग से करना चाहिये कि जीवन में उसके आनन्दोपभोग का सर्वयोग मिलाकर अधिकतम हो; और साथ ही यह बात सृष्टि विधाता की इच्छा के अनुकूल भी है।[1]

इस प्रकार जब हम उन नियमों की खोज कर रहे होते हैं, जो हमारे

---

१. Entwicklung der Gesetze des menschlichen Verkehrs; पृष्ठ १।

आनन्दोपभोग को नियमित करते हैं, तो हम दिव्य आदेश के अनुकूल आचरण कर रहे होते हैं। वस्तुतः आनन्दोपभोगों की दो बड़ी स्पष्ट विशेषताएँ हैं। पहली विशेषता तो यह है, कि किसी भी आनन्दपभोग की तीव्रता क्रमशः तब तक घटती जाती है, जब तक कि पूर्ण तृप्ति की अवस्था आने पर वह बिलकुल ही समाप्त नहीं हो जाती; और दूसरी विशेषता यह है, कि एक ही आनन्दोपभोग को दुहराने से भी इसी प्रकार उसकी तीव्रता कम होती जाती है। न केवल प्रारम्भिक तृप्ति निम्नतर कोटि की होती है, अपितु उसकी अवधि भी अपेक्षाकृत अल्प होती है; और इतना ही नहीं, ये दोनों प्रकार के ह्रास उतने ही अधिक और स्पष्ट दीखने लगते हैं, जितना जल्दी-जल्दी इन आनन्दोपभोगों को दुहराया जाता है। गोसैन सामान्यतया प्रचलित उदाहरण देता है। पहला ग्रास सबसे अधिक स्वादिष्ट लगता है; दूसरा उससे कम; तीसरा उससे भी कम। दूसरे सिद्धान्त के लिये उस ग़रीब व्यक्ति का उदाहरण प्रस्तुत किया गया है, जिसे रविवार के दिन प्राप्त होने वाली मिठाई खाने में उस रईस की अपेक्षा कहीं अधिक आनन्द आता है, जो इतना अभागा है कि उसे सप्ताह के प्रत्येक दिन मिठाई खाने को मिलती है।[1]

आनन्दोपभोगों के अपने विश्लेषण के आधार पर गोसैन तीन आधारभूत सिद्धान्त प्रस्तुत करता है, जो उसके आनन्द तथा कष्ट के दर्शन को स्पष्ट करते हैं। संक्षेप में इन सिद्धान्तों का सार निम्नलिखित है—

(१) प्रत्येक आनन्दोपभोग के विषय में आनन्दोपभोग का एक खास तरीका होता है, जो मुख्य रूप से उस आनन्दोपभोग की पुनरावृत्ति की अधिकता या कमी पर निर्भर होता है, जिसके अनुसार आनन्दोपभोग का सर्वयोग अधिकतम हो सके। जिस तरीके से यह अधिकतम आनन्दोपभोग प्राप्त होता है, उसकी अपेक्षा यदि पुनरावृत्ति को जल्दी-जल्दी या देर-देर में किया जाय, तो कुल आनन्द में कमी ही होगी।

(२) जब कई प्रकार के आनन्दोपभोगों में चुनाव का तो अवसर हो, किन्तु सब आनन्दों का पूरी तरह उपभोग करने के लिये समय पर्याप्त न हो, तब अधिकतम आनन्द लेने के लिये यह आवश्यक है कि सब आनन्दों का थोड़ा-थोड़ा उपभोग किया जाय, भले ही इनमें से तीव्रतर आनन्दों का पूरा उपभोग न भी

---

१. वही; पृष्ठ ४-६।

किया जा सके। जिस समय आनन्दोपभोग समाप्त किया जा रहा हो, उस प्रत्येक प्रकार के उपभोग से प्राप्त होने वाला आनन्द समान ही होना चा

(३) तीसरी बात यह है, और जो कुछ विचित्र मालूम होती है, कि किसी नये प्रकार के आनन्दोपभोग का आविष्कार कर लिया जाता है (चा आनन्दोपभोग अपने आप में कितना ही तुच्छ क्यों न हो) उससे आनन्दोप के सर्वयोग में वृद्धि हो सकती है। इसी प्रकार पहले से विद्यमान आनन्दो में विस्तार कर देने से भी सर्वयोग में वृद्धि हो सकती है। वस्तुतः वह अ धन्य है, जो किसी नये प्रकार के आनन्द का आविष्कार कर लेता है।[1]

गौसैन का मूल्य का सिद्धान्त क्षीयमाण तृप्ति के सिद्धान्त के साथ अ घनिष्ठ रूप से जुड़ा हुआ है। उसका कथन है कि अर्थशास्त्रीय सिद्धान्त में वि मान अस्त-व्यस्तता केवल इस कारण विद्यमान है, क्योंकि मूल्य की वि धारणाओं में से केवल किसी एक धारणा पर बल दिया जाता है। जि दुष्परिणाम "काल्पनिक पूर्ण मूल्य" का हुआ है, उतना शायद ही अन्य वि बात का हुआ हो; क्योंकि सत्य यह है कि इस बाह्य संसार में किसी भी प्र का पूर्ण मूल्य (ऐब्सोल्यूट वैल्यू) विद्यमान हो।[2] बाह्य वस्तुओं का मूल्य ह लिये केवल इस आधार पर होता है कि वे जीवन के उद्देश्य को प्राप्त कर हमारी कहाँ तक सहायता करती हैं। यदि और अधिक उपयोगितावादी भ में कहा जाय, तो मूल्य की अधिकता या कमी आनन्दोपभोग या तृप्ति की मात्रा द्वारा नापी जाती है, जो उस वस्तु से हमें प्राप्त होती है।[3] इस आधार वह इस सारभूत सीमान्तवादी सिद्धान्त की स्थापना करता है कि किसी उपभोग्य वस्तु के पृथक्-पृथक् "अणुओं" (यह 'अणु' गौसैन का शब्द है) मूल्य एक दूसरे से बहुत भिन्न होता है। इतना ही नहीं; किसी भी मनुष्य लिये इन अणुओं की एक निश्चित की जा सकने योग्य संख्या का ही मूल्य है है; और उस बिन्दु से आगे होने वाली वृद्धि बिलकुल मूल्यहीन होती है। पर मूल्यहीनता का यह बिन्दु तभी आता है, जबकि मूल्य, जैसा कि क्रमशः बाद आने वाले अणुओं के घटते हुए मूल्य से स्पष्ट हो जाता है, क्रमशः निम्न सीमाओं में से गुजर चुकता है। प्रथम अणु का मूल्य सबसे अधिक होता

१. वही; पृष्ठ ११,१२,२१। २. वही; पृष्ठ ४६।
३. वही; पृष्ठ २४।

उसके बाद आने वाले प्रत्येक अणु का मूल्य कम और कम होता जाता है; और अन्त में मूल्यहीनता की स्थिति आ जाती है।[1]

इतना ही नहीं; मूल्य का विश्लेषण करते हुए गोसेन ने वस्तुओं का एक इस प्रकार का वर्गीकरण किया है, जिसे देखकर उसके काफी समय बाद मेंजर द्वारा किये गये वर्गीकरण का ध्यान आ जाता है; और इस वर्गीकरण का मूल्य के निर्धारण की समस्या में उसने जो उपयोग किया है, उससे तो वह वाइजर का फरिश्ता जान पड़ता है। उसने वस्तुओं को तीन वर्गों में बाँटा है : पहला वर्ग है उपभोग्य वस्तुओं का (जैनसमिटैल Genussmittel), और इसके ऊपर है दूसरा वर्ग और तीसरा वर्ग। दूसरे वर्ग की वस्तुएँ पूरक वस्तुएँ हैं जैसे हुक्का और तम्बाकू, अंगीठी और कोयला, गाड़ी और घोड़ा। तीसरे वर्ग की वस्तुएँ उत्पादक वस्तुएँ हैं, जिनका प्रयोजन उपभोग्य वस्तुओं का सृजन करना है।[2] गोसेन के सम्बन्ध में बड़ी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि दूसरे और तीसरे वर्ग की वस्तुओं के मूल्य का विवेचन करते हुए वह उस क्षेत्र में प्रवेश करता है, यदि वह उसमें भटककर ही नहीं पहुँच जाता, जिसमें बाद में जाकर वाइजर ने अपनी योग्यता प्रदर्शित की। पूरक वस्तुओं के मामले में उनका मूल्य इसलिये लगाया जाता है (**Werth Zuzuschreiben ist**), क्योंकि वे किसी न किसी प्रकार की तृप्ति के लिये रास्ता तैयार करने में सहायक होती हैं। परन्तु उनका क्या मूल्य लगाया जाय, इसका निर्धारण करना आसान काम नहीं है। इन पूरक वस्तुओं का संयुक्त मूल्य तो उस तृप्ति द्वारा जाना जा सकता है, जो उनके संयुक्त प्रयोग से प्राप्त होती है; परन्तु इससे आगे निश्चय और सूक्ष्मता के साथ कोई बात नहीं कही जा सकती; क्योंकि उनका मूल्य केवल उसी दशा में होता है, जबकि वे परस्पर मिली होती हैं; और पृथक् व्यक्तिशः रूप में "उनका मूल्य केवल उसी सीमा तक होगा, जहाँ तक कि दूसरी अनुपस्थित इकाई को उपलब्ध कराने का इरादा विद्यमान हो।" इसी प्रकार तीसरे वर्ग की वस्तुओं के मामले में आकलन "परोक्ष" (**eine mittebre**) ही होता है। इन वस्तुओं का मूल्य केवल उस सीमा तक लगाया जा सकता है, जहाँ तक कि वे उपभोग्य वस्तुओं के उत्पादन में सहायक होती हैं; और

१. वही; पृष्ठ ३१,३३।

२. वही; पृष्ठ २४, २५, २९।

उनका मूल्य ठीक उतना ही होता है, जितनी सहायता वे उन वस्तुओं के उत्पादन में प्रदान करती हैं। यहां सिवाय इसके कि गोसेन ने "Zuschreiben" शब्द का प्रयोग किया है जब कि वाइजर ने "Zurechnen" शब्द का प्रयोग किया है। वाइजर की उत्पादनशील देन का मूल और सार विद्यमान दीख पड़ता है।

गोसेन ने भविष्य में बनने वाले सिद्धान्तों का जो पूर्वाभास दिया, उसके कम से कम दो अन्य पहलुओं का भी उल्लेख किया जाना उचित है। हमें यहाँ उसकी "कार्य" की बहुत लम्बी और विचित्र-सी परिभाषा पर अनावश्यक विचार में नहीं उलझना है। केवल इतना देख लेना काफी है कि यह परिभाषा "कार्य" की इस धारणा पर आधारित है कि कार्य की अनुपयोगिता (डिस्यूटिलिटी) को कार्य से उत्पन्न होने वाली उपयोगिता द्वारा सन्तुलित कर दिया जाय। इसलिये इसका यह अर्थ निकलता है कि काम तब तक जारी रखा जाना चाहिये, जब तक कि उस प्रक्रिया से एक अभावात्मक सन्तुलित उत्पन्न न हो जाय। वह हमें बताता है कि कार्य एक ऐसी वस्तु होती है, जो तृप्ति उत्पन्न करने के लिये अर्थात् कोई मूल्यवान वस्तु उत्पन्न करने के लिये किया जा रहा होता है; और इसका अर्थ यह है कि हम कार्य द्वारा जीवन के आनन्दोपभोगों के सर्वयोग को तब तक बढ़ा सकते हैं, जब तक कि उस कार्य द्वारा उत्पन्न तृप्ति उस कार्य के कारण होने वाली असुविधा की अपेक्षा अधिक आंकी जाती है।[1]

इसी प्रकार विनिमय के प्रश्न और उन सीमाओं के जिन तक विनिमय को लाभदायक रूप से जारी रखा जा सकता है, प्रश्न के अध्ययन में वह सीमान्तवाद के यन्त्रजात और समसीमान्त मूल्य की धारणा का प्रयोग करता है। किसी भी एक व्यक्ति के लिये विनिमय तब तक लाभदायक रहेगा, जब तक कि विचाराधीन वस्तुओं के अन्तिम अणुओं का मूल्य उनके विनिमय में दी जा रही वस्तुओं के अणुओं के समान रहेगा।[2] इन उदाहरणों को देखते हुए यह कहना अतिशयोक्ति न होगा कि गोसेन की चिर-उपेक्षित पुस्तक में आस्ट्रियन विचारधारा के सभी सारभूत विचार और उसकी अधिकांश प्रविधि (टैकनीक) उपलब्ध हो जाती है।

---

१. वही; पृष्ठ ३८। २. वही; पृष्ठ ८४।

जैवन्स

विलियम स्टैनले जैवन्स[1] (१८३५-१८८२) का महत्त्व इस तथ्य में निहित है कि उसने आस्ट्रियन विचारक वर्ग के समकाल, और उनसे बिलकुल स्वतन्त्र रहकर उन विचारों का विशदीकरण किया, जो मूलतः उनके विचारों से बिलकुल मिलते-जुलते थे; और इस प्रकार वह भी सीमान्तवादी विचारधारा के जन्मदाताओं में से एक कहलाने का दावेदार है।[2] जैवन्स की पुस्तक "थ्योरी आफ पोलिटिकल इकोनोमी" (जो १८७१ में मैंजर की पुस्तक "ग्रण्डट्साज़े" के लगभग साथ-साथ प्रकाशित हुई थी) आदि से अन्त तक "राजनीतिक अर्थशास्त्र पर प्रमाण माने जाने वाले लेखकों के जरूरत से ज्यादा प्रभाव के भय से" प्रेरणा पाकर लिखी गयी है; और जैवन्स में बड़े-बड़े नामों के विरुद्ध सचेत विद्रोह की मात्रा कम दिखाई नहीं पड़ती। जहाँ तक उसकी पद्धति का प्रश्न है, वह अर्थशास्त्र को अंकगणितीय रूप देने का कट्टर समर्थक है। "अर्थशास्त्र, यदि यह कोई विज्ञान हो ही, तो यह अवश्य ही एक गणितीय विज्ञान होना चाहिये।"[3] इसका गणितीय विज्ञान होना अनिवार्य है; क्योंकि इसका सम्बन्ध मात्राओं से है, ऐसी वस्तुओं से, जो परिमाण में कम या अधिक की जा सकती हैं। वस्तुतः राजनीतिक अर्थशास्त्र का ऐसा कोई सच्चा सिद्धान्त नहीं हो सकता, जिसमें विभेदात्मक कलन (डिफरैंसियल कैलकुलस) की सहायता न ली गयी हो। इस प्रकार सुदृढ़ उपयोगितावादी सिद्धान्तों को स्वीकार कर लेने के बाद राजनीतिक अर्थशास्त्र सुखों और दुखों का कलन (कैलकुलस) बन जाता है। और यदि जैवन्स को इस विषय में कोई सन्देह रहा था कि सुख या

---

१. १८३५ में लिवरपूल में जन्म हुआ। कुछ समय तक आस्ट्रेलिया में टकसाल में काम करता रहा। १८६६ से १८७५ तक मैंचेस्टर में ओवन्स कालेज में तर्कशास्त्र तथा मानसिक और नैतिक दर्शनशास्त्र का प्रोफेसर और राजनीतिक अर्थशास्त्र का लैक्चरार रहा। १८७५ से १८८० तक लन्दन में प्रोफेसर रहा।

२. आस्ट्रियन विचारधारा का एक और गैरआस्ट्रियन जन्मदाता लियोन वालरास (आगस्टे वालरास का पुत्र) था। उसका नाम भी यहाँ दे देना उचित है। उसकी पुस्तक "ऐलीमेंते दैकोनोमी पोलीतीक प्योर" १८७४ में छपी और इस प्रकार वह मैंजर और जैवन्स की अपेक्षा कुछ थोड़ा पश्चाद्वर्ती रहा।

३. थ्योरी आफ पोलीटिकल इकोनोमी; पृष्ठ ३।

दुख की इकाई की धारणा बना पाना कहाँ तक सम्भव है, तो उसने में धारणा ढूँढने का यत्न किया कि प्रत्येक व्यक्ति का मन ही वह तु अपने अनुसार स्वयं वस्तुओं की तुलना कर लेती है। भले ही हम दुखों का आकलन (एस्टीमेट) न कर सकें, फिर भी हम कम से तुलना अवश्य कर सकते हैं; क्योंकि "संक्षेप में कहा जाय तो, सुख भव काल में वही होते हैं, जैसा कि मन उनको आँकता है।"[1] तात्कालिक प्रयोजन के लिये सुखों और दुखों की तुलना करना उन्हें अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है।

जैवन्स का केन्द्रभूत सिद्धान्त वह है, जिसे उसने चुनौती-सा देते पुस्तक के प्रारम्भिक भाग में रखा है, और जिसे वह "कुछ नया-स कि मूल्य पूर्णतया उपयोगिता पर आधारित रहता है"[2] कहता उसका दावा है कि केवल उपयोगिता की घट-बढ़ के स्वाभाविक "जो हमारे अधिकार में विद्यमान पदार्थ की मात्रा पर विद्यमान खोज निकालने के द्वारा विनिमय के किसी सन्तोषजनक सिद्धान्त त अन्तर्गत परिणामस्वरूप माँग और उपलब्धि के नियम भी हों) पहुँच प है। वस्तुतः यह तो केवल गोसेन और सीमान्तवादी विचारधारा का है। उपयोगिता किसी वस्तु के अन्दर विद्यमान सहज गुण नहीं है, तो "वस्तुओं की एक ऐसी परिस्थिति है, जो मनुष्य की आवश्य साथ उनके सम्बन्ध के फलस्वरूप उत्पन्न होती है,"[3] और इस वस्तुओं की वह मात्रा, जो पहले से ही लोगों के अधिकार में है, एक अंग होती है। उदाहरण के लिए अत्यन्त परिचित पानी वाले माम लीजिए। "हम केवल इतना कह सकते हैं कि एक निश्चित मात्रा अनिवार्य है। उससे आगे की मात्राओं की उपयोगिता विभिन्न प्रका या अधिक, होगी। परन्तु एक खास बिन्दु से आगे जाकर उपयोगि हो जाती प्रतीत होती है।"[4] और सामान्य रूप से भी यह सिद्धान्त "उन्हीं एक ही वस्तुओं की उपयोगिता इस आधार पर अधिक या रहती है कि उन वस्तुओं की जो मात्रा पहले से ही हमारे अधिकार

१. वही; पृष्ठ १०। २. वही; पृष्ठ २।
३. वही; पृष्ठ ५२। ४. वही; पृष्ठ ५३।

कम हो रही है या अधिक।"

इस प्रकार जैवन्स उन मोड़ों (कर्व) की सहायता से, जो आजकल प्रत्येक प्रारम्भिक विद्यार्थी को भी मालूम होते हैं, कुल उपयोगिता, जो बहुत अधिक हो सकती है—और वस्तुतः उस समय अनन्त भी हो सकती है, जबकि जीवन रक्षा का प्रश्न उपस्थित हो—और किसी वस्तु के एक खास हिस्से की उपयोगिता में जो यदि उपलब्धि को बढ़ा पाना सम्भव हो, तो उतनी कम हो सकती है, जितनी हम चाहें, अन्तर करके दिखाता है। अन्तिम हिस्से की उपयोगिता के लिए जैवन्स ने "उपयोगिता की अन्तिम मात्रा" वाक्यांश का प्रयोग किया है; और उसका कथन है कि उससे पहले बहुत कुछ घपला इस कारण रहा, कि विचारकों ने किसी पदार्थ की कुल उपयोगिता, जो कि बहुत अधिक हो सकती है, और उपयोगिता की अन्तिम मात्रा में, जो प्रभूतता और अत्यधिकता के कारण घटकर शून्य तक रह जा सकती है, अन्तर नहीं किया।[1] सोने और लोहे के मूल्य की तुलना, या पानी और शराब की तुलना की पुरानी पहेलियां और इसी प्रकार के अन्य सब प्रचलित उदाहरण मूलतः "मूल्य" शब्द के सम्बन्ध में घपले पर आधारित हैं। यदि हम पानी के उपयोग-मूल्य को ध्यान में रखते हुए भावुकता के साथ बात करें, तो कहा जा सकता है कि पानी का मूल्य अनन्त है। परन्तु यदि शराब के बदले पानी की बूंद-बूंद का विनिमय किया जाय, तो पानी का मूल्य अत्यन्त नगण्य है। जैवन्स के शब्दों में कहा जा सकता है कि इसमें रहस्य केवल यह है कि हम कुल उपयोगिता और उपयोगिता की अन्तिम मात्रा के बारे में घपला कर जाते हैं।

इस प्रकार हम उस बिन्दु पर आ पहुँचते हैं, जो जैवन्स की दृष्टि में "सब आर्थिक समस्याओं में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात है"; और वह यह है कि उपयोगिता की अन्तिम मात्रा को अभिव्यक्त करने के क्रिया-कलाप (फंक्शन) में परिवर्तन होता रहता है, और यह क्रिया-कलाप ऐसा है, जो "पदार्थ की मात्रा के साथ बदलता जाता है; और ज्यों-ज्यों पदार्थ की मात्रा बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों यह उपयोगिता की अन्तिम मात्रा घटती जाती है।"[2] इसी सिद्धान्त के द्वारा जैवन्स इस बात की भी व्याख्या करता है कि एक ही पदार्थ का

१. वही; पृष्ठ ५८-५६।

२. वही; पृष्ठ ५२।

विभिन्न सम्भावित उपयोगों में वितरण किस प्रकार होता है; और यह भी परवर्ती आस्ट्रियन विचारधारा का एक मुख्य बिन्दु रहा है। जौ का उपयोग बीयर, शराब या रोटी बनाने के लिए अथवा पशुओं को खिलाने इत्यादि के लिए किया जा सकता है। उपयोगिता का सिद्धान्त यह बतलाता है कि इन विभिन्न उपयोगों में जौ का वितरण इस प्रकार किया जाना चाहिए कि इन सब विभिन्न दिशाओं में उपयोगिता की मात्रा समान रहे।[1]

इस क्षीयमाण उपयोगिता के सिद्धान्त के साथ-साथ जेवन्स विनिमय का सिद्धान्त खोज निकालता है। वह "मूल्य" शब्द को छोड़ देता है क्योंकि इसके कारण बहुत अधिक गड़बड़ी होती है; और इसके स्थान पर "विनिमय का अनुपात"[2] शब्द का प्रयोग करता है; किन्तु उसके इस नये शब्द का प्रयोग पुरानी प्रथा के विरुद्ध सफल नहीं हो सका। किसी पदार्थ का मूल्य, यदि इस "खतरनाक पारिभाषिक शब्द" (मूल्य) का प्रयोग किया जा सके तो, कुल उपयोगिता द्वारा नहीं नापा जायगा; अपितु आवश्यकता की उस तीव्रता के द्वारा नापा जायगा, जो उस पदार्थ की हमें है। और भी अधिक निश्चित और स्पष्ट भाषा में कहा जाय, तो "विनिमय मूल्य का निर्धारण सीमागत उपयोगिता (टर्मिनल यूटिलिटी) द्वारा होता है।"[3] विनिमय का सिद्धान्त भी इसके अनुसार ही है। विनिमय का परिणाम यह होता है कि सब पदार्थ उपभोग में आने वाले उनके अन्तिम हिस्सों की दृष्टि से घटते-घटते उपयोगिता के एक ही स्तर पर आ जाते हैं।

इस विरोधी सिद्धान्त को, कि मूल्य श्रम के कारण उत्पन्न होता है या पदार्थ का मूल्य उस पर किये गये श्रम के अनुपात में होता है, जेवन्स बड़ी कठोरता के साथ यह कहकर तिरस्कृत कर देता है कि "यह सिद्धान्त तो एक क्षण भी नहीं टिक सकता।"[4] उसका कथन है, और यह कथन ठीक है, कि एक बार किये जा चुकने के बाद श्रम का किसी भी वस्तु के भावी मूल्य पर कोई प्रभाव नहीं रहता; और जीवन के इस क्षेत्र में बीती-बात सदा के लिए बीती-बात हो जाती है।[5] हालांकि उसका कथन यह है कि श्रम के मूल्य का

---

१. वही; पृष्ठ ६८-७०। २. वही; पृष्ठ ८१।
३. वही; पृष्ठ ८२१, ३०। ४. वही; पृष्ठ १५७।
५. वही; पृष्ठ १५६।

निर्धारण उसकी उपज के मूल्य द्वारा होता है, और उपज का मूल्य श्रम के मूल्य द्वारा निर्धारित नहीं होता,[1] फिर भी उसके सिद्धान्त के पूर्ण वक्तव्य में ऐसी बहुत सी छूटें दी गई हैं, जिनसे श्रम-सिद्धान्त के समर्थकों को काफी गुंजाइश मिल जाती है। क्योंकि श्रम, भले ही वह मूल्य का कारण न हो फिर भी, निर्णायक दशाओं में से एक हो सकता है; और वस्तुतः वह अपने ही सिद्धान्त का सहारा लेकर यह सिद्ध करता है कि उन वस्तुओं के मामले में, जो अधिक या कम मात्रा में उत्पन्न की जा सकती हैं, विनिमय उन मात्राओं के अनुपात में होगा जो श्रम की समान मात्रा द्वारा उत्पन्न की जा सकती हैं।[2] तो इस विषय में जैवन्स का दृष्टिकोण यह प्रतीत होता है कि मूल्य के श्रम-सिद्धान्त के सम्बन्ध में गलती यह नहीं है कि यह सिद्धान्त मिथ्या है; बल्कि गलती यह है कि यह जिस सत्य की घोषणा करता है, उसकी पुष्टि के लिए गलत युक्तियाँ प्रस्तुत करता है। आस्ट्रियन विचारधारा का पहले-पहल पूर्वाभास देनेवाले प्रतिष्ठित लेखकों से पृथक् जैवन्स और लियों वालरास (जिसे हम यहाँ केवल दूर से ही प्रणाम कर पाने में समर्थ हैं) आस्ट्रियन विचारधारा के ऐसे संस्थापकों में गिने जा सकते हैं, जो इन विचारकों की पक्की हदबन्दी से थोड़ा बाहर हैं और; अब हम आस्ट्रियन विचारकों के विषय में विचार प्रारम्भ कर सकते हैं। इस दल के प्रमुख नेता मैंजर, वान वाइजर और बोहम बावर्क हैं। इनके साथ शायद सैक्स (Sax) का भी नाम लिया जा सकता है। ये लोग उन आस्ट्रियन विचारकों के प्रमुख प्रतिनिधि हैं, जिन्हें हम इनका अनुयायी कह सकते हैं।

मैंजर

इनमें से कार्ल मैंजर[3] (१८४०-१९२१), यद्यपि वह इंगलैंड में सबसे कम

---

१. वही; पृष्ठ १९१। २. वही; पृष्ठ १९२।

३. जन्म १८४० में गैलिशिया में न्यूसांडेक नामक स्थान पर हुआ। विद्यार्थी के रूप में वह प्राग, विएना और क्रेको में रहा। १८७३ में विएना में अर्थशास्त्र का प्रोफेसर रहा। वह आस्ट्रिया के प्रिंस रूडोल्फ का निजी शिक्षक भी रहा। बाद में वह फिर अध्ययनाध्यापन के कार्य में लौट आया; और अन्त में १९०३ में विश्वविद्यालय से रिटायर हो गया। सन् १९०० में वह आस्ट्रिया के उच्चतर सदन का आजीवन सदस्य बना दिया गया।

ख्याति पा सका, फिर भी, समय की दृष्टि से बहुत स्पष्ट रूप से दूसरों की अपेक्षा पहले रहा; और भले ही उसका साहित्यिक सृजन परिमाण में औरों की अपेक्षा कम रहा, फिर भी वह सम्भवतः इस दल का सब से अधिक प्रभावशाली व्यक्ति था। उसकी पुस्तक "ग्रंडसाटजे डेर वाक्स्वर्थ्सशैफ्टस्लेहर" (Grundsatze der Volkswirthschaftslehre) के द्वारा ही, जो १८७१ में प्रकाशित हुई थी, इस विचारधारा की वस्तुतः स्थापना हुई। मेंजर अपनी पुस्तक का प्रारम्भ ही इस दबंग स्थापना के साथ करता है कि कारण और कार्य का नियम सर्वत्र विद्यमान है। आवश्यकता की दशा से उस दशा में संक्रमण, जिसमें कि आवश्यकता पूर्ण हो चुकी होती है, अन्य सब वस्तुओं की भाँति केवल कारण का कार्यमात्र है। यही है उसके विश्लेषण का विषय। वे वस्तुएँ, जिनमें यह क्षमता होती है कि वे मानवीय आवश्यकताओं को पूर्ण करने के काम में लायी जा सकें, उपयोगी वस्तुएँ (यूटिलिटी) कहलाती हैं। जिस सीमा तक हम उन वस्तुओं को मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति के काम में ला सकें, उस सीमा तक वे "वस्तुएँ" (गुड्स) कहलाती हैं।[1]

किसी भी चीज के "वस्तु" होने के लिये उसमें चार शर्तों का पाया जाना आवश्यक है। पहले तो, कोई मानवीय आवश्यकता होनी चाहिये। दूसरे, उस चीज में ऐसे गुण होने चाहियें कि जिनसे वह उस आवश्यकता की पूर्ति के काम में लायी जा सकें; तीसरे, यह आवश्यकता-पूर्ति का कारणभूत सम्बन्ध लोक-स्वीकृति होना चाहिये, और अन्तिम बात यह है, कि ऐसी कोई शक्ति होनी चाहिये, जो उस चीज का प्रयोग ऐसे ढंग से कर सके कि वह चीज आवश्यकता को पूर्ण कर सके। इनमें से सब की सब बातें आवश्यक हैं। यदि इन चारों में से कोई भी एक बात नहीं होगी, तो चीज का "वस्तु" होने का गुण जाता रहेगा।[2] सुनने में यह सब अत्यधिक अव्यक्त जान पड़ता है, परन्तु इसको ऐसी कुशलता के साथ सँवारा गया है, कि जिससे यह युक्ति-परम्परा को आगे बढ़ाने में समर्थ हो सके।

तब, सबसे महत्वपूर्ण बात है आवश्यकताओं की पूर्ति। परन्तु इसके

१. ग्रंडसाटजे; पृष्ठ १-२
२. वही; पृष्ठ २

एकदम बाद हम वस्तुओं में किये गये एक और अन्तर पर आ पहुँचते हैं; और वस्तुओं का इस प्रकार वर्गीकरण मेंजर की पहली मूलभूत स्थापना है । कुछ वस्तुएँ ऐसी हैं जिनका प्रयोग हम अपनी आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिये तत्काल कर सकते हैं; उदाहरण के लिये रोटी । इस प्रकार की वस्तुओं को वह "प्रथम कोटि की वस्तुएँ" कहता है । परन्तु इन वस्तुओं से भिन्न भी ऐसी अनेक वस्तुएँ हैं, जिनमें असंदिग्ध रूप से "वस्तु" होने के चिह्न विद्यमान हैं, परन्तु फिर भी उनका हमारी आवश्यकताओं को पूर्ण करने के साथ कोई तात्कालिक कारणभूत सम्बन्ध नहीं है । उनका कार्य उन वस्तुओं को उत्पन्न करना है, जो हमारी आवश्यकताओं को पूर्ण करती हैं । इनके आगे तीसरी कोटि की वस्तुएँ हैं, जो दूसरी कोटि की वस्तुओं को उत्पन्न करती हैं; और इसी प्रकार यह परम्परा वहाँ तक चलती जा सकती है, जहाँ तक मानवीय बुद्धि जाने की कोशिश करे । रोटी से आगे की वस्तु आटा है; आटे से आगे की वस्तु अनाज है; अनाज से आगे की वस्तु खेत और हल है; और हल से आगे की वस्तु लोहा है । इस प्रकार जहाँ यह आवश्यक है कि वस्तु का हमारी आवश्यकता की पूर्ति के साथ कारणभूत सम्बन्ध होना चाहिये, वहाँ यह आवश्यक नहीं है कि यह सम्बन्ध सीधा और प्रत्यक्ष ही हो ।[1]

इसके बाद मेंजर अपने इस वस्तुओं के क्रम के सिद्धान्त का प्रयोग ऐसे ढंग से करता है, जिससे सीमान्तवादी सिद्धान्त के आधारस्तम्भों में से एक का पूर्वाभास स्पष्ट दीखने लगता है । निम्नतर कोटि की वस्तुओं को उत्पन्न करने के लिये उच्चतर कोटि की कई वस्तुओं के सहयोग की आवश्यकता होती है । रोटी बनाने के लिये केवल आटे या मैदे की ही आवश्यकता नहीं होती, बल्कि पानी की, रसोईघर के उपकरणों की, ईंधन की, और अन्य भी कई वस्तुओं की, जिन्हें रसोइया ही ठीक-ठीक जानता है, आवश्यकता होती है । ये सब पूरक वस्तुएँ हैं । इनके सम्बन्ध में मेंजर दो स्थापनाएँ प्रस्तुत करता है, जो बहुत कुछ स्पष्ट होने पर भी महत्त्वपूर्ण हैं । पहली बात तो यह है कि उच्चतर कोटि की वस्तुओं का "वस्तु" होने का गुण केवल उसी दशा में विद्यमान रहता है, जबकि हम उनके साथ के लिये आवश्यक अन्य पूरक

१. वही; पृष्ठ ८-६ ।

वस्तुएँ भी जुटा सकें; हालाँकि यह भी सत्य है कि वे वस्तुएँ उन वस्तुओं के सम्बन्ध में अपने "वस्तु" होने के गुण को बनाये रख सक जिनके उत्पादन में भी वे सहायक सिद्ध हो सकती हैं। इस प्रकार हुव दशा में "वस्तु" नहीं रहते, जब तम्बाकू की फसल पूरी तरह बर्बाद हो किन्तु फिर भी इस दृष्टि से वे वस्तु बने रह सकते हैं, कि उनके द्वारा के बुलबुले बनाये जा सकते हैं। दूसरी स्थापना यह है कि उच्चतर को वस्तुएँ केवल तभी तक वस्तुएँ कहला सकती हैं, जब तक कि निम्नतर की वे वस्तुएँ, जिनके उत्पादन में वे सहायक होती हैं, वस्तु होने क अपने में बनाये रखती हैं। जब गोल्फ की खेल का फैशन पूरी तरह रहता है, तब न केवल गोल्फ की क्लबें बेकार हो जाती हैं, बल्कि वह यन्त्रजात, जो विशेष रूप से और एकमात्र गोल्फ-क्लबों के लिये सामान करने के लिये प्रयुक्त किया जाता था, उस अभागे दिन में "वस्तु" ब बन्द हो जाता है।

यह बात देखी जा सकती है कि मेंजर किस सुदूर लक्ष्य की ओर ब है। निर्णायक स्थिति में वे वस्तुएं हैं, जो उपभोक्ता के अधिकतम नि अर्थात् प्रथम कोटि की वस्तुएं। अन्य सब वस्तुओं का महत्त्व केवल वस्तुओं के कारण है, और उनका औचित्य भी इन्हीं वस्तुओं पर अ है। उच्चतर कोटि की वस्तुएँ केवल तभी तक वस्तु रूप में जीवित रह हैं, जब तक कि निम्नतर वर्ग की वे वस्तुएँ "वस्तुएँ" रहती हैं, जिनके में वे सहयोग देती हैं।

मेंजर की दूसरी महत्त्वपूर्ण बात उसके आर्थिक और गैरआर्थिक में किये गये अन्तर और उससे निकाले गये परिणामों पर आधारि उच्चतर कोटि की वस्तुओं से निम्नतर कोटि की वस्तुओं को उत्पन्न व समय लगता है; और जो मनुष्य अपने जीवन को अर्थशास्त्रीय ि (Der wirthschaftende Mensch) के अनुसार नियमित करता भविष्य का ध्यान रखता है और आकांक्षा (Bedarf) को वस्तुओं की मात्रा के साथ संतुलित रखता है। ऐसी दशा में तीन परिस्थितियाँ हो हैं। आकांक्षा या अभाव (Want) उपलब्धि की अपेक्षा अधिक हो सक

१. वही; पृष्ठ ११-१७।

कम हो सकता है, या ठीक उतना हो सकता है, जितना उपलब्धि द्वारा पूर्ण हो सके।[1] इनमें से पहली स्थिति महत्त्वपूर्ण स्थिति है; और जब यह दशा उत्पन्न होती है, तो यह मानना होगा कि उपलब्धि का कोई भी अंश इस प्रकार वापस नहीं खींचा जा सकता, जिससे कोई ऐसी स्पष्ट आवश्यकता अपूर्ण न रह जाय, जो पहले पूर्ण हो रही थी। व्यवहार में इसके विभिन्न परिणाम हो सकते हैं। वस्तु के मालिक को अपनी अधिक तीव्र आवश्यकताओं में से चुनाव करना होगा, जिन्हें कि वह पूर्ण करते रहना जारी रखना चाहता है; और अपेक्षाकृत कम तीव्र आवश्यकताओं को भी छांटना होगा, जिन्हें वह अपूर्ण छोड़ देने के लिये अपने आप को राजी कर सकेगा। दूसरे शब्दों में कहा जाय, तो उसे ऐसी योजना बनानी होगी, जिसके द्वारा वह वस्तुओं की उपलब्ध मात्रा द्वारा अधिकतम तीव्र आवश्यकताओं को पूर्ण कर सके। यही अर्थशास्त्र वर्थसंचेपट (Wirthschaft) का अर्थ है; और ये ही आर्थिक वस्तुएँ हैं।[2] संक्षेप में कहा जाय, तो आर्थिक वस्तुएँ वे हैं जिनके सम्बन्ध में हम इसलिये बचत करने को विवश होते हैं, क्योंकि उनकी उपलब्धि अपर्याप्त है। हमें यह निर्णय करना पड़ता है कि किन्हीं खास कामों के लिये तो उनका प्रयोग किया जाय; और किन्हीं अन्य कामों के लिये उनका प्रयोग न किया जाय। इसके विपरीत गैरआर्थिक वस्तुओं के मामले में, जहाँ उपलब्धि आवश्यकता की अपेक्षा अधिक होती है, इस प्रकार की कोई आवश्यकता नहीं होती कि उनके सब संभावित उपयोगों को आवश्यकता के क्रमशः घटते हुए क्रम में रखा जाय, या उनकी उपलब्ध मात्रा का अधिक से अधिक बुद्धिमत्तापूर्ण उपयोग करने की योजना बनाई जाय।[3]

इससे यह परिणाम निकलता है कि किसी भी वस्तु की आर्थिक या गैर-आर्थिक होने की विशेषता उसका कोई सहज और अपरिहार्य गुण नहीं है। यह विशेषता तो केवल आकांक्षा या आवश्यकता और उस वस्तु की उपलब्ध मात्रा के अनुपात पर निर्भर रहती है। संक्षेप में कहा जाय, तो यह आगस्टे वालरास की "रेरैंते" को ही अभिव्यक्त करती है। इसके अनुसार यह भी परिणाम निकलता है कि वस्तुएँ इस अनुपात में परिवर्तन हो जाने के कारण एक वर्ग से

१. वही; पृष्ठ ५१। २. वही; पृष्ठ ५२-५३।
३. वही; पृष्ठ ५७।

निकलकर दूसरे वर्ग में जा सकती हैं। जनसंख्या में वृद्धि, आकांक्षाओं में वृद्धि; इस ज्ञान के क्षेत्र में मनुष्य की प्रगति कि क्या वस्तु उनके कल्याण के लिए उपयोगी हो सकती है, इनमें से कोई भी एक बात या ये सब की सब मिलाकर किसी भी वस्तु की इस विशेषता में परिवर्तन कर सकती हैं।[1]

इस प्रकार सुसज्जित होकर अब हम मूल्य के विचार का सामना करने के लिये तैयार हो जाते हैं। मूल्य उन्हीं कारणों से उत्पन्न होता है, जिनके कारण किसी भी खास वस्तु में 'आर्थिक वस्तु' होने के गुण का आधार होता है। मूल्य आकांक्षाओं और उपलब्धि के पारस्परिक सम्बन्ध से उत्पन्न होता है; और तथ्य के कारण उत्पन्न होता है कि आर्थिक वस्तुओं की उपलब्धि में कमी होने के फलस्वरूप कोई आकांक्षा अतृप्त रह जाती है, या कोई आकांक्षा पहले की अपेक्षा कम तृप्त हो पाती है। मोटे तौर पर कहा जाय, तो मूल्य उस महत्त्व को प्रकट करता है, जो वस्तुएं हमारी दृष्टि में इस तथ्य के ज्ञान के कारण प्राप्त कर लेती हैं कि हम अपनी आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिये उन वस्तुओं के उपयोग पर निर्भर हैं। ऐसी दशा में मूल्य मन का केवल एक निर्णय मात्र है। यह किसी वस्तु का गुण या कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है।[2]

अलग-अलग आवश्यकताओं का महत्त्व अलग-अलग होता है। कुछ आवश्यकताएँ जीवन-रक्षा के लिये होती हैं; कुछ हमें सुख-सुविधा प्रदान करती हैं, और कुछ केवल विलास के लिये होती हैं। परन्तु ऐसी दशा में भी, यदि हम सब से मूलभूत आवश्यकता को लें तो भी भोजन की इच्छा को तृप्त करने के विभिन्न सुनिर्दिष्ट कर्मों के महत्त्व में भी परस्पर बहुत अन्तर होता है। एक खास सीमा तक भोजन जीवन-निर्वाह का साधन है; किन्तु उसके आगे भोजन का परिणाम केवल आनन्द मात्र रह जा सकता है। यदि इसके बाद भी भोजन जारी रखा जाय (बड़ी विषादजनक भविष्यवाणी है) तो यह वेदना का कारण बन सकता है; और अन्ततोगत्वा जीवन और स्वास्थ्य को भी संकट में डाल सकता है। यह उदाहरण अतिपरिचित हो चुका है; फिर भी पहले-पहल यह इसलिये प्रयुक्त किया गया था कि जिससे मैंजर आवश्यकताओं के महत्त्व के लिये अपने मापदंड को उदाहरण द्वारा स्पष्ट कर सके। इसमें कोई सन्देह

१. वही; पृष्ठ ६२।

२. वही; पृष्ठ ७८, ८६।

नहीं है कि रोटी की मांग तम्बाकू की मांग की अपेक्षा कहीं अधिक महत्वपूर्ण प्रयोजन को सिद्ध करती है। कम से कम प्रारम्भ में इसका महत्त्व अपेक्षाकृत बहुत अधिक होता है। परन्तु यह सम्भव है, और ऐसा होता भी है, कि रोटी से प्राप्त होने वाली बाद की तृप्ति तम्बाकू से होने वाली प्रारम्भ की तृप्ति की अपेक्षा कम हो। आर्थिक दृष्टि से यह बुद्धिमत्तापूर्ण है कि एक खास सीमा तक भोजन करने के बाद तम्बाकू पिया जाय।[1]

जब हम किसी खास मामले में मूल्य-निर्धारण की वस्तुरूपात्मक समस्या की ओर आते हैं, तो प्रश्न इस तथ्य के कारण और भी अधिक उलझ जाता है कि जहां वस्तु की कोई मात्रा विद्यमान हो, वहां उसके विभिन्न भाग विभिन्न दिशाओं में प्रयुक्त किये जाने के कारण बिलकुल विभिन्न प्रकार की तृप्ति प्रदान कर सकते हैं। मेंजर ने एक किसान का उदाहरण दिया है, जिसके पास अनाज की पर्याप्त उपलब्धि है; और उस अनाज को फसल काटने पर वह विभिन्न हिस्सों में बांट लेता है; और मन ही मन उन हिस्सों को विभिन्न प्रयोजनों के लिये व्यय करना नियत कर लेता है। इनमें से पहला हिस्सा तो उसके अपने परिवार के भरण-पोषण के लिये होता है; और इसके बाद फिर हम क्रमशः अगले साल के लिये बीज, बीयर और ब्रांडी का निर्माण इत्यादि की ओर उतरते जाते हैं; और अन्त में (क्योंकि किसान के पास अनाज की पर्याप्त मात्रा विद्यमान है) उन चीजों तक आ जाते हैं, जिन्हें मेंजर ने विनोद के साथ "लक्सस थियेरन" (Luxus-thieren) कहा है। सम्भवतः ये कुछ चिचिल्ला और गिनीपिग हैं, जिन्हें किसान ने शौक के लिये पाल रखा है।[2] इससे भी अधिक और परिचित उदाहरण रौबिन्सन क्रूसो, उसके नौकर फ्राइडे, उसके कुत्ते और तोते में होने वाले परिवर्तनों का है। इन परिस्थितियों में अन्न की उस मात्रा का, जिसे हम एक इकाई समझ लेते हैं, क्या मूल्य आंका जाय? इस प्रश्न का उत्तर, जैसा कि प्रायः होता है, एक और प्रश्न को पूछकर प्राप्त हो सकता है : यदि इस विचाराधीन अन्न में से अन्तिम हिस्से का नाश हो जाय, या वह हाथ से जाता रहे, तो उस दशा में कौनसी आकांक्षा अतृप्त रह जायगी?[3] जिन उदाहरणों को हमने ऊपर मान लिया है, उनमें किसान तो

१. वही; पृष्ठ ९१। २. वही; पृष्ठ ९६।
३. वही; पृष्ठ ९८।

अपने चिल्लिलाओं को विदा दे देगा; और रौबिन्सन क्रूसो अपने तोते क
मरोड़ देगा; और इसके अतिरिक्त अन्य सब आवश्यकताएं पहले की ही
पूर्ण होती रहेंगी । साथ ही, क्योंकि पदार्थ के सब समान हिस्से एक-द
बदले जा सकते हैं, इसलिये अवश्य ही उन सबका मूल्य समान होगा।
का कोई भी बोरा अन्तिम बोरा हो सकता है। मैंजर ने जिस उदाहर
कल्पना की थी, उसमें अन्न की इकाई का मूल्य "लवलेस थियेरन" (पशु
विलास) से प्राप्त होने वाले आनन्द के बराबर होगा। इस प्रकार हम
तौर पर मूल्य का निर्धारण कर सकते हैं। वस्तुओं के किसी भी हि
मूल्य, जहाँ उस वस्तु की पर्याप्त उपलब्धि विद्यमान हो, उस न्यूनतम
वाले उपयोग के बराबर होगा, जिसमें उस प्रकार के हिस्से का प्रयोग
आ रहा होगा।[1]

इस प्रकार उन वस्तुओं के, जो उपभोक्ता के साथ प्रत्यक्षतया सम्बन
हैं, अर्थात् प्रथम कोटि की वस्तुओं के, मामले में मूल्य का निर्धारण एक
समस्या है, जिसका आसानी से समझ में आने वाला समाधान कि
सकता है। इससे ऊपर के अनुच्छेद के तत्त्व को यदि थोड़ा सा पृथक्
कहें, तो कहा जा सकता है कि मूल्य का निर्धारण उस उपयोग द्वारा हं
जिसका, उपलब्धि के घटने की दशा में, सबसे पहले बलिदान कर दिया

---

१. वही; पृष्ठ ९९। यहाँ उसके ठीक-ठीक शब्दों को दे देना उचित होगा: '
Wert einer Teilquantitat der verfugbaren Gutermenge f
jede Person demnach gleich der Bedeutung, welche d
wenigsten wichtigen der durch die Gesamtquantitat noch
cherten und mit einer gleichen Teilquantitat herbeizufuh
Bedurfnisbefriedigungen fur sie haben." अर्थात् "वस्तुओं की
मात्रा के किसी एक अंश का मूल्य प्रत्येक व्यक्ति के लिए उस महत्त्व के अनुसार
जो वह उस वस्तु से होने वाली न्यूनतम महत्त्व की आवश्यकता की तृप्ति को देता है
कि वस्तु की कुल मात्रा पर्याप्त हो और उसके किसी भी तुल्य अंश से वह आवश्य
हो सकती हो।"

यह एक लम्बे वक्तव्य का छोटा सा अंशमात्र है। मैंजर के वाक्य और पैरा
बार इतने लम्बे और उलझे हुए होते हैं कि उन्हें तोड़ने के लिए प्रायः डायना
आवश्यकता प्रतीत होती है।

है। और यह भी साथ ही स्पष्ट है कि उपलब्धि के कम होने के साथ-साथ मूल्य भी बढ़ जायगा। क्रूसो के पास जिस समय अनाज के छः बोरे थे, उस समय वह उनमें से प्रत्येक बोरे का मूल्य उस आनन्द के बराबर आँकता था, जो उसे तोते की बोली सुनकर प्राप्त होता था। किन्तु जब चूहों ने अनाज का एक बोरा खा डाला, और तोते को भुस से भरकर ताक में रख दिया गया, तब प्रत्येक बोरे का मूल्य कुत्ते के बराबर रह गया; और इस प्रकार वह मूल्य क्रमशः स्थिति बदलने के साथ-साथ बढ़ता गया; और अन्त में जब केवल एक बोरा बचा, तो उसका मूल्य क्रूसो की दृष्टि में उस सर्वाधिक मूल्य के बराबर था, जो वह स्वयं रौबिन्सन क्रूसो का मूल्य आँकता था।

परन्तु जब हम उच्चतर कोटि की वस्तुओं के सम्बन्ध में विचार प्रारम्भ करते हैं, तो हमारे सामने ऐसी पेचीदगियाँ आ उपस्थित होती हैं, जिन्हें आस्ट्रियन विचारक वर्ग अपनी चरम कुशलता के बाद भी सन्तोषजनक रूप से सुलझा पाने में सफल नहीं हुआ। आस्ट्रियन विचार में यह बात मूलभूत रूप से मान ली गई है कि मूल्य उत्पादक वस्तुओं में पुनः प्रतिफलित होता है; और उनकी यह धारणा उत्पादन की लागत वाले उस सिद्धान्त के विपरीत है, जो उत्पन्न की हुई वस्तुओं में इसलिए मूल्य का आरोपण करता है, क्योंकि उनके उत्पादन में उन वस्तुओं का उपयोग और उपभोग हुआ होता है, जिनका मूल्य होता है; और जो सिद्धान्त निम्नतर कोटि की वस्तुओं के मूल्य का कारण उच्चतर कोटि की वस्तुओं में पहले से विद्यमान मूल्य को बतलाता है। जैसा कि मैंजर ने कहा है : "उच्चतर कोटि की वस्तुओं का मूल्य सदा और निरपवाद रूप से निम्नतर कोटि की उन वस्तुओं के द्वारा नियत हुआ रहता है, जिनके उत्पादन में उच्चतर कोटि की वस्तुएँ सहायक होती हैं।"[1] वस्तुतः एक और पेचीदगी यह उठ खड़ी होती है कि समय का तत्त्व भी बीच में आ जाता है, जिसके कारण उच्चतर कोटि की वस्तुएँ आज भी भविष्य में बनने वाली उन वस्तुओं के मूल्य को प्रतिफलित करती हैं; जिन्हें उत्पन्न करने में वे कुछ समय बाद काम आयेंगी।[2]

परन्तु यह निर्धारण करना कि उच्चतर कोटि की वस्तुओं में से प्रत्येक

१. वही; पृष्ठ १२४।
२. वही; पृष्ठ १३८।

वस्तु अन्त में उत्पन्न होने वाली वस्तु के मूल्य में से कितना मूल्य प्राप्त करती है, स्पष्टतया आसान काम नहीं है। मैंजर ने जो समाधान प्रस्तुत किया है, वह स्पष्ट रूप से अस्वीकार्य है। इसकी कठिनाइयाँ बहुत ही प्रत्यक्ष हैं। प्रत्येक उत्पन्न वस्तु उच्चतर कोटि की अनेक वस्तुओं के समूह (जो काफी बड़ा भी हो सकता है) के सहयोग का परिणाम होती है; फिर भी यह सम्भव है कि उस समूह की सब वस्तुएँ अनिवार्य न हों। मैंजर का कथन है कि अनाज, भूमि, खाद, खेती के औजारों, श्रम तथा और भी कई वस्तुओं के सहयोग का फल होता है।[1] परन्तु यद्यपि खाद का प्रयोग करने से प्राप्त होने वाली उपलब्धि बढ़ जाती है, फिर भी खाद के अभाव में फसल बिलकुल नष्ट नहीं हो जायगी। इसी प्रकार खाद के अभाव की कमी को अन्य दिशाओं में श्रम की वृद्धि करके पूरा किया जा सकता है। इतना ही नहीं; एक और भी पेचीदगी यह है कि जो पूरक वस्तुएँ किसी एक पदार्थ के उत्पादन की दृष्टि से किसी एक दिए हुए निश्चित संयोजन (काम्बिनेशन) में विद्यमान होती हैं, वे ही किसी एक बिलकुल भिन्न प्रकार की निम्नतर कोटि की वस्तु के उत्पादन के लिए उसी प्रकार के किसी दूसरे संयोजन में भी विद्यमान रह सकती हैं। कृषि से उत्पन्न होने वाली वस्तुएँ अनेक प्रकार की होती हैं; और उनमें से प्रत्येक का मूल्य अलग-अलग होता है। इस प्रकार अनिश्चितता के इस गड़बड़झाले में हम अनाज के मूल्यों में से कितने मूल्य को खाद का मूल्य कह सकते हैं? मैंजर का कथन है, और यह कथन ठीक है, कि उच्चतर कोटि की वस्तु का मूल्य उस सम्पूर्ण उपज द्वारा प्राप्त तृप्ति के बराबर नहीं हो सकता, जिसके उत्पादन में उस उच्चतर कोटि की वस्तु ने सहायता दी है। उसका सुझाव यह है कि उच्चतर कोटि की वस्तु का मूल्य उस अन्तर के बराबर होता है, जो उस वस्तु की विद्यमानता के कारण उत्पन्न होता है; या उस कमी के बराबर होता है, जो सारे समूह में से उस वस्तु को निकाल लेने पर उपज के मूल्य में हो जायगी।[2] परन्तु यह स्पष्ट है कि इस सुझाव को स्वीकार नहीं किया जा सकता। यहाँ यह स्पष्ट करने के लिए सूक्ष्म अंकगणितीय उदाहरणों में जाने की आवश्यकता नहीं है कि यदि भूमि को नष्ट कर दिया जाय, या हटा दिया

१. वही; पृष्ठ १३९।
२. वही; पृष्ठ १४२।

जाय, तो उसका कृषि पर विनाशकारी प्रभाव होगा। इसलिए मेंजर के सिद्धान्त के अनुसार कृषि की उपज का सारा मूल्य भूमि को मिलना चाहिये। फिर भी इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि उपज में कृषि के औजारों और खाद का काफी योग रहता है। इसलिए सामान्य व्यक्ति को ऐसा प्रतीत होगा कि मेंजर द्वारा बताये गये हल के अनुसार उच्चतर कोटि की वस्तुएं कुल मिलाकर निम्नतर कोटि की वस्तु से उसकी अपेक्षा भी कहीं अधिक मूल्य प्राप्त कर सकती हैं, जितना कि निम्नतर कोटि की वस्तु का अपना कुल मूल्य है। यह बात उल्लेखनीय है कि मेंजर अपने अत्यन्त संक्षिप्त विवेचन में वेतन के निर्धारण की समस्या में भी इसी सिद्धान्त को लागू करता है। किसी भी दिए हुए मामले में श्रम का मूल्य उस हानि के बराबर होता है, जो उस श्रम को वापिस हटा लिये जाने के फलस्वरूप होती है।[1]

अन्तिम बात (या कम से कम हमारे प्रयोजन के लिए अन्तिम बात) यह है कि मेंजर अपने सिद्धान्त की तह में विद्यमान इन सामान्य नियमों को विनिमय के लिए प्रेरक कारणों की समस्या पर भी, और विनिमय किस सीमा तक किया जाना चाहिए, इस समस्या पर भी लागू करता है। ऐडम स्मिथ द्वारा "लेन-देन की प्रवृत्ति"[2] के सम्बन्ध में प्रयुक्त वाक्यांश को लेकर खिलवाड़ करने का साहस करते हुए वह यह बतलाता है कि विनिमय अपनी आवश्यकताओं की पूर्णतम तृप्ति के लिए प्रयत्नशील सामान्य व्यक्ति की चेतना में ही बद्धमूल है। जहाँ कहीं भी 'क' के अधिकार में वस्तुओं की कुछ ऐसी मात्राएँ होती हैं, जिनका उसके लिए किसी दूसरी वस्तु की उन मात्राओं की अपेक्षा कम मूल्य होता है, जो 'ख' के अधिकार में होती हैं (और 'ख' के लिए इससे विलोम स्थिति होती है) तो उस दशा में यह बात उन दोनों के लिए लाभदायक होगी कि वे आपस में वस्तुओं का विनिमय कर लें। यह देखने के लिए कि विनिमय किस सीमा तक किया जाना चाहिये, केवल इतना आवश्यक है कि हम कल्पना करें कि 'क' के पास छः घोड़े और एक गाय है, जबकि 'ख' के पास छः गायें और एक घोड़ा है। इनमें से 'क' और 'ख' दोनों की ही दृष्टि में गौओं और घोड़ों का मूल्य प्रत्येक नई इकाई के साथ कम होता

१. वही; पृष्ठ १४६-१५०।
२. वही; पृष्ठ १५१-१५४।

आयगा; और जहाँ पहुँचकर उन दोनों की दृष्टि में उन दोनों का मूल्य बर हो जायगा, वहीं तक विनिमय उचित होगा। इस बात का यहाँ उल्ले देना आवश्यक था; किन्तु इसका विस्तार करना अनावश्यक है, क्योंकि बात को बोहम बावर्क ने अपेक्षाकृत अधिक पूर्णतया विकसित किया था।

अब मैंजर से विदा लेने से पूर्व शायद यह उल्लेख कर देना उचित कि उसने 'सीमान्त' (मार्जिन) शब्द का प्रयोग नहीं किया, जो बाद लेखों में बिलकुल सुलभ रूप से विद्यमान था। इस परिचित शब्द को करने का श्रेय वाइजर को है। मैंजर ने स्वयं तो घुमा-फिरा कर केवल कम महत्त्वपूर्ण" उपयोग का ही उल्लेख किया है।

वाइजर

क्योंकि यहाँ हमारा प्रयोजन आस्ट्रियन विचारधारा के केवल विचारों को ही प्रस्तुत करना है, इसलिये इस विचारधारा के अन्य प्रमुख के सम्बन्ध में और भी संक्षेप से विचार करना उचित होगा। मैंजर सिद्धान्त की मोटी रूप-रेखा प्रस्तुत की; दूसरों ने उसका विशदीकरण और यह विशदीकरण ऊँचे स्तरों पर पहुँचकर इतना सूक्ष्म हो गया विचार से सहमत होना ही उचित जान पड़ता है कि इन लेखकों की से बौद्धिक व्यायाम का लाभ तो भले ही हो, पर कोई नया परिणाम का लाभ शायद ही हुआ हो।[1] फ्रीडरिख वान वाइजर[2] (१८५१-१९२ जिसने अपनी पुस्तक "उर्सप्रंग अंड हौप्टगेसेट्ज़े डेस वर्थसंपट्लिखेन (Ursprung und Hauptgesetze des Wirthschaftlichen We १८८४) में मैंजर का अनुकरण किया था, आगे चलकर अपनी दूसरी "नेचुरल वैल्यू" (१८८९) में आस्ट्रियन सिद्धान्त का असंदिग्ध रूप से अधिक सुस्पष्ट विवरण प्रस्तुत किया। गोसैन के क्षीयमाण तुष्टि के नि आधार लेकर वह सीमान्त उपयोगिता के सिद्धान्त का और भी सुि

१. वही: पृष्ठ १५६-१६८।

२. १८५१ में जन्म हुआ। शिक्षा-दीक्षा वियना में हुई। कुछ समय तक सरकारी में रहा। उसके बाद वियना और प्राग के विश्वविद्यालयों में अध्यापन का काम कर और प्राग विश्वविद्यालय में मैंजर का उत्तराधिकारी बना। १९१७ में वाणिज्य-मन्त्र और बाद में फिर पढ़ाने के काम पर वापस लौट गया। १९२६ में मृत्यु हुई।

विवरण प्रस्तुत करता है। इस सिद्धान्त को उसने "ग्रैंजनुट्ज़ैन" (Grenznutzen; सीमान्त उपयोगिता) का नाम दिया था, जो अब सब जगह स्वीकार कर लिया गया है। वह सुनिश्चित रूप से इस समस्या का हल मनोविज्ञान द्वारा करने का प्रयत्न करता है। मूलरूप से हमारी दिलचस्पी इस बात में होती है कि हमारी इच्छाएँ पूरी हो जायँ, परन्तु कुछ खास दशाओं में मुख्य रूप से वस्तुओं की उपलब्धि की परिमितता की दशा और उस उपलब्धि की सीमा को बढ़ा सकने की शक्ति की परिमितता के कारण हमारी दिलचस्पी आवश्यकता से हट कर उस वस्तु पर केन्द्रित हो जाती है, जो उस आवश्यकता को पूर्ण करती है, और इस प्रकार मूल्यवान बन जाती है।[1] इस विचारधारा को वाइज़र की देन का सबसे विशिष्ट भाग उसका ("त्सुरेखनुंग" Zurechnung; आरोपण) का सिद्धान्त है, जिसे इंग्लैण्ड में थोड़ा सा रूपान्तर करके "इम्प्यूटेशन" या "ऐट्रिब्यूशन" (आरोपण या गुणान्तरारोपण) का सिद्धान्त कहा जाता है। यह हम देख चुके हैं कि इस विचार की मुख्य आधारभूत बातों में से एक यह है कि प्रथमतः और अनिवार्यतः प्रथम कोटि की वस्तुओं में, रहता है—अर्थात् उन वस्तुओं में जो उपभोक्ता के तत्काल उपयोग में आती हैं; और इसीलिए उनके सीमान्त-उपयोग के आकलन द्वारा उनका प्रत्यक्षतः मूल्य हो जाता है। उच्चतर कोटि की सब वस्तुओं में, उत्पादक वस्तुओं में, मूल्य प्रतिफलित होता है। सूई को उसका मूल्य उस जुराब के कारण प्राप्त होता है, जिसे वह बनाती है; हल को उसका मूल्य अन्ततोगत्वा रोटी से प्राप्त होता है; और इसी प्रकार की बात अन्य वस्तुओं के बारे में भी समझी जा सकती है। अब यहाँ 'आरोपण' की समस्या उत्पन्न होती है। अर्थ में उच्चतर कोटि की वस्तुओं का तब तक कोई मूल्य नहीं होता, जब तक मूल्य उनमें "आरोपित" या "अधिनिहित" (ऐट्रीब्यूटिड) न कर दिया जाय। परन्तु उच्चतर कोटि की वस्तुओं में मूल्य का यह आरोपण किन सिद्धान्तों के आधार पर किया जाय? यह कहना शायद अतिशयोक्ति न हो कि वाइज़र का सारा सिद्धान्त इस आरोपण की प्रक्रिया की क्रियाविधि (वर्किंग का विश्लेषण मात्र है। इसमें दो बातें ध्यान देने योग्य हैं। पहली बात तो यह है कि यह आरोपण सीमान्तीय नियम (मार्जिनल ला) का अनुसरण करता है। यहाँ भी

१. उसेप्रंग; पृष्ठ ८१।

सबसे कम महत्त्वपूर्ण उपज को ध्यान में रखकर ही हमें यह निर्धारण करना होता है कि किस वस्तु में कितना मूल्य "प्रतिफलित" या आरोपित किया जाय।[1] दूसरी बात यह है कि पूरक वस्तुओं का मूल्य निर्धारण करने की वाइजर की पद्धति मैंजर की पद्धति से भिन्न है। यह बात स्मरण की जा सकती है कि मैंजर का सुझाव यह था कि ऐसे मामलों में मूल्य का निर्धारण उस हानि द्वारा किया जाना चाहिये, जो उस वस्तु को पूरक वस्तुओं के संयोग में से निकाल लेने से होगी। एक के बाद एक कई अध्यायों में[2] वाइजर मैंजर के प्रतिकूल यह युक्ति प्रस्तुत करता है कि पृथक्जातीय वस्तुओं के संग्रह के मामले में होता यह है कि जब कोई एक वस्तु समूचे में हटा ली जाती है, तो उसके साथ ही अन्य वस्तुओं के प्रभाव का भी कुछ अंश कम हो जाता है। परिणामतः "निर्णायक तत्त्व प्रतिप्राप्ति (रिटर्न) का वह अंश नहीं है, जो किसी वस्तु के न रहने के कारण कम हो जाता है, अपितु वह अंश है, जो किसी वस्तु के आ जाने के कारण बढ़ जाता है।"[3] "वस्तु के उत्पादनशील योग (कंट्रिब्यूशन)" (उत्पादक वस्तुओं के मूल्य के लिये वाइजर ने यह शब्द प्रयुक्त किया है) के निर्धारण के लिये वाइजर द्वारा सुझाया गया हल समीकरणों की एक परम्परा (सीरीज) का प्रयोग है, जिसके द्वारा वस्तुओं का विभिन्न प्रकार के (वैरीइंग) संयोजनों में प्रयोग करके उनके परिणामों को जाना जाता है।

यद्यपि वाइजर ने सीमान्तवादी सिद्धान्त का परिपक्व विवरण प्रस्तुत किया है, फिर भी ऐसा प्रतीत होता है, जैसे वह मूल्य के आस्ट्रियन सिद्धान्त का उत्पादन की लागत वाले सिद्धान्त के साथ समझौता-सा कराने का प्रयास कर रहा हो। अपनी पुस्तक "उर्संप्रंग"[4] में वह एक स्थान पर कहता है कि मूल्य-रचना की प्रक्रिया एक गोल वृत्ताकार मार्ग है। यह मूल्य का मार्ग उपभोग वस्तुओं से उठकर उत्पादक वस्तुओं तक पहुँचता है; और जब वहाँ यह निर्धारित हो जाता है, तो यह उत्पादक वस्तुओं से फिर नीचे उतरकर उपभोग्य वस्तुओं तक आ जाता है। नीचे उतरने वाली शाखा, जिसके द्वारा, व्यवहार की कठोर

१. नेचुरल वैल्यू: खण्ड ३, अध्याय ८।
२. वही; खण्ड ३, विशेष रूप से अध्याय ४-६।
३. वही; अंग्रेजी अनुवाद का पृष्ठ ८५। ४. उर्संप्रंग; पृष्ठ १५६।

सचाई में, उत्पादन की लागत उस मूल्य में से निकलनी ही चाहिए, जो कि उनके द्वारा उत्पन्न वस्तुओं को प्राप्त होता है, सब लोगों को स्पष्ट दिखाई पड़ती है, जबकि ऊपर चढ़ने वाली शाखा (जो पहली शाखा है) उस प्रकार दिखाई नहीं पड़ती, जिसके कारण उत्पादक वस्तुओं को उनका मूल्य प्राप्त हो पाता है। जब किसी मूल्य का उच्चतर कोटि की वस्तु में आधान (कनफर) हो जाता है, तो हमें वह मूल्य "gegebene Thatsache" (दिये हुए तथ्य) जैसा प्रतीत होने लगता है; और बाद में होने वाले सब लेन-देनों में वह पहले से स्वीकृत-सी बात मानी जाने लगती है। इस प्रकार वाइजर का विचार यह प्रतीत होता है कि मूल्य का उत्पादन की लागत वाला सिद्धान्त उतना गलत नहीं है, जितना कि यह अपूर्ण है। जहाँ तक वह पहुँचता है, वहाँ तक वह ठीक है; और व्यवहार में अधिकांश मामलों में ठीक है; परन्तु वह सिद्धान्त अपने अनुसंधान को इतनी दूर तक आगे नहीं ले जा पाता, कि जिससे उस मूल्य के भी स्रोत का पता चल सके, जिसे वह उत्पादक वस्तुओं में विद्यमान स्वीकार करता है।

बोहम बावर्क

उन महान् आस्ट्रियन विचारकों में से, जो आस्ट्रियन विचारक वर्ग के मुख्य स्तम्भ गिने जाते हैं, तीसरा नाम यूजेन वान बोहम बावर्क[1] (१८५१-१९१४) का है। आस्ट्रियन विचारकों में से बोहम बावर्क ही इंग्लैण्ड में सबसे अधिक ख्याति पा सका; और इसका कारण उसके ब्याज सम्बन्धी सिद्धान्त और मार्क्सवादी प्रणाली पर किये गये जोरदार आक्षेप थे। हमारे वर्तमान प्रयोजन की दृष्टि से बोहम की लिखी दो पुस्तकें महत्त्वपूर्ण हैं; और सौभाग्य से इन दोनों का ही अनुवाद अंग्रेजी में हो चुका है। अंग्रेजी में इन पुस्तकों के नाम "कैपिटल ऐण्ड इंटरेस्ट" (पूंजी और ब्याज) तथा "दी पोजीटिव थ्योरी आफ कैपिटल" (पूंजी का विधानात्मक सिद्धान्त) हैं। इनमें से पहली पुस्तक में ब्याज के अपने से पूर्ववर्ती सिद्धान्तों की विशद आलोचना की गयी है, जो इतनी अच्छी है कि

१. मोरेविया में स्थित ब्रून में १८५१ में जन्म हुआ। शिक्षा-दीक्षा वियेना में हुई। कुछ समय तक वहाँ की सरकार के वित्त-विभाग में नौकरी की। बाद में फिर पढ़ने-पढ़ाने के क्षेत्र में वापस आ गया; और वियेना में प्रोफेसर बन गया। १८९० में वित्त-विभाग में मिनिस्टी-रियेलराथ बन गया। १९०६ तक सरकारी नौकरी में रहा; और उसके बाद फिर वियेना में प्रोफेसर बन गया।

विषय की दृष्टि से यह पुस्तक व्याज के सम्बन्ध में अर्थशास्त्रीय सिद्धान्त का एक विद्वत्तापूर्ण तथा विस्तृत इतिहास बन गयी है। यह सारा ग्रंथ पूर्णतया खण्डनपरक तथा आलोचनात्मक है; और यद्यपि इस पुस्तक में इस बात के लिये रास्ता तैयार किया गया है कि दूसरों के सिद्धान्तों का खण्डन करने के बाद लेखक अपना भी कोई दृष्टिकोण प्रस्तुत करेगा, परन्तु वस्तुतः लेखक ने इसमें अपना कोई दृष्टिकोण या सिद्धान्त प्रस्तुत नहीं किया है। आस्ट्रियन सिद्धान्त को बोहम बावर्क की देन को जनाने के लिये हमें दूसरी पुस्तक "दि पोज़ीटिव थ्योरी आफ कैपिटल" पर दृष्टिपात करना होगा।

जहाँ तक उसकी रचनाओं के मुख्य अंगों का प्रश्न है, बोहम बावर्क उचित रूप से इस बात को स्वीकार करता है कि कुल मिलाकर, और व्याज के सम्बन्ध में किये गये विवेचन के अतिरिक्त, वह अपने से पूर्व के सिद्धान्तशास्त्रियों (मैंजर और वाइजर) के पदचिह्नों पर चल पाने में समर्थ रहा। इसलिये हमारे वर्तमान प्रयोजन की दृष्टि से यह बिलकुल अनावश्यक है कि बोहम बावर्क का समूचे रूप में परिमाप (सर्वे) करने का प्रयत्न किया जाय। फिर भी बोहम बावर्क के सिद्धान्त में दो बातें ऐसी हैं, जिसका उल्लेख अनेक बार किया जाता है; और इसलिये यहाँ संक्षेप में उनका जिक्र कर देना उचित होगा। इनमें से एक तो है उसका सिद्धान्त, कि कीमत का निर्धारण "सीमान्त युग्मों" (मार्जिनल पेयर्स) द्वारा होता है; दूसरी बात है व्याज के सम्बन्ध में उसके विचार, जो एक ऐसा विषय है, जिसे वह अपनी प्रमुख रचना का "भारी अंश" बतलाता है।

कीमत के तथाकथित "सीमान्त युग्मों" द्वारा निर्धारित होने का सिद्धान्त बोहम बावर्क द्वारा किये गये "कीमत"[1] के विवेचन के निष्कर्षात्मक अन्तिम भाग में प्राप्त होता है, जिसमें कि वह इस बिलकुल स्पष्ट सत्य को वक्तव्यों की काफी कुछ पेचीदगी में ढाँप-सा देता है। किसी भी एकाकी (आइसोलेटिड) विनिमय[2] में कीमत का निर्धारण "उन दो सीमाओं के बीच में किसी बिन्दु पर होगा, जिनमें से उस पदार्थ के विषय में खरीदार का कर्ताश्रित मूल्यांकन ऊपरी सीमा होगा, और विक्रेता का कर्ताश्रित मूल्यांकन निचली सीमा होगा।" इसे नित्य-प्रति के व्यवहार की भाषा में कहा जाय, तो एकाकी विनिमय में ग्राहक

१. पोजीटिव थ्योरी आफ कैपिटल; खंड ४।

२. वही; खंड ४, अध्याय २।

उससे अधिक मूल्य देने को तैयार न होगा, जितने के योग्य वह उस वस्तु को समझता है; और विक्रेता भी उससे कम मूल्य पर उस वस्तु को न बेचेगा, जितने के योग्य वह उस वस्तु को अपने मन में समझता है; और वास्तविक कीमत इन दोनों सीमाओं के बीच में ही कहीं तय होगी। इसके बाद वह आगे बढ़कर ग्राहकों में परस्पर होने वाली प्रतियोगिता तक पहुँचता है[1]; और यहाँ फिर यह बात बिलकुल स्पष्ट है कि "सब से अधिक समर्थ प्रतियोगी" अर्थात् वह ग्राहक, जो सब से अधिक मूल्य देने को तैयार होगा, वस्तु को खरीद पाने में समर्थ होगा; और यह भी स्पष्ट है कि कीमत उसके अपने मूल्यांकन (जो अधिकतम कीमत देने को वह तैयार हो सकता है) और "असफल प्रतियोगियों में सब से अधिक समर्थ प्रतियोगी" के मूल्यांकन के बीच में कहीं नियत होगी। नीलामी के समय वही व्यक्ति वस्तु को खरीद पायेगा, जो उसके लिये अधिकतम मूल्य देने को तैयार होगा; और उसे उस सीमा से आगे जाना होगा, जो उसके पहले तक सब से ऊँची बोली बोलने वाले ने बोली बोलकर नियत कर दी है। यह सब कुछ ऐसा तथ्य है, जिसके उद्घाटन के लिये किसी आस्ट्रियन को श्रम करने की आवश्यकता नहीं थी।

परन्तु "सीमान्त युग्मों" का विचार तब सामने आता है, जब बोहम बावर्क उभय-पक्षीय प्रतियोगिता[2] के सम्बन्ध में विचार प्रारम्भ करता है। स्पष्टतया बनाये रखने की दृष्टि से अच्छा यह होगा कि हम उसी उदाहरण को लें, जिसे उसने स्वयं प्रस्तुत किया है। दस व्यक्ति, जो एक घोड़ा खरीदने के लिए उत्सुक हैं, बाजार में आते हैं; और वहाँ उनकी भेंट ऐसे आठ व्यक्तियों से होती है, जिनमें से प्रत्येक एक-एक घोड़ा बेचने के लिये उत्सुक है; और एक उल्लेखनीय संयोग की बात यह है कि उनमें से प्रत्येक का घोड़ा ठीक दूसरों के शेष सात घोड़ों जैसा है, और उनमें किसी भी दृष्टि से कोई अन्तर नहीं है। प्रत्येक ग्राहक और विक्रेता घोड़े के सम्बन्ध में अपने मन में अलग-अलग मूल्यांकन लेकर आता है और बोहम बावर्क के उदाहरण में उनके मूल्यांकन निम्नलिखित प्रकार के हैं :

१. वही; खंड ४, अध्याय ३।
२. वही; खंड ४, अध्याय ४।

ग्राहक		विक्रेता	
क$_{१}$ घोड़े का मूल्य आंकता है, (और इससे नीचे की किसी भी कीमत पर खरीदने को तैयार है)	३० पौंड	ख$_{१}$ घोड़े का मूल्य आंकता है, (और इससे ऊपर जो भी कीमत मिले, उस पर बेचने को तैयार है)	१
क$_{२}$	२८ "	ख$_{२}$	१
क$_{३}$	२६ "	ख$_{३}$	१
क$_{४}$	२४ "	ख$_{४}$	१
क$_{५}$	२२ "	ख$_{५}$	२
क$_{६}$	२१ "	ख$_{६}$	२
क$_{७}$	२० "	ख$_{७}$	२
क$_{८}$	१८ "	ख$_{८}$	[illegible]
क$_{९}$	१७ "		
क$_{१०}$	१५ "		

इन परिस्थितियों में क्या होगा ? स्पष्ट है कि क १, जो सब से ग्राहक है, घोड़ा खरीद लेगा। वस्तुतः वह उतनी कीमत देने को तैयार पर इन आठों संभावित विक्रेताओं में से कोई भी अपना घोड़ा बेचने को हो जायगा। इसी प्रकार, ऐसे ही कारणों से ख १ भी अपना घोड़ा बेच लेगा। वस्तुतः यह बात निश्चित है कि क १ और ख १ सौदा अ कर लेंगे (हालांकि यह आवश्यक नहीं है कि उनका यह सौदा दूसरे के हो)। यदि वे केवल दो ही सौदा करने वाले होते, तो उन दोनों के बी की कीमत १० पौंड से लेकर ३० पौंड तक कहीं भी नियत हो सकत यह किस बिन्दु पर नियत होती, यह इस बात पर निर्भर रहता कि उ में से कौन कितना कुशल सौदेबाज है। परन्तु वास्तविक व्यवहार में वे जिनके अन्दर-अन्दर कीमत नियत होगी, उन ग्राहकों और विक्रेताअ नियत हुई रहती है, जो उन दोनों की अपेक्षा कम सामर्थ्य वाले हैं। इस यह भरोसा किया जा सकता है कि क २ और ख २ भी अवश्य सौदा और उनकी कीमतों की सीमा का निर्धारण भी उनकी अपेक्षा कम वाले ग्राहकों और विक्रेताओं द्वारा होगा। इस तालिका पर नीचे की ओ

डालते जाने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वे अन्तिम व्यक्ति, जो सौदा कर पाने में समर्थ होंगे, वस्तुतः क ५ और ख ५ हैं; और जो सौदा करने में अधिकतम निकट-निकट पहुँचकर भी सौदा कर पाने में असफल रहेंगे, वे क ६ और ख ६ हैं। ये ही "सीमान्त युग्म" हैं; और यह ठीक होते हुए भी कि ख १, जो सुनिश्चित विक्रेता है, 'क' लोगों में से किसी को भी अपना घोड़ा बेच सकता है, वह कीमत, जिस पर कि सौदा होगा, अन्तिम ग्राहक और अन्तिम विक्रेता द्वारा निर्धारित सीमाओं के अन्दर ही होगी। यदि सीधे-सादे रूप में कहा जाय, तो मूल्य का निर्धारण सीमान्त युग्मों के कर्ताश्रित मूल्यांकनों द्वारा नियत सीमाओं के अन्दर ही अन्दर होता है। इस सब में महत्त्वपूर्ण बात वे परिणाम हैं, जो सीमान्त युग्मों के सिद्धान्त से निकाले गये हैं; क्योंकि पहला परिणाम तो यह निकलता है कि प्रत्येक बाजार कीमत अपने आप में सीमान्त कीमत होती है; और दूसरी बात यह है कि ऊपर से दीख पड़ने वाली वस्तुरूपात्मकता (ऑब्जेक्टिविटी) के बावजूद कीमत कर्ताश्रित (सब्जैक्टिव) मूल्यांकनों का फल होती है।

बोहम बावर्क की दूसरी मूलभूत महत्त्व की बात, और जो उसकी विशेष रूप से अपनी है, है ब्याज का विषय। इस विषय में जिस बात का स्पष्टीकरण करना अभीष्ट है, वह यह है कि वर्तमान में वस्तुओं का कर्ताश्रित मूल्य भविष्य में उसी प्रकार की उतनी ही वस्तुओं की अपेक्षा क्यों अधिक होता है ? आज के १०० रु० आज से एक साल बाद के १०५ रुपयों के मूल्य के बराबर क्यों होते हैं ? दूसरे शब्दों में ब्याज क्यों उत्पन्न होता है ? इस समस्या का न तो मेंजर ने, और न वाइजर ने ही कोई पूर्णतया संतोषजनक समाधान किया था। बोहम बावर्क द्वारा प्रस्तुत समाधान मुख्यतया मनोवैज्ञानिक है; और वह इस तथ्य पर आधारित है कि हम एक सुनिश्चित रीति से भविष्य का मूल्य कुछ कम करके देखते रहते हैं। वह इस दिशा में क्रियाशील तीन प्रमुख प्रभावों का उल्लेख प्रस्तुत करता है।[1] इनमें से पहली बात तो यह है, कि हमें यह आशा होती है कि भविष्य में हमारी हालत अबकी अपेक्षा अच्छी हो जायगी; इसलिये किसी भी तुल्य राशि का सीमान्त मूल्य हमारे लिये आज उसकी अपेक्षा कहीं अधिक

१. इस विषय का विवेचन "पोज़ीटिव थ्योरी आफ कैपिटल" के पाँचवें खंड में क्रमशः अध्याय २, ३ और ४ में किया गया है।

होता है, जितना कि उसी राशि का मूल्य हमारे लिये उन भावी अपेक्षाकृत अधिक समृद्ध दिनों में होगा, जिनकी ओर जैसी कि हमें आशा होती है, और विश्वास होता है हम निरन्तर बढ़ रहे होते हैं। यह बात उन सब लोगों पर लागू होती है, जो परेशानियों में फंसे होते हैं, और यह आशा कर रहे होते हैं कि कुछ समय बाद उनकी विपत्तियां समाप्त हो जायेंगी। यह बात उन अनगिनत लोगों पर भी लागू होती है, जिन्हें यह आशा होती है कि उन्हें भविष्य में अब की अपेक्षा कहीं अधिक प्रतिफल मिलने लगेगा, और उनके श्रम का मूल्य कहीं अधिक आंका जाने लगेगा। यह बात उन लोगों पर लागू नहीं होती, जो अवनतिमुख हैं; जो अनिवार्य रूप से ५० प्रतिशत पेंशन की ओर, या इससे भी कुछ खराब स्थिति की ओर बढ़ रहे हैं; परन्तु इन मामलों में भी वर्तमान वस्तुओं का मूल्य, यदि बुरी से बुरी हालत हो, तो भी, भविष्य की वस्तुओं के कम से कम बराबर तो होता ही है; क्योंकि सामान्य तौर से उन वस्तुओं को भविष्य के लिये इस ढंग से रखा जा सकता है कि उनके मूल्य में कमी न हो; और इसके अतिरिक्त, इस बीच के समय में, यदि कोई आवश्यकता आ पड़े, तो वे वस्तुएं संचित कोष (रिजर्व फंड) के रूप में काम आ सकती हैं। इसलिये इस प्रकार के लोग भी वर्तमान वस्तुओं का मूल्य भविष्य की वस्तुओं जितना ही, बल्कि उसकी अपेक्षा थोड़ा-सा अधिक ही, आंकेंगे। इस प्रकार यह है पहला कारण, कि हम भविष्य की वस्तुओं का मूल्य क्यों कम समझते हैं; और यह कारण इस तथ्य का परिणाम है कि आशा, जो मानव हृदय में अनन्तकाल से विद्यमान है, हमें यह विचारने को प्रेरित करती है कि हमारे भविष्य के दिन अपेक्षाकृत कम दरिद्रतापूर्ण होंगे।

दूसरा कारण यह है कि जिस तरह हम भविष्य में अपने साधनों का अति-आकलन (ओवर-ऐस्टिमेट) कर लेते हैं, ठीक उसी प्रकार हम अपनी भविष्य की आवश्यकताओं का अव-आकलन (अंडर-ऐस्टिमेट) कर बैठते हैं। यह बात अपने आप में कई विभिन्न प्रभावों का मिश्रित परिणाम होती है। इसका कारण अंशतः कल्पना-शक्ति का अभाव होता है; हम इस बात को ठीक-ठीक समझ नहीं पाते कि अगले वर्ष हमें कितनी वस्तुओं की आवश्यकता होगी; कितने आनन्द ऐसे होंगे, जिनका आकर्षण हमारे लिये दुर्निवार होगा और कितनी ही ऐसी देनदारियां हमारे सिर होंगी, जिनसे हम किसी प्रकार

बच नहीं सकेंगे। अंशतः इसका कारण संकल्प का अभाव होता है; हम दुर्बल चित्त मानव-प्राणी हैं; जिस दिन हमें वेतन मिलता है, उसी दिन हम उसे समाप्त कर डालते हैं, हालांकि हमें इस बात का बौद्धिक आभास रहता है कि अभी महीने में ३० दिन और शेष हैं। हम बड़ी दुर्बलता के साथ लोगों से वायदे करते चले जाते हैं; और हम वायदे करते समय भी यह जान रहे होते हैं कि हम अपने आपको मुसीबत में डालते जा रहे हैं। इसका परिणाम यह होता है कि हम अपनी भविष्य की वस्तुओं को आवश्यकताओं और माँगों के उस समूह के मुकाबले में जुटा रहे होते हैं, जो समय आने पर वस्तुतः उसकी अपेक्षा कहीं अधिक विशाल हो चुका होगा, जितने की कि हमने गुंजाइश रखी थी। आशावाद की दो गलतियों का, अपने भावी साधनों को अधिकतम करके देखने और अपने दायित्वों को न्यूनतम करके देखने का, प्रभाव यह होता है कि हम सोचने लगते हैं कि भविष्य में हमारे पास पैसा अधिक हो जायगा; और इसलिये उसकी सीमान्त उपयोगिता उसकी अपेक्षा कहीं कम होगी, जितनी कि वस्तुतः उस समय के आ जाने पर हमें दिखाई पड़ती है। इस प्रकार इस तथ्य से बिलकुल पृथक् भी, कि जीवन अल्प और अनिश्चित है, और शायद हम कभी भविष्य तक पहुँच ही न पायें, "हम भविष्य की वस्तुओं की सीमान्त उपयोगिता को कुछ घटे हुए रूप में इस प्रकार देखते हैं, जैसे वह हमें साफ दिखाई पड़ रही हो।"[1]

ब्याज की उत्पत्ति की व्याख्या करते हुए बोहम बावर्क द्वारा प्रस्तुत किया गया तीसरा कारण कुछ अलग प्रकार का है। इसका सम्बन्ध उस वस्तु की उत्कृष्टतरता (सुपीरियोरिटी) से है, जिसे उसने "उत्पादन की चक्करदार प्रणाली" कहा है। एक बुद्धिमत्तापूर्वक चुनी गई पूंजीवादी प्रक्रिया द्वारा सीधी, साधनहीन उत्पादन-प्रणाली की अपेक्षा कहीं अधिक उत्पादन किया जा सकता है। उत्पादन की लम्बी पद्धतियों के परिणामस्वरूप अधिक माल तैयार होता है; और इसलिये वर्तमान की और भविष्य की वस्तुओं की तुलना में प्राविधिक दृष्टि से वर्तमान की वस्तुएँ अधिक ग्राह्य होती हैं, क्योंकि उनके कारण पूंजीपति को उत्पादन की चक्करदार पद्धति का लाभ उठाने का अवसर मिल जाता है, और उसके फलस्वरूप भविष्य में अधिक प्राप्ति होने

१. वही; पृष्ठ २५८ (अंग्रेजी अनुवाद)।

लगती है। इस दिशा में विचार करते-करते वह उन बिन्दुओं तक पहुँच जाता है, जिनके चारों ओर उसके विवेचन का अधिकांश केन्द्रित है। यहाँ इतना भर देख लेना पर्याप्त होगा कि उत्पादन को चक्करदार प्रक्रियाओं के दृष्टिकोण से भी वर्तमान वस्तुएँ प्राविधिक दृष्टि से अधिक उत्कृष्ट ठहरती हैं।[1]

अर्थशास्त्र के प्रारम्भिक विद्यार्थी के लिये मेंजर, वाइज़र और बोहम बावर्क तीनों मिलकर आस्ट्रियन विचारधारा के मूल और केन्द्र के पर्याप्त प्रतिनिधि समझे जा सकते हैं। परन्तु एक अन्य चौथा लेखक भी इस विचार-धारा के मूल संस्थापकों में गिना जाने का दावेदार है, और उसके दावे को टाल पाना भी कठिन है। आज हम सबके सम्मुख यह बात बिलकुल स्पष्ट है कि आस्ट्रियन सिद्धान्त की सभी मुख्य बातें न केवल वैयक्तिक अर्थ-व्यवस्था पर ही लागू होती हैं, बल्कि राज्य-व्यवस्था पर भी; और यह बात कि व्यक्ति और राज्य के बीच सम्पर्क के उस सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण प्रश्न में, जिसका रूप करारोपण है, जो कुछ राज्य को मिलेगा, उसकी राज्य के लिये भी सीमान्त उपयोगिता होगी। यह सम्भव है कि राज्य करदाता से पैसा ले ले, और उसका प्रयोग अपेक्षाकृत कम महत्त्वपूर्ण कामों के लिये करे, जबकि करदाता उसका प्रयोग अधिक लाभ देने वाले कामों के लिये कर सकता हो। वस्तुतः यह एक पुराना, न सँवारा हुआ-सा सत्य है; फिर भी, यह स्पष्ट है कि इसे वियेना के ढंग से सजा-सँवारकर सुन्दर रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। इस समस्या के इस पहलू का विवेचन ऐमिल सैक्स ने अपनी पुस्तक "ग्रंडलेगुंड डेर थियोरैटिस्चैन स्टाट्स्वर्थ्स्चाफ्ट" (Grundlegung der Theoretischen Staatswirthschaft) (१८८७) में किया है और उसकी यही प्रमुख देन है। उसने आस्ट्रियन विचारधारा को राज्य के अर्थशास्त्र पर लागू किया; और विशेषरूप से उसका उपयोग करारोपण के एक सिद्धान्त को विकसित करने के लिये किया।

१. देखो उदाहरण के लिये अंग्रेजी अनुवाद का पृष्ठ ८२ और २६८।

उपसंहार

यद्यपि आस्ट्रियन विचारक वर्ग के प्रमुख लेखकों की रचनाएँ बीसवीं शताब्दी में खूब आदर पाती रहीं, परन्तु वस्तुत: १८७० से लेकर १८९० तक उनका काम पूरा हो चुका था। यह निश्चित रूप से सत्य है कि तब से लेकर अब तक अर्थशास्त्र के विषय में इतनी पुस्तकें लिखी जा चुकी हैं, जितनी कि पृथ्वी के प्रारम्भ काल से लेकर १८७० तक के तैयारी के काल में नहीं लिखी गई थीं; और इन में से कुछ पुस्तकें ऐसे लेखकों द्वारा भी लिखी गई हैं, जो अर्थशास्त्र के महानतम लेखकों में गिने जाने योग्य हैं। इसलिये आस्ट्रियन विचारक वर्ग के बाद ही पटाक्षेप कर देना बड़ी कायरता का-सा काम प्रतीत हो सकता है। फिर भी इस कायरता जैसे विवेकपूर्ण कार्य के लिये कुछ न कुछ बहाने और सफाइयाँ यहाँ प्रस्तुत की जा सकती हैं। पहली बात तो यह है कि जो पुस्तक यह मानकर लिखी गई है कि वह इतिहास है और साथ ही यह भी ध्येय रखा गया है कि यह पुस्तक पाठ्य-पुस्तकों के साथ-साथ उपयोग में लाई जाय, उसके लिये यह उचित ही है कि वह गत परसों तक के सिद्धान्तों का विवरण प्रस्तुत करके ही समाप्त हो जाय, और आज के तथा सम्भवत: बीते कल के सिद्धान्तों के विवरण को इसलिये छोड़ दे कि वह पाठ्य-पुस्तकों अथवा अध्यापन-कक्ष में ही प्रस्तुत किया जा सके। अर्थशास्त्रीय सिद्धान्तों के वर्तमान में प्रचलित विवरण में, चाहे वह सामान्य ढंग की विक्रय योग्य वस्तु (पुस्तक के) के रूप में उपलब्ध होता हो, या उस भाषण-माला के रूप में उपलब्ध होता हो, जो बोले जा चुकने के तुरन्त बाद ही समाप्त हो जाते हैं, गत २० या ३० वर्षों के विवादों का प्रतिबिम्ब और विवेचन होना चाहिये। परिणामत:, जहाँ तक इस पुस्तक का सम्बन्ध है, उन लेखकों को, जो अभी तक इतिहास की वस्तु नहीं बने हैं, इसलिये छोड़ दिया जा सकता है कि उनके सम्बन्ध में विचार निकटतर क्षेत्र में किया जा सकता है। यह काम छात्रों को अर्थशास्त्र पढ़ाने वाले अध्यापकों का है कि वे निकट अतीत के मार्शल और निकल्सन तथा वर्तमान के पीगो, कीन्स, हौटरे, राबर्टसन तथा अन्य अनेक विद्वानों की अनन्त

परम्परा के विचारों की व्याख्या करें। इस प्रसंग में शुम्पीटर और पेरेटो, कैसल और जे० बी० क्लार्क, विकसैल और नैप, तथा अन्य उन सब लोगों को, जिनके लिये भी गुन्जाइश हो, भूला नहीं जाना चाहिये। और हमारी कामना है कि अपने बुद्धिमान जिज्ञासुओं को सन्तुष्ट करने में उन्हें ठीक पथ-प्रदर्शन प्राप्त हो।

दूसरी बात यह है, और शायद यह उसी बात को दूसरे दृष्टिकोण से प्रस्तुत करना भर है, कि हम उत्तर-आस्ट्रियन विचारों के विकास के इतने अधिक निकट हैं कि हम उनका ठीक-ठीक मूल्यांकन नहीं कर सकते। बुद्धिमान चींटी वही होती है, जो यह जानती हो कि जंगल में सबसे ऊँचा पेड़ कौनसा है और उसी में वह अपनी आर्थिक गतिविधि को बढ़ाती हो। काल का यह विचित्र कौशल है कि वह बहुत बार बड़े-बड़े शक्तिशालियों को उनके उच्चासन से नीचे धकेल देता है और बिलकुल नीचे पड़े हुओं को ऊँचा उठा देता है। और यह सम्भव है कि बाद में जाकर यह मालूम हो, कि जिन्होंने बहुत शोर मचाया है उनमें से कुछ केवल बन्द गली में बजने वाले लाउडस्पीकर ही थे। यह सम्भव है कि हम पिछली पीढ़ी के सबसे अधिक प्रभावशाली व्यक्तियों के बारे में बहुत कुछ युक्तियुक्त रीति से ठीक-ठीक अन्दाज लगा सकें; किन्तु जब तक उन लोगों और उनकी रचनाओं की छानबीन हमारे बच्चों की अपेक्षाकृत निरपेक्ष पीढ़ी की आँखें न कर लें, तब तक वे लोग अमरत्व के केवल उम्मीदवार भर हैं।

फिर भी, सम्भवतः निष्कर्ष के तौर पर आस्ट्रियन विचारकों के समय और आज की स्थिति के मध्य की पीढ़ी के काल में अर्थशास्त्र सिद्धान्त की दशा के बारे में भी कुछ कह देना उचित होगा; भले ही इतनी अधीरता न दिखाई जाय, कि किन्हीं खास-खास बातों का भी वर्णन प्रारम्भ कर दिया जाय। यह कहा जा सकता है कि इन पिछले पचास वर्षों में अधिकांश विचार पर 'सीमान्त' तथा आस्ट्रियन दृष्टिकोण के अन्य तत्त्वों का प्रभुत्व रहा है और सारे ही विचार पर इन बातों का प्रभाव पड़ा है। इंगलैण्ड में निःसन्देह अर्थशास्त्रीय विचार का प्रमुख नेता अल्फ्रैड मार्शल (१८४२-१९२४) रहा है, जिसको पहले-पहल शायद इस रूप में सर्वोत्तम देखा जा सकता है कि उसने आस्ट्रियन विचारों को, बिना उनकी अति-सूक्ष्मताओं में उलझे, उनका उचित

स्थान दिलाने का प्रयास किया और इस प्रकार आस्ट्रियन विचारों और उनसे पुराने राजनीतिक अर्थशास्त्र में समन्वय स्थापित करवाया।

फिर भी, हालांकि पिछली पीढ़ी में सर्वोत्तम विचार के बहुत बड़े भाग को सीमान्तवाद से प्रेरणा प्राप्त हुई थी (केवल एक और महत्त्वपूर्ण उदाहरण के तौर पर जे० बी० क्लार्क का नाम लिया जा सकता है), इस बात के संकेत विद्यमान हैं कि आस्ट्रियन विचारकों की यह मास्टर कुंजी (सीमान्तवाद) अब वैसा 'खुल सीसम' (जादू का मंत्र) नहीं समझा जाता, जैसा कि यह पहले-पहल घोषित होने पर समझा गया था। यह निश्चित है कि सीमान्त नियम अब रहेगा; इससे बचा नहीं जा सकता, यहाँ तक कि इसका नाम बदलकर भी इससे बच पाना सम्भव नहीं है; हालांकि यह एक ऐसा उपाय है, जिसका प्रयोग मानवीय विचार के इतिहास में पहले भी कम बार नहीं होता रहा। जब तक कि उपलब्धि सीमित है, और उद्देश्यों या सन्तुष्टियों का महत्त्व कम या अधिक है, उस समय अर्थशास्त्र का सार यही है कि तीव्रतर आवश्यकताओं को पहले तृप्त किया जायगा। किसी जगह एक उद्देश्य या सन्तुष्टि को पूर्ण करने वाली सूची में जोड़ लेना होगा, जबकि उसके पड़ोसी उद्देश्य या सन्तुष्टि को छोड़ देना होगा, और जहाँ यह कतरनी चलेगी, वहीं सीमान्त होगा, चाहे उसे फिर किसी भी नाम के आवरण में छिपाकर क्यों न रखा जाय। परन्तु आस्ट्रियन भवन की गगनचुम्बी मीनारें अब अर्थशास्त्रियों के रहने के लिए वैसे अभीष्ट निवास-स्थान नहीं समझी जातीं, जैसी कि तब समझी जाती थीं, जब हम बालक थे। इतनी ऊँचाई पर रहने के कारण जो सिर में चक्कर से आने लगते हैं, उनकी क्षति-पूर्ति उस शारीरिक व्यायाम द्वारा भी पूरी तरह नहीं हो पाती, जो उस ऊँचाई तक पहुँचने के लिये करनी पड़ती है। यह संदिग्ध है कि हम विभेदक कलन (डिफरेंशियल कैल्कुलस) के सिद्धान्तों के अनुसार उपभोग करते हैं; वस्तुत: उपभोग की प्रक्रिया बीच-बीच में विराम ले ले कर भी हो सकती है। यह भी संदिग्ध है कि कहीं हमने क्षीयमाण उपयोगिता के नियम को आवश्यकता से अधिक बिना आनाकानी किये तो स्वीकार नहीं कर लिया है। यदि इस बात को छोड़ भी दिया जाय कि जब भूखा सिकुड़ा पेट अन्न के लिये चीख-पुकार कर रहा होता है, उस समय भी हीनतर तृप्तियों को प्राथमिकता दी जाती है, तो भी यह सम्भव है कि ऐसी वस्तुएँ भी, जिनमें उपभोग के साथ-साथ

उनके लिये क्षुधा तीव्र होती जाती है, उतनी ही अधिक संख्या में हैं, जितनी कि वे वस्तुएँ, जिनमें क्षुधा तृप्ति और प्रभूतता के साथ घटती जाती है।

इसलिये, अंशतः इसके मनोवैज्ञानिक आधार के प्रति कुछ अस्पष्ट-सा असंतोष होने के कारण और अंशतः कुछ अन्य कारणों से शायद सीमान्तवाद की आलोचना करने की, कम से कम इसके सूक्ष्म गहरे प्रयोगों की दृष्टि से आलोचना करने की, प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। फिर भी, जहाँ तक सामान्य दृष्टि से दिखाई पड़ता है, इसके स्थान पर किसी और नये सिद्धान्त को प्रस्तुत करने की दिशा में कोई सुनिश्चित कदम अभी तक नहीं उठाया गया है। वस्तुतः आज अर्थशास्त्र कई दृष्टियों से एक अजीब हालत में है, इसके उपाध्याय अर्थशास्त्रीय अज्ञानवाद से ग्रस्त हैं, बशर्ते कि अज्ञानवाद सब सिद्धान्तों में विश्वास के सक्रिय अभाव की सीमा तक न पहुँच जाता हो। उदाहरण के लिये एक वक्तव्य को देखिये, जिसमें कैम्ब्रिज स्कूल का, जो मार्शल के विचारों का उत्तराधिकारी है, विश्वास या विश्वास का अभाव निहित है, और संयोग-वश यह मार्शल की एक अपनी ही उक्ति की प्रतिध्वनि है—"अर्थशास्त्र का सिद्धान्त हमें कुछ ऐसे सुनिश्चित निष्कर्षों तक नहीं पहुँचा पाता, जिन्हें तुरन्त नीतियों के ऊपर लागू किया जा सके। यह सिद्धान्त न होकर एक पद्धति अधिक है, मन का एक ऐसा उपकरण, विचार की एक ऐसी प्रविधि, जो अपने स्वामी को सही निष्कर्ष निकालने में सहायता देती है।"[1] यह कहना कि अर्थशास्त्र एक पद्धति है, सिद्धान्त नहीं, यह सुस्पष्ट सत्यों का कोई समूह नहीं, बल्कि सुस्पष्ट सत्यों को खोज निकालने का एक यंत्र भर है, बड़े आनन्द के साथ इस दृष्टिकोण को प्रस्तुत करना है कि आर्थिक सत्य कुछ ऐसी वस्तु हैं, जिन तक कभी पहुँचा ही नहीं जा सकता। इसी प्रकार शुम्पीटर भी पिछले दस या बीस वर्षों की अवधि पर दृष्टिपात करते हुए "कई सबसे समर्थ अर्थ-शास्त्रियों में पाई जाने वाली इस प्रवृत्ति का जिक्र करता है...कि वे बहुत समय से चली आ रही समस्याओं के सम्बन्ध में और अधिक अनुसन्धान को निरुत्साहित करते हैं तथा सूक्ष्मतर संशोधनों को अनावश्यक या इससे भी कुछ बुरा समझते हैं।" उसने इस विश्वास का जिक्र किया है, जो उस समय

१. कैम्ब्रिज इकानामिक हैंडबुक्स की सामान्य भूमिका।

विद्यमान था, कि इस क्षेत्र में "महान् कार्य समाप्त किया जा चुका है"। इसी प्रकार श्री होमेन ने अपनी पुस्तक "वर्तमान गतिरोध (The Present Impasse) में एक अध्याय में कहा है—

"प्रकटतया विवादों से थककर और आधुनिक जीवन के पेचीदा तथ्यों को दृष्टि में रखते हुए अव्यक्त सिद्धान्तों के और अधिक परिष्कार की व्यर्थता को अनुभव करते हुऐ अधिकांश अर्थशास्त्रियों ने पन्द्रह-बीस वर्ष पहले ही सैद्धान्तिक विवादों को समाप्त कर दिया था और अपना ध्यान मुख्यतया अपने चारों ओर विद्यमान जीवन के यथार्थ अध्ययन की ओर देना शुरू कर दिया था।"[1]

यह है उस "सिद्धान्तशास्त्र विरोधी विचारक वर्ग" स्वयं निर्मित "संस्थावाद" की व्याख्या, जिसे अमेरिका में काफी महत्त्व प्राप्त हुआ है और जिसे शुम्पीटर सिद्धान्तशास्त्र के पाषाणीकरण का न्याय्य परिणाम मानता है। यहाँ इस बात का विवेचन करने की आवश्यकता नहीं है कि क्या यह सचमुच सम्भव है या नहीं कि सिद्धान्तशास्त्र को कोठरी में बन्द कर दिया जाय और उसके बाद तथ्यों और समस्याओं पर टूट पड़ा जाय, और बाद में उन पर लागू करने के लिये चुपके से थोड़ा-थोड़ा करके सिद्धान्त को मुक्त करने के लिये बाधित न होना पड़े। चाहे जो हो. संस्थावादी विचारक हाल के वर्षों में आर्थिक अज्ञानतावाद के बहुत रोचक उदाहरण हैं, भले ही, जैसी कि कुछ लोगों को आशा है, अज्ञानतावाद का दौरा भी समाप्त होने को हो।[2]

हाल के आर्थिक विचार में अनिश्चय और अज्ञानता का कारण यह तथ्य है कि हम सामाजिक और राजनीतिक दृष्टि से एक संक्रमण के युग में रह रहे हैं। पुराने गुरु गम्भीर वाक्यांश में कहा जाय, तो "मानवता अग्रसर हो रही है।" १९वीं शताब्दी के राजनीतिक अर्थशास्त्र में उस काल की दशाओं का प्रतिबिम्ब दीख पड़ा था, जिसमें कि वह अर्थशास्त्र उत्पन्न हुआ था और जिनमें उसने उस प्रतियोगिता की पूर्णता को स्वीकार कर लिया था, जिसका मूल्य

---

१. होमेन : टैम्परेरी इकोनोमिक थाट; पृष्ठ ४४२-४४३।

२. हाल के और प्रचलित अमेरिकन दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति के लिये आर० जी० टगवैल द्वारा "दि ट्रैंड आफ इकोनोमिक्स" शीर्षक के अन्तर्गत सम्पादित विभिन्न लेखकों के निबन्ध-संग्रहों का निर्देश किया जा सकता है।

व्यक्ति के आत्म-हित की अनियंत्रित क्रिया में विद्यमान था। परन्तु प्रतियोगिता और यथेच्छाचारिता की नीति, यदि वे अब धुँधली स्मृतियों की अपेक्षा कुछ अधिक शेष रही भी हों, तो भी कम से कम, विक्टोरियन युग के अन्य अवशेषों की भाँति वे वह वस्तु "नहीं रह गयी हैं, जो वे किसी समय थीं।" मनुष्य अब इकाई नहीं समझे जाते। अब वे बलात् समूहों में बद्ध हुए जा रहे हैं और संयोजन तथा नियमन की शक्ति का एक ऐसे समाज को जन्म दे रही हैं, जो उस समाज से बहुत भिन्न है, जिसकी व्याख्या करने का प्रयत्न १९वीं शताब्दी के राजनीतिक अर्थशास्त्र ने किया था। यह तथ्य भी, कि हम इस समय व्यष्टिवाद और सामूहिकतावाद के बीच संक्रमण की दशा में हैं, और हमें यह भी मालूम नहीं कि हमें कितनी दूर तक जाना होगा, और न यह मालूम है कि उस अज्ञात लक्ष्य की ओर हम कितनी तेजी से बढ़ेंगे, अर्थशास्त्रीय सिद्धान्त में हाल में पाये जाने वाले असन्तोष का एक कारण है; क्योंकि जिन मान्यताओं पर सिद्धान्त आधारित था, वे अब अनिवार्य रूप से तथ्यों के मुकाबले में पिछड़ती हुई प्रतीत हो रही हैं। किसी समय जो बात व्याख्या समझी जाती थी, अब वह व्याख्या की ओर पहला कदम भर समझी जाने लगी है; और परिणामतः उत्साही और अधीर आत्मा सब सिद्धान्तशास्त्र की अवास्तविकता के विरुद्ध प्रतिवाद कर रही है:

प्रिय मित्र, सारा सिद्धान्तशास्त्र शुष्क है,
और हरा है जीवन का सुनहला वृक्ष।

परन्तु यदि आजकल के अर्थशास्त्री किन्हीं भी सिद्धान्तों के सामान्य समूह की वैधता के सम्बन्ध में प्रशंसनीय रूप से विनम्र हैं—और यदि कम से कम इंगलैण्ड में उन्होंने सिद्धान्त-पोथियों को बन्द कर देना सीख लिया है—तो भी इस कारण उनके सत्य के अनुसन्धान के प्रति उत्साह में कोई कमी नहीं हुई; भले ही सत्य को एक ऐसी देवी क्यों न मान लिया जाय, जो किसी तरह पकड़ में ही नहीं आती। विशेष रूप से युद्ध की उथल-पुथल में और शान्तिकाल के कुसाम्यस्थापनों में सबसे तीव्र विवाद के लगभग सभी विषय मुख्य रूप से आर्थिक ढंग के रहे हैं। इन परिस्थितियों में अर्थशास्त्र का प्रणालीबद्ध लेखन (मोनोग्राफ) आवश्यक हो जाता है। सिद्धान्तों का शानदार विवरण, जो सुनिश्चित सत्य का प्रतीक हो,

एक ऐसा लक्ष्य बन जाता है, जो दुष्प्राप्य दूर देश से चमकता दीख पड़ता है।[1] इस प्रकार समस्याओं की एक ऐसी विस्तृत माला सामने आ उपस्थित हुई है, जिसके लिए ऐसे सूक्ष्म विश्लेषण की आवश्यकता होती है, जिससे रिकार्डो को भी अपने सूक्ष्मतम विश्लेषण के क्षणों में ईर्ष्या होती। इस प्रकार की समस्याओं के अन्तर्गत द्रव्य के सम्पूर्ण सिद्धान्त, विभिन्न देशों के मध्य विनिमय की दर की समस्या, बैंक व्यवसाय के सिद्धान्त और व्यवहार, विशेषरूप से वे परिणाम जो अपहार (डिस्काउन्ट) की दरों में परिवर्तन के स्वरूप उत्पन्न होते हैं, और इस सब के व्यापार-चक्रों पर पड़ने वाले प्रभाव का उल्लेख किया जा सकता है। श्री कीन्स ने बड़े उचित रूप से इस बात पर टिप्पणी की है कि द्रव्य के सिद्धान्त पर अतीतकाल में बहुत थोड़ा ध्यान दिया गया है। सम्भव है कि युद्ध पश्चात् काल में इन मामलों पर जो बड़े-बड़े विचार-विमर्श हुए हैं, जिनमें इंग्लैण्ड में श्री कान्स, श्री होट्रे और श्री राबर्टसन की रचनाओं ने प्रमुख भाग लिया है, उनके द्वारा हम आर्थिक विचार के एक नये और महत्त्वपूर्ण अध्याय का प्रारम्भ हुआ समझ सकते हैं। परन्तु एक बात ऐसी है, जिसके बारे में भावुकता भरी आह को दबा पाना कठिन है। अतीत काल में अर्थशास्त्र मुख्य रूप से, और थोड़े से अपवादों को छोड़कर, एक ऐसा विषय रहा है, जिसे प्रत्येक बुद्धिमान सामान्य व्यक्ति, जिसके पास खाली समय हो, आसानी से पढ़ सकता था। कोई भी व्यक्ति स्मिथ और माल्थस को पढ़ सकता है। यह समझा जाता है कि हर कोई (भगवान उसका भला करे) मार्क्स को पढ़ सकता है। यदि बुद्धिमान लोग केरी की रचनाओं में भूल-भटक जाते हैं, तो यह भी समान रूप से सत्य है कि अच्छे-अच्छे बुद्धिमान व्यक्ति भी सर चार्ल्स ग्रैंडीसन की रचनाओं के अन्त तक कभी भी नहीं पहुँच पाये; और उसका कारण भी निस्सन्देह वही था। परन्तु शायद प्रोफेसर रोबिन्स का यह कहना सत्य है कि भविष्य का अर्थशास्त्र "इस प्रकार के ज्ञान का समूह नहीं होगा, जिस तक प्रत्येक व्यक्ति आसानी से पहुँच सके।" श्री कीन्स की पुस्तक "ट्रीटाइज ऑन मनी" या प्रोफेसर पीगो की पुस्तक "इंडस्ट्रियल फ्लक्चुएशन्स" से, दो मोटे उदाहरणों के रूप में, लाभ उठाने के

१. ट्रीटाइज और मोनोग्राफ के विभिन्न क्रिया-कलापों के सम्बन्ध में सुझावपूर्ण विवेचन के लिये कीन्स द्वारा लिखी गयी मार्शल की संक्षिप्त जीवनी मैमोरियल्स आफ अल्फ्रेड मार्शल के पृष्ठ ३५ और ३६ देखिये।

लिये केवल बुद्धिमत्ता और जिज्ञासा की अपेक्षा कुछ अधिक साधन जुटाने आवश्यकता है।

यह सुझाव प्रस्तुत किया जा सकता है कि अर्थशास्त्रीय सिद्धान्तों के सम्ब में अपेक्षाकृत अविश्वास और अज्ञानतावाद का समय अतीतकाल के अर्थशास्त्री सिद्धान्तों के इतिहास के अध्ययन के लिये उपयुक्त समय है। यदि आजकल हमारे अपेक्षाकृत प्रतिबन्धयुक्त दिनों में अर्थशास्त्र कोई सिद्धान्त न होकर केव एक पद्धति समझा जाने लगा है, और यदि यह केवल मन का एक उपकरा या विचार की एक प्रविधि मात्र है, तो हमें उन सब सत्य पर लगाये गये अटकल पच्चू निशानों के बारे में क्यों फिक्र करनी चाहिए, जो हमारे अति आत्म विश्वासी पूर्वजों ने लगाये थे ? परन्तु वस्तुतः मुख्यरूप से ऐसे ही युग में अर्थ शास्त्रीय सिद्धान्तों के इतिहास का अध्ययन सबसे अधिक लाभदायक रहता है जब कोई एक विचारक वर्ग प्रभावशाली न हो, जब सारा सिद्धान्तशास्त्र तरल घोल के रूप में विद्यमान हो और सत्य कहीं भी पाया जा सकता हो, और जब सब प्रकार के विचार, जो एक दूसरे के विरोधी भी हों, उस बर्तन में एक दूसरे से टकरा रहे हों, जिसमें कि जनमत पककर तैयार होता है। डाक्टर हान्स होनेगर (Dr. Hans Honegger) ने हाल ही में बड़े साहस के साथ एक शानदार पुस्तक लिखी है जिसमें आर्थिक विचार की वर्तमान स्थिति को, विशेष रूप से जैसी कि वह जर्मनी में है, प्रस्तुत किया है।[1] परन्तु जब वह अपने गेडनकेंस्ट्रोमुंजन (Gedankenstromungen) का वर्गीकरण करने पर आता है, तो विचार की इतनी धाराएँ बहती दीख पड़ती हैं कि उनका परिणाम एक स्पष्ट भंवर के रूप में दीख पड़ता है। उन विशुद्ध अर्थशास्त्रीय विचारक वर्गों को छोड़ कर जो सीमान्त पर विचार कर रहे हैं, उसने अपने नामकरण के अनुसार ये विचारक वर्ग बतलाये हैं, नियोलिबरलिस्मस, (Neoliberalismus) नियोमर्कन्टालिसमस, (Neomerkantilismus), नियोसोशलिस्मस (Neosozialismus) और नियोरोमान्टिक (Neoromantik) और इन सबके नाम बड़े शानदार नाम हैं। यदि इंगलैण्ड में पिछली चौथाई शताब्दी में विद्यमान विचारधाराओं के वर्गीकरण का प्रयत्न किया जाय, तो उसका परिणाम भी इससे मिलता-जुलता ही

१. Volkswirtschaftliche Systeme der Gegenwart.

होगा; और इस दृष्टि से वर्तमान को पूरी तरह हृदयंगम करना और अतीत का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। हमारे यहाँ भी नियोमरकैन्टाइलिस्ट हैं। इसी प्रकार हमारे यहाँ भी नियोलिबरल और पैलियोलिबरल दोनों ही हैं। जहाँ एक ओर हमारे यहाँ ऐसे क्यूबिस्ट अर्थशास्त्री हैं, जो २१वीं शताब्दी के लिए तड़प रहे हैं, वहाँ दूसरी ओर हमारे यहाँ ऐसे मध्ययुगीन अर्थशास्त्री भी हैं, जो अभी '१४वीं' शताब्दी को ही लिये बैठे हैं। हमारे यहाँ भी व्यष्टिवादी भोजन है, और हमारे यहाँ सब प्रकार का एतेतिज्म (Etatisme) भी पाया जाता है। पशु-प्रदर्शनियों और किसानों के भोजों में देश में प्रकृतिवादी का स्वर सुनाई पड़ता है। कोई भी दृष्टिकोण, जो एक बार प्रकट किया जा चुका, कभी भी पूर्णतया मरता प्रतीत नहीं होता, और आजकल के से संक्रमण के कालों में हमारे कान दिवंगत लोगों की कानाफूसियों से भरे हुए हैं।

आगे अध्ययन के लिए टिप्पणियाँ

इन टिप्पणियों का प्रयोजन यह नहीं है कि एक ऐसी वस्तु प्रस्तुत कर दी जाय जो समुचित रूप से पुस्तक सूची कहलाने का दावा कर सके अपितु केवल एक ऐसे सुझाव प्रस्तुत कर देना है जो आगे के अध्ययन में सहायक हो सकें। इसलिये यह सूची केवल उन पुस्तकों तक सीमित रखी गयी है जो उपलब्ध हैं या कम से कम प्राप्त की जा सकती हैं।

सामान्य

सामान्य इतिहास की दृष्टि से विद्यार्थी के लिये दो पुस्तकें विशेष उपयोगी होंगी: हैने की पुस्तक 'ए हिस्ट्री आफ इकोनोमिक थाट' (A History of Economic Thought) (मैकमिलन) और गाइड तथा रिस्त की पुस्तक 'ए हिस्ट्री आफ इकोनोमिक डाक्ट्रिन्स' (A History of Economic Doctrines)। इनमें से पहली पुस्तक अंग्रेजी भाषा में अर्थशास्त्र सिद्धान्त के विस्तृत इतिहास तक निकटतम पहुँच समझी जा सकती है, हालाँकि इसमें यह दोष समझा जा सकता है कि इसे सम्पूर्ण बनाने का अत्यधिक सचेत प्रयत्न किया गया है। दूसरी पुस्तक एक प्रमाप फ्रांसीसी रचना है। इसमें प्रकृतिवादियों से आगे का इतिहास दिया गया है और उसके बाद के आर्थिक विचार के क्रमशः आने वाले दौरों की दृष्टि से यह एक बहुमूल्य अध्ययन है। इसका बहुत ही उत्तम

अनुवाद उपलब्ध है (हैरेप)। प्रमाप रचनाओं में तीसरी पुस्तक इन्ग्रैम की है, जिसका नाम है ए हिस्ट्री आफ पोलिटिकल इकोनोमी (A History of Political Economy) (ब्लैक)। यह पुस्तक मुझे पहली दो पुस्तकों के समान प्रतीत नहीं होती। यह कहीं-कहीं और विशेष रूप से अन्तिम अध्याय में आकर तो नामों की सूचीमात्र ही बनकर रह गयी है। प्राइस की पुस्तक शार्ट हिस्ट्री आफ पोलिटिकल इकोनोमी इन इग्लैण्ड (Short History of Political Economy in England) (मेथ्यून) अंग्रेजी राजनीतिक अर्थशास्त्र के प्रमुख विचारकों तक ही सीमित है और इसमें आलोचना तथा जीवन-चरित्र दोनों मिश्रित हैं। जो विद्यार्थी जर्मन जानते हैं, उनके लिये ओनेकेन की पुस्तक (Geschichte der Nationalokonomie) (हिर्सफेल्ड) स्मिथ पूर्वकाल के सर्वोत्तम और सबसे अधिक विद्वत्तापूर्ण विवरण की दृष्टि से उत्कृष्ट पुस्तक है। यह पुस्तक मुख्यतया मध्ययुग और प्रकृतिवादियों के सम्बन्ध में लिखी गयी है।

अपेक्षाकृत हाल की पुस्तकों में से पाँच का उल्लेख यहाँ किया जा सकता है। बिलकुल हाल ही में १६०३ स्पेन की पुस्तक Die递Haupttheorien der Volkswirthschaftslehre का "टाइप्स आफ इकोनोमिक थ्योरी" (ऐलन एण्ड अनविन) के नाम से अनुवाद हो चुका है। इस पुस्तक के कई रोचक पहलू हैं, परन्तु इसका दोष यह है कि यह नियोरोमाण्टिक विचारक वर्ग के नेता द्वारा लिखी गयी है और इसमें एक सीमा तक पक्षपात दिखायी पड़ता है और जिस पक्ष के साथ लेखक की सहानुभूति नहीं है उसे पूरे तौर पर समझने का भी अभाव दीखता है। गीनर्ड की पुस्तक Historie des Doctrines Economiques (लाइब्रेरी वैलोआस) के पहले दो खंड फ्रांसीसी लेखन की आनन्ददायकता और सुस्पष्टता के प्रशंसनीय उदाहरण हैं। परन्तु तीसरा खंड अपेक्षाकृत कम आनन्ददायक है, कम से कम अंग्रेजी पाठक के लिये। सोम्बर्ट की पुस्तक Geschichte der Nationalokonomie (फिस्खर, जैना) में भी दो गुण हैं, भले ही यह पुस्तक बहुत बड़ी सी है। पहली बात तो यह है कि इसमें सारे विषय को बड़े प्रणालीबद्ध ढंग से प्रस्तुत किया गया है और दूसरे इसमें प्रत्येक अनुभाग के साथ बिलकुल पूर्ण सहायक ग्रन्थ सूचियाँ दी गयी हैं। सुरानयी उंगर की पुस्तक Philosophie in der Volkswirtschaftslehre (फिस्खर, जैना; दो खंडों में) यद्यपि न तो राजनीतिक अर्थशास्त्र का इतिहास

होने का दावा करती है, और न दर्शनशास्त्र का इतिहास होने का दावा। पर वस्तुतः यह इतनी सम्पूर्ण है कि इसमें अर्थशास्त्रीय सिद्धान्त के इतिहास के लगभग सभी पहलुओं का बहुत ही विद्वत्तापूर्ण और विशद विवेचन किया गया है। परन्तु यह इतनी विस्तृत है कि इसे पढ़ने का सुझाव केवल उन्हीं लोगों को दिया जा सकता है जिनके पास काफी अवकाश हो और या जो इस विषय के विशेषज्ञ हों। अन्त में सुम्पीटर की पुस्तक Epochen der Dogmen-und Methodengeschichte, जो Grundriss der Sozialokonomik का पहला खंड है, (मोहर, ट्यूबिजन) एक प्रशंसनीय छोटा सा संक्षेप है परन्तु इसे पढ़ते हुए ऐसा अनुभव होता है कि इससे उन्हीं लोगों को पूरा लाभ पहुँच सकेगा जो इसके अध्ययन से पूर्व ही इस विषय का काफी ज्ञान प्राप्त कर चुके हों। जहाँ तक सामान्य प्रकार की पुस्तकों का सम्बन्ध है, ये पुस्तकें काफी समझी जानी चाहियें परन्तु जिस छात्र को इतने से भी तृप्ति न हो वह पुरानी सामान्य पुस्तकों की विस्तृत सूची हैने की पुस्तक में पा सकता है।

मनरो की पुस्तक अर्ली इकोनोमिक थाट (Early Economic Thought) (हारवर्ड युनिवर्सिटी प्रेस) और गैमाहलिंग की पुस्तक Les Grands Economistes (सिरे) में प्रमुख अर्थशास्त्रियों की रचनाओं में से उपयोगी संदर्भ संकलित किये गये हैं, परन्तु इनमें से पहली पुस्तक पूर्णतया स्मिथ पूर्वकाल के सम्बन्ध में ही है। Petite Bibliotheque Economique (गिलोमिन द्वारा प्रकाशित) के विभिन्न खंडों में उस माला में आये हुए प्रत्येक लेखक के सम्बन्ध में एक सामान्य परिचय दिया गया है और उसके बाद उसकी कुछ रचनाएँ संगृहीत की गयी हैं, जो विचारपूर्वक चुनी गयी हैं। ये पुस्तकें आसानी से सैकिंडहैंड भी मिल जाती हैं।

विशेष

उपरिलिखित रचनाओं के अतिरिक्त जो सामान्य और विस्तृत ढंग की हैं, यहाँ कुछ ऐसी पुस्तकों का निर्देश कर देना भी सुविधाजनक होगा, जिनका सम्बन्ध अलग-अलग अध्यायों से है।

अध्याय १. लेस्नर: ग्रीक इकोनोमिक्स (Greek Economics);

अध्याय २. ओब्रियें: एन ऐस्से ओन मीडियेवल इकोनोमिक्स टीचिंग;

(An Essay on Mediaeval Economic Teaching) टौने : रिली एंड दि राइज़ आफ कैपिटलिज़्म, ऐश्ले : ऐन इंट्रोडक्शन टू इंगलिश इकोनोमि हिस्ट्री एण्ड थ्योरी ।

जर्मन जानने वाले वे विद्यार्थी, जो सेण्ट थामस ऐक्वाइनास की स पुस्तक को पढ़ने में हिचकते हैं, उसके सब आर्थिक और राजनीतिक अनुभा को स्क्रैरोवोगल (Schreyvogl) द्वारा हर्डफ्लेम माला में सम्पादित Ausg wahlte Schriften zur Staats-und Wirtschaftslehre des Thom von Aquino फिस्चर, जेना में एक जगह पा सकते हैं ।

अध्याय ३; व्यापारवादी सिद्धान्त के सम्बन्ध में उतना विशिष्ट साहि उपलब्ध नहीं है जितने की आशा की जा सकती है । हाल के वर्षों में मन पुस्तक दो बार पुनर्मुद्रित हो चुकी है (मैकमिलन तथा इकोनोमिक हि सोसाइटी द्वारा किये गये पुनर्मुद्रण) और मनरो की पुस्तक अर्ली इकोनोमि थाट में मन, सेरा तथा हार्निक से कुछ अंश संकलित किये गये हैं । श्मोलर "व्यापारवादी प्रणाली" के सम्बन्ध में लिखा गया अध्याय भी मैकमिलन "इकोनोमिक क्लासिक्स" माला में आ गया है ।

अध्याय ४; हिग्स : दि फीजियोक्रैट्स । क्वेसने की सम्पूर्ण रचनाओं सम्पादन ओन्कन ने किया है ।

अध्याय ५; ऐडम स्मिथ जितना महान् लेखक था, उसकी दृष्टि से उसव विशेष अध्ययन पर्याप्त नहीं हुआ है । परन्तु आलोचनात्मक ढंग से उसके कु जीवन-चरित्र सर्वश्री जे० रे० डब्ल्यू० हिर्स, आर० बी० हाल्डेन और एच० सी मैक्फरसन द्वारा लिखे गये हैं । इस अध्याय और इसके बाद वाले अध्याय अपेक्षाकृत दार्शनिक पहलुओं को देखने के लिये हैलेवी की पुस्तक "दि ग्रोथ आ फिलोसोफिक रैडिकलिज्म" और बोनार की पुस्तक "फिलोसोफी एण्ड पोलिटि कल इकोनोमी इन सम आफ देयर हिस्टोरिकल रिलेशन्स" का उल्लेख किय जा सकता है ।

अध्याय ६; माल्थस का 'ऐस्से' और रिकार्डो की पुस्तक 'प्रिंसिपल्स' ऐवरी मैन्स लाइब्रेरी पुस्तकमाला में उपलब्ध है । रिकार्डो के अपेक्षाकृत अधिक महत्त्वपूर्ण निबन्धों का सम्पादन गोनर ने किया है । माल्थस का पहला संस्करण फिर रायल इकोनोमिक सोसायटी द्वारा प्रकाशित किया गया है । बोनार की

पुस्तक 'माल्थस एण्ड हिज वर्क' भी देखिये।

अध्याय ७, ८, ९ और १०; स्वयं मूल लेखकों के अतिरिक्त इन अध्यायों के सम्बन्ध में विशिष्ट साहित्य अधिक प्राप्त नहीं है, जो प्रारम्भिक विद्यार्थी के लिये इन अध्यायों के विषयों पर उपयोगी हो। रे की पुस्तक नये रूप में लिखी जाकर 'दि सोशियोलोजिकल थ्योरी आफ कैपिटल' नाम से फिर प्रकाशित हुई है। सिसमोन्दी के सम्बन्ध में भी अध्ययन हाल ही में माओलान तुआन (Mao-Lan Tuan) की पुस्तक Simonde de Sismondi as an Economist के रूप में प्रकाशित हुई है। मुल्लर की अपेक्षाकृत महत्वपूर्ण रचनाएँ हर्डफ्लैम पुस्तकमाला में फिर प्रकाशित हुई हैं और Isolierte Staat पुस्तक Sammlung Sozialwissenschaftlicher Meister में है। ये दोनों मालाएँ फिस्खर जेना की हैं। लिस्ट की पुस्तक 'सिस्टम आफ नेशनल इकोनोमी' का अनुवाद इस समय उपलब्ध है। मार्गरेट हिर्स्ट की पुस्तक 'लाइफ आफ फैड्रिक लिस्ट' भी देखिये। वॅस्तियात तक पहुँचना आसान है, क्योंकि उसके महत्त्व के सम्बन्ध में अब तक भी विवाद चल रहा है। दूसरी ओर केरी का नाम सैकिण्ड-हैन्ड पुस्तकों के सूचीपत्र में बहुत अधिक दिखाई पड़ता है। उसके सम्बन्ध में विचार सम्पूर्ण हो चुका है।

अध्याय ११; मार्क्स के सम्बन्ध में साहित्य अनन्त है। स्वयं कैपिटल के अतिरिक्त निम्नलिखित पुस्तकें द्वार उद्घाटन में सहायक सिद्ध हो सकती हैं। बीयर; 'दि लाइफ एण्ड टीचिंग आफ कार्ल मार्क्स'। साल्टर; 'कार्ल मार्क्स एण्ड माडर्न सोशलिज्म'। निकल्सन; 'दि रिवाइवल आफ मार्क्सिजम'। लोरिया; 'कार्ल मार्क्स'। लास्की; 'कार्ल मार्क्स'। लिंड्से; 'कार्ल मार्क्सिज कैपिटल'। बोहम बावर्क; 'कार्ल मार्क्स एण्ड दि क्लोज आफ दि सिस्टम'। जीवन-चरित्र के लिये मेहरिंग और रूहेल की रचनाएँ देखिये। मेहरिंग की पुस्तक उत्कृष्ट जर्मन पुस्तक है और रूहेल की पुस्तक का अंग्रेजी अनुवाद हो चुका है। समाजवाद सम्बन्धी अनगिनत पुस्तकों में से, जिनमें मार्क्सवाद का अनिवार्य रूप से उल्लेख रहता है, दो का नाम लिया जा सकता है: स्कैल्टन की पुस्तक 'ऐन ऐनेलैसिस आफ सोशलिज्म' तथा हर्नशा की पुस्तक 'ए सर्वे आफ सोशलिज्म'। परन्तु इनमें से पिछली पुस्तक कहीं अच्छी प्रभावपूर्ण आलोचना सिद्ध हो सकती थी, यदि इसमें निष्पक्षता का प्रदर्शन कुछ और अधिक रखा जाता।

अध्याय १२; आस्ट्रियन विचारक वर्ग के विचारों की सामान्य भूमिका रूप में दो पुस्तकें बतायी जा सकती हैं : स्मार्ट की पुस्तक 'ऐन इन्ट्रोडक्श दि थ्योरी आफ वैल्यू' और वीनबर्गर (Weinberger) की पुस्तक Grenznutzenschule मूल लेखकों में से निम्नलिखित का अंग्रेजी अनु हो चुका है। वाइजर की पुस्तक 'नेचुरल वैल्यू' तथा 'सोशल इकोनोमिक और बोहम बावर्क की पुस्तक 'कैपिटल एण्ड इण्टरेस्ट' तथा 'दि पोजी थ्योरी आफ कैपिटल'। मैंजर की पुस्तक का कोई अनुवाद नहीं है। स्पैन कथनानुसार मैंजर का अपने सिद्धान्त पर से विश्वास उठ गया था और उ अपने जीवन-काल में अपनी पुस्तक का दूसरा संस्करण छापने की अनुमति दी। गोसेन का नया संस्करण प्रेगर, बर्लिन ने प्रकाशित किया है।

उपसंहार; दो लेखकों ने इतना साहस प्रदर्शित किया है कि उन्होंने ज भाषा में समकालीन अर्थशास्त्रीय साहित्य पर विवरण प्रस्तुत करने का प्र किया है। वे हैं—होनेगर, उसकी पुस्तक है Volkswirthschaftli Systeme der Gegenwart; और सुरांनयी उंगर (Suranyi-Ung उसकी पुस्तक है Die Entwicklung der Theoretischen Volkswi chaftslehre im ersten Viertel des 20 Jahrhunderts। इनमें से पि पुस्तक कहीं भी प्रकाशित हुई पुस्तकों का एक अत्यधिक विशाल विश्व- जैसा विवरण है। होमैन की पुस्तक 'कंटेम्परेरी इकोनोमिक थाट' केवल श्री जे० बी० क्लार्क, वैबलैन, मार्शल, होब्सन तथा डबल्यू० सी० मिचर तक सीमित है। श्री कीन्स की पुस्तक 'मैमोरियल्स आफ अल्फ्रैड मार्शल' एक प्र गीय जीवनचरितात्मक ग्रन्थ है। टगवैल द्वारा सम्पादित पुस्तक 'दि ट्रेंड इकोनोमिक्स' में तरुणतर अमेरिकन दृष्टिकोण को प्रस्तुत किया गया है।